Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai
साहित्य
127
म्बर - अक्तूबर, 2006
मूल्य 25 रुपए
131519
समकालीन
भारतीय साहित्य
साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका
इस अंक में
मनोज दास, रमेशचंद्र शाह, राजी सेठ,
चित्त घोषाल, राजेश जैन, खडकराज गिरी,
प्रवीण पंड्या, मुहम्मद अलवी, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी,
सतीश जायसवाल, सुरेंद्र तिवारी
विशेष : व्याख्यान : जावेद अख़्तर
प्रकाशन का 27वाँ वर्ष
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

नए प्रकाशन

चयनम्, संपादक : अरुण प्रकाश मूल्य 35

प्रस्तुत कृति अकादेमी की द्विमासिक हिंदी पत्रिका *समकालीन भारतीय* के पिछले 25 वर्षों में प्रकाशित रचनाओं से एक चयन है। इसमें बीसवीं आख़िरी दशकों में प्रभावी विभिन्न रुझानों तथा इक्कीसवीं सदी की शुरु उभरते प्रमुख रुझानों को देखा जा सकता है। इसमें कविता, कहानी, सं रेखाचित्र, आत्मकथा, साक्षात्कार तथा आलोचनात्मक लेखों के साथ-स उपन्यासिका का भी समावेश किया गया है।

आकार 6.25''×9.5'' प्रथम संस्करण 2006 सजिल्द पृष्ठ

स्वतंत्रता पुकारती, चयन एवं संपादन : नंदकिशोर नवल

मूल्य 200 रुपए

प्रस्तुत संकलन, जिसमें 23 कवियों की 173 कविताएँ शामिल हैं, पाँच खंडों में विभाजित हैं। प्रत्येक खंड में सम्मिलित कवि क्रमशः हिंदी कविता के पाँच युगों अथवा धाराओं (भारतेंदु युग, द्विवेदी युग, स्वच्छंद धारा, छायावाद तथा छायावादोत्तर युग) का प्रतिनिधित्व करते हैं। कविताएँ पाठकों में सच्चा देशप्रेम जगाती हैं, उन्हें राष्ट्र की अस्मिता से परिचित कराती हैं और वर्तमान स्थिति के प्रति उन्हें असहिष्णु बनाती हैं। संकलन के आरंभ में कविताओं के चयन-प्रस्तुति संबंधी दृष्टिकोण के साथ राष्ट्रीय कविताओं की निरंतर उपस्थिति, विकास और महत्त्व का आकलन करनेवाली एक लंबी भूमिका प्रकाशित की गई है।
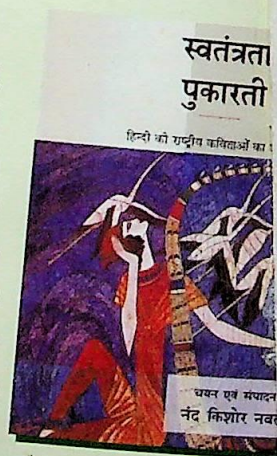
...यह संपन्नता बिखरी हुई, अनुवाद और संपादक : श्यामा प्रसाद गां मीनाक्षी सुंद्रियाल; सहयोग : कुंदन कानन मूल्य 250

इस संग्रह का मुख्य उद्देश्य भारत में समकालीन लातिनी अमरीकी और कैरीबि कविता के प्रसार में योगदान देना है। हिंदी में अपनी तरह का यह पहला संग्र जो दिल्ली स्थित लातिनी अमरीकी एवं कैरीबिआई देशों के दूतावासों के 'ग्रूलाक' की पहल का नतीजा है। यह संग्रह बीसवीं सदी में लिखी गई इस की कविता का नमूना प्रस्तुत करता है। कोशिश की गई है कि इस सदी के और दूसरे भाग की कविता के बीच संतुलन क़ायम रहे और दूसरे भाग के कवियों की आवाज़ को महत्त्व दिया जाए।
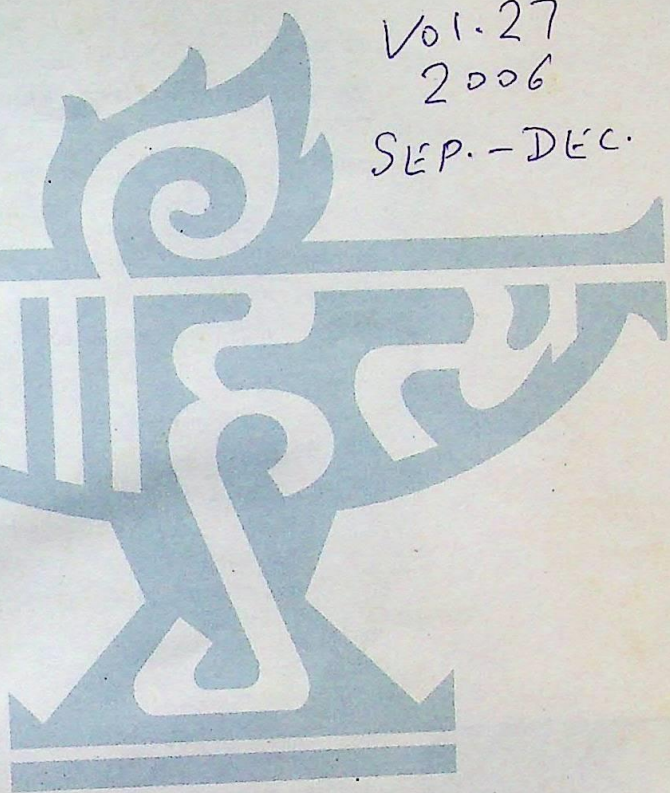
साहित्य

समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

वर्ष 27 अंक 127 : सितंबर-अक्तूबर 2006

संपादक मंडल

गोपी चंद नारंग
सुनील गंगोपाध्याय
ए. कृष्णमूर्ति

संपादक

अरुण प्रकाश

उप-संपादक : **मधुमालती जैन**

आवरण चित्र एवं रेखांकन : तीर्थंकर विश्वास : जन्म 1957, प्रतिष्ठित चित्रकार, दिल्ली में रहते हैं।

सज्जा : दिलीप कुमार टेलर : उम्र 44 वर्ष। देश-विदेश में प्रकाशनों तथा व्यापार प्रदर्शनियों के सुप्रसिद्ध डिज़ाइनर, चित्रकार।

द्विमासिक
समकालीन भारतीय साहित्य
वर्ष 27 अंक 127 : सितंबर-अक्तूबर 2006

संपादकीय कार्यालय :
रवींद्र भवन, 35 फ़ीरोज़शाह मार्ग,
नई दिल्ली-110001
फ़ोन : 2307 3312 (सीधा नंबर)
23386626, 23386627, 23386628
(पी.बी. एक्स) विस्तार 207/255
तार : साहित्यकार फ़ैक्स : 091-11-23382428

E-mail : secy@ndb.vsnl.net.in
Visit our Website at :
http://www.sahitya-akademi.gov.in

प्रकाशक : साहित्य अकादेमी

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से साहित्य अकादेमी, संपादक मंडल या संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

मूल्य : 25 रुपए
शुल्क-दर : एक वर्ष (6 अंक) 125 रुपए : तीन वर्ष (18 अंक) 350 रुपए

विदेश में :
हवाई डाक : एक प्रति 10 अमेरिकी डॉलर/6 ब्रिटिश पाउंड
एक वर्ष 50 डॉलर/30 पाउंड : तीन वर्ष 135 डॉलर/85 पाउंड
समुद्री डाक : एक प्रति 5 डॉलर/3 पाउंड
एक वर्ष 25 डॉलर/15 पाउंड : तीन वर्ष 70 डॉलर/44 पाउंड

'शुल्क 'सचिव, साहित्य अकादेमी' के नाम पर भेजें :
(केवल मनीऑर्डर, ड्राफ़्ट या नक़द)
वितरण : उप-सचिव (विक्रय), साहित्य अकादेमी, विक्रय विभाग, स्वाति, मंदिर मार्ग, नई दिल्ली-110 001
फ़ोन : 011-23364207, 23745297

SAMAKĀLĪN BHĀRATĪYA SĀHITYA:
A Bi-monthly journal of Indian literature from 24 languages, in Hindi, published by Sahitya Akademi, Rabindra Bhavan, 35 Ferozeshah Road, New Delhi-110001, India

समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

समकालीन भारतीय साहित्य : वर्ष 27 : अंक 127 (सितंबर-अक्तूबर 2006)

आमुख

पारिभाषिक शब्दावली अलग-अलग दौर में अलग-अलग बाना धरती है। कभी भारतीय आलोचना में गद्य और पद्य के लिए एक ही शब्द था—काव्य। और इसी पारिभाषिक शब्द के सहारे कृति की व्याख्याएँ पूरे दौर में होती रहीं। आगे चलकर गद्य और पद्य को अलग भी किया गया तब भी काव्य से पीछा नहीं छूटा। और, उन्हें पद्य काव्य तथा गद्य काव्य कहा जाता था।

यह स्थिति भारत में ही नहीं, पाश्चात्य आलोचना में भी थी कि पारिभाषिक शब्दों की संख्या अत्यंत सीमित थी। पोएटिक्स शब्द बहुत पुराना है, यूनान से शुरू हुआ। इसे अरस्तु ने शुरू किया था और फिर कई दौर आए, गए और यह शब्द भुला दिया गया। मौजूदा दौर में अंग्रेज़ी आलोचना में यह शब्द फिर बड़े धमाके के साथ चल रहा है और इसे आलोचना शब्द का पर्याय माना जाता है। आज आलोचना के लिए स्टडी और एस्थेटिक्स जैसे शब्द भी प्रचलन में हैं। अब हुआ यह है कि ठीक पीछे के साहित्यिक दौर के शब्द क्रिटिसिज़्म की रंगत फीकी पड़ गई। फ़िल्म क्रिटिसिज़्म के लिए अब फ़िल्म स्टडीज़ शब्द प्रचलन में है।

हर विचार सरणी नई शब्दावली के साथ प्रकट होती है। नई शब्दावली उसे रहस्यमय बनाती है और अनूठी भी। अनूठेपन की वजह से हम सब उस तरफ़ लपकते हैं और उसके रहस्यमय ज्ञान-आतंक के सामने अपने को असहाय पाते हैं या फिर उसके पुर्ज़े खोलने में लग जाते हैं। शब्दावली गढ़ना बहुत उच्च श्रेणी की कला है। छटनी का अर्थ होता था सीधा नौकरी से निकाला जाना। अलबत्ता निकाले जाने के साथ छटनी से जुड़े कुछ लाभ भी छटनीग्रस्त व्यक्ति को दे दिया जाता था। सरकारी कर्मचारी भी छटनी शब्द से डरते थे गो कि सरकारी विभागों में छटनी होती नहीं थी। यदि कोई संगठन अपना मौजूदा आकार छोटा करना चाहे तो उसे छटनी और बंदी जैसी कठोर कार्रवाइयों का सहारा लेना पड़ेगा। इस शाब्दिक कठोरता को मुलायम करना आसान नहीं था। बड़े-बड़े विशेषज्ञ इस काम में लगे और कठोरता को कोमलता में बदल दिया गया। शब्द गढ़ने के लिए उस्ताद अवधारणा ज्यों की त्यों रखते हैं लेकिन उनके द्वारा गढ़े हुए नए शब्द में कोमलता ही कोमलता होती है। इसीलिए छटनी और बंदी की जगह डाउन साइज़िंग शब्द का इस्तेमाल होने लगा, देखिए यह शब्द कितना कोमल है। नया है, इसमें अनूठापन भी है पर इसके रहस्य को आप खोलने लगें तो इसकी माँद में से बंदी और छटनी की हड्डियाँ मिलेंगी।

इसी प्रकार का एक और शब्द है बाज़ारवाद। मैं अर्थशास्त्री नहीं हूँ पर बहुत सारी आर्थिक अवधारणाओं और शब्दावलियों से परिचित हूँ। आप अर्थशास्त्र का कोई भी शब्दकोश या विश्वकोश खोल लीजिए, मार्किटिज़्म जैसा शब्द नहीं मिलेगा। और न ही ऐसी कोई अवधारणा है। परंतु इस शब्द का हिंदी अनुवाद बाज़ारवाद धड़ल्ले से चल रहा है। वस्तुतः हिंदी वाले मित्रों को यह सहूलियत हो गई है कि पूँजीवाद कहने-लिखने में जो संकोच होता था उससे वे अब बरी हो गए हैं। बाज़ारवाद एक गोलमोल

कचरापेटी है जिसमें पूँजीवाद के सारे कचरे डाले जा सकते हैं। एक मज़ा यह भी है इसमें कि कचरापेटी से लड़ने की ज़रूरत नहीं है। और क्योंकि, कचरापेटी हर घर के लिए अनिवार्य चीज़ होती है। लेकिन बाज़ार से लड़ने की मुद्राएँ तो अपनानी पड़ेंगी। उन लोगों को भी अपनानी पड़ेंगी जो बाज़ार की अहमियत को अच्छी तरह समझते हैं, उसके प्रशंसक हैं, समर्थक हैं। रहस्यमय पारिभाषिक शब्द आपके संकोच को भी छिपाते हैं और संघर्ष की झूठी मुद्राएँ अपनाने की सहूलियत भी देते हैं।

आलोचना में नए पारिभाषिक के प्रति आकर्षण दुर्निवार रहा है। कोई नया शब्द आता है और लपक लिया जाता है। नई शब्दावली को अपनाने का फ़ैशन कई बार हास्यास्पद-सी स्थितियाँ भी पैदा करता है। ज़ाहिर है, जो लिटरेरी फ़ैड्स उर्फ़ साहित्यिक फ़ैशन के मुरीद हैं वे सिर्फ़ अपनाना जानते हैं। नए शब्द के अर्थ और संदर्भ को देखने की फ़ुर्सत उन्हें कहाँ होती है।

ऐसा ही एक शब्द विमर्श (discourse) चलन में है। पहले विचार-विमर्श पद चलता था। अब सिर्फ़ विमर्श है। विमर्श भाषा-विज्ञान, समाज-शास्त्र और साहित्यिक आलोचना तीनों में प्रयोग किया जाता है। भाषा-विज्ञान में यह बातचीत, तर्कना और व्याख्यानों से संबंधित है। समाजशास्त्र में इसे विषय की सीमा या संभावित सत्य की सीमा के रूप में लेते हैं। विमर्श का प्रकार संप्रेषण में शब्दावली, अभिव्यक्तियों और शैली को प्रभावित करता है। सत्ता और राष्ट्र से संबंधित अनेक सिद्धांतों से विमर्श का जुड़ाव हो सकता है। हैबरमास और मिशेल फूको ने इस विमर्श को प्रचलित किया। लेकिन दोनों के उद्देश्य अलग-अलग थे। इसके लिए फूको को ज़्यादा श्रेय दिया जाता है। बहरहाल, साहित्य में इसके कई अर्थ हैं—वक्तव्यों के समुच्चय, वक्तव्यों के समूह का निजी वर्गीकरण आदि। एक बिंदु पर भिन्न-भिन्न कोणों से किए गए विचार। एक संदर्भ विशेष में विचार कोण-वैभिन्य। अभी कहीं पढ़ा—'कहानी में दलित विमर्श, स्त्री-विमर्श दोनो हैं।' मैं चकराया! क्या यह संभव है कि एक कहानी में किसी बिंदु पर विमर्श हो जाए, सारे कोण के चरित्र आ जाएँ, कथा-स्थितियाँ आ जाएँ? अगर यह संभव भी हुआ तो क्या वह कहानी रह पाएगी या उपन्यास का पोथा बन जाएगा! कुछ लोग तो विमर्श ही लिखते नज़र आते हैं, रचना नहीं। जब विमर्श ही पढ़ना होगा तो समाजशास्त्र पढ़ेंगे। रचना क्यों पढ़ेंगे?

इस अंक में नौ भाषाओं से रचना और आलोचना का चयन प्रस्तुत है। वरिष्ठ और युवतर रचनाकार एक साथ। उर्दू *साहित्य में प्रगतिशील आंदोलन* एक विशेष प्रस्तुति है। जावेद अख़्तर संजीदा पटकथा लेखक, कवि और गीतकार के रूप में तो जाने ही जाते हैं, इस लेख में उनका नया रंग सामने आता है। तेलुगु कविता में एक नई विधा नानीलु के बारे में बता रही हैं जानी-मानी अनुवादिका आर. शांता सुंदरी।

भारतीय अंग्रेज़ी लेखन के एक आधार स्तंभ राजाराव का निधन हो गया। उनकी स्मृति को हमारा नमन।

—अरुण प्रकाश
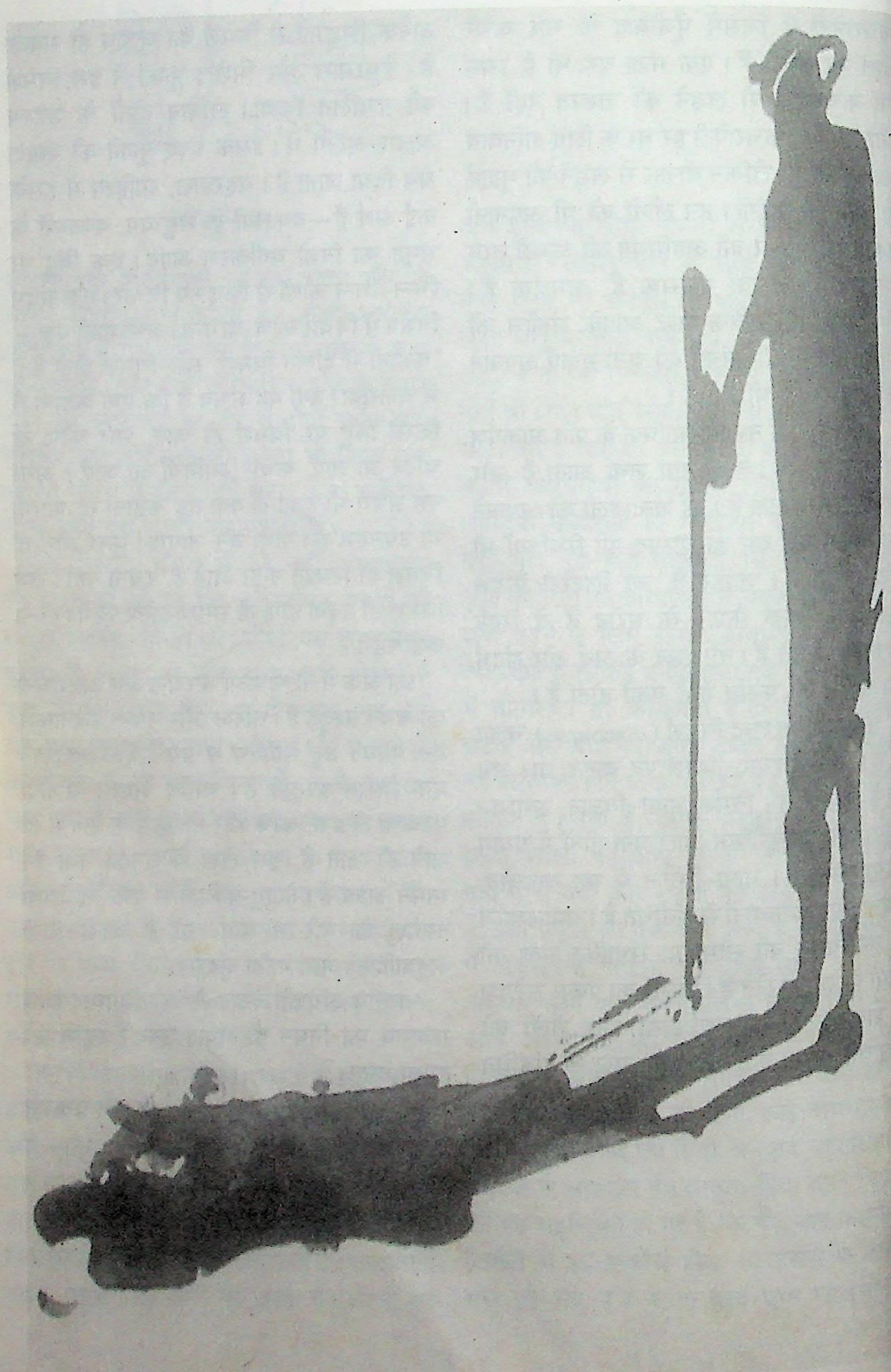
जावेद अख़्तर

उर्दू साहित्य में प्रगतिशील आंदोलन

प्रगतिशील लेखकों का संघ, ये चार शब्द सुनते ही मन के आकाश पर कितने ही नामों के सितारे जगमगा उठते हैं—फ़ैज़, मजाज़, कृश्न चंदर, सरदार जाफ़री, मख़्दूम, इस्मत चुग़ताई, साहिर, कैफ़ी, जाँनिसार अख़्तर, राजिंदर सिंह बेदी और मजरूह और ऐसे ही कितने नामों का एक क्रम है जो एक आकाशगंगा की तरह स्मृति के आकाश पर दिखाई देते हैं और हम अचंभित रह जाते हैं। साहिर के शब्दों में—

इक ज़माना था कि सब एक जगह रहते थे।

क्या-क्या याद आ जाता है—कितनी नज़्मों के शीर्षक, कितनी ग़ज़लों के शेर, कितनी कहानियों के चरित्र मन-मस्तिष्क को घेर लेते हैं। कैसी-कैसी तस्वीरें बनती हैं—ये बुझते हुए कारागार का झरोखा, वो मुंडेर पर चाँदनी का सुंदर हाथ—वो किसी विधवा का यौवन—ये कालू भंगी के चेहरे पर दर्द की लकीरें, वो किसी टेढ़ी लकीर की तरह बढ़ती शम्मन की बेढंगी-सी ज़िंदगी—ये जलता हुआ पंजाब, वो कश्मीर के फूल-से बदन पर लगते हुए ज़ख़्म ये अवध के एक कच्चे आँगन में बैठी अकेली लड़की जिसकी चौथी का जोड़ा राजनीति के संदूक़ में बंद है। वो बंबई के फ़ुटपाथों पर जूता पॉलिश करते, अख़बार बेचते बेघर-बार बच्चे। ये पत्थर की दीवार से सिर टकराते इंक़लाब के नारे, वो कोई ख़ामोश आवाज़ से पुकारता है। कोई फिर उसी दीवार से टकराता है जिसे कल वो तोड़ चुका है। कहीं शहीदों के शरीर मोम की तरह पिघल रहे हैं। यह नई जगह है। यहाँ से आज तक ताजमहल को किसी ने नहीं देखा था। कोई अकेला ही मंज़िल की ओर चला और कारवाँ बनता गया।

इस संघ, इस आंदोलन के बारे में सोचना तो होगा। कौन लोग इससे संबद्ध थे? वो क्या करना चाहते थे? वो क्या कर सके? वो कहाँ और कितने सफल हुए? वो कहाँ और क्यों विफल हुए? सोचना तो होगा।

प्रायः उद्धृत लोक प्रसिद्ध 'अंगारे' के प्रकाशन के बाद कुछ खुले विचारों के युवा साहित्यकारों की लंदन के एक रेस्तराँ में

उर्दू कवि, गीतकार, पटकथा-लेखक जावेद अख़्तर का जन्म 1945 में हुआ। *तरकश* (गीत-संग्रह) चर्चित है। इन्हें फ़िल्म फेयर पुरस्कार दस बार तथा सर्वश्रेष्ठ पटकथा लेखक का पुरस्कार सात बार प्राप्त हो चुका है। संपर्क : 702, सागर सम्राट, ग्रीनफ़ील्ड, जूहू, मुंबई 400049

अनु. सुषमा भटनागर

आयोजित एक सभा को इस आंदोलन का आरंभ बताते हैं। मेरा विचार है कि किसी भी बात का आरंभ उसके होने का आधार नहीं होता। आरंभ तो होता ही तब है जब होने के कारण प्रस्तुत हो चुके हों। हमें इस आंदोलन और इसकी प्रकृति को समझने के लिए उन परिस्थितियों को भी समझना होगा जो इसके होने का कारण बनीं और इस काम के लिए हमें इतिहास के कुछ पृष्ठ उलटने होंगे।

एक ओर हमें हिंदुस्तान पर ब्रिटिश अत्याचार और उसकी प्रतिक्रिया पर दृष्टि डालनी होगी और दूसरी ओर यूरोप में बदलती सामाजिक व्यवस्था और दुनिया पर उसके प्रभाव का आकलन करना होगा। ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति के बाद ज़मींदारी व्यवस्था अपना प्रभुत्व खो रही थी। पूँजीवादी व्यवस्था का दौर चल रहा था। पूँजी, उत्पादन और मज़दूर के संबंध में स्पष्ट परिवर्तन आ रहे थे। यद्यपि ज़मींदारी व्यवस्था में भी एक ऐसा ही समाज था जिसका आधार शोषण था। शोषण के जो अवसर थे वो पूरी तरह इस्तेमाल किए जाते थे। कोई कसर नहीं छोड़ी जाती थी। मगर यह औद्योगिक व्यवस्था इससे भी चार क़दम आगे थी। इस नई व्यवस्था ने मज़दूर के शोषण के अनगिनत नए अवसर उपलब्ध कराए। ज़मींदारी व्यवस्था के मज़दूर यानी किसान का, जो भी हो, पैदावार से एक संबंध था। औद्योगिक व्यवस्था में मज़दूर और उत्पादन में कोई संबंध नहीं रहा। ज़मींदारी व्यवस्था जो कृषि प्रधान व्यवस्था थी, वहाँ व्यवहारतः दो ही वर्ग थे—ज़मींदार और किसान। शोषण भी सीधे रूप में और सादा था। मगर पूँजीवादी व्यवस्था को अपने आर्थिक शोषण का कारख़ाना चलाने के लिए मज़दूर के अतिरिक्त कुछ पढ़े-लिखे लोगों की भी आवश्यकता थी। अतः पूँजीपति और मज़दूर के बीच एक नया वर्ग उभरा, जिसे हम मध्यम वर्ग कहते हैं। यह वर्ग शिक्षित था। यह अलग बात है कि बाद में इसी वर्ग से ऐसे लोग उठे जिन्होंने पूँजीवादी शोषण के विरुद्ध मज़दूर की आवाज़ से आवाज़ मिलाई। लेकिन यह बात बहुत बाद की है।

औद्योगिक युग के आरंभ में मज़दूरों की भलाई के लिए क़ानून नहीं थे और पूँजीपति पूरी तरह इस विचार के विरुद्ध थे कि इस प्रकार का कोई क़ानून बने। एक मज़दूर अट्ठारह घंटे काम करता था और उसकी मज़दूरी केवल इतनी थी कि वह ज़िंदा रह सके और अगले छह घंटे बाद फिर अट्ठारह घंटे के लिए काम कर सके। किसी फ़ंड या पेंशन की बात तो जाने दीजिए, कोई छुट्टी का दिन भी नहीं था और तुर्रा यह कि इस घोर शोषण को दार्शनिक प्रतिष्ठा दी जाती रही।

एडम स्मिथ (1723-1790) ने अपनी रचना *दि वेल्थ ऑफ़ नेशंस* में इस बात पर बल दिया कि आर्थिक गतिविधियों को राजनीतिक समस्याओं से पूरी तरह अलग कर देना चाहिए क्योंकि अच्छा यही है कि व्यापार और अन्य सामाजिक गतिविधियों पर राजनीति का कोई अंकुश न हो। एडम स्मिथ व्यापार पर राज्य के किसी भी तरह के नियंत्रण के सख़्त विरोधी थे।

अर्थशास्त्री डेविड रिकार्डो (1772-1823) ने यह विचार प्रस्तुत किया कि पूँजीपति को यह अधिकार होना चाहिए कि वह केवल उसी चीज़ का उत्पादन जारी रखे जिसके लिए उसके पास पर्याप्त साधन और मज़दूर उपलब्ध हैं। इस तरह उत्पादन की लागत में कमी होगी। पूँजीपति को यह अधिकार भी होना चाहिए कि वह अपना उत्पादन किसी भी देश में बिना रोक-टोक बेच सके। रिकार्डो अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर खुले बाज़ार का समर्थक था। आजकल इस दृष्टिकोण का उपनाम भूमंडलीकरण है। कहीं से यह क़िस्सा सुना-सा लगता है।

इस युग की बात तब तक पूरी नहीं होगी जब तक इंग्लैंड के एक और चिंतक हर्बर्ट स्पेंसर (1820-1903) का ज़िक्र न किया जाए। स्पेंसर व्यापार में किसी भी प्रकार के राज्य के हस्तक्षेप का प्रबल विरोधी था। उसने ऐसे हर क़ानून और

विचारधारा का भरपूर विरोध किया है जो कारख़ाने में काम करने वाले मज़दूर की किसी भी तरह की सुरक्षा के लिए हो।

स्थिति यह थी कि न केवल मज़दूर का घोर शोषण हो रहा था बल्कि इस शोषण का ढिठाई से समर्थन भी किया जा रहा था। उसकी प्रतिक्रिया तो होनी ही थी और वह हुई। 1848 में जब एक पुस्तिका प्रकाशित हुई तो मालूम नहीं कितने लोगों को यह भान या बोध हुआ था कि यह पुस्तिका मानव सभ्यता और संस्कृति के लगभग हर क्षेत्र को प्रभावित करने वाली है। विश्व का लगभग हर एक देश इस पुस्तिका के पक्ष अथवा विरोध में, लेकिन जो भी हो, इस पुस्तिका के माध्यम से अपने भीतर कोई परिवर्तन लाएगा। कौन जानता था कि इस पुस्तिका के शब्दों की गूँज शताब्दियाँ सुनेंगी। यह 'कम्युनिस्ट मेनिफ़ेस्टो' था।

यह कम्युनिस्ट मेनिफ़ेस्टो लगभग 90 वर्ष बाद नवयुवक उर्दू शायर ने भी पढ़ा जो उस समय तक केवल रोमानी शायरी कर रहा था। जिसकी चर्चा वह अपने एक पत्र में यूँ करता है—"एक दिन साहिबज़ादा महमूद अलज़फ़र ने एक पतली-सी किताब मेरे हवाले की और कहा ये पढ़ो, लेकिन ग़ैरक़ानूनी किताब है इसलिए ज़रा सावधानी से रखना। यह किताब थी कम्युनिस्ट मेनिफ़ेस्टो जो मैंने एक ही बैठक में पढ़ डाली। यूँ महसूस हुआ कि किसी ने सारी मर्म की बातों के ख़ज़ाने की कुंजी थमा दी है। इस तरह सोशलिज़्म और मार्क्सवाद से अपनी दिलचस्पी की शुरुआत हुई। फिर लेनिन की किताबें पढ़ीं। फिर सोवियत समाज के बारे में दूसरे क्रांतिकारी साहित्यकारों की किताबें पढ़ डालीं। इसी ज़माने में हिंदुस्तानी प्रगतिशील लेखकों का संघ स्थापित हुआ। ये सब पढ़कर हमने उस दूसरी तस्वीर में रंग भरना शुरू किया।"

यह घटना 1935 की है जिसकी चर्चा फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने बहुत समय बाद अपने एक पत्र में की है। पहले विश्व युद्ध के बाद इटली में फ़ासीवाद और जर्मनी में नाज़ीवाद के साए फैलने लगे थे। युद्ध के अंतिम चरण के दौरान ही रूस में बॉल्शेविक क्रांति की मुँहदिखाई हो चुकी थी। यह बहस कि इस निर्माण में ही एक विनाश का स्वरूप छिपा हुआ था, होती है और होती रहेगी। इस सिलसिले में विभिन्न दृष्टिकोण संभव हैं लेकिन किसी भी स्थिति में इस वास्तविकता को कोई नकार नहीं सकता कि रूस की क्रांति के कारण दुनिया भर के मज़दूरों, ख़ाली हाथ लोगों और साम्राज्य के शिकंजे में मज़दूर, दबे-कुचले, सिसकते लोगों को एक नया हौसला मिला, नए सपने देखने का साहस मिला। ज़िंदगी को बेहतर बनाने की सकारात्मक भावना एक विशाल वृक्ष की भाँति विशाल से विशालतर होती जा रही थी। उसकी टहनियों से नई टहनियाँ फूट रही थीं। प्रगतिशील आंदोलन भी एक ऐसी ही टहनी का नाम है।

देवियो और सज्जनो, प्रगतिशील आंदोलन का यह अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, परंतु केवल परिप्रेक्ष्य पूरा चित्र नहीं होता। हम भारतीय प्रगतिशील आंदोलन को उसकी अपनी ज़मीन के ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक संदर्भ में रखे बिना पूरी तरह परख नहीं पाएँगे।

भारत पर ब्रिटिश शासन हो जाने के बाद भारतीय बुद्धिजीवियों और समाज सुधारकों ने दो विभिन्न अपितु विपरीत बातों को अपनाया। एक दृष्टिकोण तो वह था जिसके आह्वानकर्ता राजा राममोहन राय, ज्योतिबा फुले और परवर्ती कई सुधारक थे। ये लोग अंग्रेज़ी शिक्षा के दृढ़ पक्षधर थे। यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि राजा राममोहन राय ने अंग्रेज़ी शिक्षा की बात उस समय की थी जब अंग्रेज़ शासकों ने इस बारे में सोचा तक नहीं था। लॉर्ड मेकाले के जगतप्रसिद्ध 'मिनट्स ऑव एजुकेशन'

राजा रामोहन राय के निधन के दो वर्ष बाद अर्थात् 1835 में प्रकाशित हुए। राजा राममोहन राय और मेकाले की नीयत में ज़मीन-आसमान का अंतर था। राजा राममोहन राय अंग्रेज़ी शिक्षा के माध्यम से एक वैज्ञानिक और वस्तुपरक विचारधारा का प्रचार करने और धार्मिक अंधविश्वास और दूसरी सामाजिक कुरीतियों को मिटाने का प्रयत्न कर रहे थे। जबकि मेकाले अंग्रेज़ी शिक्षा से एक ऐसे मध्यम वर्ग को बढ़ाना चाहता था जो शासकों की मशीन का पुर्ज़ा बन सके।

दूसरे दृष्टिकोण का स्कूल उन रूढ़िवादियों का था जिन्होंने राजा राममोहन राय का पूरा विरोध किया। उन्हें ध्यान से देखा जाए तो मालूम होगा कि इस विरोध का कारण न अंग्रेज़ शासक थे न अंग्रेज़ी भाषा, अपितु वे सुधार थे जिनके लिए राजा राममोहन राय प्रयत्नशील थे।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि राजा राममोहन राय ने उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में ही आधुनिक अंग्रेज़ी शिक्षा के लिए प्रयास आरंभ कर दिए थे, जबकि मुसलमानों को इसका ख़याल भी 1857 तक नहीं आया। 1857 के बाद ही सर सैयद और उनके साथियों का अलीगढ़ आंदोलन इस मार्ग पर आगे बढ़ा। मुसलमानों में भी पुनरुत्थानवादी विचारधारा का स्कूल विद्यमान था, जिसका आरंभ तो वहाबी आंदोलन से ही हो चुका था। सर सैयद और उनके साथियों का भरपूर विरोध भी हुआ और उनके समकालीन अकबर इलाहाबादी भी उन्हें प्राय: अपने व्यंग्यपूर्ण शेरों का निशाना बनाए रखते थे :

क्या जानिए सैयद थे हक़आगाह[1] कहाँ तक
समझे न कि सीधी है मेरी राह कहाँ तक।

अकबर इलाहाबादी का एक क़त: बहुत प्रसिद्ध है जो उन्होंने अपने बेटे इशरत के लिए लिखा है :

इशरती घर की मुहब्बत का मज़ा भूल गए
खा के लंदन की हवा अहदे वफ़ा भूल गए
पहुँचे होटल में तो फिर ईद की परवा न रही
केक को चख के सिवइयों का मज़ा भूल गए।

फिर समय मिले न मिले यहाँ एक सवाल पूछता चलूँ जो मेरे मन में कुछ दिनों से है। इसका उत्तर आप भी सोचिएगा। वो अकबर इलाहाबादी जो पश्चिमी शिक्षा को इतने संदेह और घृणा से देखते थे उनका अपना लाड़ला इशरती लंदन की हवा कैसे खा रहा था, जहाँ वो केक चखकर सिवइयों का मज़ा भूल रहा था? आख़िर अकबर इलाहाबादी का बेटा लंदन पहुँचा कैसे? उन्होंने जाने क्यों दिया? देवियो एवं सज्जनो! यह कोई एक अकबर इलाहाबादी की बात नहीं है। ऐसे रवैये आज भी लोगों में पाए जाते हैं। आज हमारे देश में जो लोग हिंदी के अगुआ हैं वे अंग्रेज़ी को ग़ुलामी का प्रतीक बताकर उसे मिटा देने की राय दूसरों को देते हैं, उनके अपने बच्चे अंग्रेज़ी स्कूलों में पढ़ते हैं। इंग्लैंड अमरीका या फिर ऑस्ट्रेलिया जाकर अपनी शिक्षा पूरी करते हैं। वे लोग मदरसों की पाठ्य पुस्तकों में किसी भी प्रकार के बदलाव के लिए तैयार नहीं हैं। उनमें अधिकतर लोगों के बच्चे मदरसों में नहीं दूसरे स्कूलों में पढ़ते हैं। ख़ैर यह तो एक आपत्तिजनक उल्लेख था। आइए अलीगढ़ आंदोलन की तरफ़ वापिस चलें।

मुसलमानों में शिक्षा के प्रति जागृति पैदा करने के साथ-साथ सर सैयद और उनके साथियों ने इस्लाम के कुछ सिद्धांतों पर दोबारा सोचने का सिलसिला शुरू किया। इसके बारे में सर सैयद, मुहसेनुलमुल्क और चिराग़ अली के लेख आज भी उपलब्ध हैं जिनमें इस्लामी धर्म की उदार और वैज्ञानिक सोच मिलती है। परंतु इस क्षेत्र में अलीगढ़ आंदोलन को कोई सफलता नहीं मिली। यद्यपि यह भी सच है कि इस आंदोलन ने कहीं

1. सत्यनिष्ठ

मुसलमानों के उच्च और मध्य वर्ग में एक ऐसा वातावरण पैदा कर दिया था जो आगे चलकर प्रगतिशील सोच और विचारों के लिए बहुत अनुकूल सिद्ध हुआ।

हाली की गणना भी सर सैयद के साथियों में होती है। उनका *मुक़द्दम-ए-शेरो-शायरी*[1] उर्दू का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ है। हालाँकि इसकी कई बातों को लोगों ने नहीं स्वीकार किया फिर भी इस पुस्तक का ऐतिहासिक महत्त्व है। हाली ने इसमें उर्दू शायरी और विशेषतः ग़ज़ल में सुधार की बात की है। वे उर्दू की क्लासिकी शायरी के घिसे-पिटे विषय, शम्अ-ओ-परवाना, गुल-ओ-बुलबुल, आशिक़-ओ-माशूक़, जाम-ओ-मीना इत्यादि पर लिखने के विरोधी थे। *मुक़द्दम-ए-शेरो-शायरी* में साहित्य में लक्ष्य और उपादेयता वाले पक्ष की महत्ता पर ज़ोर दिया गया है। इन अर्थों में हाली और उनके ही साथी मुहम्मद हुसेन आज़ाद को प्रगतिशील आंदोलन का अगुआ कहा जा सकता है। 1857 के बाद ये दोनों लोग लाहौर में जा बसे और वहाँ उन्होंने ऐसे मुशायरे आयोजित किए जिनमें कोई मिस्रए-तरह[2] देने के स्थान पर विषय दिए जाते थे और दिए गए विषय पर हर शायर को नज़्म लिखनी होती थी। इस प्रकार का पहला मुशायरा 1874 में हुआ था। इससे उर्दू शायरी के विषयों, शब्दों, उपमाओं और रूपकों में वृद्धि होने लगी। शायर अपनी उन इच्छाओं से परे देखने का भी अभ्यस्त होने लगा जो केवल उसके अपने निजी संसार से संबंधित थीं।

कोई ग़लतफ़हमी न रहे इसलिए आवश्यकता है दो बातें पूरी तरह स्पष्ट कर दी जाएँ। एक यह कि हाली और आज़ाद प्रगतिशील आंदोलन के अगुआ होने के बावजूद, प्रगतिशील आंदोलन के संस्थापक किसी भी तरह नहीं थे। हाली और आज़ाद की नैचुरल शायरी और प्रगतिशील शायरी में जो अंतर है उसके बारे में भी हम बात करेंगे। दूसरी बात यह है कि हाली और आज़ाद के दौर में सामाजिक विषय और उन पर विचार उर्दू शायरी के लिए कोई नई बात नहीं थी। कुलीक़ुतुब शाह से लेकर ग़ालिब तक लगभग हर शायर ने अपने दौर की सामाजिक स्थितियों पर कुछ न कुछ कहा है। बल्कि उर्दू शायरी की एक विधा 'शहरे-आशोब' है जिसमें शहर की सामाजिक दशा और उसकी समस्याओं को प्रस्तुत किया जाता है। अधिकतर क्लासिकल शायरों ने 'शहरे-आशोब' कहे लेकिन इस विधा में सौदा और नज़ीर का बहुत नाम हुआ। सौदा अपने शहरे-आशोब में कहते हैं :

ख़राब हैं वो इमारत क्या कहूँ तुझ पास
कि जिनके देखने से जाती रही थी भूख और प्यास
और अब जो देखो तो दिल हुए ज़िंदगी से उदास
बजाय गुल चमनों में कमर-कमर है घास
कहीं संतू[3] *पड़ा है तो कहीं मरग़ौल*[4]

इसी विधा में नज़ीर अकबराबादी का एक बंद है :

मारे हैं हाथ हाथ पे सब याँ के दस्तकार
और जितने पेशः वार हैं रोते हैं ज़ार-ज़ार
कूटे हैं तन को हार तो पीटे है सर सुनार
कुछ एक दो के काम का रोना नहीं है यार
छत्तीस पेशे वालों का है कारोबार बंद।

इसके अतिरिक्त मेलों-ठेलों, तीज-त्योहारों, होली-दीवाली, बसंत पर उर्दू में शुरू से ही अनगिनत कविताएँ लिखी गई हैं। यह इसका प्रतीक है कि कवि अपने समाज से कटा हुआ कभी नहीं था। राष्ट्रीय एकता और सहिष्णुता

1. हाली की पुस्तक का नाम।
2. ग़ज़ल कहने के लिए शेर की एक पंक्ति देना।
3. स्तंभ
4. मेहराब

शुरू से ही उर्दू शायरी का मिज़ाज रहा है। क्लासिकल उर्दू शायरी अपने समय की राजनीति पर कभी-कभी नज़र डालती रही है। मीर के दो-एक शेर सुनते चलिए। मीर के युग में मुग़ल बादशाह अहमद शाह को सिंहासन से उतारकर अंधा कर दिया गया था :

शहा [1] के कहले जवाहर [2] थी ख़ाके पा [3] उनकी
उन्हीं की आँखों में फिरती सलाइयाँ देखीं।

अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण के बाद दिल्ली का चित्र इस शेर में झलकता है :

दिल की बरबादी की इस हद है ख़राबी के न पूछ
जाना जाता है कि इस राह से लश्कर गुज़रा।

एक और शेर :

फ़सल आई तो नख्ले दार [4] पे मीर
सरे मंसूर [5] ही का बार [6] आया

या और खुलकर बात कर लेते हैं :

अमीरज़ादों से दिल्ली के मत मिलाकर मीर
के हम ख़राब हुए हैं उन्हीं की सोहबत में।

ग़ालिब का एक शेर 1857 के रक्तपात की पृष्ठभूमि के साथ :

क़द-ओ गेसू [7] में क़ैस ओ
कोहकन [8] की आज़माइश है
जहाँ हम हैं वहाँ
दार-ओ-रसन [9] की आज़माइश है।

मजरूह कहते हैं :

जुनूने दिल न सिर्फ़ इतना के
इक गुल पैरहन [10] तक है
क़दो गेसू से अपना
सिलसिला दारो रसन तक है

सरदार जाफ़री का एक शेर :

हिकायत [11] दिल की क्या,
दारो रसन की इक कहानी है
क़दो गेसू की लेकिन दास्ताँ मालूम होती है

ग़ालिब का शेर :

लिखते रहे जुनूँ की हिकायते खूँ चाकां [12]
हर चंद इसमें हाथ हमारे क़लम हुए [13]

फ़ैज़ कहते हैं :

मताए लौहो क़लम [14] छिन गई तो क्या ग़म है
कि ख़ूने दिल में डुबो ली है उँगलियाँ मैंने
ज़बाँ पे मुहर लगी है तो क्या के रख दी है
हर एक हल्क़-ए-ज़ंजीर [15] में ज़बाँ मैंने

न जाने किसकी पंक्ति है लेकिन ऐसे अवसर पर याद आती है :

सल्तनत दस्त ब दस्त आई है

प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि सल्तनत दस्त ब दस्त आती है तो साहित्य को समाज से जोड़ने का सेहरा प्रगतिशील आंदोलन के ही सिर क्यों बाँधा जाए? हाली और आज़ाद की नैचुरल शायरी के आंदोलन के सिर क्यों नहीं? इसका उत्तर पाने के लिए इन दोनों आंदोलनों में जो अंतर है उसे समझना होगा।

एक, हाली और आज़ाद के साहित्यिक आंदोलन में सामाजिक शिष्टाचार, ज्ञानवर्द्धक साहित्य और शिक्षा से आने वाली जागृति की चर्चा तो ख़ूब रही परंतु राजनैतिक जागृति का नाम नहीं लिया गया। इसके विपरीत प्रगतिशील आंदोलन समाजवादी समाज को अपना लक्ष्य मानता रहा। हाली और आज़ाद के आंदोलन ने अपने समय के शासकों से टक्कर नहीं ली जबकि प्रगतिशील आंदोलन ने खुलकर ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध लिखा। उसके रचनाकारों ने अपने

1. हे राजा, 2. आँखों की ज्योति बढ़ाने के लिए मूल्यवान रत्नों से बनाया सुरमा, 3. पैर की धूल, 4. पेड़ की सूली, 5. मंसूर का सिर जिन्हें 'अनहलक' कहने के लिए मृत्यु दंड मिला, 6. बोझ, 7. क़द की अलकें, 8. मजनूँ और फ़रहाद, 9. सूली का तख़्ता और फाँसी का फंदा, 10. गुलाब के फूल जैसे रंगीन, कोमल और सुगंधित कपड़े पहनने वाली नायिका, 11. वृत्तांत, 12. रक्त-रंजित कहानी, 13. काटे गए, 14. लेखनी व तख़्ती की पूँजी, 15. ज़ंजीर की कड़ी।

इस दुस्साहस के कारण कारागार के कष्ट भी झेले।

दूसरे, हाली और आज़ाद का आंदोलन उच्च एवं मध्य वर्ग के उन लोगों को ही संबोधित कर रहा था जिनकी गिनती कुलीन वर्ग में होती थी। इस आंदोलन के दामन में नाइयों, रोटी बेचने वालों, ताँगे वालों, किसानों, मामूली मज़दूरी करने वाले लोगों, कुल मिलाकर मेहनतकश जनता के लिए कुछ भी नहीं था। इसके विपरीत प्रगतिशील आंदोलन ने पिछड़े हुए दरिद्र, असहाय और निर्धन जन की समस्याओं को अपनी साहित्यिक रचनाओं का विषय बनाया।

तीसरे, हाली और आज़ाद के आंदोलन ने माँओं, बहनों, बेटियों को तो यह बताया कि दुनिया की इज़्ज़त उनसे है परंतु दुनिया को यह नहीं बताया कि बहनों, बेटियों की क्या इज़्ज़त है और क्या अधिकार है। वह इज़्ज़त जो अधिकारों से वंचित हो बस नाम ही की होती है।

इसके विपरीत प्रगतिशील आंदोलन का शायर मजाज़ 1937 में नारी को यह संदेश दे रहा था कि :

तेरे माथे का ये आँचल
बहुत ही ख़ूब है लेकिन
तू इस आँचल से इक
परचम बना लेती तो अच्छा था।

कुछ समय बाद प्रगतिशील आंदोलन के एक दूसरे युवा शायर कैफ़ी ने नारी को कुछ यों संबोधित किया :

नब्ज़े हस्ती का लहू काँपते आँसू में नहीं
उड़ने खुलने में है नकहत [1] ख़मे गेसू [2] में नहीं
जन्नत तक और है जो मर्द के पहलू में नहीं
उसकी आज़ाद रविश पर भी मचलना है तुझे
उठ मेरी जाँ मेरे साथ ही चलना है तुझे

1. सुगंध, 2. बालों के पेच

यूरोप और अमरीका में स्त्री-मुक्ति और सशक्तिकरण का आंदोलन बीसवीं सदी की छठी दहाई में जर्मेन ग्रियर और बेटी फ्रैडमेन जैसी साहसी महिलाओं के लेखों द्वारा प्रेरित जागृति का परिणाम था। खेद यह है कि दुनिया नहीं जानती कि उनसे कोई बीस वर्ष पहले से हिंदुस्तान की एक कहानीकार यही सारी बातें बिना डर-भय के लिख रही थी और इस जुर्म की सज़ा में उसे कई बार अदालत का मुँह भी देखना पड़ा, मगर उसकी क़लम की धार तेज़ ही रही। उस लेखिका का नाम था इस्मत चुग़ताई। यह नाम हिंदुस्तानी प्रगतिशील आंदोलन का सुदृढ़ स्तंभ है।

चौथा मुख्य अंतर जो हाली और आज़ाद की नैचुरल शायरी के आंदोलन और प्रगतिशील आंदोलन में देखा जा सकता है, वह यह कि नैचुरल शायरी का आंदोलन कोई व्यवस्थित आंदोलन नहीं था। अंग्रेज़ी कविताओं के उर्दू अनुवाद पढ़कर हाली और आज़ाद ने उर्दू शायरों को प्राकृतिक दृश्यों और सुधारवादी विषयों पर सरल भाषा में नज़्में लिखने की राय दी। यह आंदोलन बहुत सीमित था। लाहौर के अलावा दिल्ली के कुछ गिने-चुने शायरों ने इस ओर ध्यान दिया। इसके विपरीत प्रगतिवादी आंदोलन का दायरा किसी एक भाषा, किसी एक देश तक सीमित नहीं था। यह एक विश्वव्यापी आंदोलन था। हिंदुस्तान में भी सारी ही भाषाओं पर इसका प्रभाव पड़ा और उर्दू में भी यह आंदोलन इस प्रकार उभरा कि उर्दू भाषा के सारे ही केंद्र— दिल्ली, लखनऊ, अलीगढ़, हैदराबाद, मुंबई और लाहौर—हर जगह के प्रथम श्रेणी के कवि व लेखक किसी न किसी हद तक इससे प्रभावित हुए। इस यथार्थ के आलोक में नैचुरल शायरी के आंदोलन और प्रगतिवादी आंदोलन का अंतर स्पष्ट हो जाता है।

24 नवंबर 1934 की शाम कुछ युवा लेखक और विचारक लंदन के एक रेस्तराँ में मिले। इस

मीटिंग में एक दस्तावेज़ पर ग़ौर किया जाना था जिसे सज्जाद ज़हीर ने तैयार किया था। इसका उद्देश्य भारतीय भाषाओं के साहित्य को नए विषय और नए सौंदर्य बोध से परिचित कराना था। इसमें जो लोग शामिल थे उनमें से कुछ बाद में विभिन्न भाषाओं के विशेष लेखक बनकर उभरे। सज्जाद ज़हीर के अतिरिक्त ज्योतिर्मय घोष, मुल्कराज आनंद और मुहम्मद दीन तासीर भी वहाँ थे जो क्रमशः बाङ्ला, अंग्रेज़ी और उर्दू के अच्छे और प्रभावी लेखक की हैसियत से जाने गए। मीटिंग में तय पाया गया कि अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के नाम की एक संस्था बनाई जाए। इसकी ज़िम्मेदारी सज्जाद ज़हीर को दी गई। 1935 के मध्य तक आंदोलन का घोषणा-पत्र तैयार कर लिया गया जिसे लेकर सज्जाद ज़हीर हिंदुस्तान आए और हिंदुस्तान के मुख्य लेखकों की राय जानने के लिए घोषणा-पत्र उनके सामने रखा। मुंशी प्रेमचंद जैसे उर्दू-हिंदी के प्रथम श्रेणी के साहित्यकारों ने न केवल इसकी प्रशंसा की बल्कि इसका हिंदी अनुवाद अपनी पत्रिका *हंस* में छापा भी।

प्रगतिशील लेखक संघ की पहली कॉन्फ्रेंस 13 अप्रैल, 1936 को लखनऊ में हुई और इसमें इस घोषणा को स्वीकृति दी गई। इस घोषणा में एक जगह इन शब्दों में भारतीय लेखकों के सामाजिक दायित्व पर प्रकाश डाला गया था, "भारतीय साहित्यकारों का कर्तव्य है कि वो भारतीय जीवन में आने वाले बदलाव का पूरा-पूरा वर्णन करें और साहित्य में वैज्ञानिक तर्कसंगत सोच को बढ़ावा देते हुए इस प्रकार की आलोचना शैली को प्रचलित करें जिससे वंश, धर्म, लिंग, युद्ध और समाज के बारे में प्रतिक्रियावादी विचारों की रोकथाम की जा सके। उनका कर्तव्य है कि ऐसे प्रचलन को बढ़ावा न दें जो जातिवादी और मानवीय शोषण का समर्थन करते हैं।"

मुंशी प्रेमचंद ने इस कॉन्फ्रेंस की अध्यक्षता की थी। अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा था, "साहित्य केवल बहलाव की वस्तु नहीं है। दिल

के बहलाने के अलावा इसका और भी कुछ उद्देश्य है। वह अब केवल इश्क़ो-आशिक़ी के राग नहीं अलापता बल्कि जीवन की समस्याओं पर विचार करता है।''

इसी अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने यह भी कहा, ''हमारा संघ साहित्य को शराब और शबाब का मुखापेक्षी नहीं देखना चाहता। साहित्य को प्रयास और प्रगति का संदेश एवं तराना बनाने का इच्छुक है। इसे भाषा से बहस नहीं। विचारधारा के फैलाव से भाषा स्वयं सरल हो जाती है। अर्थ, बनावटों से दूर रह सकता है। जो लेखक सामंतों का है वो सामंतों की शैली अपनाता है। जो आम जन का है वो आम जन की भाषा लिखता है।''

प्रेमचंद के इस भाषण की अधिकतर बातें सदा के लिए प्रगतिशील साहित्य की विशेषता रहीं। इस अध्यक्षीय भाषण में जहाँ साहित्य को जीवन की सच्चाइयों से जोड़ने और उनके वर्णन पर ज़ोर दिया गया है वहीं सौंदर्य के मानदंड को बदलने की बात की गई है। एक प्रगतिशील लेखक अपनी प्रेमिका की प्रशंसा के अतिरिक्त उस दौड़ती-भागती, गिरती-सँभलती, मेहनत करती ज़िंदगी के दूसरे रूप पर भी नज़र डालता है। उसे अपनी लेखनी में उजागर करता है। प्रेमचंद के इस दृष्टिकोण का बयान फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की प्रसिद्ध नज़्म में यूँ होता है :

मैंने समझा था कि तू है तो दरख़्शां [1] है हयात [2]
तेरा ग़म है तो ग़मे दहर [3] का झगड़ा क्या है
तेरी सूरत से है आलम में बहारों को शबात [4]
तेरी आँखों के सिवा दुनिया में रखा क्या है!

प्रेमिका की देहयष्टि की प्रशंसा के बाद शायर की नज़र अनगिनत शताब्दियों की ज़ालिम रस्मों की तरफ़ भी जाती है। वह गली-कूचों और बाज़ार में बिकते हुए जिस्म भी देखता है। मिट्टी में सने हुए और ख़ून में नहलाए हुए ये जिस्म उसे यूँ प्रभावित करते हैं कि वह कहता है :

लौट जाती है उधर को भी नज़र क्या कहिए
अब भी दिलकश है तेरा हुस्न मगर क्या कहिए।
और भी ग़म हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा
राहतें और भी हैं वस्ल[1] की राहत के सिवा।

प्रगतिशील आंदोलन के कुछ ऐसे विरोधी हुए हैं जिनका कहना था कि यह केवल कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़े कवियों और लेखकों का आंदालन था। और आंदोलन भी क्या था असल में ये कम्युनिस्ट पार्टी के प्रचार तंत्र का ही एक अंग था, न इससे अधिक न इससे कम। प्रगतिशील आंदोलन के बारे में इस प्रकार की राय बनाने के लिए आदमी में कम से कम एक कमी होनी चाहिए, या तो ज्ञान की या ईमानदारी की, और सौभाग्य से दोनों हों तो आदमी सारा जीवन पूरी दृढ़ता से इस ग़लत राय पर स्थिर रह सकता है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि सज्जाद ज़हीर के साथ उनके जिन साथियों ने साहित्य का संबंध सामाजिक समस्याओं और विशेषत: पिछड़े और कमज़ोर लोगों से जोड़ने और मज़बूत करने की बात की थी उनमें से कई कम्युनिस्ट पार्टी से संबंध रखते थे। कम्युनिस्ट होना न तो कोई अपराध है न कोई पाप लेकिन यह भी सच है कि कई ऐसे भी थे जिनका कम्युनिस्ट पार्टी से कोई लेना-देना नहीं था। स्वयं मुंशी प्रेमचंद वैचारिक स्तर पर गांधीवादी थे और प्रगतिशील आंदोलन की पहली कॉन्फ्रेंस में दिया गया उनका अध्यक्षीय भाषण एक विशेष दस्तावेज़ है कि इस ग़ैर कम्युनिस्ट लेखक के भाषण ने बड़ी हद तक आंदोलन के उद्देश्य, भाषा और शैली को तय किया। इस आंदोलन को गुरु रवींद्रनाथ टैगोर का भी आशीर्वाद प्राप्त था। इस प्रगतिशील लेखक संघ के लेखकों को उन्होंने अपना संदेश भेजा था जिसमें उन्होंने कहा था, ''आज हमारा देश एक रेगिस्तान है जिसमें हरियाली और जीवन का नामो-निशान नहीं है। देश का कण-कण

1. उज्ज्वल, 2. जीवन, 3. सांसारिक दुख, 4. चिरस्थायित्व,

दुख का चित्र बना हुआ है। हमें इस दुख को मिटाना है और जीवन के बग़ीचे की नए रूप से बाग़वानी करनी है। साहित्यकार का कर्तव्य यह होना चाहिए कि देश में नए जीवन का संचार करे, जागरण और उत्साह के गीत गाए। हर व्यक्ति को आशा एवं उल्लास का संदेश सुनाए और किसी को हताश न होने दे। देश और उसकी भलाई को अपने व्यक्तिगत हित पर वरीयता देने की भावना हर छोटे-बड़े में पैदा करना साहित्यकार का मुख्य कर्तव्य होना चाहिए। देशवासी, समाज और साहित्य की उन्नति का प्रण जब तक हर व्यक्ति नहीं लेगा उस समय तक संसार का भविष्य उज्ज्वल नहीं हो सकता।''

मेरा विचार है कि इस बात को कोई अस्वीकार नहीं करेगा कि टैगोर राजनैतिक पार्टियों से कहीं बड़े हैं।

कांग्रेस के एक सक्रिय कार्यकर्ता हसरत मुहानी जेल भी गए, चक्की भी पीसी। प्रगतिवादी आंदोलन के हामी थे। फ़रमाते हैं :

न सरमायावारों की निस्वत[2] रहेंगी
न हुक्कामों का ज़ोरे बेजा रहेगा
ज़माना वो जल्द आने वाला है जिसमें
किसी का न मेहनत पर दावा रहेगा।

टैगोर, हसरत मुहानी, प्रेमचंद के अतिरिक्त भी प्रगतिशील आंदोलन का समर्थन ऐसे अनगिनत साहित्यकारों एवं विचारकों ने किया है जो कम्युनिस्ट नहीं थे। पंडित जवाहरलाल नेहरू, मौलवी अब्दुल हक़, जोश मलीहाबादी, फ़िराक़ गोरखपुरी, अज़ीज़ अहमद, हयातुल्लाह अंसारी, अहमद नदीम क़ासमी, तेलुगु के कवि श्री श्री, गुजराती कवि उमाशंकर जोशी, पंजाबी लेखक गुरबख़्श सिंह, मराठी साहित्यकार अन्ना भाऊ साठे प्रगतिशील आंदोलन के दृढ़ समर्थक थे परंतु उनकी राजनैतिक विचारधारा कम्युनिस्टों से भिन्न थी। प्रगतिशील लेखक संघ के बहुत ही सक्रिय और महत्त्वपूर्ण रचनाकारों में भी ऐसे लोग शामिल थे। सरदार जाफ़री, कैफ़ी आज़मी, जाँनिसार अख़्तर कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य थे परंतु ख़्वाजा अहमद अब्बास, राजिंदर सिंह बेदी, साहिर लुधियानवी, इस्मत चुग़ताई कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य नहीं थे, फिर भी प्रगतिशील लेखकों से उनका उतना ही गहरा लगाव था जितना किसी और का।

यह भी सच है कि इस आंदोलन में ऐसे भी लोग थे जिनकी राजनैतिक सोच में लोच की कमी थी और उन्होंने अपने दृष्टिकोण को आंदोलन में दूसरों से मनवाना भी चाहा जो कि एक प्राकृतिक-सी बात है परंतु ऐसा हुआ नहीं। आंदोलन की एक सभा में लेखिका अख़्तर जमाल ने अपनी जोश भरे भाषण में कहा कि आज हमारा झंडा लाल है। हमारे इरादे लाल हैं। हमारी क़लम लाल है, हमारी रोशनाई लाल होनी चाहिए। हमारी कहानियाँ लाल होनी चाहिए। हमारी नज़्में भी लाल होनी चाहिए। हमारी ग़ज़लें भी लाल होनी चाहिए। मजाज़ जो इस सभा में बैठे थे खड़े हो गए और कहा, महोदया कम से कम गुलाबी की इजाज़त तो दे दीजिए। मुझे मालूम नहीं कि महोदया ने अनुमति दी कि नहीं लेकिन प्रगतिशील आंदोलन में जहाँ लाल रंग था वहाँ हल्के गहरे गुलाबी बहुत से रंग थे। नियाज़ हैदर, फ़ैज़, मजाज़, कैफ़ी, जाँनिसार अख़्तर, मजरूह, मख़्दूम और साहिर—इन सब की शायरी को एकरंगी नहीं कहा जा सकता। कृश्न चंदर, इस्मत चुग़ताई और बेदी की कहानियाँ किसी एक साँचे में ढली हुई नहीं थीं।

समस्या यह है कि आप सामाजिक समानता और न्याय की बात कीजिए, अल्पसंख्यक और महिलाओं के पक्ष में बात कीजिए, जातिवाद और धार्मिक उन्माद के विरुद्ध बात कीजिए, कमज़ोर वर्ग के लोगों, किसानों और मज़दूरों के आर्थिक शोषण की बात कीजिए तो आप हों न

1. मिलन, 2. अभिमान

हों लेकिन आपको आमतौर से कम्युनिस्ट समझा जाता है। मेरा विचार है हमारे कम्युनिस्ट साथी इस पर गर्व कर सकते हैं पर मेरा विश्वास है कि क़िसी के प्रगतिशील होने के लिए कम्युनिस्ट होना ज़रूरी नहीं है लेकिन कम्युनिस्ट का प्रगतिशील होना आवश्यक है।

यहाँ कोई पूछ सकता कि असल में प्रगति-शीलता की परिभाषा क्या है। प्रेमचंद, कृश्न चंदर और कई गणमान्य साहित्यकारों की रचनाओं और आंदोलन की विभिन्न सभाओं में उनके भाषणों की रोशनी में कहा जा सकता है कि प्रगतिशीलता का अर्थ परंपरा की ग़ुलामी के स्थान पर अनुभवों से सीखने पर ज़ोर देना भी है। बदलाव को मानना परंपरा की अवमानना करना नहीं है। प्रगतिशीलता का अर्थ है एक तार्किक और वैज्ञानिक सोच और सामाजिकता को आगे बढ़ाना। कला और साहित्य को केवल मनोविलास की चीज़ न समझना, उसे सोद्देश्य और सार्थक बनाकर समाज की कुरीतियों के विरुद्ध आवाज़ उठाना और सकारात्मक मूल्यों को मज़बूत करने का प्रयास प्रगतिशीलता है।

रीति-रिवाज के नाम पर आज भी स्त्री अत्याचार और अन्याय की शिकार होती है। उनका विरोध प्रगतिशीलता है।

समाज के पिछड़े हुए लोगों की समस्याओं को साहित्य का विषय बनाना, पूँजी और श्रम में शोषण का जो संबंध रहा है और आज भी है उस पर प्रश्न चिह्न लगाना प्रगतिशीलता है।

अब प्रश्न यह है कि प्रगतिशील संघ के रचनाकारों की रचनाएँ क्या इन सामाजिक ज़िम्मेदारियों की कसौटी पर खरी उतरती हैं। प्रगतिशील कहानीकारों ने प्रगतिशील मूल्यों की प्रसिद्धि में एक मुख्य भूमिका निभाई। प्रेमचंद के अलावा अली अब्बास हुसैनी की कहानी (मेलाघुमनी), कृश्न चंदर (कालू भंगी, ज़िंदगी के मोड़ पर), इस्मत चुग़ताई (गेंदा, चौथी का जोड़ा, नन्ही की नानी), मंटो (टोबाटेक सिंह, नया क़ानून, हतक), राजिंदर सिंह बेदी (लाजवंती, अपने दुख मुझे दे दो), हयातुल्लाह अंसारी (आख़िरी कोशिश), अहमद नदीम क़ासमी (गंडासा, परमेश्वर सिंह), ख़्वाजा अहमद अब्बास (अबाबील, टिड्डी), उपेंद्रनाथ अश्क (काकड़ाँ का तेली), ग़ुलाम अब्बास (आनंदी), बलवंत सिंह (जग्गा)—संक्षेप में कुछ ही कहानीकारों का नाम ले रहा हूँ। इन कहानियों ने उस सामाजिक दायित्व को निभाया है जिसका आग्रह प्रेमचंद ने अपने भाषण में किया था, जिसका परामर्श गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर ने 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ को भेजे गए संदेश में दिया था। शायद प्रेमचंद के इसी आग्रह, टैगोर के इसी परामर्श की रोशनी में कृश्न चंदर ने प्रगतिशील रचनाकारों की एक सभा में कहा था, ''ऐसा मालूम होता है कि जैसे हमारी शायरी और हमारा कहानी लेखन, कुछ प्रयासों को छोड़कर, अभी तक आसमान से नहीं उतरा। हमारी शायरी में भी अभी तक जागीरदारी दौर की गंध और रचाव-बसाव है। उसकी लय धीमी-धीमी दुखी-सी है। उसमें अभी ज़मीन की सोंधी-सोंधी महक नहीं है। किसान के पसीने से भरे हुए मज़बूत हाथ नहीं हैं। इसमें और इसी प्रकार हमारे साहित्य की दूसरी विधा में, मुझे अपने ग़रीब घरों का नक़्शा नहीं मिलता। अपने किसानों के गीत नहीं मिलते। अपने मज़दूरों के दिन-रात के अनथक प्रयासों का वर्णन नहीं मिलता। उसमें उस मज़दूर औरत की टूटी हुई कंघी का ज़िक्र नहीं है जिसके दाँतों में बाल फँसे हुए हैं। उस डब्बू के कुत्ते का हवाला नहीं है जिसे मनोहर अपने साथ सुबह-सवेरे हल चलाने के समय खेतों में अपने साथ ले जाता है। उसमें उस शोख निडर, बेबाक मुहब्बत के गीतों का ज़िक्र नहीं है जो गाँवों की औरतें अपने प्यारों के लिए दोपहर में खेतों में खाना ले जाते हुए मुंडरों पर चढ़ते-उतरते गाती हैं। इसमें उन लिबासों का ज़िक्र नहीं है जिनसे गोबर की बू

आती है। हमारे साहित्य में कहीं बथुए के साग का ज़िक्र नहीं है। इस समय हमारे साहित्य को फूलों की सुगंध और अलकावलि की ज़रूरत नहीं है। इस वक़्त हमारे साहित्य को बथुए के साग की ज़रूरत है और यही हमारे साहित्य की सबसे बड़ी कमज़ोरी है। मुझे इसमें अपने देश के मकान नहीं मिलते। अपने जाने-पहचाने चेहरे नहीं मिलते। अपने घरों की छोटी-छोटी ख़ुशियाँ और ग़म नहीं मिलते। अपने पेड़ नहीं मिलते, फल-फूल, पशु-पक्षियों, किसी एक वस्तु की वो गहरी जानी-पहचानी तस्वीर नहीं मिलती जिसे आदमी सौ वर्ष के बाद भी देखकर भौंचक्का रह जाए। जब तक हम लोग ज़मीन पर नहीं उतर आएँगे, मेहनत और प्रयास से किसानों और मज़दूरों के घरों में जा-जाकर उनके जीवन का अध्ययन नहीं करेंगे, सच्चाई, सत्यनिष्ठा तथा पूरे मन से और पूरी संवेदना से उसका चित्र नहीं उतारेंगे, उस समय तक हमारा साहित्य महत्ता के उस उत्तर को नहीं छू सकता जिसे पढ़कर दुनिया के किसी कोने में रहने वाला व्यक्ति यह कह सके कि ये हिंदुस्तान के लोग तो मेरी ही तरह के इंसान हैं। यह बहुत मुश्किल काम है लेकिन हमें इसे पूरा करना होगा।''

यह बात इस तरह शायद कृश्न चंदर ही कह सकते थे।

मैं पूरे विश्वास से कह सकता हूँ कि आज भी हिंदुस्तान में न जाने कितने लोग हैं जिनके दिलों में वर्ग भेद, आर्थिक शोषण और समाज में असमानता के कारण जो टीस है वह किसी राजनीतिज्ञ के भाषण से नहीं आई है, किसी अर्थशास्त्री के लेख से नहीं जागी है, किसी समाजशास्त्री के लेख का परिणाम नहीं है बल्कि उन प्रगतिशील कहानियों की देन है जिन्होंने अपने पाठक को सामाजिक चेतना दी।

भारत के विभाजन के बाद होने वाले भयंकर दंगे के बारे में जो अनगिनत कहानियाँ और उपन्यास मंटो, कृश्न चंदर, रामानंद सागर और कई प्रगतिशील रचनाकारों ने लिखे, वे आज भी हमारे अंतःकरण को झकझोर देते हैं। यहाँ मैं कृश्न चंदर के उपन्यास *ग़द्दार* के प्रसंग में बात करना चाहूँगा जिनका मुख्य पात्र दीनानाथ लाहौर के पास एक गाँव के हिंदू ज़मींदार घराने का है। उसकी हवेली जला दी जाती है। सारा ख़ानदान मारा जाता है और वह किसी तरह अपनी जान बचाकर भागता है। रास्ते में हिंसा और बर्बरता के दिल दहलाने वाले दृश्य देखता हुआ वह किसी तरह अमृतसर पहुँचता है। वहाँ भी वही दशा है। मानवता को इसी तरह क़त्ल किया जा रहा है। इस रक्तपात से घबराकर दीनानाथ सोचता है कि मानव अपनी सभ्यता पर बड़ा गर्व करता है मगर मानव सभ्यता आज भी एक झिल्ली की भाँति है और इतिहास के नाख़ून की एक रगड़ से वो झिल्ली फट गई है और अंदर से हज़ारों साल पुराना जंगल निकल आया है। उपन्यास के अंत में दीनानाथ रात के समय अकेला उस मैदान में खड़ा है जहाँ दिन में मुसलमानों के एक समूह को क़त्ल किया गया था। मैदान में लाशें ही लाशें हैं। दीनानाथ एक बच्चे के रोने की आवाज़ सुनता है। उसे ढूँढ़ता है और मुर्दा माँ के सीने से लिपटे बच्चे को उठाकर गले से लगाता है और अपने आप से पूछता है कि अब तू कहाँ जाएगा दीनानाथ। तू तो इन दोनों देशों की नफ़रतों का ग़द्दार हो गया है। अब मैं आपको बताना चाहूँगा कि इस प्रकार के साहित्य के बारे में प्रगतिशील आंदोलन के विरोधियों ने क्या लिखा है।

जो प्रगतिशील साहित्य के शत्रुओं के बारे में ज़रा भी जानते हैं वे गोपाल मित्तल के नाम से भली-भाँति परिचित होंगे। उनकी पत्रिका *तहरीक* के रजत जयंती विशेषांक में पाकिस्तान के अनवर सदीद साहब का एक लेख है, जिसमें एक जगह प्रगतिशील कहानीकारों के बारे में यूँ लिखते हैं, ''उन कहानीकारों ने अपने साहित्यिक दायित्व को भूलकर अपने राजनैतिक कर्तव्य को पूरा

करने के लिए फ़साद की पीड़ा को अनुभव बनने से पूर्व ही कहानी में ढालना शुरू कर दिया और प्रभाव की लहर बढ़ाने के लिए कहानियों में ऐसी घटनाएँ ठूँस दी गईं जो वास्तव में घटित ही नहीं हुई थीं।''

अनवर सदीद साहब मिलते तो मैं उनसे पूछता कि 1947 की बर्बरता और पाशविकता ने कहाँ गुंजाइश छोड़ी थी कि कोई प्रभाव की लहर बढ़ाने के लिए किसी बढ़ाव-चढ़ाव की आवश्यकता को महसूस करे।

आगे लिखते हैं, ''प्रगतिशील कहानीकारों ने दंगे को जान-बूझकर अपनाने का प्रयास किया है और यूँ तटस्थता का भाव जताने के बावजूद उनकी मक्कारी, समर्थन और राजनीति छुप न सकी।''

यह विश्लेषण कितना सत्य है आप समझ रहे हैं। इसके बारे में मुझे एक शब्द भी कहने की आवश्यकता महसूस नहीं होती।

अहमद नदीम क़ासमी की सर्वोत्तम कहानी 'परमेशर सिंह' में दंगे के दौरान एक निस्संतान सिख को एक सात-आठ बरस का मुसलमान बच्चा मिल जाता है। वह उसे सिख बनाकर पालने की सोचता है, प्रयास भी करता है मगर फिर उसकी अंतरात्मा उससे कहती है कि यह ग़लत होगा और बच्चे को वापिस उसके ख़ानदान तक पहुँचाने के लिए सीमा तक जाता है। बच्चा तो सीमा पार चला जाता है परंतु सीमा पुलिस परमेशर सिंह को गोली मार देती है।

अनवर सदीद की राय कुछ यूँ है, ''अहमद नदीम ने परमेशर सिंह में तटस्थता का बनावटी प्रभाव पैदा करने की कोशिश की और ऐसे मानव के प्राकृतिक मनोभाव में बनावटीपन का रंग भरा।''

यानी अनवर सदीद साहब के नज़दीक अगर परमेशर सिंह उस बच्चे का क़त्ल या धर्मांतरण कर देता तो यह प्राकृतिक होता, और अगर कहानीकार यह कहता कि परमेशर बच्चे को उसके घरवालों तक पहुँचाने की कोशिश करता है तो अविश्वसनीय है क्योंकि ऐसा कोई काम मानव स्वभाव के विपरीत है। मालूम हुआ कि अनवर सदीद की राय प्रगतिशील आंदोलन के बारे में ही नहीं इंसान के बारे में भी अच्छी नहीं है। इसका क्या कारण हो सकता है, ये मैं तो नहीं जानता लेकिन अपने भाई डॉक्टर सलमान अख़्तर से पूछूँगा, वे मनोविश्लेषक हैं।

प्रगतिशील आंदोलन ने उर्दू साहित्य को इतने ऊँचे शायर दिए कि ऐसी मिसाल न तो कोई दूसरा आंदोलन पेश कर सकता है न ही संस्था। फ़ैज़, मजाज़, मख़्दूम, जाफ़री, मजरूह, जाँनिसार अख़्तर, कैफ़ी, साहिर और ऐसे कितने प्रगतिशील शायर हैं जिनके बग़ैर उर्दू शायरी के इतिहास को अधूरा माना जाएगा।

1935 से 1975 तक ये शायरी हर क़दम पर अपने समाज के हर दुख-दर्द, हर शिकायत और रोष-प्रदर्शन की आवाज़ बनी है। यह शायरी रंगशालाओं, शयन-कक्षों और महलों की शायरी नहीं। यह शायरी मिलों और फ़ुटपाथों की शायरी है। यह शायरी किसान के हाथों में लगी मिट्टी और मज़दूर के माथे के पसीने के बारे में है। यह सत्ताधारी वर्ग के अत्याचार के विरुद्ध तूर्यनाद की शायरी है। ये ढलती हुई रात और आने वाले सवेरे की शायरी है।

प्रगतिशील कवियों पर यह आरोप लगाया जाता है कि उन्होंने हमेशा समय विशेष की शायरी की है। कभी-कभी तो राजनैतिक भाषणों को एकत्रित करके शायरी का रूप दे दिया है। प्रचार और नारेबाज़ी के हाथों कला के आग्रहों और साहित्यिकता का गला घोंटा है।

सच कहूँगा और सच के सिवा कुछ नहीं कहूँगा। ऐसा नहीं है कि यह आरोप पूरी तरह ग़लत है लेकिन यह आरोप पूरी तरह सही भी नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं कि सिवाय एक-आध के लगभग हर प्रगतिशील शायर ने कभी न कभी ऐसी कोई ग़लती की है लेकिन इसमें कोई संदेह

नहीं है कि हर बड़े प्रगतिशील शायर ने ऐसी भी शायरी की है जो उर्दू साहित्य की विशेष और मूल्यवान पूँजी है। अच्छी और बुरी शायरी तो हर युग में हुई है और हर शायर ने की है। लेकिन हम शायर को उसकी अच्छी शायरी से याद रखते हैं और उसकी कमज़ोर शायरी को भूल जाते हैं या रद्द कर देते हैं या माफ़ कर देते हैं।

दूर बैठा ग़ुबारे-मीर उससे
इश्क़ बिन ये अदब नहीं आता

उसी 'मीर' ने एक शेर और कहा है :

सुना जाता है ए घीते तेरे मजलिसनशीनों[1] से
कि तू दारू पीए है रात को मिलकर कमीनों से।

'मीर' क्या सादे हैं बीमार हुए जिसके सबब

इसकी दूसरी पंक्ति शरीफ़ों की महफ़िल में दुहराई भी नहीं जा सकती लेकिन हम 'मीर' के चाहने वाले हैं कि उन्होंने कहा था :

चश्मे ख़ूँ बस्तां[2] से कल रात लहू फिर टपका
हम तो समझे थे कि ऐ 'मीर' ये आज़ार[3] गया।

अब ग़ालिब की तबीअत का अंदाज़ा :

परतवे ख़ुर से है शबनम को फ़ना की तालीम[4]
मै भी हूँ एक इनायत[5] की नज़र होने तक।

से लगाएँगे या इस शेर से कि :

धौल धप्पा उस सरापा नाज़ का शेव: नहीं
हम ही कर बैठे थे ग़ालिब पेश दस्ती एक दिन।

जिस ग़ालिब ने कहा है :

लताफ़त[6] वे कशफ़त[7] जलवा[8] पैदा कर नहीं सकती
चमन जंगार[9] है आईन-ए-बादे बहारी[10] का

उसने यह भी तो कहा है :

असद ख़ुशी से मेरे हाथ-पाँव फूल गए
कहा जो उसने ज़रा मेरे पाँव दाब तो दे।

वह मजरूह जिस पर यह इल्ज़ाम लगता है कि उसका एक शेर है :

अमन का झंडा इस धरती पर
किसने कहा लहराने न पाए
ये भी कोई हिटलर का है चेला,
मार ले साथी जाने न पाए।

इसी मजरूह ने ये प्रगतिशील शेर भी तो कहे हैं :

देख ज़िंदा[11] से परे रंगे चमन, जोशे बहार
रक्त[12] करता है तो फिर पाँव की ज़ंजीर न देख।

शबे जुल्म[13] नर्गिए राहज़न[14] से पुकारता है कोई मुझे
मैं फ़रारे दार[15] से देख लूँ कहीं कारवांने सहर न हो।

रोक सकता हमें ज़िंदाने बला क्या मजरूह
हम तो आवाज़ हैं दीवार से छन जाते हैं।

सरदार जाफ़री जिन पर यह अतिवादी आरोप लगता है कि उन्होंने केवल स्टालिन और रूस की विरुदावली लिखी है, हम उनकी ऐसी नज़्में कैसे भुला सकते हैं, जैसे कि :

सफ़ेद आटा स्याह चक्की
से राग बनकर निकल रहा है
सुनहरे चूल्हों में आग के फूल खिल रहे हैं
पतीलियाँ गुनगुना रही हैं
धुएँ से काले तवे भी चिनगारियों
के होंठों से हँस रहे हैं
दुपट्टे आँगन में डोरियों पर टँगे हुए हैं
और उनके आँचल से धानी बूँदें टपक रही हैं
सुनहरी पगडंडियों के दिल पर
स्याह लहँगा की सुर्ख़ गोटें मचल रही हैं
यह सादगी किस क़दर हँसी है

(अवध की ख़ाके हँसी)

---

1. सभा में बैठने वाले, 2. आँखों में जमा ख़ून, 3. रोग, 4. सूर्य की किरण से ओस नश्वरता का पाठ सीखती है, 5. कृपा दृष्टि, 6. लालित्य, 7. मालिन्य रहित, 8. कारनामा, 9. ताँबे का कसाव, 10. बसंती वायु का दर्पण, 11. कारागार, 12. नृत्य, 13. अत्याचार की रात, 14. डाकुओं की टोली, 15. सूली से विलग होकर।

सौंदर्य-शास्त्र का कौन-सा मापदंड है जो इन मिसरों का साधुवाद नहीं करेगा :

पत्तियों की पलकों पर
ओस जगमगाती है
इमलियों को पेड़ों पर
धूप पर सुखाती है
आफ़ताब [1] हँसता है
मुस्कुराते हैं तारे
चाँद के कटोरे से
चाँदनी छलकती है
जेल की फ़ज़ाओं में
फिर भी इक अँधेरा है
जैसे रेत में गिरकर
दूध जज़्ब हो जाए
रोशनी के गालों पर
तीरगी [2] के नाख़ून की
सैंकड़ों ख़राशें हैं

(पत्थर की दीवार)

प्रगतिशील आंदोलन के हर शायर ने कुछ ऐसी नज़्में, कुछ ऐसे शेर उर्दू साहित्य को दिए हैं जो उर्दू के उत्कृष्ट साहित्य का हिस्सा हैं। फ़ैज़ की, 'हम जो तारीक राहों में मारे गए', 'तन्हाई' और 'जिंदां की एक सुबह', मख़्दूम की 'चाँद तारों का बन' और 'अँधेरा', मजाज़ की 'आवारा' और 'ख़्वाबे सहर', साहिर की 'ताजमहल' और 'परछाइयाँ', जाफ़री की 'मेरा सफ़र' और 'पत्थर की दीवार', जाँनिसार अख़्तर की 'ख़ाके दिल' और 'आख़िरी मुलाक़ात', वामिक़ की 'मीना बाज़ार' और 'ज़मीन', कैफ़ी की 'इब्ने मरियम' और 'औरत', जज़्बी की 'मौत' और उनके तथा मजरूह के अनगिनत शेर जो कहावतें बन चुके हैं। इन सब शेरों की शायरी मानव-प्रेम और भविष्य पर विश्वास की शायरी है। जीवन की महिमा की शायरी है। यहाँ मुझे जाँनिसार अख़्तर के वे मिसरे याद आते हैं :

जीने की हर तरह से तमन्ना हसीन है
हर शर के बावजूद ये दुनिया हसीन है।

दरया की तुंद [3] बाढ़ भयानक सही मगर
तूफ़ान से खेलता हुआ तिनका हसीन है।

सहरा [4] का हर सुकूत [5] डराता रहे तो क्या
जंगल को काटता हुआ रस्ता हसीन है।

दिल को हिलाए लाख घटाओं की घन गरज
मिट्टी पे जो गिरा है वो क़तरा हसीन है।

वहशत दिला रही हैं चट्टानें तो क्या हुआ
पत्थर में जो सनम है वो कितना हसीन है।

रातों की तीरगी [6] है जो पुरहौल [7], ग़म नहीं
सुबहों का झाँकता हुआ चेहरा हसीन है।

हों लाख कोहसार [8] भी हायल तो क्या हुआ
पल-पल चमक रहा है तो तेशा [9] हसीन है।

लाखों सुऊबतों [10] का अगर सामना भी हो
हर जहद [11], हर अमल [12] का तक़ाजा हसीन है।

(आख़िरी लमहा)

विभिन्न प्रगतिशील शायरों का एक-दूसरे से रंग, लहजा, मिज़ाज अलग है, मगर सबने अपनी शायरी को वहीं समर्पित किया है जहाँ फ़ैज़ ने किया है :

इंतिसाब [13]

आज के नाम
और
आज के ग़म के नाम
आज का ग़म के है
ज़िंदगी के भरे गुलसिताँ से ख़फ़ा [14]
ज़र्द पत्तों का बन
ज़र्द पत्तों का बन जो मेरा देस है

---

1. सूर्य, 2. अंधकार, 3. तेज़, 4. जंगल, 5. सन्नाटा 6. अँधेरा, 7. भयप्रद, 8. पर्वतमाला, 9. कुदाल, 10. कष्ट, 11. प्रयास, 12. आशा, 13. रचना का समर्पण, 14. खिन्न।

दर्द की अंजुमन[1] जो मेरा देस है
किलकों की अफ़सुर्दा[2] जानों के नाम
किर्मखुर्दा[3] दिलों ज़बानों के नाम
पोस्टमैनों के नाम
ताँगेवालों के नाम
रेलबानों के नाम
कारख़ाने के भोले जियालों के नाम
बादशाह-ए-जहाँ,
वाली-ए-मासिवा[4],
नायबुल्लाह-ए-फ़िल-अर्ज[5]
दहक़ाँ[6] के नाम

जिसके ढोरों को ज़ालिम हाँक ले गए
जिसकी बेटी को डाकू उठा ले गए
हाथ भर खेत से एक अंगुश्त[7]
पटवार ने काट ली है
दूसरी मालिये[8] के बहाने से
सरकार ने काट ली है
जिसकी पंग ज़ोर वालों के पाँवों तले
धज्जियाँ हो गई हैं।

उन दुखी माँओं के नाम
रात में जिनके बच्चे बिलखते हैं और
नींद की मार खाए हुए
बाजुओं से सँभलते नहीं
दुख बताते नहीं
मिन्नतों ज़ारियों[9] से बहलते नहीं।

उन हसीनाओं के नाम
जिनकी आँखों के गुल
चिलमनों[10] और दरीचों[11]
की बेलों पे बेकार खिल खिल के
मुरझा गए हैं।

उन ब्याहताओं के नाम
जिनके बदन
बे-मुहब्बत रियाकार[12]
सेजों पे सज-सज के उकता गए हैं
बेवाओं[13] के नाम
कटड़ियों[14] और गलियों, मुहल्लों के नाम
जिनकी नापाक खाशाक[15] से चाँद रातों
को आ-आ के करता है अकसर वजू[16]
जिनके सायों में करती है आह-ओ-बुका[17]
आँचलों की हिना
चूड़ियों की खनक
काकुलों[18] की महक
आरज़ूमंद सीनों की अपने
पसीने में जलने की बू
तालिबइल्मों[19] के नाम
वो जो असहाब-ए-तब्ल-ओ-अलम[20]
के दरों पर किताब और क़लम
का तक़ाज़ा लिए, हाथ फैलाए
पहुँचे, मगर लौटकर घर न आए
वो मासूम जो भोलेपन में
वहाँ अपने नन्हे चिराग़ों में लौ की लगन
ले के पहुँचे, जहाँ
बँट रहे थे घटाटोप, बेअंत रातों के साए
उन असीरों[21] के नाम।

---

1. सभा, 2. उदास, 3. कीड़ों का खाया हुआ, 4. सर्वोच्च स्वामी, 5. धरती पर ईश्वर का प्रतिनिधि, 6. किसान, 7. उँगली भर, 8. लगान, 19. रोने, 10. परदों 11. झरोखों 12. दुष्टतापूर्ण, 13. विधवाओं, 14. मकानों का समूह (पंजाबी) 15. कूड़ा-करकट, 16. नमाज़ के लिए हाथ-पैर धोकर पवित्र करना, 17. विलाप, 18. जुल्फ़ों, 19. छात्रों, 20. नगाड़े पताका के मालिक, 21. बंदियों।

मनोज दास

बिल्ली

बहुत पहले की बात है—वीरता और सिहरन से भरी उन दिनों की स्मृतियाँ थके हुए मन के भीतर उफनने लगी थीं; पकते-उबलते चावल की पतीली में से भाप जिस तरह ढक्कन को धकेलते हुए बाहर निकलना चाहती है—महेंद्र मिश्र के मन की अतल गहराई में जड़े हुए एक आवरण के कुछ पेंच अचानक ढीले पड़ जाने से उसके नीचे से कई तरह के मीठे, आकुल और व्याकुल पल के कुछ आत्मीय चेहरे उझकने लगे थे। कुछ अभिमान, कुछ सम्मान और कुछ भय के साथ वे इस प्रतीक्षा में थे कि आज का सेवा-निवृत्त ज़िलाधीश महेंद्र मिश्र उन्हें पहचान पाता है या नहीं।

पान की एक गिलौरी चबाते हुए उदार मन से महेंद्र बाबू पहचान रहे थे—छंदमय, चपल, बाल-कैशोर तथा उसके बाद के बीते हुए चमकदार, चुस्त, रौबदार नौकरी-जीवन के बीच का फ़ासला ही वह आवरण है।

काफ़ी साल पहले एक दिन 'दिन के दस बजे' पहली बार गले में नेक टाई बाँधते समय, सुरंग के रास्ते से अलादीन को दीपक की खोज में भेजने के बाद उसको जादूगर द्वारा एक विशाल पत्थर से ढक दिए जाने की तरह, उन्होंने भी सहसा इस आवरण को डाल दिया था। आज मृदु-मधुर बादलों से घिरे इस अवसर पर सुनसान बरामदे में एक ईज़ी चेअर पर अधलेटे महेंद्र मिश्र उस आवरण के उस पार से आने वालों का स्वागत बड़े प्रेम से करने लगे।

सबसे पहले उझककर, सफ़ेद मूँछों को लहराते हुए, कोमल पैरों को चौकसी के साथ रखते हुए जो सामने आई—उसे देखते ही वे चौंक उठे। वह थी, बचपन के दो प्रिय कार्य जैसे दूध पीने और मछली खाने में उनकी एकमात्र प्रतिद्वंद्वी, उनकी दिवंगत माँ की बेहद लाड़ली सफ़ेदपोश बिल्ली।

हाँ, वे सब थे वीरत्व और रोमांच के दिन...

घटोत्कच के समान गुरु जी के क़ब्ज़े में तमाम दोपहर परेशान होने के बाद, गोधूलि के स्नेहपूर्ण स्पर्श से होकर पाठशाला से लौटे श्रीमान् महेंद्र अचानक किसी दिन विक्रमादित्य बनकर पिछवाड़े में मौत के कगार पर खड़े देवदारु के पेड़ के सामने खड़े होकर

साहित्य अकादेमी, उड़ीसा साहित्य अकादमी, साहित्य भारती, विषुव, सारला आदि पुरस्कारों से सम्मानित ओड़िया रचनाकार मनोज दास का जन्म 1934 में हुआ। इनकी लगभग 45 पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं जिनमें कहानी-संग्रह, कविता-संग्रह तथा अंग्रेज़ी में कहानी-संग्रह एवं उपन्यास हैं। संपर्क : श्री अरविंद इंटरनेशनल सेंटर ऑफ़ एजूकेशन, पांडिचेरी 605002

अनु. : भगवान त्रिपाठी का जन्म 1955 में हुआ। ओड़िया-हिंदी में परस्पर अनुवाद की कई पुस्तकें प्रकाशित। संपर्क : अध्यक्ष, हिंदी विभाग, आसिका विज्ञान महाविद्यालय, आसिका (नुआगाँव) 761111 ज़िला-गंजाम (ओड़िशा)

किसी बेकार बेताल की अवस्थिति की कल्पना करके तर्जनी से इशारा किया करते थे, तो किसी दिन वीर-श्रेष्ठ अर्जुन के रूप में एक टूटी हुई कुर्सी को द्रौपदी बनाकर उसे खींचते हुए ले जाते समय ढेर सारे चकवड़ के पौधे रूपी राजाओं के साथ लगातार युद्ध किया करते थे। कभी वे बनते थे परशुराम और समूची क्षत्रिय-जाति की जमानत के रूप में उस बिल्ली को स्वीकार करके ऊपर की मंज़िल से नीचे की मंज़िल तक, अध्ययन-कक्ष से रसोई-घर तक उस भयभीत जीव का पीछा किया करते थे और अंत में धोखे का सहारा लेकर सूखी मछली दिखाते हुए उसे पकड़ लेते थे। फिर वीरोचित ढंग से तुकविहीन उक्तियों के साथ क्षत्रिय-निधन उत्सव के रूप में उसकी फैली हुई मूँछों से थोड़ी-सी काट डालते थे। छठवें अवतार के क़ब्ज़े से छूटते ही जान बचाकर भागती थी क्षत्रिय-शिरोमणि बिल्ली। नन्हे-नन्हे मुलायम पैरों को लिए उसके भागने के उस दृश्य से आज महेंद्र मिश्र के मंथर मन की पृष्ठभूमि पर गति की एक रेखा खिंच उठी।

उनका दिल कुछ तेज़ी से धक-धक करने लगा। वे ईज़ी चेअर पर बैठे-बैठे करवट बदलने लगे।

फिर लौट आई बिल्ली। अब उनकी धड़कन कम हो गई। क्योंकि बिल्ली के न लौटने तक उदास रहती थी माँ। रात के नौ बजे के आस-पास अचानक रसोई घर की टूटी हुई दीवार के ऊपर से तपाक से उतरकर धुर्डर-म्याऊँ की आवाज़ के साथ पूँछ की विजय-पताका फहराते हुए बिल्ली जब माँ के शरीर से लिपट जाती थी तभी माँ चैन की साँस लेती थी—बाईं तरफ़ की भौं के तनिक ऊपर की सिकुड़न, जो माँ के शांत सुकोमल चेहरे पर उदासी की मुहर लगा देती थी, बिल्ली के आ जाने से वह विलीन हो जाती थी।

महेंद्र मिश्र सीधे तनकर बैठ गए। आज बिल्ली की इतनी याद क्यों आ रही है ? महाशून्य की ओर ताकते हुए वे कारण ढूँढ़ रहे थे। इस पृष्ठ के ऊपर से होकर बह रहे अमाप अतीत की अनगिनत तमामी फ़ाइलें शून्य के भीतर तैर रही हैं। वहाँ उन्होंने आविष्कार किया कि उस बिल्ली के भागते हुए गूदेदार पैरों की आतंकित गति के साथ उनके अपने जीवन का कहीं न कहीं साम्य है।

पहली बार नेक टाई में गाँठ डालने के दिन से लेकर आज उसे आख़िरी बार खोलने तक के बीच वे दुःस्वप्न से सने समय के एक लंबे दौर से सिर्फ़ आतंकित हो दौड़ते रहे हैं। गंजाम ज़िले की पहाड़ी घाटियों के सुंदर सूर्यास्त ने उन्हें पल भर के लिए रोकना चाहा, (सातवीं कक्षा में पहाड़ और झरने का एक दृश्य आँकने में वे प्रथम हुए थे); पर वे भागते रहे। घने अरण्य से भरे कोरापुट ज़िले के एक एकांत झरने ने उनसे अपने कल-कल छल-छल संगीत को आकंठ पी लेने की विनती की थी (नौवीं कक्षा में विद्यालय के वार्षिकोत्सव के नाटक में एक पागल का अभिनय करते हुए गीत गाने में उन्हें रौप्य पदक मिला था—यद्यपि पंडित पुंडरीकाक्ष पंडा के उस बात की घोषणा करते समय दो-दो बार 'रौप्य मोदक' कहने के कारण श्रोताओं की हँसी की लहर से उनका गौरव आहत हुआ था); पर वे भागते रहे हैं। एक बार गहरी नीली झील 'चिलिका' के वक्ष पर नौका-विहार करते समय एक माला की तरह क़तार बाँध उड़ रहे राजहंसों को देख वे आत्म-विस्मृत हो उठे पर उस स्थिति में साथ चल रहे सुपरिंटेंडेंट ने बंदूक़ तानते हुए पल भर में दो राजहंसों को गिराकर माला को तोड़ डाला। पास ही के क़तार बाँधे पहाड़ों से गोली की गूँज तथा एस.पी. की स्फूर्तिभरी उद्घोषणा से महेंद्र मिश्र का मन उस स्वप्नमय राज्य को छोड़ पूँछ उठाकर कुलाँचे भरते हुए पलभर में जाकर हाज़िर हो गया बालूगाँव के डाक-बँगले के बावर्चीख़ाने में—जहाँ दो बावर्ची मिर्च-मसाला कूट-पीसकर इनकी बाट जोह रहे थे।

जीवन भर वे भागते रहे हैं—वह भाग-दौड़ केवल भौगोलिक नहीं, बहुविध मानसिक भी है। अपनी इस भाग-दौड़ में उन्होंने अपने छायाश्रित सभी को दौड़ाना चाहा है; किंतु पहले दौर में ही लुढ़क पड़ी है माँ। उस समय वे थे सब डेप्यूटि। अविवाहित। पिता जी गुज़र चुके थे बचपन में ही। अफ़सर वर्ग के भीतर पहले-पहल प्रवेश करने की सिहरन, उत्सुकता तथा गौरव-बोध की मोटी नज़र से माँ के उस खिन्न अवसान को समझ पाने का मौक़ा उन्हें नहीं मिल पाया। थोड़े दिनों में शून्यस्थान भर जाने के साथ-साथ उन्हें और बहुत कुछ मिल गया। उन्होंने विवाह किया एक सेवा-निवृत्त हाकिम की बेटी से, जिनमें भाग-दौड़ की इच्छा मातृ-गर्भ से ही रही, इसलिए इस दृष्टि से वे भाग्यवान रहे।

माँ की याद की छाया मन पर पड़ते ही, फिर से चौकसी के साथ पैर रखते हुए वह बिल्ली बढ़ आई। उसका वज़न नहीं है। उसे धकेल भी नहीं सकते। रूई की तरह हल्का चेहरा, रूई की तरह मुलायम है म्याऊँ-म्याऊँ की आवाज़। महेंद्र मिश्र बुद्धिमान हैं। वे समझ गए कि आज बिल्ली आएगी ही। एक लंबी भाग-दौड़ के बाद अंत में जिस तरह वे आज अवसर लेकर बैठे हुए हैं, उसी तरह उनके अत्याचार के कारण सारा दिन ख़ुद को छिपाते हुए अंत में रात के सन्नाटे में माँ के पास आकर धुर्डर की आवाज़ के साथ बैठ जाती थी वह निर्भीक बिल्ली।

माँ और बिल्ली...

इनकी आत्मीयता का एक छोटा-सा अप्रसिद्ध इतिहास है। माँ शादी करके आई थी दो ही कोस दूर से। उसके आने के चंद दिनों बाद अचानक उसके माँ-बाप गुज़र गए हैज़ा से। उस समय माँ नई-नवेली दुल्हन थी। ख़बर तो मिली! किंतु उसके मन की पीड़ा को समझते हुए प्यार से बुलाकर ले जाने की कोशिश करनेवाला अपना कोई नहीं था। केवल थोड़ी-सी दौलत को आत्मसात करने तक ही सब आत्मीय बने रहे। कुछ दिनों बाद घर में आग लग जाने से वह घर भी जलकर भस्म हो गया।

उस समय की असहाय वधू रसोई घर के अँधेरे में छिप-छिपकर रोती थी। शरीर के पसीने और आँखों के आँसू के बीच के फ़र्क़ को जानने का अधिकार उसे ससुराल में नहीं था। माँ-बाप के गुज़रने के सात दिनों बाद एक दिन रसोई घर की टूटी हुई दीवार पर गहरी पहचान की एक 'म्याऊँ' की आवाज़ को सुनते ही माँ ने चौंकते हुए देखा था। उसके मायके की बिल्ली थी। दौलत तो सभी ले गए, बेचारी बिल्ली को किसी ने नहीं पूछा। बिल्ली आसानी से घर छोड़कर नहीं जाती; सात-सात दिन घबराहट के साथ बिताते हुए सातों रात कितनी झोपड़ियों में, कितने घरों में झाँका होगा उसने। घनी काली रातों में आँखों की पुतलियों को फाड़-फाड़कर उसने मालकिन को ढूँढ़ा होगा। तीन गाँव, दो श्मशान और पाँच खेत-खलिहानों को लाँघते हुए अंत में वह आ पहुँची थी माँ के पास।

माँ और बिल्ली दोनों उस दिन रोती-कलपती रहीं, इस बात को माँ ने एक बार महेंद्र से कहा था। अवश्य शिशु महेंद्र से, क़िस्से-कहानियाँ सुनने की ज़िद करते नंगे महेंद्र से; नेक टाई से बँधे महेंद्र बाबू से नहीं।

वह बिल्ली और उसके वंशधर माँ के पास असीम आग्रह के अधिकारी बनकर रह गए। वह बिल्ली जैसे बार-बार केंचुली बदलती रही है। सुधि आने के दिन से लेकर बी.ए. पास होने तक महेंद्र ने कितनी बिल्लियों को झेला है, वह उन्हें याद नहीं है। होश सँभालने से लेकर गैज़ेट लिस्ट के प्रतिद्वंद्वियों का सामना करने तक मुख्यतः उन्होंने उस बिल्ली की परंपरा को ही शत्रु के रूप में पहचाना था।

गाँव की पाठशाला में तथा पास ही के माइनर स्कूल में पढ़ते समय छुट्टी होते ही दौड़ते हुए घर आकर देखा है कि उनके लिए रखे गए पकवान

या दूध की पतीली में से थोड़ा-सा कुतर चुकी है बिल्ली। इतना ही नहीं, एक बार किसी ख़ास मेहमान के लिए माँ द्वारा बचाकर रखे गए कुछ संदेश को जब वे ख़ुद आत्मसात् करने को तैयार थे, तब बिल्ली ने भी अपना हिस्सा चाहा था। पर उनके चिहुँक उठने से बिल्ली इतनी तेज़ भागी कि उसके भागने को देखकर अँधेरे कमरे के अंदर किसी घपले का अंदाज़ा लगाते हुए माँ आ पहुँची और चोरी पकड़ी गई। उसके बाद कॉलेज में पढ़ते समय भी छुट्टियों में आकर उन्होंने बिल्ली के अनाधिकार उत्पात को काफ़ी झेला है।

बिल्ली के मामले को लेकर कई बार महेंद्र ने अभिमान किया है, बिल्ली के अन्याय को लेकर आँसू बहाते हुए, परीक्षा के समय बिल्ली के कारण काफ़ी अड़चन पैदा हो रही है, कहकर उसे देश-निकाले की सज़ा दिलवाने की काफ़ी कोशिश की है। पर हर बार माँ ने बिल्ली की तरफ़ से 'मेरे लाल, मेरे बच्चे' कहकर ख़ुशामद की है। महेंद्र लगातार हारते ही रहे हैं।

महेंद्र ईज़ी चेअर पर बार-बार करवट बदल रहे थे। एकाएक उनके सीने के भीतर एक अनुभूति कौंध उठी। सभी गुज़रे हुए क्षणों की राख की ढेरी को टटोलते समय मानो उन्हें किसी छिपे हुए अंगारे की ठोकर लगी हो। उनके जीवन-ग्रंथ के बिल्ली से घिरे अध्याय का यही है आख़िरी पन्ना। पैंतीस साल गुज़ारने के बाद अचानक आज यही पन्ना उन्हें झकझोरने लगा।

...नए सब डेप्यूटि बनकर गुणपुर तालुका में पहुँचने का आदेश पाकर दो दिनों के लिए महेंद्र इसी गाँव में आए थे माँ को ले जाने के लिए। बेवक़्त घर पहुँचे। जल्दी-जल्दी में माँ ने थोड़ा-सा चावल पका लिया और पहले से भुनी हुई थोड़ी-सी मछली लाकर परोस दी। वे ठीक खाने ही जा रहे थे कि उतने में जाने कहाँ से बिल्ली आ गई और भुनी हुई मछली में से एक कौर नोचकर ले गई। महेंद्र चीख़ उठे। उस समय बिल्ली एक अपरिचित थी, अस्वाभाविक आवा को सुन दौड़ने लगी। भूखे सबडेप्यूटि महेंद्र मि बिल्ली के पीछे-पीछे दौड़ने लगे।

माँ भौचक्क खड़ी रही। यह बिल्ली पहल वाली बिल्ली की बेटी थी। महेंद्र के स्वभाव बिलकुल अपरिचित थी, ऊपर से वह गर्भवती। भुनी हुई मछली के प्रति हद से ज़्या लोभ के इस कारण को सिर्फ़ माँ ही समझ र थी।

महेंद्र मिश्र किंतु उनके बचपन से लेकर आ तक के दबे हुए तमाम क्रोध के ईंधन से ए उत्तेजित इंजन बनकर दौड़ रहे थे। आज वे ख़ु हाकिम हैं, सज़ा देने के लिए अब माँ की अनुम की ज़रूरत नहीं है। माँ के बदन से हमेश लिपटकर रहने वाली वह बिल्ली तेज़ भागने क आदी नहीं थी। इसके पैदा होने के बाद महें बहुत कम घर आते थे, इसलिए पहले क किसी के क़ब्ज़े से ख़ुद को बचाने की ज़रूर ही नहीं पड़ी थी।

बिल्ली पहले कुछ दूर तक दौड़ती रही, फि इस आशा के साथ कि महेंद्र का ग़ुस्सा उ गया होगा पीछे की ओर देखने लगी; किंतु उ फिर से बेचैनी के साथ भागना पड़ा। पहले घ से बाहर—फिर रेत और झाड़ियों से भरे विस्त मैदान में। वज़नदार पेट को ढोते हुए शंख-सफ़े बिल्ली दौड़ रही है रुक-रुककर। बीच-बी में पीछे की ओर देख लेती है फिर से ताक़ जोड़कर दौड़ने लगती है। पीछे के दोनों पैर फैल फैल जाते हैं: थक जाती है बीच-बीच में।

काफ़ी देर बाद महेंद्र घर लौटे, पर कुछ न खाया। शाम को माँ ने जल्दी खाना पकाना शु किया। खा-पीकर महेंद्र गहरी नींद में सो गए आधी रात को नींद टूटी तो वे देखते हैं कि रसो घर में ढिबरी जलाकर माँ चुपचाप बैठी हुई है वह ज़रूर उस गर्भवती बिल्ली के इंतज़ार बैठी हुई थी, इसमें महेंद्र को कोई संदेह न रहा।

उसके अगले दिन सामान बाँधते तथा अन्य सभी कामों से निबटते समय माँ तीन-चार बार गाँव के भीतर, खेत-खलिहान और मैदान घूम आई है। अगले दिन सुबह वह बेटे के साथ चली जाएगी—बिल्ली को साथ ले जाने की अनुमति यदि हाकिम बेटा न भी देता, तो कम से कम किसी रिश्तेदार को उसकी देखभाल की ज़िम्मेदारी सौंप जाती।

लेकिन वीरान सूर्यास्त का सारा रंग बेचैन आँखों से दूर तक फैली बंजर ज़मीन की ओर ताक रही माँ के चेहरे से होकर रिस गया था। सारी रात बारिश होती रही। माँ भीगते हुए बार-बार तमाम पिछवाड़े में घूम आती थी।

सूर्यास्त से तनिक पहले बैलगाड़ी में सामान के साथ माँ को बैठाकर महेंद्र स्टेशन की ओर चल पड़े। तीस साल इस गाँव की चौहद्दी के अंदर गुज़ारने के बा़द व्याकुल़ नज़रों को जिस तरह छिटकाते हुए, उमड़ती टीस को दबाते हुए माँ बैलगाड़ी से लंबा रास्ता पार करते हुए गई, फिर वह नहीं लौटी।

महेंद्र बाबू न जाने कब ईज़ी चेअर से उठ खड़े हुए थे। जीवन के इन अंतिम क्षणों को गाँव में ही गुज़ारने के लिए आकर वे आज जिसे फिर एक नए सिरे से अनुभव करने लगे थे, वह माँ कहाँ है। समय की लहरों के अनगिनत थपेड़ों से वह कहीं दूर विलीन हो गई है। माँ कोरापुट में थोड़े दिन जो रही, शायद उस बिल्ली की ही बात सोचती रही। उस बरसात की रात में उस बिल्ली ने कहाँ आसरा लिया होगा—हो सकता है एक दिन बाद चुपके-चुपके घर आकर उसने हर कहीं सूनापन देखा होगा—इस तरह सोचते-सोचते शायद माँ बुख़ार की चपेट में आ गई।

महेंद्र बाबू टहलने लगे थे। वे ख़ूब रुपए लेकर आए हैं। इस घर को शीघ्र ही कोठी में बदल डालेंगे। किंतु फूस के घर में ही माँ ने अपना एकांत जीवन बिताया था—पितृवंश की असहाय बिल्ली और उसके वंशधरों का भरण-पोषण करते हुए। फिर भी घर छोड़ते समय वह उस प्रथम आश्रित बिल्ली के प्रति किए गए अंगीकार के ख़िलाफ़ एक ग्लानि-बोध को लेकर गई होगी! माँ गहरी उसाँसें छोड़कर गई थी; पैंतीस वर्षों के बाद आज की इस बरसात भरी दोपहर में उन उसाँसों की उद्‌भूत लपटें महेंद्र की छाती में धू-धू धधकने लगीं।

उनकी चहलक़दमी तेज़ होने लगी। हाल ही में आया देहाती नौकर काँपते हाथों में चाय की प्याली लेकर पीछे-पीछे उसी तरह चल रहा था। एकाएक महेंद्र बाबू घर के अंदर घुसे और छतरी ले ली। पत्नी मंदाकिनी ने पान चबाते हुए ममता भरी आवाज़ में कहा, "बरसात शुरू हो चुकी है। कहाँ जा रहे हो ?"

महेंद्र बाबू असतर्क हो कहने लगे थे, "बिल्ली को..." पर बात बदलते हुए कहने लगे, "पर खेत में जो तालाब बना हुआ है, उसका हाल ज़रा देखने जा रहा हूँ।" वे निकल पड़े।

छोटे से गाँव की रेत भरी वीरान सड़क। महेंद्र बाबू छतरी खोल सीधे बढ़ते ही जा रहे हैं। बेर बटोरने की ज़िद को लेकर माँ की काँख में बैठ इसी रास्ते से होकर न जाने कितनी बार इस बेर के पेड़ के पास आए हैं। साथ में बिल्ली भी आती थी फुदकती हुई। माँ की बिल्ली को देख गाँव के कुत्ते भी भौंकते नहीं थे। पास-पड़ोस के घरों में घुसकर कभी अचानक कुछ खा लेती थी, तो भी माँ की बिल्ली को कोई मारता-पीटता नहीं था। कम बोलने वाली माँ ने समूचे गाँव को अपना बना लिया था।

बेर के पेड़ के नीचे खड़े होकर महेंद्र इधर-उधर देखने लगे। नहीं है। वे कुछ और दूर बढ़कर अनादि काल से खड़े बरगद के फैलाव की ओर निहारने लगे। नहीं है। फिर भी बिल्ली को खोज निकालना ही होगा। महेंद्र धीरे-धीरे बढ़ते हुए गाँव के बाहर झाड़ियों से भरे उस मैदान में जा पहुँचे। क्षितिज में बिजली लगातार चमक रही है। विस्मृति के अँधेरे कमरे को जैसे चमकाते

हुए ढेर सारी बातें याद दिला रही है वह बिजली !...यहीं रुककर एक बार बिल्ली ने पीछे की ओर देखा था। उसके बाद पास ही के उस दूह के पास फिर एक बार पीछे की ओर देखा था। पैंतीस साल पहले के अपने ही क़दमों के पीछे-पीछे चल रहे हैं महेंद्र बाबू—हाकिम जीवन की पहली करतूत को रद्द करने के लिए।

बादल धीरे-धीरे गहराने लगे। बारिश धीरे-धीरे तेज़ होने लगी। अंधकार फैलने के साथ हवा बहकने लगी है। छतरी दो बार मुड़ चुकी है। महेंद्र बाबू ने उसे किसी तरह सँभालते हुए बंद किया, फिर एक बरगद के पेड़ के तले खड़े होकर ख़ूब ज़ोर से बिल्ली को पुकारना चाहा। लेकिन माँ उसे किस नाम से बुलाती थी। पहले की बिल्लियों में से एक का नाम था ठुमरी, उसकी बेटी का नाम था झुमरी। पर इसका नाम तो याद नहीं है। ये गर्भवती थी। शायद उसके बेटे और बेटियों के नाम भी उसने तय कर लिए थे।

महेंद्र और आगे बढ़ने लगे। फिर बिल्लियों के कई नाम लेकर वे पुकारने लगे। तेज़ आँधी और बादलों की गड़गड़ाहट के बीच सारी आवाज़ें चटपट कहीं ग़ायब हो गईं। वे निश्चल खड़े हैं। सिर से होकर जल की धाराएँ बदन को भिगोते हुए बहती जा रही हैं। एक असह्य ज्वलन को शीतल कर रहे हैं वे।

उस जड़ीभूत स्थिति में काफ़ी समय गु गया। इतने वर्षों के बाद भी उनकी आवाज़ सुनक वह बिल्ली श्रद्धा के साथ वापस लौट आई है

बिल्ली घर लौट रही है। और थोड़ी देर बा टूटी हुई दीवार को लाँघकर चूल्हे के पास बै गुर्डर म्याऊँ-गुर्डर म्याऊँ की आवाज़ करेग इस रास्ते से बिल्ली एक दिन गई थी। इसी रास से बिल्ली फिर लौट रही है। यही है घर। यह रसोई घर के पीछे का हिस्सा। यह है टूटी हु दीवार। दरार और अधिक बढ़ गई है। बिल्ल दीवार लाँघकर घुसी। चूल्हे के पास टिकि तलती हुई मंदाकिनी देवी भौंचक हो देख र हैं। बिल्ली बैठ गई चूल्हे के पास। फिर गु म्याऊँ की आवाज़ निकालने की कोशिश क समय मंदाकिनी देवी ने पूछा, ''लालटेन अ बरसाती देकर मैंने दो आदमियों को भेजा है कहाँ भीग रहे थे, सामने का दरवाज़ा खोलने लिए आवाज़ नहीं दे सके; दीवार लाँघकर अं घुस रहे हो ! फिर बिल्ली की तरह चूल्हे के पा सिमट-सिकुड़कर बैठे हुए हो !''

आगंतुक समझ गए कि वे बिल्ली नहीं हैं- सेवा-निवृत्त ज़िला मजिस्ट्रेट हैं। पाँच साल पह ऑनरेरी आई.ए.एस. पाने वाले महेंद्र मिश्र है दिवंगत पुरंदर मिश्र के बेटे, मंदाकिनी देवी पति, ठेकेदार सुधीर मिश्र के पिता तथा अध्याप विक्रम प्रतिहारी के ससुर आदि आदि...।

राजी सेठ

एक कटा हुआ कमरा

सीमेंट और ईंटों के ऊबड़-खाबड़ ढेरों, और पानी की नन्ही-नन्ही बावड़ियों को लाँघते-लाँघते एक क्षोभ-सा हो आया। बड़े-बड़े लकड़ी के लट्ठों के बीच क़ैद अधबनी इमारत से सीमेंट किरकिरा रही थी। एक कटी-सी कॉलोनी शहर के पिछवाड़े।

मैंने किसी न किसी तरह उनका यह नया मकान ढूँढ़ निकाला था। एकदम सामने बिना रँगी मैली लकड़ी की बनी सीढ़ियों की सीधी उठान। एक बार ठिठका, फिर ऊपर चढ़ गया। वहाँ पहुँचा जहाँ से कमरे के आयताकार को सीढ़ियों की इस उठान ने बीचों-बीच आधा हड़प लिया था। वह कमरा नहीं कमरे का टुकड़ा रह गया था।

मेरे मन में एक प्रश्न-सा तन गया, ''वे तो कहते थे हम पिछले सप्ताह से नए मकान में प्रवेश करेंगे।''

मैंने निश्चय ही सोचा था कि वे उस सारी घुटन, सीलन, तंग दरवाज़ों और नीची छतों की विभीषिका से एकबारगी मुक्ति पा लेंगे। सब के सब—उनकी माँ, पिता, दो भाई, दो भावजें, दो बहनें और बच्चे।

एक उघड़ा हुआ घर-बाहर मेरे सामने बिछा था। न जाने मुझे क्यों लगा कि यह सारा बिखराव मुझे एकाएक दबोच लेगा। यह भी लगा कि मैं ठगा गया हूँ पर मैंने अपने आप को भीतर-ही-भीतर झिड़क-सा दिया।

'आइए-आइए' के अत्यंत मुखर अभ्यर्थन में चार-छह हाथ व्यस्त हो उठे और किसी कोने में दुबकी दो फ़ोल्डिंग कुर्सियाँ एक झटके से खुलकर बीच में बिछ गईं। एक पर वे बैठे और दूसरी पर मैं बैठ गया। बैठते ही लगा एक मैं ही बूट चढ़ाए बैठा हूँ, शेष सब...।

सीढ़ियों के सामने ही नए-पुराने जूतों का ढेर-सा लगा था। मैं जूते उतारकर वहाँ रख आने की दुविधा में पड़ गया होऊँगा, तभी तो वह भाँपकर बोले, ''चलेगा, हम घर में जूते पहनते तो नहीं हैं पर आप पहने रहिए।''

उस कटे कमरे से दाएँ की ओर एक रसोई थी। एक छोटा-सा प्लेटफ़ॉर्म, एक छोटी-सी खिड़की जो डिब्बों की क़तारों के जमाव के कारण कभी खोली नहीं जा सकती थी। इधर-उधर लुढ़कते

8 कहानी-संग्रह, 2 उपन्यासिकाएँ, 1 उपन्यास, कई अनूदित पुस्तकों की रचयिता राजी सेठ को अनेकों सम्मान-पुरस्कार मिल चुके हैं। संपर्क : एम-16 साकेत, नई दिल्ली-110017, फ़ोन : 29563256

कुछ बर्तन, छत के किसी कुंडे के साथ लटकता एक छिक्का, अनाज के दो बड़े ड्रम...और उसके साथ एक दरवाज़ा जो निश्चय ही बाहर की ओर खुलता होगा, पर बंद था। एक ओर फिर वही रसोई को काटता और तंग करता लकड़ी की सीढ़ियों का ढाँचा। मैंने सोचा, इसे ऐसे ही छोड़ दिया जाना चाहिए था! यह ढाँचा उस दरवाज़े के बाहर से भी तो हो सकता था कि कमरा न कटता। यह बात तो मुझे कभी बाद में पता चली कि गुजरात में कमरे के बीचों-बीच सीढ़ियाँ उठा देना आम बात है, पर ऐसा ढाँचा पहली बार देखने पर मैं क्षुब्ध ही हुआ।

इस निश्चय से कि अब इधर-उधर नहीं देखना है मैं फिर से अपने को समेटकर बैठ गया। उनमें से किसी ने आगे बढ़कर ज़ंग से जमे खिड़कियों के स्टॉपर खोलने का उपक्रम किया और अंततः खोल ही डाला। एक ठंडा झोंका आकर मुझसे लिपट गया।

"बड़ी अच्छी हवा है।" मैंने अपने को कहते सुना।

आह्लादित चेहरों पर मुस्कानें और चौड़ी हो गईं। गद्गद से स्वर में, "बस, यही तो बात है इस मकान में..." प्रकृति की नेमतों को अपने साथ जोड़कर देखने में इतना ख़ुश हुआ जा सकता है, यह सोचकर मुझे अच्छा ही लगा।

"क्या एक ही कमरा है?" मैंने कुछ सहमे हुए संकोच से पूछा था।

"नहीं, नहीं।" एक तत्पर उत्तर। "एक ऊपर भी है।"

"चलिए न देखने...आइए...।"

"चलिए।" मैं उठ खड़ा हुआ। इस बार रसोई को चीरती वही लकड़ी की उठान सामने थी जिस पर मैं चढ़ रहा था।

"यह पढ़ने का कमरा।" फिर कुछ हँसकर, "यह हमारा स्टडी रूम समझिए।"

एक कोने में एक टेबल पर अस्त-व्यस्त लदी-ढकी किताबें। साथ में लगा एक बहुत बड़ा पलंग, गंदे मलगुझे कपड़ों के ढेर से लदा। एक कोना जो बचा था वहाँ अपनी थोड़ी-सी उपयोगिता सिद्ध करता एक भीमकाय पैरों वाला पालना। मैंने सोचा यही पालना निवाड़ तो...

मैंने अपने को फिर झिड़क दिया—मैं यहाँ कोई इंस्पेक्टर बनकर नहीं आया हूँ। इन लोगों से मिलने आया हूँ।

कमरे के साथ खुलती एक छोटी-सी छत। मुझे एकाएक साँस-सी आई। साथ ही सोचा आँधी, पानी, धूप, शीत में क्या होगा। छत तो छत ही है, किस काम आ सकेगी।

"कभी आगे पीछे इसे कमरे में कंवर्ट किया जा सकता है।"

"आ ऽ हाँ..."

"बहुत अच्छा है सब।" मैंने धीरे-से कहा।

वे ख़ुश हो गए, बोले, "चलिए, नीचे चलें कुछ जलपान किया जाए।"

मैं यह सोचता हुआ नीचे उतरता हूँ कि मैं इतना उखड़ते जाने का कारण क्या है आख़िर पाता हूँ 'नए मकान' से लगकर मेरी कुछ अपेक्षाएं थीं जिन्हें पूरा न होते देखकर मैं कुछ उद्विग्न हूँ। यूँ मैंने ज़्यादा नहीं सोचा था...केवल दो साफ़-सुथरे और हवादार कमरे, रसोई और बाथरूम की ज़रूरतों के अलावा।

"किस विचार में पड़े हैं...लीजिए, नाश्ता कीजिए।"

"इतना सब..."

"अरे, इसमें क्या है। यहाँ की स्पेशिलिटी है, यह काजू के बिस्कुट...आपके लिए ख़ास तौर से मँगाए हैं...अभी के अभी।"

"यह कॉलोनी अच्छी है, यहाँ पानी..."

"यह बिस्कुट, आपको मालूम है किस भाव मिलते हैं?"

पैंट के भीतर मेरे घुटने अपने आप सिकुड़ने लगे। "ज़रूर महँगे होंगे", मैंने बहुत धीरे-से कहा।

"नहीं साब...थोड़े महँगे नहीं, बहुत महँगे हैं।" वे 'बहुत' पर कुछ अतिरिक्त ज़ोर देकर बोले थे।

''पूरे पचास रुपए किलो हैं...लीजिए, लीजिए ...खाइए...अरे खाइए न।''

मेरे मुँह में रखा गया बिस्कुट का टुकड़ा मुझे सूखे आटे की तरह खुश्क लगने लगा। मैंने पानी की माँग की और घूँट के साथ न जाने क्यों मुझे लगा कि मैंने न खाने योग्य कुछ गटका है।

इसके आगे मैं तुरंत कुछ बोल नहीं सका। रेंग-रेंग कर, धीरे-धीरे पास आते और उस छोटी टेबल के सहारे खड़े होकर प्लेट पर झपटते बच्चे को चुपचाप देखता रहा।

''धन्नु, नहीं,...नहीं,'' एक कठोर आदेशात्मक स्वर।... ''नहीं, नहीं...'' वह एकदम आगे बढ़े। एक बिस्कुट का ज़रा-सा किनारा तोड़कर बच्चे की तरफ़ और दूसरे हाथ से व्यस्त-से होकर प्लेट को मेरी तरफ़ बढ़ाते हुए बोले, ''आप खाइए न, यह इसे बेकार बिगाड़ेगा।''

''उसे खाने दीजिए न।'' मैंने एक बड़ा कमज़ोर-सा प्रतिवाद किया।

वे अधैर्य से बोले, ''आप इसे जल्दी से खा क्यों नहीं लेते ?...''

एक दबा हुआ क्रोध मेरी रीढ़ के निचले भाग से रेंगकर ऊपर चढ़ने लगा। मैंने कहा, ''मेरा पेट बहुत भरा है।'' और एक-एक बिस्कुट उठाकर मैंने आस-पास मुझे घेरकर बैठे सब लोगों में बाँट दिया।

मेरी इस क्रिया से उन्हें अत्यंत निराशा हुई, यह मुझसे छिपा न रहा। अपने हिसाब से उन्होंने, इन सब बिस्कुट पाने वालों को इस कृपा के अयोग्य ठहरा रखा था अतः उन्हें बुरा लगना स्वाभाविक था। शायद यह भी लगा हो कि पैसे व्यर्थ गए। वहाँ से उनका ध्यान हटा तो फिर एकदम व्यस्त-सा होकर बोले, ''कौशल्या, ज़रा एलबम तो लाओ दिनेश की।''

मैंने कुछ याद-सा करते हुए कहा, ''अरे हाँ, वह तो किसी फ़ेलोशिप पर लंदन गया था न पिछले साल ? कहाँ है आजकल ?''

''यहीं है। नागपुर गया है इंटरव्यू देने।''

दो एलबम आ गए थे। मुझे बात का बदल जाना अच्छा लगा। मैंने अपना सिर एलबम में गड़ा लिया क्योंकि वे सब-के-सब मेरी कुर्सी के चारों ओर मुझे घेरकर खड़े हो गए थे। ऐसी घेराबंद उत्सुकता मुझे तनाव भरी लगी—एक ख़ास तरह की प्रतिक्रिया की अपेक्षा से भरी। मुझे मालूम है ऐसा सोचना ग़लत है। कठोर-सा कुछ। ऐसा सोचने की छूट अपने को देनी नहीं चाहिए, ख़ासतौर पर तब जब किसी की तंगी और मजबूरी का इतिहास उससे जुड़ा हो पर मैं उनकी इस उत्तेजना और अपेक्षा के प्रहारों से अपने को बचा नहीं पा रहा हूँ। वह मुझे किसी दूसरी अनुभूति की पहचान के दरवाज़े तक ले जा रही है। मैं उसी में फिसलता जा रहा हूँ। उनका साथ नहीं दे पा रहा हूँ।

एलबम के पन्ने खोल रहा हूँ। लंबे बालों में उनके भाई का वह चेहरा मुझे कुछ बदला-सा लगा। उस घर में बैठा न होता तो शायद पहचानने में भी मुश्किल पड़ती। बेहद आत्म-सजग ढंग से, बेहद सावधान मुद्रा में कुछ भाव चित्रों में क़ैद किए गए थे। हर चित्र के नीचे सुघड़ अक्षरों में कुछ इस तरह के विवरण थे—''आई बिफ़ोर शेविंग मिरर''...''आई ऑन माई ब्रेकफ़ास्ट टेबल''...''आई नाउ रेडी टू गो''...''आई ऑन माई बेड'', आदि-आदि। साथ में तिथि और स्थल भी लिखा था। कुछ आगे जाकर एक फ़ोटो के नीचे, ''आई विद माई गर्लफ्रेंड'' लिखे हुए के आगे तीन प्रश्नचिह्न।

इस स्थल पर मेरे सिर पर झाँकते चेहरों से एक दबी हुई खी-खी उभरी। मैं शायद इस अंतर्निहित के लिए तैयार न था।

''इसमें विशेष क्या है'' के भाव से मैंने झट वह पन्ना पलट दिया और अनमने भाव से आगे-आगे पलटता ही रहा।

''अरे, आप तो कुछ देख ही नहीं रहे हैं...यह तो देखिए...यह भी...'' वह बीच-बीच में पन्नों पर पूरी-पूरी हथेली फैला देते हैं।

''बहुत अच्छी आई हैं।'' मैं एलबम वापिस थमाते हुए कहता हूँ।

''अच्छा कौशल्या, धन्नु का वह सूट दिखाओ जो दिनेश बाहर से लाए हैं।''

''ऐसे क्यों देखेंगे, मैं अभी पहनाकर लाती हूँ।'' नायलोन के एक बुने हुए सुंदर से वन-पीस जोड़े में बच्चे को बलात् घुसाने की कोशिश की गई। इस बंधन से वह अप्रसन्न दिखा और रोने लगा। रोना रोकने की कोशिश की गई तो ज़मीन पर लोटने लगा। बच्चे की बाँह खींचते हुए कौशल्या बोली, ''पहले इसे उतार...दिवाली पर पहनना।''

''थोड़ी देर रहने दो न!'' वे दबे हुए आक्रोश को यथासंभव ढाँपते हुए सहज भाव से बोले, ''मैला हो...''

''कहा तो है जाने दो थोड़ी देर।'' अनिच्छा से जाने देती है कौशल्या।

धन्नु अब कूदकर मेरी कुर्सी पर चढ़ने को होता है। मैं...मैं बच्चों से विरक्त नहीं हूँ। उस बच्चे से भी नहीं पर इस समय मुझे वह किसी दूसरे, घुमड़ते आते घनघोर का हिस्सा लग रहा है। भीतर ही भीतर तनाव बन रहा है पर तनाव का कारण मैं ख़ुद जान नहीं पा रहा। मैं धीरे-से बच्चे के गाल थपथपा देता हूँ और उठने को

होता हूँ। वे कहते हैं, "यह तो आपने देखा ही नहीं...यह शीशे की अलमारी हमने हाल ही में ली है।"

लकड़ी की अलमारी के सामने वाले पारदर्शी शीशों के पीछे चार-छह छपी हुई साड़ियों की गड्डी, ब्लाउज़, पेटीकोट, दो-तीन मर्दानी धोतियाँ, कुरते, दो-चार गहरे रंग की चादरें और एकाध प्लास्टिक के मेजपोश दिखाई दिए। उससे नीचे के खाने में स्टील का एक टी सेट और काँच की दो-चार सफ़ेद प्लेटें रखी थीं। उनमें से कोई चाहता तो कपड़ों को नीचे और प्लेटों को ऊपर के हिस्से में रख सकता था पर कोई मेरी तरह क्यों चाहता...

"यह टी सेट तो देखिए...भई बहुत ही महँगा मिला है।"

मैं जैसे अपने ही विग्रह से परेशान हूँ। उनका साथ नहीं दे पा रहा हूँ।

मैं उनके हर्ष में हिस्सा लेना चाहता हूँ। प्रफुल्ल दिखना चाहता हूँ। उस पूरे परिवेश को उनकी दृष्टि से देखना चाहता हूँ पर उखड़ रहा हूँ। घुट रहा हूँ। मुझे लगता है मेरे चारों ओर एक ऐसा उघड़ापन है जो मुझे घोंट रहा है। कुछ है जिसका संबंध इस वातावरण से नहीं, इन व्यक्तियों से नहीं, तिरमिराने को तैयार खड़ी इनकी मानसिकता से है। उनके व्यवहार में एक तरह का दिखावा, एक ओढ़ापन घुसकर बैठ गया है। वे जो कुछ कह-कर रहे हैं उनकी असलियत से मेल नहीं खा रहा इसलिए भोंडा, अश्लील और अनैतिक लग रहा है।

वे सब जैसे थे अबसे अधिक अच्छे थे, अधिक सुंदर, अधिक सहज और गरिमापूर्ण। मैं उन्हें आसानी से स्वीकार कर पाता था। उन्हें पा सकता था, छू सकता था, उनकी निर्दोष आत्मीयता को एक उष्ण आरामदेह वस्त्र की तरह पहन सकता था और उनसे पाई प्रफुल्लता के लिए उनके प्रति कृतज्ञ भी हो सकता था। कुछ और दिखने की महेच्छा ने उन्हें जकड़ा नहीं था। वह अपनी लंबाई-चौड़ाई को खींचकर वहाँ तक पहुँचाना नहीं जानते थे, जहाँ वे ख़ुद न हों, वस्तुएँ ही वस्तुएँ हों—महँगे बिस्कुट, महँगे सूट, आयातित छवियाँ। मुझे लगा ऐसी चीज़ें उनका चेहरा बन जाने की परिसीमा पर लरज रही हैं। अब तक तो वे अपनी इच्छाओं और यत्नों को एक साथ जोड़कर चल रहे थे, सुघड़ लग रहे थे।

"आप एकाएक चुप कैसे हो गए?"

"नहीं तो...मैं चुप कहाँ हूँ...!"

मैं सच में चुप नहीं हूँ। केवल चुप दिख रहा हूँ। मुझे लगता है मैं जबसे आया हूँ लगातार बोल रहा हूँ। सिर्फ़ मन में दौड़ते शब्दों को उन तक पहुँचा नहीं पा रहा हूँ...कह नहीं पा रहा हूँ।...कहना भी चाहूँ तो कैसे कह पाऊँगा क्योंकि मैं बिलकुल...बिलकुल समझ ही नहीं पाऊँगा कि कहना क्या है?

"चलूँगा अब?" मैं उठ खड़ा हुआ।

"इतनी जल्दी?" वे भी उठ खड़े हुए।

"हाँ, कहीं और भी जाना है...टाइम दे रखा है।" मैंने झूठ का सहारा लिया।

"तब तो फिर..." अब वे जूतों के ढेर में से अपनी चप्पल का दूसरा पैर तलाशने लगे थे। सीढ़ी तक मेरे पहुँचने तक तो उन्होंने चप्पल पैर में पहनने के बजाय हाथ में ले रखी थी। उसे हाथ में उठाकर मुझे दिखाते हुए बोले, "देखिए इसका तला टायर का नहीं है...अच्छे दाम पर मिल गई थी।"

मैंने अनसुना किया और सबको एक सरसरा-सा अभिवादन करके, किसी के साथ आने की प्रतीक्षा किए बिना सीढ़ियाँ उतरने लगा।

स्कूटर स्टार्ट करते-करते वे मेरे पीछे नीचे उतर आए और चारों ओर एक गर्व भरी निगाह से देखते हुए एक वाहन-संपन्न अतिथि का मेजबान होने की गरिमा को चबुलाने लगे। मैंने मात्र हाथ उठाया और सरपट भागा।

संतोख सिंह धीर

साँझी दीवार

आठ महीने की दौड़-धूप के बाद जब कपूर सिंह किसी तरह घर बनाने के क़ाबिल हुआ तो साँझी दीवार पर झगड़ा उठ खड़ा हुआ। यह दीवार उसके चचेरे भाई दरबारे के साथ साँझी थी। यों तो कितने ही घर गिर गए थे किंतु कपूर सिंह के घर का गिरना गाँव में सबसे बड़ी दुर्घटना थी। कोई हिस्सा भी साबुत नहीं रहा था।

कपूर सिंह की माली हालत पहले से ही कमज़ोर थी। नामालूम किस तरह अपने परिवार को चला रहा था। पहले वह मकान के क़र्ज़े के लिए ज़िले के दफ़्तरों में धक्के खाता रहा। वहाँ पर मिनिस्टरों की सिफ़ारिशें चलती थी। हार कर उसे दस बीघे ज़मीन गिरवी रखनी पड़ी। पराए घरों में कितनी देर तक परिवार धक्के खाता रहे। ईंटें गिरवा ली, सीमेंट का प्रबंध भी हो गया, किंतु जब तक दरबारे से बातचीत न की जाए काम कैसे शुरू हो सकता है ?

सामने गली थी, किसी का कोई झँझट नहीं। दाईं ओर की दीवार चाची राम कौर के साथ साँझी थी। कपूर सिंह के साथ उसके घर का भी कुछ हिस्सा गिर गया था। जिसके कारण वह स्वयं तंग थी और उसे भी दीवार की ज़रूरत थी। पिछली तरफ़ चनन सिंह चीनिर की आबादी थी। कभी न कभी उसे भी आबादी में दो-एक कमरे डालने थे। इसलिए शहतीर डालने के समय उसने आधा देना क़बूल कर लिया था। झगड़ा तो केवल दरबारे की ओर बाईं बाज़ू का था और वह झगड़ा ख़त्म होता दिखाई नहीं दे रहा था।

एक-दो बार दीवार बनाने के लिए कपूर सिंह ने दरबारे से बात की, किंतु उसने कोई हुँकारा नहीं भरा। और जवाब में कहा, ''जब दीवारों का समय आएगा तब दीवारों को देखा जाएगा।'' किंतु कपूर सिंह के लिए और कौन-सा समय होना था, जो घर से बेघर हुआ बैठा था।

दरबारे वाली यह दीवार बुजुर्गों के समय की कच्ची बनी हुई थी जिसमें जगह-जगह कई छेद हो गए थे। कई जगह तो चार अँगुल के बराबर झरोखे बने हुए थे। यूँ भी खोखली जैसे रेह की खाई हुई हों। आर-पार कई छेद पीछे कोठरी के शहतीर दबे हुए और छत झुकी हुई थी। दीवार की ज़रूरत दरअसल दरबारे को भी

पंजाबी रचनाकार संतोख सिंह धीर का जन्म 1920 में हुआ। कविता, कहानी, उपन्यास, लेख, डायरी आदि की लगभग 50 पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। साहित्य अकादेमी, पंजाबी साहित्य अकादमी तथा अन्य कई संस्थाओं से पुरस्कृत। संपर्क : 689, फ़ेज़-10, मोहाली, चंडीगढ़ 160061 फ़ोन : 0172-2211920

अनु. : केवल गोस्वामी का जन्म 1940 में हुआ। चार कविता-संग्रह प्रकाशित। पंजाबी, डोगरी से हिंदी अनुवाद। संपर्क : जे-363, सरिता विहार, नई दिल्ली 110044

उतनी ही थी जितनी कपूर सिंह को थी। नई दीवार बुरी भी किसे लगती है? किंतु बहाने के लिए एक तरह से इस दीवार के बिना भी उसका काम चल रहा था। उसके पास दो मकान थे। इस पुरानी कोठरी में तो उसका जलावन या ढोर-डंगर ही होता था। ख़ुद तो वे इस घर से अगले घर में रहते थे, जिसकी हालत बहुत अच्छी थी और जो उसकी गुज़र-बसर के लिए काफ़ी था। किंतु दीवार बनाए बिना कपूर सिंह का तो किसी तरह काम नहीं चलता था। नए घर पर जिसे नए सिरे से पैसा लगाना हो, वह कोई कोर-कसर भी क्यों रखे। तीनों ओर की दीवारें पक्की थीं, इस चौथी दीवार को कच्ची छोड़कर वह मकान की जड़ कैसे खोद दे? पक्की दीवारों पर कभी चौबारे भी बन सकते थे। कच्ची और बोदी दीवारों का खामियाजा वह भुगत चुका था।

कपूर सिंह झुँझला उठा—कहावत है शरीर मिट्टी का भी बुरा। दरबारे पर उसे रह-रहकर ग़ुस्सा आता, किंतु वह जानता था कि ग़ुस्से से उसका काम बनने वाला नहीं है। चाची राम कौर, चंदन सिंह चीनिया तथा अन्य लोगों को उसने कहा कि वे ही दरबारे को आकर समझाएँ क्या मालूम कोई बात उसकी अक्ल में आ ही जाए।

अगले दिन दरबारे के दरवाज़े के आगे रुककर उसने विश्वास के साथ आवाज़ लगाई। भीतर से लड़की ने बताया कि वह पटवारी की ओर गया हुआ है। कपूर सिंह उसके पीछे हो लिया। वहीं पर दो आदमियों के सामने उसने बात करनी उचित समझी। पहुँचने पर आगे से रामसरन पटवारी, धम्म सिंह सरपंच, टुंडा लंबरदार तथा दो-एक और लोग उसे चारपाइयों पर बैठे दिखाई दिए। दरबारा पटवारी के पास जैसे कुछ लिखवा रहा था। कपूर सिंह ने सभी को शामिल मानकर दरबारे को धैर्यपूर्वक कहा, "भाई दरबारा सिंह दीवार का अब कैसे करना है?"

"कौन-सी दीवार?" दरबारे ने पाँव पर पानी नहीं पड़ने दिया।

"तुम भूल बैठे हो!" कपूर सिंह बोला, "अपनी साँझी दीवार।"

"मुझे दीवार बनाने की ज़रूरत नहीं है।" अजनबियों की तरह दरबारे ने उसकी ओर से मुँह फेरकर शून्य में देखते हुए कहा।

"अगर तुम्हें ज़रूरत नहीं, मुझे तो है।" कपूर सिंह ने दीनतापूर्वक कहा, किंतु यह बात दरबारे को छू तक नहीं गई, उसने और भी रूखेपन से कहा, "तुम्हें ज़रूरत है तो तुम बना लो।"

"इतनी बड़ी दीवार अकेले मैं कैसे बना सकता हूँ भला! चालीस फ़ुट लंबी, चौदह फ़ुट ऊँची और डेढ़ ईंट चौड़ी..."

"फिर मेरे सिर अहसान है?"

"अहसान तो नहीं, मेरा काम तो अटक रहा है।"

"तुम्हारे काम का ज़िम्मा भी मुझ पर है? अटक रहा है तो अटका रहे?" दरबारा सिंह पर सवार होने लगा।

पास बैठे पटवारी ने धीरे-से कहा, "काहे को बखेड़ा खड़ा करते हो! मिलजुलकर ख़त्म करो।"

किंतु सरपंच ने ज़बान को चबाते हुए कहा, "हम क्यों बीच में पड़ें पटवारी जी! भाई-भाई हैं अपने आप समझेंगे।"

कपूर सिंह सरपंच का रुख़ ताड़ गया। पहले भी कई वर्षों से उसके साथ उसकी लगती थी। मूर्ख दरबारे को इन बातों की क्या समझ? अ... यदि कपूर सिंह का भाई ही सरपंच को उसके ख़िलाफ़ इस्तेमाल करने के लिए मिले तो औ... इसे क्या करना चाहिए था। उसने थोड़ा औ... विनम्र होकर कहा, "दरबारा सिंह मैं तेरी मिन्नत करता हूँ, हम परिवार वाले हैं, लड़ते अच्छे नहीं लगते, आओ मिलजुलकर दीवार बनाएँ। तु... हामी भरो, जैसा तुम कहोगे मैं वैसा ही करूँगा। दीवार कमज़ोर है—दोनों को ही सुख है—अ...

छोटी-मोटी दीवार होती तो मैं तुझसे कहता ही नहीं। सारा बोझ उठाना मेरे लिए मुश्किल है। तुम मुझे बड़ा हिस्सा दे दो और ख़ुद छोटा ले लेना।''

कपूर सिंह की नम्रता ने दरबारे की ज़िद थोड़ी ढीली कर दी। उसके माथे की सलवटें मद्धम पड़ने लगीं। एक पल को हाँ कहने को उसका मन भी हुआ। किंतु उसी समय सरपंच ने धीरे-से खँखारा, इतनी धीरे और इतना नामालूम जिसकी पहेली को दरबारा ही बूझ सके।

दरबारे को फिर ग़ुस्सा आ गया और उसके सामान्य हुए माथे पर सलवटें फिर गहरी हो गईं, ''अरे मैं पागल हूँ जो ज़बरदस्ती दूसरों का बोझ उठाता फिरूँ?''

''पर तुम्हें इनकार किस बात से है?'' कपूर सिंह ने फिर भी भाई-बंदी से काम लिया। क्या करता उसे ज़रूरत जो थी।

''पैसा ख़र्चने की मेरी तौफ़ीक़ नहीं है, मैं फाँसी लगा लूँ!'' दरबारा उसी तरह हवा को घूर रहा था।

''ख़र्च अभी मैं कर देता हूँ तुम फिर दे देना, जब होंगे तब दे देना।''

''मैं फ़िज़ूल में तेरे जूते के नीचे आऊँ।'' दरबारा किसी राह पर नहीं चलने देता था। भाई यदि मित्र हो तो उसके जैसा कोई मित्र नहीं और अगर शत्रु बन जाए तो उसके जैसा कोई शत्रु नहीं।

टुंडे लंबरदार ने बात ख़त्म करनी चाही, ''लेन-देन तो चलता ही है। आगे-पीछे तब कोई डर नहीं।'' कपूर सिंह की हालत पर उसे तरस आ रहा था।

''तुम्हें नहीं मालूम चाचा।'' दरबारे ने झट से डाँट दिया। वह ख़ामोश हो गया। कौन बेकार में अपनी हेठी कराए।

कपूर सिंह दुखी हो गया। क्या करे। यह बेईमान किसी तरह से नहीं मानता। पल्ले से चार सौ रुपए लगाकर उसे मुफ़्त में दीवार बनाकर दे दूँ तो ज़रूरत है, अगर आधा माँगो तो ज़रूरत नहीं है। उसे मालूम है,दीवार तो उसे अपनी ग़रज़ को बनानी ही पड़ेगी, वह क्यों ख़्वामख़्वाह हामी भरे। उसके शहतीर कोई उतार नहीं सकता।

''दरबारा सिंह!'' कपूर सिंह फिर से मिनमिनाने लगा, ''मेरी हालत तो देख! कितनी देर हो गई है मुझे धक्के खाते हुए। अब तुम फ़िज़ूल में अड़चन न डालो। जैसा कहोगे वैसे ही कर लेंगे।''

हल्का-सा हुँकारा फिर से सुनाई दिया।

दरबारे में जैसे ऊपरी हवा भर गई हो, बिना आँख मिलाए उसने कड़वाहट से कहा, ''मेरे हालात कौन से अच्छे हैं, जो मैं तेरे हालात की ओर देखूँ।''

पटवारी, सरपंच, लंबरदार तथा अन्य सभी चुपचाप सुनते रहे। कपूर सिंह ने और विनम्र होकर कहा, ''डेढ़ ईंट की न सही एक ईंट की बना ले।''

''एक ईंट की भी नहीं बनानी।''

''कच्ची बना ले।''

''कच्ची न पक्की।''

''चलो तुम ईंटों का आधा दे देना, मज़दूरी न सही।'' उसने और चोट खाई। किंतु दरबारा तो एक ही आटे का शेर था, और भी बिगड़कर बोला, ''जब मैंने साफ़ कह दिया है मुझे ज़रूरत नहीं! मैंने नहीं बनानी, मुझसे मत कहना।''

अगर दीवार कपूर सिंह ही बनवाए तो भी गिरवाने के समय हिस्सेदार का वहाँ पर होना ज़रूरी है। अपने घर को सँभालना! शहतीरों के नीचे ओट लगानी। उसने फिर भी धैर्यपूर्वक कहा, ''तुम्हारी रज़ामंदी के बग़ैर मैं दीवार को छेड़ूँ भी तो कैसे? तुम पास तो खड़े होगे? दीवार बनेगी तो गिराकर ही।''

''सरदार जी,मैं तो दीवार को जलाने भी नहीं जाऊँगा। तुम कहते हो पास खड़े होवो। मुझे कोई मजबूरी नहीं है।''

''नहीं भई'' बीच में ही किसी ने दरबारे की बात पर कहा, ''यह तो बेजा है।''

अब कपूर सिंह को भी आग लग गई, ''इसको कहते हैं शरीक।'' उसने मन ही मन कहा, ''बंदा कहाँ तक सब्र कर ले?'' तब भी वह ग़ुस्से को पीकर किंतु थोड़ा तेज़ होकर बोला, ''अगर मैं बना लूँ तो तुम मेरी दीवार पर शहतीर तो नहीं रखोगे।''

''शहतीर रखने से मुझे कौन रोक सकता है। मैं दीवार का मालिक हूँ।'' दरबारे ने रान थपथपाई।

''तुम्हारी अकेले की ही है दीवार, मेरी नहीं, आया बड़ा मालिक बनने वाला!'' कपूर सिंह सुलगे नहीं तो क्या करे।

दरबारे ने और उलटे शेखी बघारी, ''मैंने तो सरदार जी तुम्हारे ख़िलाफ़ अर्जी डालनी है, तुम आधा हिस्सा तलाश रहे हो। तुम्हारी छत गिरने से दीवार नंगी हो गई। अगर बारिश में यह नंगी दीवार मेरा कोठा लेकर बैठ गई, तो इसका ज़िम्मेदार कौन होगा?''

अब तो कपूर सिंह भी भड़क उठा, ''तुमसे जो भी बन पड़े, कर लेना। मुझे मालूम है तुम्हारे भीतर कौन-सा वकील बोलता है। मेरे ख़िलाफ़ अर्जी देगा यह निगोड़ा! अब गिन-गिनकर हवेली का हरजाना वसूल करना मुझसे। चलो मैं गिराता हूँ दीवार, हटा सको तो हटा लेना मुझको...।''

दरबारा कपूर सिंह से छोटा था और शरीर से भी दुबला इससे पहले उसके सामने वह इस तरह कभी बोला भी नहीं था। किंतु उकसाहट बुरी होती है। दरबारा उठकर खड़ा हो गया और आस्तीन चढ़ाता हुआ गरजकर बोला, ''तुम दीवार को हाथ तो लगाकर देखो!''

दोनों आमने-सामने थे, उलझ पड़ते कि टुंडे लंबरदार ने झट से उठकर दरबारे को चुपकर दिया, और कपूर सिंह को चले जाने का इशारा किया।

कपूर सिंह वहाँ से चल पड़ा, ''अच्छा चलो यही सही, मैं गिराता हूँ तुम रोक लेना और देखना अब दीवार बनती कैसे है, देखता हूँ तुम कैसे नहीं देते हिस्सा!'' पटवारख़ाने का दरवाज़ पार करते समय वह कह रहा था।

सारा गाँव दरबारे को कोसने लगा, ''दरबा ने बहुत बुरा किया किसी बात पर तो बंदे मान लेना चाहिए।''

कपूर सिंह दुविधा में था। घर बनाए या बनाए। इससे अच्छा तो गाँव के बाहर जाक बसना था। दीवार बनती दिखाई नहीं देती। आ छोड़कर बनाने या खंभे गाड़कर बनाने से ब नहीं बनती। चारों ओर से पक्का सुंदर चक घर बन जाता। आख़िर वह इस फ़ैसले पर पहुँ कि काम शुरू कर देना चाहिए। जब दीवार त बात पहुँचेगी तो अपने आप कोई रास्ता निक आएगा। किसी का कोई काम कभी रुका नहीं। पक्की बन गई तो ठीक, नहीं तो खंभे ख करके बीच में पर्दी बना देंगे। समझेंगे एक तर से कच्चा रह गया अब और किया भी क्या सकता है। लोग तो कहते हैं डिप्टी के यहाँ अ डाल दो। लेकिन मामला और उलझ जाएग जेठ-आषाढ़ के लंबे दिन खिसकते जा रहे यदि इस तरह करते-करते सर्दियाँ आ गईं राज-मज़दूरों से यों भी काम नहीं निपटना फिर अगर अब छूट गया तो न जाने कब पूरा हो?

काम शुरू हो गया। चाची राम कौर वा दीवार गिराकर मज़दूर नींव खोदने लगे। दिन में दीवार पूरी हो गई। दालान, बराम रसोई तथा बाक़ी सारी नीवें भरी गईं। बैठक दीवार उठने लगी। खिड़की-दरवाज़े की चौख भी रखी गई। दस दिन के भीतर जगह का नक़् ही बदल गया और चाची राम कौर की पक्‍ दीवार के सामने वाली दरबारे की कच्ची दीव अब और भी बुरी लगने लगी। हर राह चल कहता—अब यह दरिद्र निकालकर ही दम ले

किंतु दरबारे ने अभी भी ना ना की रट ल हुई थी।

बैठक की खिड़कियों और दरवाज़ों पर लैं डल गए। ड्योढ़ी की चौखट भी रखी गई। बैठ

चाची राम कौर वाली दीवार के साथ थी और निकलने के लिए ड्योढ़ी दरबारे की तरफ़। ड्योढ़ी की छत थोड़ी नीची रखकर आठ फ़ुट पर लैंटर डालना था क्योंकि उसके ऊपर मियानी बनानी थी। ड्योढ़ी का लैंटर डालने के लिए अब दरबारे की दीवार का फ़ैसला होना ज़रूरी था, कारीगरों का हाथ रुक रहा था।

जब और कोई चारा न चला तो कपूर सिंह ने दरवाज़े पर जमावड़ा जमा दिया। पूरा गाँव चबूतरे पर इकट्ठा हो गया। पंचायत ने दरबारे को बुलवाया और दीवार बनवाने के लिए कहा, "पहले तो उसने कई बहाने बनाए—मैंने लड़की की शादी करनी है—मुझे अभी ज़रूरत नहीं—मुझे वारा नहीं खाता..." आख़िर पंचायत ने समझा-बुझाकर मना लिया। सबकी राय के सामने उसे झुकना ही पड़ा।

मज़दूरी का हिस्सा छोड़ दिया गया। ईंटों तथा अन्य सामान का आधा देने का फ़ैसला हुआ, क्योंकि अभी उसे दीवार की ज़रूरत नहीं थी, इसलिए रियायत के तौर पर रक़म को दो लंबी क़िस्तों में बाँट दिया गया! अगली लोहड़ी छोड़कर पहली क़िस्त बैसाखी को और दूसरी अगली लोहड़ी को। काग़ज़ तैयार हो गए।

भले ही सारी मज़दूरी कपूर सिंह के सिर पड़ गई थी जो अस्सी-बियासी तक बनती थी, फिर भी वह ख़ुश था। काम शुरू हो गया। उसके हिस्से में चालीस के लगभग ही अधिक पड़े। कोई बात नहीं इसके लिए तो पहले ही वह दरबारे को जाकर कहता ही रहा है।

अगले दिन पंचायत के चार आदमी आए और अपने सामने दीवार गिरवाकर नींव खुदवाने लगे। ईंट रखते समय दीवार के पास मेला लग गया।

दरबारा ख़ुश तो पहले ही नहीं था किंतु अब जब दीवार बनने लगी तो ज़िद टूटने के कारण उसकी छाती पर साँप लोटने लगे।

रस्सी का एक किनारा धम्मा सिंह सरदार ने पकड़ा और दूसरा नाहर सिंह अकाली ने! रस्सी को जब नींव के एक किनारे पर रखा गया तो झट से बौखलाई हुई आवाज़ में दरबारा सिंह ने कहा, "अपने ईमान के अनुसार ही नींव खुदवाना कालिया।"

"हमारे लिए तो दोनों बराबर हैं दरबारा सिंह।" नाहर सिंह ने उत्तर दिया। सारे लोग एक-एक रस्सी को देखने लगे।

दूसरे सिरे पर धम्मा सिंह सरपंच ने कपूर सिंह वाले हिस्से पर एक हाथ के फ़ासले पर रस्सी रख दी।

एकदम शोर मच गया, "यह तो एकदम टेढ़ी है यहाँ पर तो दीवार उठ ही नहीं सकती।"

किसी ने ऊँची आवाज़ में धम्मा सिंह को कहा, "रस्सी दूसरी ओर एक हाथ के फ़ासले पर रखो। इतना फ़र्क़ तो अंधों को भी दिखाई देता है।"

धम्मा सिंह को रस्सी दूसरी ओर सरकानी पड़ी।

"अब ठीक है।" सबने तसल्ली से कहा।

गारा फेंककर मिस्त्री निशान लगाने लगा तो दरबारा उबल पड़ा, "मुझे यह मंजूर नहीं है। यह कोई इंसाफ़ है, दीवार चार अँगुल मेरी ओर है।"

"तुम्हारी ओर तो पूरी की पूरी है। अभी तो चार आदमी खड़े हैं।" कपूर सिंह ने कहा।

दरबारे ने झट से गाली देते हुए कहा, "कोई पैदा ही नहीं हुआ मेरी ओर दीवार डालने वाला!"

आदमी चाहे कितना भी विनम्र हो पर किसी की गाली कैसे सह सकता है। पूरे जोश के साथ कपूर सिंह ने मुक्का तानकर चुनौती दी, "नींव में ही दबा दूँगा, नींव में..." और इतने में उसका छोटा भाई लाठी उठा लाया। दोनों ओर से गालियों की बौछार होने लगी। दूसरी ओर से दरबारे का भतीजा गँड़ासा उठा लाया। दरबारे ने पकड़ते ही दोनों हाथ जोड़कर लाठी कपूर सिंह के सिर पर मारी "आजा तुझे देखता हूँ कैसे नींव में गाड़ेगा!" और साथ ही कपूर सिंह के सिर से लहू की धार बह निकली। "कमीने! कमीने..." झट से एक वार दरबारे के कंधे पर पड़ा, दूसरा कनपटी पर।

लहू का फव्वारा छूट पड़ा और वह उलटकर नींव में जा गिरा। पंच रस्सी छोड़कर पीछे हट गए थे। आख़िर कुछ लोग हौसला करके छुड़वाने लगे। औरतों ने घरों से निकलकर परस्पर मोर्चे संभाल लिए, एक दूसरे पर दोषारोपण होने लगा। चीख़ चिल्लाहट। गाली–गलौज कि कानों पर पड़ी कोई आवाज़ सुनाई न दे। दो घंटे तक ऐसा झँझावात चला, वह तूफ़ान उठ खड़ा हुआ कि लोगों ने कानों पर हाथ रख लिए।

कुछ दिन बाद दीवार तो बन गई! जैसी दरकार थी वैसी ही बनी! किंतु जीने का सुख–स्वाद जाता रहा। जिस बात का डर था वही होकर रही। दोनों पक्षों की जमानतें हो गईं। दिलों में दरार पड़ गई। बोल–चाल बंद हो गई। कई पुश्तों के लिए बैर का बीज पड़ गया।

दो–चार, छह महीने, अंततः साल बीत गय बैसाखी के अवसर पर भी कपूर सिंह ने दरब से पैसे माँगने की पहल नहीं की। पूरे गाँव के सामने लिखत–पढ़त हुई थी मुकर तो वह सक ही नहीं।

छह महीने और बीत गए। दूसरी लोहड़ी क क़िस्त भी निकल गई। कपूर सिंह किसी रो पंचायत को कहने ही वाला था कि एक दि सुबह–सुबह कलेजे पर हाथ धरे चाची राम क आई, ''तुमने कुछ सुना है कपूर सिंह?''

हैरान होकर कपूर सिंह ने कहा, ''नहीं चाची क्यों क्या बात है?''

''अरे तुम्हें कोई ख़बर ही नहीं, अपना दरबा तो धरती पकड़ रहा है।''

''दरबारा?''

''और नहीं तो क्या! वह तो निमोनिए से जुड़ गया है। पंद्रह दिन हो गए। रात को बहू रोते-रोते निढाल हो रही थी। इलाज करना भी कौन-सा आसान है।''

''मुझे तो चाची अब तुमसे पता चल रहा है।''

''मैं भी कहूँ तुम्हारा कोई बेगाना तो है नहीं।''

''बिना आए-जाए दीवार की ओट परदेस ही होता है चाची।''

''उसकी वह जाने! नाखूनों से मास कहीं अलग हुआ है बेटा!'' यह कहते हुए चाची इशारा करके चली गई।

कपूर सिंह उठा और झिझकते हुए दरबारे के घर में प्रवेश कर गया। आँगन में दीवार के पास ही दरबारे की चारपाई थी। कपूर सिंह ने जब दरबारे को देखा तो वह हक्का-बक्का रह गया। सूखकर काँटा हुआ शरीर... धुएँ जैसा रंग... भीतर को धँसी हुई आँखें और उसकी कच्ची गृहस्थी।

भीतर से आकर दरबारे की घरवाली ने चारपाई के पास स्टूल रख दिया। किंतु कपूर सिंह दरबारे के पास ही चारपाई की पाटी पर बैठ गया, ''क्या हाल है भाई दरबारे?''

रज़ाई के सहारे बैठते हुए दरबारे ने कहा, ''अब तो ठीक हूँ भाई...'' बीमारी से टूटे हुए उसके निढाल मन को कुछ क़रार हुआ।

''कुछ नहीं! लेटे रहो, उठने की तकलीफ़ न करो।''

''कमज़ोरी ज़्यादा है।'' बोलते हुए दरबारे का पूरा शरीर काँप रहा था।

''सब दूर हो जाएगी, चौखट बची रहे, बान बहुतेरा।'' कपूर सिंह ने हौसला दिया।

लोगटा गर्म करके उसकी बेटी हरबंसो उसकी पसलियों पर सेक करने के लिए आई।

''किसका इलाज चल रहा है?'' कपूर सिंह ने पूछा।

''इलाज!'' दरबारा ख़ामोश हो गया। इलाज किसी का भी नहीं कर रहा था। घर का इलाज भी कोई इलाज होता है।

कपूर सिंह से भला क्या छिया था। एक दूसरे के घरेलू हालात से वे परिचित थे, कपूर सिंह ने दस रुपए का नोट निकालकर दरबारे की जेब में डाल दिया, ''मैं मंडी जाकर डॉक्टर को भेजता हूँ।''

दरबारे के मन में हूक-सी उठी, ''मुझे तो पहले भी तुम्हारे पैसे देने हैं भाई... दीवार वाले...''

''तुम ठीक हो जाओ, देते रहना पैसे... पैसे सालों ने साथ जाना है क्या!''

दरबारे की आँखे भर आई, कुछ देर बाद वह भरे गले से बोला, ''मकान का काम पूरा हो गया।''

''थोड़ी सी टीप-टाप रहती है, सीमेंट ख़त्म हो गया था।''

''मुझे तो ससुरा सरपंच भड़काता रहा, नहीं तो मैं कौन-सा तुम्हारा दुश्मन था।''

''अब तू इन बातों को मन पर न ला—अगर चार बर्तन होंगे तो खनकेंगे ही।''

''आषाढ़ में बंसो का ब्याह कर दे?'' दरबारे के रोम-रोम से अपनत्व जाग रहा था।

''ठीक है। जो बोझ सिर से हल्का हो जाए वही अच्छा है।''

''तुम आओगे?''

''जैसे तुम कहो।''

दरबारा सिंह ने अपने काँपते हाथों से कपूर सिंह का हाथ पकड़कर कहा, ''तुम्हारे बग़ैर भाई मैं किस काम का...'' उसके होंठ फड़कने लगे और आँखों से आँसुओं की धार बह निकली।

''अरे-अरे! हौसला कर वीर, मैं तुमसे अलग कब था।'' कपूर सिंह मुश्किल से इतना कह सका। आँसुओं की दो धार अब उसके चेहरे पर भी बह निकली।

चित्त घोषाल

चश्मा

चश्मे की चोरी में अपना स्पेशलाइज़ेशन कर लेने के पहले नरोत्त
एक मामूली चोर ही था। उसे एक उठाईगीर भी कह सकते हैं
जब कभी जो कुछ भी मौक़े से उसके हाथ लग जाता, वह उस प
हाथ साफ़ कर लेता था। शादी वाले या श्राद्ध वाले घर से जूतों क
चोरी भी की। बड़े-बड़े चोरों की नज़रों में एक चोर की हैसिय
से उसकी कोई मान-मर्यादा नहीं थी। एक चोर की मान-मर्यादा
वह भी चोरों की नज़रों में! कोई भी यह सवाल उठा सकता है,
प्रभूत प्रतिष्ठा प्राप्त और प्रमाणित एक चोर की पर्याप्त मर्यादा है
जो गुणीजनों की दृष्टि में भी प्रचुर है—इसका प्रमाण तो हम
हमेशा ही पाते हैं—इतना कहना ही काफ़ी है। इससे ज़्यादा कहने
की अब ज़रूरत भी नहीं है। निहायत नरोत्तम की कहानी कहते-
कहते किसी समय मर्यादा का प्रश्न उठ खड़ा होगा ही, इसीलिए
यह प्रसंग आ गया।

नरोत्तम के चरित्र का एक अति उल्लेखनीय अंश है उसकी
निष्ठा। उचक्का ही हो या कुछ भी हो, चोरी वह निष्ठा के साथ
ही करता था। चोर की मनोवृत्ति में उसकी तनिक भी ख़ामी नहीं
थी। चोरी के माल को बेच देने के पहले वह उसे जाँचता-परखता
था, उसे प्यार से छूता और सहलाता था। ठीक वैसे जैसे कोई
कुशल खिलाड़ी, कलाकार या छात्र अपनी क़ाबिलियत के कप-
मेडल-सर्टिफ़िकेटों को अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार यदा-
कदा मौक़ा पाते ही करता है। यहाँ तक कि चोरी की चीज़ों को
बेच देने के पहले उन्हें दुरुस्त कराकर, पॉलिश कराकर वह चमकाता
था। ऐसा करने पर उसे दो पैसे ज़्यादा दाम मिलते थे तो सही, पर
वह उस मरम्मत और पॉलिश के ख़र्च से ज़्यादा नहीं होते। दरअसल
नरोत्तम का स्थेटिक सेंस ही ऐसे समय मुख्य होता था। कोई-कोई
अगर भौंहें तानें तो भी मैं लाचार हूँ। चोरों का स्थेटिक सेंस नहीं
हो सकता, चोर विदग्ध जन नहीं हो सकता—ऐसे ख़यालों का
कोई आधार नहीं है। अभी-अभी हज़ारों मिसाल पेश करके ऐसे
ग़लत ख़यालों को चुनौती दी जा सकती है। ख़ैर, छोड़ें इन बातों
को। कितने छोटे पैमाने का ही क्यों न हो, नरोत्तम अपने काम को
एक हुनर ही मानता था। और अपनी निष्ठा तथा अनुराग में उसकी
कोई कोरकसर नहीं थी। उसे इसका इनाम भी मिला था।

बाङ्ला रचनाकार चित्त घोषाल का जन्म 1933 में हुआ। इनकी कहानी-संग्रह एवं उपन्यास की लगभग 15 पुस्तकें प्रकाशित हैं। बंकिम पुरस्कार से सम्मानित हैं। संपर्क : ई-17/10, पूर्वाशा हाउसिंग एस्टेट, 160, माणिकतला मेन रोड, कोलकाता-700054

अनु. ननी शूर के हिंदी, अंग्रेज़ी तथा बाङ्ला में परस्पर 125 कहानियों के अनुवाद प्रकाशित हैं। साहित्य अकादेमी के अनुवाद पुरस्कार से सम्मानित हैं। संपर्क : 63, विद्यासागर रोड, नवग्राम, ज़िला-हुगली, प.बं. 712246

नरोत्तम के चमत्कारी उत्थान और सफलता की शुरुआत यहीं से है। सच पूछें तो उसका असल नाम नरोत्तम नहीं। आजकल उसकी प्रभूत प्रतिष्ठा है। उसके असल नाम का प्रयोग करके किसी गली-कूचे में अचानक क़त्ल हो जाने या कम-से-कम मानहानि के मुक़दमे का मुजरिम बनने का जोखिम तो नहीं लिया जा सकता।

ख़ैर, उसके उत्थान-पर्व के पहले चमत्कारी कांड की कहानी अब सुनाऊँ। एक दिन शाम को एक के बाद एक, तीन प्रयासों का असली परिणाम शून्य होने पर वह एक बदख़त खिन्नता मन में लिए फ़ुटपाथ पर चहलक़दमी करते-करते कुछ टिप्स के लिए अपने उस्ताद तसबीर अली के पास एक बार जाए कि नहीं, इस बात पर सोच-विचार कर रहा था। सुदीर्घ अनुशीलन से दुरुस्त उसकी दो आँखें इसी बीच निविड़ पर्यवेक्षण का कार्य भी करती जा रही थीं। अचानक ही उसकी नज़र में वह व्यक्ति आ गया। एक क़ीमती कार पर एक हाथ रखकर ठीक वैसे जैसे संतान के कंधे पर माता-पिता प्यार का हाथ रखते हैं, वह आदमी एक दूसरे आदमी से गुफ़्तगू कर रहा था। वह एक चुस्त पाजामा अद्धी का एक शिकनदार पंजाबी पहने था। पैरों में काले-काले कुओ-वेदिस के चमकदार जूते चमचमा रहे थे। उसकी उम्र साठ के पेटे में है, चेहरे पर के यहाँ-वहाँ के गड्ढे और उभरी हड्डी ही यह बता देती है। वैसे स्याह-काले केश की वह चिकनाःहट भी इस उम्र में किसी क़ीमती केशकल्प के बिना नहीं आ सकती। वह व्यक्ति एक प्रभावशाली पुरुष है, इसमें कोई संदेह नहीं। नरोत्तम ने अख़बार में उसकी तस्वीर भी देखी है। इतना सब कुछ देख लेने के साथ-साथ असल में जो देखना-परखना था, उसने वह भी देख लिया। उस व्यक्ति की पंजाबी की बाईं जेब से डेढ़ इंच के बराबर बादामी रंग का एक छोटा बॉक्स बाहर झाँक रहा है। वह कुछ-कुछ गहने का एक डिब्बा-जैसा है। क्या हो सकता है उसमें? पहले तो हथिया लूँ। जय श्रीराम, अल्लाह मेहरबान, मन-ही-मन एकबार जप करके उस रईस शख़्स से दो हाथ की दूरी पर एक टेक्निकल ठोकर खाकर, गिरते-गिरते सँभलते-सँभलते उस चीज़ को हथियाकर बग़ल की एक गलियारी से पलक झपकते ही वह ग़ायब हो गया।

घर पहुँचकर उसने बॉक्स को खोला तो देखा कि उसमें एक चश्मा है। उसका मन टूट गया। इतना जोखिम उठाकर आख़िर मिला क्या? एक मामूली चश्मा। पर वह चश्मा एक मामूली चश्मा नहीं था, इसका पता तो अगली सुबह ही मिलने वाला है, यह बात वह कैसे जान पाएगा। इसीलिए एक अनसेंकी पावरोटी गपककर और तीन गिलास पानी गटगट पीकर वह सो गया। चोर नींद भर सोते हैं। नींद भर सो न सकने से अच्छा चोर नहीं बन सकता। पकड़े जाने के डर से जो हरदम सहमा-सहमा रहेगा, उसके लिए ठीक से आँख झपकना संभव नहीं, उसके लिए चोखा चोर बनना तो दूर की बात है।

मुख्य दरवाज़े के ऊपर नुनखरी दीवार पर अस्पष्ट अक्षरों में Estd. 1876 लिखे हुए बत्तीस किराएदारों के निवास करने वाले पुराने-धुराने एक मकान की सात फ़ीट बाइ साढ़े तीन फ़ीट अटारी में नरोत्तम एक सौ पच्चीस रुपए का एक किराएदार है। इत्ते भर एक कमरे में कितने ऐशोआराम की उम्मीद की जा सकती है। पर पूरब की खिड़की से काफ़ी उजाला उसके कमरे में आता है। चोर काफ़ी देर तक सोते रहते हैं—यह भी मामूली तौर पर सही ख़याल नहीं है। नरोत्तम सुबह-सुबह उठकर उषा की किरणों का खिलवाड़ देखना पसंद करता है और इसीलिए वह पूरब की खिड़की को खुला ही छोड़कर सोता है। उसमें एक कवि हृदय है। कभी-कभार दो-एक कविताएँ लिख भी डालता है, पुस्तक तो पढ़ता ही है। अख़बार भी पढ़ता है—रास्ते के किनारे इधर-उधर की दीवारों पर चिपकाए हुए बहुत सारे

अख़बार पढ़ डालता है। दुनिया के हालचाल की वह अच्छी तरह जानकारी रखता है।

सुबह के साफ़ उजाले में खिड़की की बग़ल में बैठकर नरोत्तम ने फिर बॉक्स खोला। अजीब बात है! कल रात उसने देखा था कि उस चश्मे के दोनों शीशे पारदर्शक थे, पर अब देखता है कि वे गहरे बादामी रंग के हैं। ज़्यादा उजाले से कम उजाले में चश्मे को ले आने पर शीशे का वह बादामी रंग फक पड़ जाता है। अरे! अरे! तो यह उस क़िस्म के काँच हैं! क़ीमती काँच हैं! अब वह फ्रेम को ग़ौर से देखता है। घी के रंग की पतली फ़ैशनेबल चीज़ है। अरे अरे! हिलाने-डुलाने पर इसके घी के रंग के भीतर से कभी-कभी हलका गुलाबी रंग झलकता है। चीज़ भी ज़्यादा पुरानी नहीं। आमदनी बुरी नहीं होगी— बॉक्स के भीतर मख़मल का एक छोटा टुकड़ा था, उसी से जतन से चश्मे को पोंछते-पोंछते नरोत्तम का मन और मिज़ाज ख़ुश हो उठता है।

अपनी करामात की इस क़ाबिले याददाश्त को देखते-देखते, लाड़-प्यार करते-करते नरोत्तम ने एक बार उसे अपनी आँखों पर पहन लिया। पहनकर बाहर झाँका। बादामी रंग की छाया में जाने-पहचाने सारे पुराने मकान कैसे स्वप्निल बन बैठे। आँखों से एक अनोखा आराम शरीर भर में फैलने लगा। ख़ासकर वह आराम अपने अंतर के अंतस्तल में बहुत गहराई में फैलने लगा। धीरे-धीरे वह अनुभूति एक अतलस्पर्शी आत्मविश्वास के रूप में साकार हो उठी। उसे ऐसा लगा कि वह किसी भी स्थान से किसी भी वस्तु को अनायास उड़ा ले सकता है और किसी की यह मजाल नहीं होगी कि उसकी चोटी पर हाथ डाले। ऐसी अजीब वाक़िफ़ीयत उसे कभी नहीं हुई। इस चश्मे के साथ ऐसे अनुभव का कोई वास्ता तो नहीं है? ऐसा ख़याल मन में आते ही उसने चश्मे को उतार डाला। एक दिग्विजयी चोर से वह एक मामूली चोर बन गया।

फिर एक बार उसने उस चश्मे को पहना और तत्काल ही उसका वह आत्मविश्वास वापस लौट आया। चोरी से सारी दुनिया को अपनी ही जेब में भर लेने की वह अजीबोग़रीब तमन्ना, दिल में उत्कट एक सपने की उथल-पुथल चल रही थी। नहीं, नहीं, इस ससुरे चश्मे को हाथ से जाने नहीं देना। ढंग से जीने लायक़ जीने की राह यही चश्मा उसे दिखाएगा।

फिर भी निहायत ही कुतूहल से उस चश्मे की क़ीमत आँकने के मतलब से नरोत्तम बहू-बाज़ार में चश्मे की एक दुकान पर पधारा। उसकी सूरत-शक्ल एक भद्रजन-जैसी है। शर्ट-पैंट एक सेट होने पर भी काम-धंधे की ख़ातिर उसे लक़दक़ रखना ही पड़ता है।

एक नामी चश्मे की दुकान के काउंटर पर वह गया और अपनी आँखों से चश्मे को उतारकर सेल्समैन को दिखाया और पूछा, "ऐसा फ्रेम आजकल अवेलेबल है क्या?"

"सर, यह तो असली अमरीकन चीज़ है..."

अपने दिल की तेज़ धड़कन को वह आदमी बिलकुल ताड़ने न पाए इसलिए नरोत्तम ने केवल इतना ही कहा, "मुझे पता है।" और चश्मे को फिर से पहनकर पूछा, "आजकल ऐसा मिलता है क्या? क्या क़ीमत है आजकल?"

"सर, ऐसी चीज़ों की क़ीमत एक-सी नहीं रहती। फिर भी दो हज़ार से कम तो नहीं होगी। एडवांस करके जाइए, मिल जाए तो लाकर रखूँगा।"

"आज मैं तैयार नहीं हूँ। नेक्स्ट वीक आ जाऊँगा।"

"आजकल अपने देश में भी बढ़िया-बढ़िया चीजें बन रही हैं। दिखाऊँ आपको?"

"देख सकता हूँ।" ख़ास दिलचस्पी ज़ाहिर किए बिना नरोत्तम ने बताया, "मेरा चॉयस कुछ...", आधे इंच की एक रईसी मुस्कान के साथ वाक्य पूरा हुआ।

"सो तो देख ही रहा हूँ। फिर भी एक बार देख लीजिए न, देखने में क्या हर्ज है।"

चश्मा पहनकर नरोत्तम का आत्मविश्वास अब काफ़ी ऊँचा हो गया। उसने कई फ्रेमों को घुमा-

फिराकर जाँचा-परखा, फिर कहा, "नहीं भई, यह सब नहीं चलेगा। मैं अगले हफ़्ते आकर एडवांस देकर जाऊँगा।" कहकर उसने अपना हाथ जब समेट लिया, तब तक एक क़ीमती फ्रेम उसकी जेब में आ गया।

उसी दिन से नरोत्तम ने तय किया कि चश्मे की चोरी की लाइन में ही वह स्पेशलाइज़ेशन करेगा। आज का ज़माना स्पेशलाइज़ेशन का है। इसके अलावा जिस अजीब चश्मे का अब वह मालिक है, वह चश्मा इस बात का एक दैवी संकेत है—उसे ऐसा लगा। चश्मा, हाँ चश्मा ही उसकी लाइन है। इस लाइन में कमाई भी अच्छी है। किसी की आँखों से, नाक से, कान की बग़ल से एक चश्मे को उड़ा लेने का काम भी काफ़ी चैलेंजिंग है, जोखिम-भरा है। किसी एक जेब को कतरकर या मामूली-सी कोई चोरी करके ऐसा मज़ा कभी नहीं मिलता। यह काम बड़ा दुष्कर है, किंतु इस काम की एक बड़ी सुविधा भी है। पहले कभी-कभी ऐसा हुआ कि बड़ा-सा कोई मनीबैग हथियाकर उसको उसमें केवल तीन रुपए अस्सी पैसे ही मिले। किसी एक लुभाने वाले पैकेट में ऐसी कोई चीज़-बस्त मिली, जिसके लिए जगन्नाथ बाबू सात रुपए से एक पैसा भी ज़्यादा देने को तैयार नहीं थे। पर चश्मे की बात ही निराली है। जिस चश्मे को तुमने टार्गेट किया उसकी क़ीमत का अंदाज़ा लगाए बिना ही तुम उसे हथियाने जा रहे हो। चश्मेवाले का भी जायज़ा ले रहे हो—वह शख़्स होशियार है कि भोंदू, फुर्तीला है कि ऐसा ढीला-ढाला कि हिलने-डुलने में साल भर लग जाए। अल्पवय है कि रवाना होने के लिए कगार के उस पार पैर रखा हुआ है। सारे काम में जिस प्रकार की जोश-ख़रोश, अक्लमंदी और हाथ की करामात का इम्तिहान है, उसी तरह कमाई भी अच्छी है और अन्य-अन्य चोरियों की तरह अनिश्चित भी नहीं है। अच्छी तरह जाँच-पड़ताल और पसंद करके हथियाया हुआ एक चश्मा तो कम-से-कम सत्तर-अस्सी से लेकर सौ रुपए में जगन्नाथ बाबू को बेचा ही जा सकेगा।

अजीबोग़रीब उस चश्मे की बदौलत नरोत्तम के दिन आराम से बीतने लगे। रोज़ ही वह दो-एक चश्मे को हथिया लाता है। आजकल अच्छा-ख़ासा खाता-पीता है। अच्छे-अच्छे शर्ट-पैंट बनवा लिए। रोज़ दाढ़ी बनाने के बाद आफ़्टर-शेव लोशन का इस्तेमाल करता है। शादी-ब्याह कर लेने की बात भी कभी-कभी सोचता है। आख़िर ज़िंदगी में इससे भी ज़्यादा इज़्ज़त हासिल कर लेने तक इस काम को फ़िलहाल मुलतवी रखना ही तय करता है।

अपने पेशे के प्रति उसे गहरा लगाव तो था ही, चश्मे की चोरी को अपना स्पेशलाइज़ेशन कर लेने के बाद, इस काम में अन्य वस्तुओं की चोरी से बहुत अधिक पटुता का परिचय देते-देते और सफल होते-होते उसमें एक अटूट आत्मविश्वास घर कर लेता है। दरअसल इस बात में उसी चश्मे की एक विशेष भूमिका थी, इसमें कोई संदेह नहीं। जब कभी वह काम-धंधा करने के लिए निकलता, उस चश्मे को पहन लेना वह कभी नहीं भूलता। जॉब सटिसफ़ैक्शन उसे काफ़ी मिल रहा था। ट्रम व बस की ठसाठस भीड़ में एक बग़ल वाली या सामने वाली जेब से चुपके से कुछ उठा लेना आजकल उसे निहायत ही एक ओछा काम लगता है। कितना ही भरपूर भीड़-भड़क्का क्यों न हो, कंधे से निचला हिस्सा कितना ही सटकर क्यों न रहे, माथा और मुखड़ा कुछ-कुछ स्वतंत्रता लेकर ही रहता है। मुखमंडल जैसे एक संवेदनशील अंग से एक चश्मे को हथिया लेना कोई हँसी-खेल नहीं। आत्मरक्षा के लिए प्रतिस्पर्धी मनोदशा और दक्षता-आजकल के ज़माने में जीने का यही रास्ता है। चश्मे की चोरी के काम में नरोत्तम युगमानस के साथ अपने को सफलता से मिला पा रहा था। केवल जॉब सटिसफ़ैक्शन ही नहीं, इंटेलेक्चुअल सटिसफ़ैक्शन भी उसे मिल रहा

था। बेच देने के पहले हर एक चश्मे को वह ख़ुद एक बार पहनकर परखता था। वह केवल अपनी सफलता स्मारक के रूप में ही नहीं, चश्मे को आँख पर पहनने के पहले एक नई रोमांचकर अनुभूति की उम्मीद से उसका मन उन्मुख हो उठता था। पर एक बार जो चमत्कारी अनुभव उसे हुआ था वैसा फिर कभी नहीं हुआ। अधिकांश चश्मे मन में किसी प्रतिक्रिया की सृष्टि ही नहीं करते थे। दो-एक चश्मे दिल के रंग को थोड़ा-बहुत बदल तो देते थे, पर वह सब निहायत साधारण-सा सुख-दुख, मनोविनोद, विराग या वैराग्य था, उसमें चौंका देने या रोमांचित करने लायक़ कुछ भी नहीं था।

इस प्रकार कुछ दिन बीतने पर नरोत्तम के जीवन में एक दूसरे अजीब चश्मे का आविर्भाव हुआ।

चोर भीड़-भड़क्का और गड्डमड्ड पसंद करते हैं। ख़ासकर उच्छृंखल भीड़ उनके लिए अत्युत्तम परिस्थिति है। केवल इसीलिए नरोत्तम सभा-समितियों में जाता है, ऐसी बात तो नहीं। विभिन्न विषयों पर उसे दिलचस्पी है। उसे अभी पंडित या विदग्ध जन की आख्या देने से अतिरंजना हो सकती है, पर शिक्षित कहने पर किसी को एतराज़ नहीं होना चाहिए। हाँ, पेशे के अवस्थान के साथ शिक्षा को मिलाना कभी उचित नहीं है—जिसे यह समझ है, उसी के लिए नरोत्तम को शिक्षित होने की स्वीकृति देना संभव है। हाँ, मेरी व्यक्तिगत राय यह है कि आगे चलकर नरोत्तम को यथार्थ पंडित और विदग्ध जन की स्वीकृति मिलेगी ही। ख़ैर, छोड़ें, उस बात को। एक शिक्षित मनुष्य के रूप में नरोत्तम के विचार सियासी अवश्य ही हैं। वह एक राजनीतिक दल का समर्थन भी करता है। उस दिन उसी दल की एक विशाल सभा थी। सर्व-भारतीय कई नेता भी आने वाले थे। देश की राजनीतिक परिस्थिति का जायज़ा लेने तथा दो-एक चश्मे का चयन करने—ये दोनों समान महत्त्वपूर्ण उद्देश्य लेकर ही नरोत्तम उस सभा में हाज़िर हुआ। नरोत्तम प्रिय राजनीतिक दल में उपदलों की संख्या कु ज़्यादा ही है—राज्य के स्तर पर यह संख क़रीबन छत्तीस है। प्रधान वक्ता के विलक्ष राजनीतिक विश्लेषण में नरोत्तम का ध्यान निविष्ट था, ठीक उसी समय वक्ता की कु टिप्पणियाँ एक या एक से ज़्यादा उपदलों नापसंद और एक या एक से ज़्यादा उपदलों पसंद होने पर गड़बड़-घोटाला शुरू हो गय हर एक उपदल में लड़ाकू कर्मियों की संख काफ़ी है। मंच पर क़ब्ज़ा कर लेने के उद्देश्य सभी दौड़ पड़े। कुर्सियाँ उड़ने लगीं, माइक पटककर तोड़ दिया गया। मंच-सज्जा के ध्व फ़ैस्टून, बैक-ड्रॉप कुछ ही मिनटों में नदारद गए। लकड़ी का मचान मचमचाकर अपने की परीक्षा दे रहा था। नेता लोग सब रफ़ूचक्क हो गए—ऐन वक़्त पर ग़ायब हो जाने का हु जानना नेतृत्व का एक बड़ा फ़न है। मंच पर कांड चल रहा है, नीचे मैदान पर भी उस फैल जाने के डर से श्रोतागण भी चंपत होने लिए हुड़दंग मचाने लगे। राजनैतिक जानका हासिल करने की ख़्वाहिश पूरी न होने पर दु नरोत्तम दो-एक मिनट इंतज़ार करके दूस ख़्वाहिश पूरी करने के काम में जुट गया ज़्यादा जोखिम उठाए बिना ही एक चश् हथियाकर बड़ी सड़क की तरफ़ उसने क़द बढ़ाया।

यही चश्मा नरोत्तम के जीवन में एक वि परिवर्तन की सूचना करता है।

दूसरे दिन सुबह खिड़की के पास बैठे-बै वह उस चश्मे की बहुत ही ध्यान से जाँच पड़ताल कर रहा था। चश्मे के बारे में अब त उसने काफ़ी जानकारी हासिल कर ली। कि अनाड़ी की नज़र में उस चश्मे का फ्रेम ए मामूली काले रंग का फ्रेम ही लगेगा। पर चीज़ बनी है बहुत ही क़ीमती ऐबोनाइट विदेशी वस्तु तो है ही। कल की वह सभा रद्द
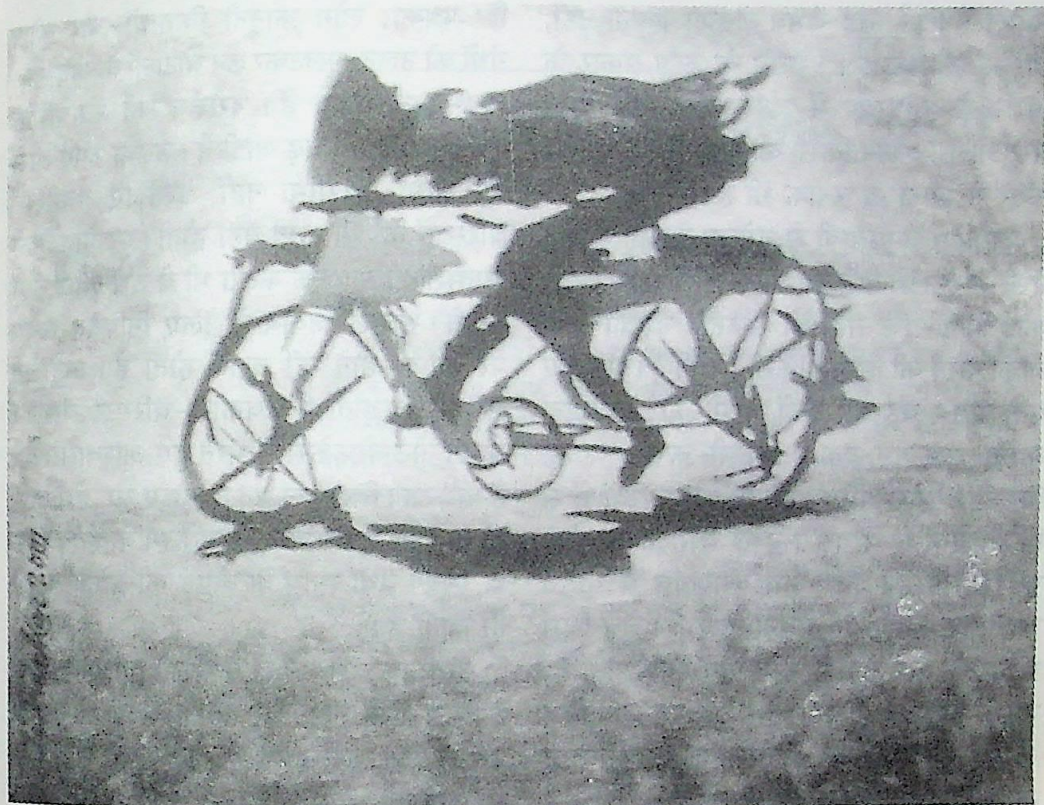
जाने पर उसका मन उदास हो गया था। उस चश्मे को आँखों पर पहनते ही उसके हृदय के भीतर एक विस्मय का विप्लव घटित हुआ। पहले चश्मे ने एक चोर की हैसियत से ही उसके मन में केवल एक विशिष्टता का बोध ला दिया था। अब की बार जो बात हुई वह एकदम दूसरे क़िस्म की है, अभावनीय है। उसके भीतर के जितने सारे सुप्त, अर्धसुप्त, जाग्रत गुण हैं—जैसे उच्चाकांक्षा, पांडित्य, नेतृत्व की क्षमता और चौर्यशक्ति—मानो सबने एक साथ मिल-जुलकर उसे प्रचंड शक्तिमान बना दिया। अब केवल एक छोटे-मोटे सफल चोर के रूप में अपने को लेकर संतुष्ट रहना नहीं, अब उसे एक विशाल कर्मक्षेत्र में उतरना होगा।

तूफ़ान की रफ़्तार से नरोत्तम आगे बढ़ने लगता है, एक रॉकेट की तरह ऊपर चढ़ने लगता है। प्रभाव-प्रतिपत्ति, मान-मर्यादा, अर्थ,यश, ख्याति, सभी कुछ उसकी मुट्ठी में है। अधिकांश समय आजकल उसकी आँखों पर काले फ्रेम का वह चश्मा रहता है। जनसभाओं में, कर्मियों को आदेश-निर्देश देते समय, विशिष्ट जनों के साथ बैठक में, विदेश यात्रा करते समय, जन-संपर्क करते समय वह चश्मा आजकल उसकी आँखों पर अवश्य ही रहता है। घी के रंग का पहला चश्मा भी साथ रहता है, पर वह रहता है जेब में। उसे वह वित्त-संबंधी काम करते समय पहन लेता है। आजकल जो कुछ वित्तीय काम वह करता है, वह पहले की तरह सरल और सुकर नहीं हैं। असंख्य विधि-विषयक सीमा-रेखाओं के भीतर अपने बचाव के रास्ते ढूँढ़ निकालकर देश-विदेश के अनेकानेक धुरंधरों के साथ उसे सब काम निबटाने पड़ते हैं।

कई वर्षों तक लगातार वह प्रगति करता ही रहा। इस बीच उसने शादी कर ली। दो बेटों का बाप बना। बेटों ने भी अपने पिता के गुण कुछ-कुछ अर्जित किए। नरोत्तम का वित्त-वैभव अब

विपुल है। हाँ, वह वैभव उसका अपना नहीं, उसके बेटों का है। नरोत्तम के नाना प्रकार के अर्जन के अंतराल में धन-संपदा जैसी तुच्छ वस्तुओं का अर्जन किसी की नज़र में नहीं आता। नज़र में आना ख़तरनाक भी है।

लगातार कामयाबी से नरोत्तम के मन में एक ऐसी धारणा होती है कि वह अपराजेय है, उससे कोई भूल-चूक नहीं हो सकती। उसका बाल बाँका करने की हिम्मत किसी में नहीं है। इसीलिए एक समय वह उन दोनों चश्मों की अवहेलना करना शुरू कर देता है। कभी-कभार पहनता कि नहीं, धीरे-धीरे अनगिनत अलमारियों में से किसी एक में वे दूसरी तुच्छ वस्तुओं के बीच पड़ी रहती हैं। ऊँचे-ऊँचे व्यक्तित्व से मंडित चश्मे उसने चार-पाँच बना लिए थे। जब जिस प्रकार के समारोह में उसे भाग लेना होता है, उसके उपयुक्त जो होता, वह उसे पहन लेता है। अर्थात् वह आजकल आत्मशक्ति पर पूरी तरह आस्थावान एक पॉबलिक मैन है।

इसके बाद ही नरोत्तम का जीवन अचानक ही पलटा खाता है। आत्मशक्ति पर अत्यधिक आस्था के कारण ऐसा हुआ कि नहीं यह बताना मुश्किल है। इस बात में उन दोनों चश्मों की कोई भूमिका थी कि नहीं इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। ऐसी बात हुई थी, बस, यही सच है। एक दिन नरोत्तम के पाँव तले से सत्ते की वह ठोस ज़मीन खिसक गई। उसने ख़ुद को कीचड़ से भरे दलदल में फँसा पाया। कहाँ चोरबालू, कहाँ गड़हा, कुछ भी मालूम नहीं पड़ता। आत्मशक्ति पर उसकी आस्था धुएँ की तरह तिरोहित होने लगती है। वह घबराहट महसूस करने लगता है। पग-पग पर डर, वह कोई फ़ैसला नहीं ले सकता। उसके दामनगीर उससे आदेश-निर्देश माँगते हैं, पर उसके सिर हिलाने वे से कुछ नहीं समझ पाते।

संकट पर संकट हैं। उसके वित्तीय गड़बड़-घोटालों को लेकर हज़ारों सवाल उठ खड़े होते हैं। पत्रकार लोग क़ानूनी किताबों और कोश ग्रंथों को उलट-पुलटकर उन घोटालों के अद्भुत-अद्भुत नाम देते हैं। नरोत्तम की स्नायविक दुर्बलता और भी बढ़ जाती है। उसके रुपए-पैसे की सीमा-परिसीमा नहीं, इसलिए वकील-बैरिस्टरों की भी कमी नहीं होती। पर पहले की आत्मशक्ति का एक कतरा भी वे उसे लौटा नहीं सकते। सवाल-जवाब के लिए निश्चित समय पर हाज़िर होने की तलब होती है। अदालत सम्मन पकड़ाती है। वकील-बैरिस्टर बंडल-बंडल नोट ब्रीफ़केस में भरते हुए आश्वासन देते हैं—''आप बिलकुल मत घबराइए सर, हम आप ही के साथ हैं।'' फिर भी नरोत्तम के हृदय-यंत्र के स्पंदन तथा स्नायु के कंपन की द्रुतता बढ़ती ही जाती है।

अचानक उसे उन दोनों चश्मों की याद आती है। उसे ऐसा लगा कि केवल वे दो चश्मे ही उसकी रक्षा कर सकते हैं। केवल वे ही उसके मनोबल को, आत्मशक्ति पर उसकी आस्था को लौटा सकते हैं। वह उन चश्मों को तलाशने लगता है। इसे टटोलता है, उसे खोलता है। अपने अकेले के प्रयास से कामयाब न होकर अपनी घरवाली को, फिर अपने बेटों को, पतोहुओं को भी मदद के लिए बुलाता है। घर के कोने-अंतरे में सब सामानों को अंधाधुंध उलट-पुलट और तीन-तेरह करके बहुतेरे बातिल चश्मों की ख़ोज तो हो जाती है, पर वे दो चश्मे नहीं मिलते। कहाँ गए वे? नरोत्तम को ऐसा लगता है कि उसका दिमाग़ बिलकुल ख़ाली हो गया। उसके हाथों और दिमाग़ की कँपकँपी बढ़ जाती है। सचमुच क्या वे दो चश्मे कभी थे? ऐसे अजीब दो चश्मे? उसका सारा सोच-विचार, एक अद्भुत और अवास्तव कुहासे में आच्छादित होने लगता है।

सेक्रेटरी आकर बताता है, ''सर, तैयार हो जाइए। दस बजकर पंद्रह मिनट पर आपके केस की सुनवाई होगी...''

रमेशचंद्र शाह

निर्मल वर्मा का नैबंधिक कृतित्व

...क्या हम भारतीय संस्कृति को इस टूटन और बिखराव से बचा सकते हैं? 'हम' से मेरा अभिप्राय उन सबसे है जो अपने को इस संस्कृति का उत्तराधिकारी मानकर उसकी गौरव-गाथा तो गाते हैं, किंतु उसके प्रति हमारा जो ऋण है, उसे चुकाने से कतराते हैं...मेरे निबंधों की केंद्रीय चिंता इस प्रश्न के साथ जुड़ी है। पिछले वर्षों में जिस बौद्धिक अराजकता, नैतिक सनकीपन और आत्मघृणा के वातावरण में हम जी रहे हैं, उसमें यह प्रश्न अतिरिक्त महत्त्व प्राप्त कर लेता है।...मैंने यदि साहित्य की भावभूमि पर इस प्रश्न को अपनी चिंताओं के केंद्र में रखना उचित समझा तो इसलिए कि साहित्य भाषा का वह सृजनात्मक क्षेत्र है, जिस पर चलकर हम अपनी स्मृति के मूलाधारों की ओर लौटते हैं...
निर्मल वर्मा : आदि, अंत और आरंभ : पृ. 196

आधुनिक सभ्यता के संकट से मानवता को उबारने के लिए केवल उन बुद्धिजीवियों की भूमिका निर्णायक होगी जो स्वयं बुद्धि को बोध और बोध को आत्मबोध के उत्तरोत्तर विकास मान सोपानों में अवस्थित कर सकें। इस दृष्टि से भारतीय परंपरा में पगे चिंतकों का योगदान आने वाली शताब्दी में अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है।
वही, पृ. 54

हमारा समय विश्व स्तर पर अनेकानेक सभ्यताओं और विचार प्रवाहों के एक ऐसे सम्मिलन और संघर्ष का समय है जिसे कई मायनों में अभूतपूर्व कहा जा सकता है। स्वयं भारत में यह प्रक्रिया किस तरह लगभग एक-डेढ़ शताब्दी के दौरान उत्तरोत्तर घनीभूत होती हुई फ़िलहाल शायद सबसे नाज़ुक और निर्णायक दौर में पहुँच चुकी है, उसे यथावत्...बिना किसी पूर्वग्रह या मनमाने ढंग के सरलीकरण के...देखना-समझना और स्वायत्त करना हमारे लिए अत्यंत आवश्यक है। याद आता है, इतिहासकार ट्वायनबी ने यूरोपीय सभ्यता के साथ रूसी और भारतीय संस्कृतियों की टकराहटों की तुलना करते हुए इस बात को रेखांकित किया था कि रूस के लिए इस आघात को पचाना अपेक्षाकृत आसान इसलिए था कि रूस अंततः यूरोपीय सभ्यता का ही एक थोड़ा सुदूरतर अंग था...अपने धार्मिक संस्कार में; जबकि भारत अपनी धार्मिक संस्कृति में यूरोप से सर्वथा और मूलतः पृथक था और, इसीलिए यूरोप के द्वारा उसका उपनिवेशीकरण उसके लिए मामूली आघात नहीं, बल्कि मर्माघात सरीखा था, जिससे उबरना उसके लिए बेहद कठिन था। यह भी, कि रूसी दिमाग़ ने यूरोप के ही एक आविष्कार 'उपवास' का सर्वथा मौलिक रूसी संस्करण करके उसके ज़रिए अपने मानसिक अंतर्द्वंद्व को हल करने का बड़ा कारगर उपाय

शिखर सम्मान, भारतीय भाषा परिषद् तथा मध्य प्रदेश साहित्य परिषद् से पुरस्कृत रमेशचंद्र शाह का जन्म 1937 में हुआ। इनकी लगभग 40 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। संपर्क : एम-4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल-462003

खोज निकाला, जबकि भारत के लिए यह 'सेफ़्टी वॉल्व' उस तरह सुलभ नहीं था; और अगर मान भी लें कि किसी सीमा तक वह काम दे भी सकता था तो भारतीय मनीषा उसे उतने मौलिक और रूपांतरकारी स्तर पर आत्म परीक्षण, आत्म साक्षात्कार या कि आत्मोद्धार का अस्त्र नहीं बना सकी।

ट्वायनबी की यह बात यहाँ पर इस वक़्त अनायास याद आने का एक कारण—मुझे लगता है—यह भी है, कि हिंदी ही क्यों, समूचे भारतीय साहित्य में अगर किसी एक कथाकार को उपन्यास के भारतीय स्वरूप की खोज की समस्या ने सचमुच उद्वेलित किया था तो वह निर्मल वर्मा थे। बात प्रेमचंद के संदर्भ में उठी थी और इस पर मुझे याद है, उनसे कई बार मेरी बातचीत और बहस भी हुई थी; लिखा भी था मैंने उनके उस बहुचर्चित लेख पर—*शब्द और स्मृति* की समीक्षा करते हुए। तब शायद उनकी एतद्विषयक चिंता के बृहत्तर सांस्कृतिक आयाम मेरे लिए उतने उजागर नहीं थे, जितने आज। परंतु, जो बात ध्यान देने की है, वह यह है कि जिस घायल सभ्यता की बात एक स्तर पर इतिहासकार ट्वायनबी सरीखे विश्व-इतिहासकार और दूसरे स्तर पर नायपॉल सरीखे उपन्यासकार करते हैं, उसके उपचार का उपक्रम स्वयं वह सभ्यता अपने सर्वाधिक सचेत और संवेदनशील आत्मकेंद्रों के ज़रिए—अर्थात् अपने सर्जकों और विचारकों के माध्यम से—कैसे, किस प्रकार करती है। इन आत्मकेंद्रों में साहित्यकारों और विचारकों के अतिरिक्त हर क्षेत्र के बुद्धिजीवी शामिल हैं। हमारे यहाँ मगर इन बुद्धिजीवियों की भूमिका उत्तरोत्तर क्षीण होती गई है, बल्कि ग़ैर-ज़िम्मेदार और कुछ मायनों में संदिग्ध भी। जिन महात्मा गांधी ने *हिंद स्वराज* (1909) में अंग्रेज़ी पढ़े-लिखों के बारे में यह लिखा था कि 'उन्होंने अपने ही लोगों को ठगने में कोई क़सर नहीं छोड़ी है और वही भारतीय भाषाओं की बेक़द्री के लिए क़सूरवार हैं', उन्हें चालीस बर बाद स्वाधीनता की दहलीज़ तक पहुँचने बाद भी अपने देश के बुद्धिजीवियों के बारे में केवल अपनी राय बदलने की ज़रूरत नहीं पड़ बल्कि उस राय को उन्होंने पहले से भी कठो शब्दावली में व्यक्त किया (कि 'इस देश हार्ड-हार्टेड बुद्धिजीवी मेरे लिए लंबा दुःस्व रहा और आनेवाले दिनों में भी वह बना रहनेवाला है') निर्मल जी इस विडंबना के प्र अत्यधिक सचेत रहे—यह उनके लेखकत्व एक अतिरिक्त, हालाँकि बहुत बुनियादी विशेष थी।

वे बुद्धिजीवी की पश्चिमी अवधारणा के नहीं, आधुनिक युग में वहाँ के बुद्धिजीवियों घोर आत्म विभाजन और आत्मग्लानिका आचरण के भी कठोर आलोचक थे और भारती बुद्धिजीवी की भूमिका को उसकी अपनी सर्व भिन्न और पुरुषार्थ केंद्रित सांस्कृतिक परंपरा जोड़ते हुए परिभाषित और चरितार्थ होते देखना चाहते थे। उचित होगा कि निर्मल जी इस विवेक को हम उन्हीं की शब्दावली में सु 'एक भारतीय बुद्धिजीवी की भूमिका' शीर्ष अपने महत्त्वपूर्ण निबंध में वे पाश्चा बुद्धिजीवियों की अनर्थकारी भूमिका को दर्श हुए वहाँ भी कुछ विरल उजले उदाहरणों किस तरह रेखांकित करते हैं और किस त उन्हें भारतीय संदर्भ से जोड़ते हैं, इस पर ध्या दें। वे कहते हैं—

> "आज बीसवीं शती के अंत में जब ह पीछे की समस्त क्रांतियों के खंडहर देख हैं तो हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उन पीछे बौद्धिकों की विशिष्ट भूमिका रही जिन्होंने मनुष्य की स्वतंत्र मेधा को नकार उसे अपने सैद्धांतिक विचारात्मक चौख में ढालने का प्रयास किया था। दोस्तोएव्स् के उपन्यास *द डेविल्ज़* में बुद्धिजीवियों इस पैशाचिक पक्ष का बड़ा मर्मांतक विव

दिया गया है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि स्वयं पश्चिम में ऐसे चिंतक हुए, दोस्तोएव्स्की, टॉल्स्टॉय, हर्ज़न, प्रिंस क्रोपाटकिन —और स्वयं हमारे समय में जॉर्ज ऑरवेल, अल्बेर काम्यू और सिमोन वेल आदि—जिन्होंने बुद्धि के इस एकांगी, अमानुषिक प्रयोग का तीव्र विरोध किया था...यह ऐसा बिंदु था जहाँ स्वयं बुद्धि के विरोध में यूरोपीय बुद्धिजीवी अपने को उन भारतीय चिंतकों के अधिक निकट पाते हैं—विवेकानंद, गांधी, श्री अरविंद—जो बुद्धिजीवी न होकर भी बौद्धिक अंतर्दृष्टियों को ही अपने तर्क का माध्यम मानते थे। और तब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जहाँ बुद्धि आत्मबोध की ओर नहीं ले जाती, वहाँ समाज में स्वयं बुद्धिजीवी की भूमिका संदिग्ध बन जाती है।''

यहीं से—इसी तुलनात्मक विवेक को आगे बढ़ाते हुए निर्मल जी अपनी उस महत्त्वपूर्ण प्रतीति तक पहुँचते हैं जिसे हमने प्रस्तुत आलेख के शीर्ष पर ही उद्धरण क्रमांक दो के रूप में टाँका है। निर्मल जी का सोच-विचार भी उनकी कथा-सृष्टि के पीछे की प्रेरणा की ही तरह रागदीप्त और इसीलिए रागोत्तीर्ण सोच-विचार होता है, कोरा तर्कचातुर्य या बुद्धिविलास नहीं। वे अपने निबंधों और कहानियों के बीच कोई फाँक नहीं देखते। उसी निबंध में—जिसमें उन्होंने 'ऋणशोध' की बात उठाई है (देखें उद्धरण क्रमांक एक)—वे कहते हैं—

"हर साहित्यिक रचना हमारे भीतर के दरवाज़ों को खोल देती है, जिनकी चौखट के पीछे न जाने कितने पूर्वजों की स्मृतियाँ कान लगाए खड़ी रहती हैं, ताकि वे अपने को दुबारा से हमारे शब्दों में सुन सकें। इसीलिए मैं अपने निबंधों और कहानियों में किसी तरह की फाँक नहीं देखता। दोनों की तृष्णाएँ भले ही अलग-अलग हों, शब्दों के जिस जलाशय से वे अपनी प्यास बुझाते हैं, वह एक ही है। निबंध मेरी कहानियों के हाशिए पर नहीं, उनके भीतर के रिक्त स्थानों को भरते हैं जहाँ मेरी आकांक्षाएँ सोती हैं।''

निर्मल वर्मा का गद्य अपने उस गुण के कारण, जिसे हमने रागोत्तीर्ण रागदीप्ति कहा है अपने समकालीनों और परवर्तियों के बीच अलग अपनी पहचान बनाता है। साथ ही उसमें सच बोलने और हमारे परिवेश को देखते हुए काफ़ी कड़वा और असुविधाजनक सच बोलने का नैतिक साहस भी बराबर प्रकट होता रहा है। इसे यूँ भी कह सकते हैं कि उनके यहाँ विचार का जोखिम और कला का जोखिम लगभग एक ही है। 'धर्म और धर्मनिरपेक्षता' शीर्षक निबंध ही पढ़ देखें : हिंदी के अन्य किस वर्तमान लेखक ने इस समस्या को लेकर इतनी साफ़, दो टूक और इतनी सुसंगत-सटीक बात की है? धर्म की भारतीय समझ से धर्म की एक दूसरी अवधारणा को अलगाते हुए यहाँ लेखक कहता है—"यह दूसरी अवधारणा अपनी वैधता किसी मसीहा की वाणी या किसी विशिष्ट पुस्तक के वचनों से प्राप्त करती है; उस पर न संदेह प्रकट किया जा सकता है, न चुनौती दी जा सकती है : वह अपने इर्द-गिर्द सार्वभौमिक सत्य का एक दायरा खींच लेती है जिसके बाहर के लोग 'अन्य' की श्रेणी में आते हैं। ऐसे 'अन्य' जो ईश्वरकृपा के लिए सर्वथा अपात्र हैं और तभी पात्र हो सकते हैं जब वे अपना धर्म परिवर्तन करने को प्रस्तुत हों।'' प्रश्न तब यह होगा कि धर्म के बारे में हमारी अवधारणा क्या है जिसके प्रति हम निरपेक्ष होना चाहते हैं? बिना इस प्रश्न का सामना किए बिना उसका उत्तर दिए हमारे समाज में सेक्यूलरिज़्म की बहस का क्या मतलब है? निर्मल जी के ही शब्दों में—

''कहना न होगा कि पिछले पचास वर्षों में धर्म-निरपेक्ष या सेक्यूलरिज़्म का संबंध धर्म की इस दूसरी अवधारणा से जुड़ा था। उस अवधारणा से नहीं जो भारतीय सभ्यता के केंद्र में थी। भारतीयता सभ्यता में मनुष्य और प्रकृति, मनुष्य और उसकी दुनिया एक दूसरे से अलग नहीं थी, वहाँ मनुष्य का जीवन सेक्यूलर और धार्मिक खंडों में विभाजित नहीं था, इस तरह का विभाजन ही वहाँ कृत्रिम और अर्थहीन था। इस विभाजन के कारण ही मनुष्य का संपूर्णता-बोध और प्रकृति की पवित्रता दोनों दूषित होते हैं।...यह एक ऐतिहासिक विडंबना ही मानी जाएगी कि हमारे सत्तामुखी शासकों ने स्वतंत्रता के बाद भारतीय जनसाधारण को एक ऐसे धर्म से निरपेक्ष होने के लिए बाध्य किया जिसका उनसे कोई लेना-देना नहीं था और इस प्रक्रिया में उन्हें एक ऐसी सेक्यूलर समाज-व्यवस्था में रहने के लिए विवश किया जहाँ स्वयं उनकी धार्मिक आस्थाएँ एक हाशिए की चीज़ बनकर रह गई। धर्म-निरपेक्षता इस अर्थ में एक भारतीय के लिए आत्मनिर्वासन की अवस्था बनकर रह गई।

निश्चय ही ऐसे अनेक बुद्धिजीवी होंगे जो स्वातंत्र्योत्तर भारत की इस ऐतिहासिक विडंबना को मन ही मन महसूस करते होंगे। परंतु उसे इतनी स्पष्टता के साथ रेखांकित करने वाले लेखक अपनी लेखक-बिरादरी में भी अतिविरल ही कहे जाएँगे। जिस ऋणशोध की बात निर्मल ने उठाई थी, उसका एक अनिवार्य पक्ष यह स्पष्टवादिता और नैतिक साहस भी है जो उन्हें निराला और अज्ञेय की परंपरा को आगे बढ़ाने की सामर्थ्य करनेवाला लेखक बनाता है। कहना न होगा कि इस नैतिक-बौद्धिक अंतर्निष्ठा की कसौटी पर कई बार अन्यथा अच्छे-ख़ासे तेज़-तर्रार लेखक भी खरे नहीं उ हैं। बल्कि उनमें से कइयों को तो अ प्रमाद और स्खलन का अपराध-बोध नहीं सताता। उलटे, वे अपनी आत्म प्रवंचना का भी उत्सव मनाते नज़र अ हैं।''

निर्मल वर्मा के निबंध हमारे साहित्यिक सांस्कृतिक पर्यावरण में निर्बाध घुसपैठ कर अर्द्धसत्यों को इसी तरह अपने सांस्कृतिक विवे की तीखी रोशनी में उघाड़ते रहे हैं। उदाहरण लिए उनके 'मेरे लिए भारतीय होने का अ शीर्षक निबंध को ही लें, जिसे उन्होंने उपशीर्षक भी दिया है : 'स्वतंत्रता के पच बरस बाद'। यहाँ अपनी इस दृढ़ प्रतीति जतलाते हुए कि 'देश प्रेम एक चिरंतन घटना हर पीढ़ी की आत्मा में एक नए सिरे से घट हुई'—निर्मल जी ख़ुद अपने सुदूर बचपन घटित उस 'क्षर' की याद करते हैं, जब कि रेलयात्रा के दौरान एक पुल पर से गुज़रते उनकी माँ ने उन्हें सोते से जगाकर उनके हाथ कुछ सिक्के रखते हुए उन्हें नीचे नदी में फें देने को कहा था। निर्मल जी के ही शब्दों में

> ''यह मेरे लिए अपने देश 'भारत' पहली छवि थी, जो मेरी स्मृति में टँगी गई है...वह शाम, वह पुल, पुल के परे के दूह और वह सूरज और एक अ नदी...मुझे लगता है अपने देश के साथ प्रेम-प्रसंग यहीं से शुरू हुआ था...उत्पीड़ि उन्मादपूर्ण, कभी-कभी बेहद निराशापू बाद के वर्षों में मेरे भीतर यह विश्व जमता गया कि देशप्रेम यदि 'आत्मा घटना' है, तो वह सिर्फ़ एक ऐसी संस्क में पल्लवित होती है, जहाँ 'स्पेस' 'स्मृति' अंतर्गुम्फित हो सके। मनुष्य पशु के संबंध की बात तो अलग रही, चीज़ों का परस्पर संबंध भी बहुत गहरा जो ऊपर से अजीवंत दिखाई देते हैं...प

नदी, पहाड़, पेड़...किंतु अपने अंतर्संबंधों से वे एक जीवंत पवित्रता का गौरव, एक तरह की धार्मिक संवेदना ग्रहण कर लेते हैं। यह क्या महज़ संयोग था कि हमारे यहाँ प्रकृति के इन आत्मीय उपकरणों के प्रति लगाव ने देशभक्ति की भावना को जन्म दिया, जो राष्ट्र की सेक्यलूर और संकीर्ण अवधारणा से बहुत भिन्न था?''

यह है निर्मल वर्मा के सांस्कृतिक 'ऋणशोध' की अंतर्कथा और अंत:प्रक्रिया, जो उनके दूसरे भी कई सारे निबंधों में झलकती देखी जा सकती है। देश और देशप्रेम की यह निर्मल अनुभूति एवं अवधारणा किसी भी तरह के संकीर्ण राष्ट्रवाद से किस क़दर अछूती और सार्वभौम अनुगूँजों वाली है, यह इसी से ज़ाहिर हो जाता है कि उक्त वृत्तांत के सिलसिले में ही आगे निर्मल पुश्किन के एक पत्र को उद्धृत करते हैं जिसमें पुश्किन कहते हैं कि 'एक लेखक होने के नाते मुझे कभी-कभी अपने देश के प्रति गहरी झुँझलाहट और कटुता महसूस होती है; लेकिन मैं सौगंध खाकर कहता हूँ कि मैं किसी भी क़ीमत पर अपना देश किसी और देश से नहीं बदलना चाहूँगा। न ही अपने देश के इतिहास को किसी दूसरे इतिहास में परिणत करना चाहूँगा। जो ईश्वर ने मेरे पूर्वजों के हाथों में दिया था। अब तनिक इस पत्र पर निर्मल जी की टिप्पणी देखें—

> ''शब्द पुश्किन के हैं, अपने 'मदर रशिया'[1] के बारे में, लेकिन उनमें देशभक्ति का एक ऐसा धार्मिक आयाम दिखाई देता है, जिसमें हमें विवेकानंद, श्री अरविंद और गांधी की भावनाएँ प्रतिध्वनित होती सुनाई देती हैं, जो उन्होंने समय-समय पर गहरे भावोन्मेष के साथ भारत-भूमि के प्रति प्रकट की थीं। आज के आधुनिक भारतीय धर्मनिरपेक्षी बुद्धिजीवियों को भारत के संदर्भ में ईश्वर और पूर्वजों की स्मृति का उल्लेख करना कितना अजीब लगता होगा इसका अनुमान करना कठिन नहीं है। वे लोग तो 'वंदेमातरम्' जैसे गीत में भी सांप्रदायिकता सूँघ लेते हैं। सच तो यह है कि देशप्रेम की भावना को देश से जुड़ी स्मृतियों और उसके इतिहास की धूल में सनी पीड़ाओं से अलग करते ही इस भावना की गरिमा और पवित्रता नष्ट हो जाती है। वह या तो राष्ट्रवाद के संकीर्ण और कुत्सित पूर्वाग्रह में बदल जाती है, अथवा आत्मघृणा में...दोनों एक ही तस्वीर के दो पहलू हैं।''

यह आख़िरी वाक्य ख़ास तौर पर मननीय है उन लोगों के लिए, जो आज के संदर्भ में राष्ट्रवादी विचारधारा और उसके साथ जानेवाली राजनीति से जुड़े हुए हैं। उन्हें गहरे आत्ममंथन से गुज़रते हुए इस विकट प्रश्न का यथातथ्य सामना करना होगा कि कैसे हमने भारतीय संस्कृति की सहस्रमुखी प्रवहमान धारा को सूख जाने दिया। और कैसे हम भूल गए कि भारत केवल एक राज्य-सत्ता, नेशन स्टेट ही नहीं है—जैसी पश्चिम की अनेक राष्ट्रीय सत्ताएँ हैं...जो अपनी सीमाओं से जकड़कर ही अपनी अस्मिता को परिभाषित कर पाती हैं। उन्हें इस तथ्य को भी समझने की चेष्टा करनी होगी कि किस तरह पश्चिमी उदाहरणों के ठीक विपरीत ''शताब्दियों से हमारे देश की सीमाएँ वे स्वागत-द्वार रहे हैं''—निर्मल वर्मा के शब्दों में, ''जिनके भीतर आते ही उत्पीड़ित और त्रस्त जातियाँ (यहूदी, पारसी, तिब्बती आदि) अपने को सुरक्षित पाती रही हैं।'' उन्हें अपने ही गौरवशाली इतिहास के इस सबक को अपनी सांस्कृतिक-राष्ट्रीय दृष्टि के

1. यह द्रष्टव्य है कि हमारे स्वतंत्रता संग्राम के सशस्त्र क्रांति चेष्टा वाले पहले दौर में क्रांतिकारियों के लिए भक्ति का आलंबन भारत माता थी बल्कि साथ महात्मा गांधी भी 'हिंद स्वराज' में भारतीय परंपरा के प्रति अपने लगाव को, उस पर अपने दिलों दिमाग़ की निर्भरता को जिस सादे घरेलू प्रतीक से परिभाषित करते हैं, वह भी 'माँ' का ही बिंब है।

केंद्र में रखना होगा। सांस्कृतिक जड़ों की चिंता का क्या अर्थ है, और क्या तर्क है, इसे, बेहतर होगा निर्मल वर्मा के ही शब्दों में सुनें और गुनें। जैसा कि वे उसी निबंध में आगे कहते हैं—

''कोई राष्ट्र जब अपनी सांस्कृतिक जड़ों से उन्मूलित होने लगता है, तो भले ही ऊपर से बहुत सशक्त और स्वस्थ दिखाई दे, भीतर से मुरझाने लगता है।...स्वतंत्रता के बाद भारत के सामने यह सबसे दुर्गम चुनौती थी...पाँच हज़ार वर्ष पुरानी परंपरा से क्या ऐसे राष्ट्र का जन्म हो सकता है जो अपने में 'एक' होता हुआ भी उन 'अनेक' स्रोतों से अपनी संजीवनी शक्ति खींच सके, जिसके संगीत में हर छोटे से छोटे वाद्य का सुर संयोजित होकर गूँजता था। जिस तरह गांधी की आँख से कभी आख़िरी आदमी ओझल नहीं होता था, वैसे ही...कोई परंपरा इतनी छोटी, इतनी नगण्य नहीं थी, जिसकी आवाज़ भारतीय संस्कृति की मुख्य धारा में जुड़कर अपनी विशिष्ट लय में अनुगुंजित न होती हो।...''

भारतीय संस्कृति का यह वट-वृक्ष सरीखा चरित्र निर्मल जी की दृष्टि में केवल सहिष्णुता की बात नहीं है, जहाँ अन्य को अपने से अलग मानकर उसे सहन किया जाता है बल्कि इसके पीछे कहीं यह मान्यता काम करती थी कि विभिन्न विश्वासों के बीच सत्य की सत्ता समान रूप से क्रियाशील रहती है—अपने में अखंडित और अपरिवर्तनशील। निर्मल जी अनुभव करते हैं कि ''भारतीय सभ्यता को अपनी यह अनमोल अंतर्दृष्टि स्वयं अपनी आध्यात्मिक परंपरा से प्राप्त हुई थी जहाँ 'आत्म' और 'अन्य' के बीच का भेद अविद्या का लक्षण था, सत्य का नहीं।'' वे इस तथ्य को भी रेखांकित करना नहीं भूलते कि न केवल पश्चिमी इतिहासकारों, बल्कि उनके भारतीय 'सबाल्टर्न' अनुयायियों की आँखों में भी भारत की अपनी कोई सांस्कृतिक इयत्ता नहीं, वह तो सिर्फ़ कबीलों, जातियों, संप्रदायों का महज़ एक पुंज मात्र है। यदि ऐसा होता तो, वे आगे कहते हैं, ''तो भारत की सत्ता और उसके अंतर्गत रहने वाले सांस्कृतिक समूहों की अस्मिता कब की नष्ट हो गई होती, उसी तरह जैसे अमरीका और ऑस्ट्रेलिया के आदिवासियों के साथ हुआ, जिनकी संस्कृति के आज सिर्फ़ अवशेष दिखाई देते हैं। निर्मल जी बग़ैर किसी लाग-लपेट के, इस सत्य को स्वीकारते और बलपूर्वक दोहराते हैं कि—यदि भारत का सभ्यता बोध और सांस्कृतिक परंपराएँ आज भी मौजूद हैं तो उसका मुख्य कारण वह केंद्रीय आध्यात्मिक तत्त्व है, जिसमें इतनी क्षमता और ऊर्जा थी कि इतिहास के निर्मम थपेड़ों के बावजूद वह समस्त प्रभावों को अपने भीतर समाहित कर सका।'' मुझे यहाँ प्रसंगवश स्व. पं. विद्यानिवास मिश्र की कही एक बात याद आ रही है—''हमारी ट्रैजेडी यह है कि भारत की सामासिक संस्कृति के नाम पर भारत की मुख्यधारा को उपेक्षणीय मान लिया गया है।'' निर्मल जी निश्चय ही इस ट्रैजेडी के प्रति सजग थे और जैसा कि हमने अभी-अभी उनके निबंधों के हवाले से देखा उन्होंने अपने स्वानुभव और अर्जित विवेक से इस विडंबना को अपने ढंग से रेखांकित किया है। विद्यानिवास जी की ही एक दूसरी बात भी मुझे यहाँ बरबस ध्यान में आ रही है कि ''पाश्चात्य संस्कृति को सबसे ज़्यादा प्रतिरोध भारत ने ही दिया, किंतु उसे सबसे अधिक सहानुभूति के साथ देख-परख सकने वाले भी भारतीय ही हुए।'' निर्मल वर्मा इससे पूरी तरह संवेदित और सहमत होते क्योंकि वे स्वयं अपने आप में इस बात में निहित सत्य के जीते-जागते द्रष्टांत थे।

भारत की स्वाधीनता की देहरी पर अज्ञेय ने 'एक आलोचक राष्ट्र के निर्माण' का जो स्वप्न देखा था, वह तो अभी तक स्वप्न ही बना हुआ है क्योंकि अपने ही अज्ञान में लिथड़ी हुई आत्मद्रोही आलोचना का और अर्थ नहीं होता, वह तो सर्वथा बंजर और नकारात्मक ही होगी

है।...किंतु यदि उस स्वप्न में जो गिनती के बुद्धिजीवी भी इस देश के,सचमुच भागीदार थे, उनमें निर्मल वर्मा का स्थान निर्विवाद रूप से महत्त्वपूर्ण माना जाएगा। यह उनकी आलोचनात्मक तेजस्विता ही थी जो उनके उपर्युक्त ऋणशोध की प्रक्रिया को—अर्थात् उनके संस्कृति-चिंतन को—उसकी विशिष्ट धार और गूँज प्रदान करती है। 'मेरे लिए भारतीय होने का अर्थ' नामक उनके जिस निबंध की हमने चर्चा की थी, उसका समापन ही देख लीजिए। यह चेतावनी है उनके लिए, जो निर्मल जी के संस्कृति-चिंतन की मूल्यवत्ता से, उसकी सकारात्मक चिंताओं से सचमुच प्रेरणा ग्रहण करना चाहते हैं।

> ''एक अंतिम शब्द—हमें कभी भी अपने समाज की कुरीतियों, अपने सत्ताधारी नेताओं की स्वार्थलिप्साओं को अपने देशप्रेम से गडमड नहीं करना चाहिए। मेरे लिए मेरा देश, मेरे राजनीतिक, सैद्धांतिक आग्रहों से कहीं ऊपर हैं...या होना चाहिए। गांधी से बड़ा भारत-प्रेमी कौन हो सकता था ? लेकिन वह भारतीय समाज के सबसे बड़े आलोचक भी थे—क्योंकि जो व्यक्ति हृदय से अपने देश से प्यार करता है, उसे ही आलोचना का अधिकार भी प्राप्त होता है।''

स्वभावतः निर्मल वर्मा अपने पूर्व-योरोपीय प्रवास के अनुभव, यानी चेक त्रासदी की यादों को ही नहीं, स्वयं अपने घर के आपातकाल की नैतिक त्रासदी को भी यथावत् उकेरना नहीं भूलते। कहते हैं, ''सबसे बड़ा सबक जो अपने को लेखक-बुद्धिजीवी मानने वाले ऐसी दुर्घटनाओं से सीख सकते हैं, यह है कि समाज़ की बीमारियों को दूर करने की पहली शर्त उन्हें उनके सही नाम से पुकार सकना है।''...बात यह यों सुनने में बड़ी सरल लगती है, पर है नहीं। इमरजेंसी के दौरान एक से एक बड़बोले लेखकों की रीढ़हीनता का देखा-भोगा अनुभव अभी हाल की बात है। इमरजेंसी ही क्यों, अपने बुद्धिजीवी वर्गों का, बारंबार देखने में आया आत्महीन आचरण यही जताता रहा है कि इस शर्त को निभाना कितना कठिन-दुस्साध्य है। इस कड़वी हकीकत को देखते हुए निर्मल वर्मा की यह चेतावनी भी अत्यंत सामयिक और सटीक लगती है। यह भी, कि लेखक यदि शब्दों के पीछे निहित सत्य को अक्षुण्ण-अकलुषित रखना चाहता है तो उसे उन समस्त शक्तियों से संघर्ष करना पड़ेगा तो आज के युग में भाषा को भ्रष्ट करने पर उतारू हैं। लेखक के लिए भाषा का आपातकाल कभी समाप्त नहीं होता।''

हमने इस लेख की शुरुआत मूर्तिदेवी पुरस्कार के अवसर पर निर्मल वर्मा द्वारा दिए गए वक्तव्य को उद्धृत करते हुए की थी, जो बड़े मार्मिक ढंग से उस ऋणशोध की प्रक्रिया को झलकाता है जो अपने सांस्कृतिक परिवेश के साथ किसी भी सच्चे सृजनधर्मी कलाकार के जीवनव्यापी संबंध को सार्थक बनाता है। निर्मल जी का नैबंधिक कृतित्व ही नहीं, उनके व्यक्तित्व के निकट संपर्क में आए हुए लोगों का अनुभव भी इस तथ्य का साक्षी है कि वे उन बहुत थोड़े लेखक-बुद्धिजीवियों में थे जो आज की तारीख़ में हमारे चतुर्दिक व्याप्त स्मृतिभ्रंश, नैतिक मूल्यमूढ़ता और आत्मद्रोही प्रवृत्तियों को उनके सही नाम से पुकारने और उनका प्रतिकार करने का निरंतर यत्न करते रहे थे।

हमने लक्ष्य किया था कि निर्मल वर्मा के गद्य में विचार का जोखिम और कला का जोखिम एक ही है। यदि हम निर्मल वर्मा के पूर्ववर्ती अज्ञेय की इस स्वीकारोक्ति का तात्पर्य ध्यान में रखें कि मेरे चिंतन का एक आयाम स्मृति मुक्त शुद्ध चिंतन का है, तो हम हिंदी के इस आधुनिक दौर के इन दोनों विचारशील लेखकों के योगदान को—अपनी संस्कृति के प्रति ऋणशोध की उनकी विशिष्ट गुणवत्ता को भी उसकी सही जगह रखते

हुए समझ सकेंगे। अज्ञेय पर हमने अलग से विस्तृत विचार किया है; यहाँ दोनों की तुलना के लिए अवकाश नहीं है। किंतु समापन करते हुए मुझे तथाकथित उत्तर-आधुनिकतावादी दौर को भी अपने इस संक्षिप्त विवेचन में समेटना आवश्यक लगता है। अज्ञेय के सामने आधुनिकता का ही परिप्रेक्ष्य था; किंतु निर्मल वर्मा की टिप्पणी इस संबंध में ग़ौरतलब है जिसे उन्होंने 'आदि, अंत और आरंभ' शीर्षक से भोपाल में दिए गए व्याख्यान के सिलसिले में प्रस्तुत किया है।

उत्तर आधुनिकतावाद के मुहावरे का जैसा घटाटोप इस वक़्त हिंदी में छाया हुआ है, उसे देखते हुए भी यह निबंध (प्रस्तुत विषय के संदर्भ में भी) मननीय है। यों, अन्यत्र भी निर्मल जी ने इस बात को बलपूर्वक दुहराया है कि "यदि पिछली सदी के पूर्वार्द्ध में मार्क्सवाद की सर्वग्रासी ऐतिहासिक आइडियोलॉजी ने रचना के आकाश पर ख़ुद को थोपकर उसकी स्वायत्त गरिमा को मिटाने का उपक्रम किया था तो आज तथाकथित 'थ्योरी' उस आकाश पर हावी हो रही है जिस सृजनात्मक 'स्पेस' के भीतर ही उसका स्वतंत्र आलोचनात्मक विवेचन संभव हो सकता था।" यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है कि निर्मल वर्मा उक्त दोनों विडंबनाओं से अपने समानधर्माओं को सावधान करते हैं जिनमें से पहली तो उन्हीं के शब्दों में चरम रूप से 'टोटैलिटेरियन' है, और दूसरी उतनी ही 'चरम सापेक्ष'। अज्ञेय ने भी अपने परवर्ती चिंतन में 'नैतिक सापेक्षतावाद' के अनर्थ को उजागर किया था, पर आधुनिक मानस की सामान्य दार्शनिक अराजकता के संदर्भ में ही। निर्मल वर्मा ने उसे ठेठ आज के साहित्यिक-वैचारिक संदर्भ में उघाड़ा है। अज्ञेय को इस बात का दर्द सालता था कि "हमें निरंतर इतिहास-बोध की दीक्षा दी जा रही है, और उस 'अवस्थिति-बोध' के संस्कार को मिटाया जा रहा है, जो भारतीय चरित्र और भारतीय चिंतन की अद्वितीय विशेषता रही है।" निर्मल जी के लिए भी, जैसा कि हमने कई हवालों से देखा, आधुनिक युग का अभिशाप यही रहा है कि उसने स्वयं परंपरा के शाश्वत बोध को खंडित किया है; आस्था की अभाव-पीड़ा को शून्यता के आत्महीन बोध में परिणत किया है। वे साफ़ कहते हैं इसी 'आदि, अंत और आरंभ' व्याख्यान में, कि प्रश्न आधुनिकता से छुटकारा पाने का नहीं है, बल्कि स्वयं आधुनिक बोध को उसकी ऐतिहासिकता से मुक्त करने का है। यह शून्यता-बोध बौद्धदर्शन वाला शून्यवाद नहीं है जिसके साथ हमारे अज्ञेय सरीखे आधुनिक भारतीय लेखक-विचारक भी सहज पटरी बिठा सकते थे (*ओ आत्मा री! कन्या भोली क्वाँरी/इस महाशून्य के साथ भाँवरें तेरी रची गईं...*इत्यादि) यह वह शून्यवाद नहीं, बल्कि ऐसा निर्जल नकार और आत्मरिक्त है, जहाँ मनुष्य अपने स्वत्व से ही ख़ाली हो जाता है, जो उसका 'सेल्फ़' था, उसका आधार मंच।

अज्ञेय की अपेक्षा यदि निर्मल वर्मा ने इस प्रवंचना को अधिक प्रत्यक्ष और तत्काल संवेद्य ढंग से उजागर किया है, तो वह इसीलिए, कि निर्मल के सामने यह उत्तर आधुनिक परिदृश्य भी रहा जो उस तरह अज्ञेय के लिए चुनौती नहीं बन सका था। अपने इस निबंध का संपादन मैं निर्मल वर्मा के इसी निबंध से एक उद्धरण देते हुए करना चाहूँगा जिसमें वह मर्म की बात उठाई गई है जो शायद ही कोई और उठाता; और जो हम सभी के लिए—ख़ास तौर पर उत्तर आधुनिकतावादी मुहावरे से अत्यधिक आक्रांत लेखकों के लिए—मननीय है : क्योंकि यह उस लक्ष्यहीन बहुलता पर सीधी चोट करता है, जिसकी आत्मघाती परिणति का अहसास ही उनके यहाँ नदारद है। तो, सुनें, निर्मल जी के शब्दों में ही—वह मर्म की बात क्या है :

आज बीसवीं शती के अंत में जब हम उत्तर आधुनिकता की बात करते हैं तो मनुष्य के आधुनिक बोध के उस आध्यात्मिक पक्ष को

बिलकुल भुला देते हैं, जिसकी संभावनाएँ कभी पूर्ण रूप से यूरोप में उद्घाटित नहीं हो पाईं। *असली उत्तर-आधुनिक वह होती जो आधुनिक मनुष्य की अधूरी, बीच में टूटी यात्रा में परम का वह अंश जोड़ पाती।* उस बीहड़ तनाव के बीच रास्ता बना पाती जो आधुनिक कला के आत्म संघर्ष की आधारभूमि थी। यह करने की बजाय उसने एक सुविधाजनक रास्ता अपनाया—स्वयं तनाव के केंद्रीय भाव से ही आँखें मोड़ लीं। इसीलिए उत्तर आधुनिकता की विचारधारा में जो बहुलता दिखाई देती है, वह खुलापन नहीं,ढीलापन है—विशृंखलता, जो केंद्रहीनता से उत्पन्न होती है। आधुनिक मनुष्य के अंतर्विरोधों की पीड़ा और उनका अतिक्रमण करने का आध्यात्मिक गौरव, दोनों के प्रति वह निरपेक्ष जान पड़ती है। आत्म-विभाजित मानस में किसी भी चरण में अपने अखंडित संपूर्णत्व की ओर मुड़ने की आशा बनी रहती है। लक्ष्यहीन बहुलता की अवस्था में वह आशा भी लुप्त हो जाती है।

लक्ष्यहीन बहुलतावाद की फिसलपट्टी से प्रलुब्ध और उसकी आड़ लेकर अपनी प्रत्यासन्न चुनौतियों से कतराने वाले हमारे अधिसंख्य बुद्धिजीवियों के लिए निर्मल वर्मा की यह चेतावनी कितनी प्रखर और प्रासंगिक है, कहने की आवश्यकता नहीं। कितनी सटीक और स्वाभाविक लगती है—प्रस्तुत विषय के संदर्भ में—उनके समग्र कृतित्व में परिव्याप्त सांस्कृतिक ऋणशोध की प्रक्रिया की यह सहज परिणति! अपने लिए भारतीय होने का अर्थ खोजते हुए निर्मल वर्मा ने कभी प्रश्न पूछा था कि क्या भारत हमारे लिए ऐसा स्वप्न नहीं रहा जो भारत के यथार्थ से कहीं अधिक मूल्यवान है ? और यदि वह पिछले पचास वर्षों में इतना धुँधला पड़ गया है...तो हम, जो अपने को बुद्धिजीवी कहते हैं,...क्या अपने प्रेम की लौ से उस स्वप्न को पुन: प्रकाशमान नहीं कर सकते ?

मैं समझता हूँ कि यह प्रश्न हममें से प्रत्येक साहित्यकर्मी से एक सकारात्मक उत्तर की माँग करनेवाला प्रश्न है। जहाँ तक स्वयं निर्मल वर्मा की बात है, उनके उस अपने आप से ही पूछे गए प्रश्न का उत्तर उस निबंध की समापक पंक्ति में ही प्रतिध्वनित हो उठा था—''मेरी माँ अब नहीं है।...लेकिन मैं सोचता हूँ, वह नदी अब भी है। प्रार्थना करता हूँ कि वह बिलकुल सूख नहीं गई है।...''

राजेश जैन

हिंदी साहित्य में यंत्र राग

उस दिन हिंदी के सुप्रसिद्ध कवि कुँवर नारायण से उनके ग्रेटर कैलाश स्थित निवास पर 'साहित्य में सम्यक दृष्टि' विषय पर चर्चा हो रही थी। वे कहने लगे, ''हिंदी में समग्र दृष्टि का अभाव है—आप तकनीकी क्षेत्र से हैं—और रचनाओं में 'टेक्नो-लिटरेरी' प्रभाव को स्थापित और अन्वेषित करने में लगे हैं—यह सराहनीय प्रयास है! निस्संदेह जैसा कि आपका कहना है—विज्ञान और साहित्य वास्तव में अलग नहीं हैं—दोनों के मूल तत्त्वों में एकरूपता है।''

''वो यूँ कि साहित्य में शब्दों के माध्यम से हम संवेदनात्मक ऊर्जा का परावर्तन और पारेषण करते हैं— वही काम औद्योगिक क्षेत्र में मशीन भी करती है! ऊर्जा को एक स्वरूप से दूसरे रूप में बदल देती है—जो हमारे लिए ज़्यादा उपयोगी है। उदाहरण लें बिजली का, वास्तव में यह ऊर्जा कहीं पैदा नहीं होती...वरन कोयले में रासायनिक रूप में समाहित. इस पृथ्वी पर ही होती है...पावर हाऊस में इसे जलाकर इसकी रासायनिक ऊर्जा को ताप ऊर्जा में बदला जाता है जिससे टरबो जेनेरेटर घूमता है और 'मैकेनिकल एनर्जी' इस तरह 'विद्युत-ऊर्जा' में ढलकर लाइनों के माध्यम से उपभोक्ताओं तक पहुँचती है! उपभोक्ता विद्युत ऊर्जा से जो कार्य करते हैं—वह भी इसी 'स्पेस' (जगत) में रहता है—ऊर्जा के किसी अन्य रूप में, इसीलिए ही थर्मोडायनामिक्स का यह सिद्धांत है कि 'एनर्जी' कैन नाइदर बी क्रियेटेड नॉर डिस्ट्रॉयड... बट चेंजेस इट्स फ़ॉर्म ऑनली।''

और जब ऊर्जा के स्वरूप का परिवर्तन होता है तो उसमें से उष्मा भी उत्पन्न होती है...वह उष्मा, गर्मी के रूप में महसूस की जा सकती है—उसे मापा भी जा सकता है—पर शब्द-ऊर्जा के परावर्तन से प्रसूत 'ताप' को मापना संभवतः फिलहाल उतना सहज नहीं...पर भविष्य में गणितीय धरातल पर उसकी गणना और उसके समीकरण स्पष्टतः उभरकर आएँगे—इससे इनकार नहीं किया जा सकता है! अदृश्य आध्यात्मिक और वास्तविक ऊर्जा को नापने और मापने की मानवीय उत्कंठा के कारण ही 'रेखागणित', 'बीजगणित', 'ट्रिग्नोमेट्री' और 'अंकगणित' जैसी विधाओं का विकास हुआ। जहाँ अलज़ेब्रा (बीजगणित) में

कहानी, कविता, उपन्यास, नाटक, व्यंग्य, निबंध आदि की लगभग 30 पुस्तकों के रचयिता राजेश जैन का जन्म 1949 में हुआ। हिंदी अकादमी, चिल्ड्रन बुक ट्रस्ट, म.प्र. साहित्य अकादमी से पुरस्कृत हैं। संपर्क : 40, करिश्मा अपार्टमेंट्स, 27, इंद्रप्रस्थ एक्सटेंशन, दिल्ली 110092
मो. 9868390954

अल्फ़ाबेट...(क...ख...ग या ए बी सी...एक्स वाई ज़ेड...) का प्रयोग किया गया वहीं अंकगणित में एक...दो...तीन...चार आदि और शून्य का...तथा रेखागणित में चित्रात्मकता दर्शाने वाले आकारों का ताना-बाना बुना गया...उन सबमें सृष्टि के रहस्यों की व्याख्या का महारथ हासिल करने की लालसा नज़र आती है! इस दृष्टि से विज्ञान और भाषा के समन्वय को अगर देखा जाए तो दोनों के भावबोध में एक समानता से इनकार नहीं किया जा सकता!

मशीनों को लेकर शब्दों की अपनी केमिस्ट्री और उससे उपजी कविताओं पर विचार करें तो पाएँगे तथाकथित मार्क्सवादी लेखन मूलतः कारख़ानों में काम करने वाले मज़दूरों की दशा-दिशा और उत्पादन में लगी पूँजी के घालमेल पर केंद्रित है! यह वैचारिक कला है—नैसर्गिक नहीं। नैसर्गिक या कहना चाहिए मूलतः प्राकृतिक अभिव्यक्ति तो तब ही आ पाती, जब उन मशीनों के तकनीकी धर्म को जानने और समझने वाले विशेषज्ञ इंजीनियर और यंत्रकर्मी स्वयं काव्य सृजन करते! परंपरागत धारणा यही रही है कि मशीनों के प्रांगण में साहित्यिकता का प्रवेश वर्जित-सा है—गोया यंत्र और शब्द में छत्तीस का आँकड़ा है!

सर्वप्रथम 1977 में यह प्रसंग एक परिचर्चा के माध्यम से उजागर हुआ—'धर्मयुग' में! इंजीनियर कवि एवं व्यंग्यकार हरिजोशी द्वारा आयोजित इस परिचर्चा का विषय था—'व्यवसाय से यंत्रकर्मी, अभिरुचि से साहित्यधर्मी' इंजीनियरी को यंत्र एवं साहित्य साधना को मंत्र मानते हुए, मैकेनिकल इंजीनियर हरि जोशी ने जितेंद्र भाटिया, चंद्रसेन विराट, राजेश जैन, वामन पात्रीकार और भवानी शंकर से जो प्रश्न पूछे, उनका सार था—विपरीत दिशाओं वाले दो क्षेत्रों में सक्रियता का क्या आधार है? कोई एक क्षेत्र ग़लत तो नहीं? क्या ऐसी असंगत प्रतिभा वाले व्यक्ति कला में असाधारण पकड़ रखते हैं? आदि...

साहित्य को आंतरिक ऊर्जा का परिणाम वाले जितेंद्र भाटिया हिंदी के एक स कथाकार हैं—उनके उपन्यास भी चर्चित हुए सन् 2004 में भारतीय ज्ञानपीठ से उ महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'सदी के प्रश्न' आई है आधुनिकता, विकास संस्कृति एवं टेक्नोलॉ बहुआयामी वैविध्यपूर्ण गहन चिंतनपरक अ शामिल हैं—सवाल भी उठाया गया है कि एक वैज्ञानिक अपनी सीमाओं का अति करने के बाद ही लेखक दार्शनिक या साम या सामाजिक कार्यकर्ता बन सकता है?

अज्ञेय द्वारा संपादित 'तार सप्तक' कवि संग्रहों की शृंखला का हिंदी साहित्य में वि ऐतिहासिक महत्त्व है! स्वतंत्रता के बाद अन्यतम रचनात्मक पहचान लिए हुए कई इन संग्रहों में रेखांकित किए गए! ऐसे ही कवि थे—मदन वात्स्यायन। तीसरे सप्त शामिल हुए मदन वात्स्यायन की पहचान, हिंदी के पहले इंजीनियर कवि के रूप में जाती है! सन् 2006 में भारतीय ज्ञानपी उनका पहला काव्य-संग्रह (मृत्योपरांत) रश्मि रेखा के संपादन में 'शुक्रतारा' ना प्रकाशित हुआ है—साठ के दशक में लिखी लक्ष्मी निवास सिंह (मदन वात्स्यायन वास्तविक नाम) की इन नई उपमाओं वाली परक कविताओं को अब चालीस वर्षों पहचाना गया—चिन्हित और स्थापित किया अज्ञेय ने मदन वात्स्यायन के बारे में जो लि वह था—बिहार के इस प्रतिभाशाली लेखक हम स्वागत करते हैं! 'शिफ़्ट-फ़ोरमैन' रचयिता, जिन्होंने औद्योगिक रसायन शास्त्र शिक्षा पाई है और जो सिंदरी के रासाय कारख़ाने से संबद्ध हैं, उनमें यंत्र के निकट परिचय और यंत्र के संचालक, मानव का अ विश्वास, बोल रहा है! प्रगतिवादी जो नहीं पाए, वह उन्होंने किया है, क्योंकि 'शि फ़ोरमैन' में किताबी मतवाद या सिद्धांत निजी अनुभव बोलता है!

दूध-सी उजली अमोनियम सल्फेट खाद बनाने वाले कारख़ाने को मदन वात्स्यायन 'कामधेनु' के रूप में देखते हैं और कारख़ाने के विभिन्न उपकरणों को लेकर काव्यात्मक बिंब गढ़ते हैं—नौ रत्नों जैसे इवॉपरेटर्स जिनके पाँव ज़मीन पर हैं और सिर पचास फ़ीट ऊपर आसमान में!"

मिनट-मिनट पर बीस-बीस मन की घूँट लगाते हैं/ मानो समुद्र ही सोख डालेंगे! / ये बीसों स्वत: नियंत्रित यंत्र / इधर तापमान एक डिग्री बढ़ा / कि एक ने लपककर भाप की गर्दन ही दबा दी / उधर दबाव आध सेर घटा / कि दूसरा झट से उठा / और पाइप का मुँह खोल डाला... / फ़ौजी कवायद से फ़िट ये फरिश्ते, / कारख़ानों के चारों ओर फैली यह दुर्ग प्राचीर / यहाँ और वहाँ प्लांटों के ये विशाल राज प्रसाद / हज़ारों हज़ार वाट के बल्बों का समाँ / और यह कामधेनु-सा हमारा प्लांट / यह हमारा साम्राज्य है!

आगे यह प्रक्रिया बढ़ती है और मदन लिखते हैं :

अहा, ये आ गए इवॉपरेटर्स / इसके दूध बनाने वाले स्तन / जहाँ रस मथा जाता है, गाढ़ा किया जाता है/ और ड्रायर्स और कूलर्स के रास्ते / उजली धारा में झड़ निकलता है / अमोनियम सल्फेट / हमारे भोजन का भोजन / खेतों की खाद / सत्ताईस हज़ार मन रोज़!

यह सब देखते हुए, 'शिफ़्ट-फ़ोरमैन' होने के कारण उनका मन देश और जनता के प्रति संवेदनशील हो उठता है! आठ घंटे की शिफ़्ट में कारख़ाने का सर्वे सर्वा 'शिफ़्ट-फ़ोरमैन' ही होता है—जहाँ यह दायित्व बोध देता है, वहीं उन अफ़सरों के प्रति आक्रोश और हीनता का कारण भी बनता है जो सुविधाजनक केबिन में बैठकर पॉवर के रिमोट कंट्रोल से मशीनों को कंट्रोल करने वाले तकनीकी कामगारों को नियंत्रित करते हैं!

मेरे देश में आजकल अकाल है / दस प्रतिशत अनाज की कमी है— / तो बढ़ा दूँ दस प्रतिशत खाद का उत्पादन / दस प्रतिशत ज़्यादा खेतों में खाद गिरेगी / दस प्रतिशत ज़्यादा धान और गेहूँ के पौधे उगेंगे / दस प्रतिशत ज़्यादा हमारा भारतवर्ष स्वाधीन होगा / तो माँग लूँ अपनी कामधेनु से दस प्रतिशत ज़्यादा दूध ?/ हाँ, क्यों नहीं। यह मेरी गऊ है और मैं इसका गृहस्थ हूँ / यह थर्ड शिफ़्ट है, और मैं हूँ शिफ़्ट का फ़ोरमैन।

दस प्रतिशत उत्पादन बढ़ाने का निश्चय करने के बाद कवि की कल्पना कारख़ाने के अन्य उपकरणों के कान उमेठने लगती है :

ड्रायर्स / मैं लोड बढ़ा रहा हूँ, / अपने बल्बों के मुँह दस प्रतिशत बढ़ा दो / क्रशर्स, ग्राइंडर्स, खली और भूसा / दस प्रतिशत और डालो! कूलिंग टॉवर्स पर जल प्रपात दस प्रतिशत और हरहरा उठा।

कवि के इंजीनियरी ज्ञान ने अचानक दामोदर नदी के 'वाटर-बैलेंस' को भी अपना विषय बनाकर चिंता जताई—कारख़ाने को चलाने के लिए पानी दामोदर नदी से लिया जाता है—जब उत्पादन बढ़ाया जाएगा तो नदी से उतना ही अधिक पानी भी खींचा जाएगा, फलस्वरूप कवि कहता है :

दूर पूर्व देश में / कल सुबह / एक नदी के किनारे बैठी एक देहाती किशोरी रवि ठाकुर की भाषा में / अपने प्रियतम से कहेगी / प्रिय, आज नदी का पानी चार अंगुल घटा हुआ लगता है!

कारख़ाने की वृहत ऊर्जा से प्रेरणा और आत्म-विश्वास, कवि ने न केवल हासिल किया, पर जताया भी है :

और मैं खड़ा सोच रहा हूँ कि / सामने उस टावर के ऊपर एक बड़ा फैन होता, / हज़ार हार्स-पावर के मोटर से चलता, / एक तूफ़ान उठता / जिसमें मेरे बाल इठलाते / मेरी क़मीज़ के कॉलर फहराते / जो मेरे पाँवों की ताक़त से लड़ता! / आसमान तक फण काढ़ता है / भाप

का सफ़ेद नाग बार-बार, / आसमान तक जलती हैं ज्वालाएँ ज़हर-सी / सर से पाँव तक थर-थर काँपता कारख़ाना पागल-सा दिन रात चिल्ला रहा है!

उच्च शिक्षा के बावजूद मदन वात्स्यायन कारख़ाने में 'टेक्नोलॉजिस्ट' ही रहे। व्यवस्था से उनका अपनापा नहीं हो पाया कि तरक़्क़ी कर प्रबंधक हो पाते। यह कुंठा यत्र-तत्र काव्यात्मक ढंग से व्यक्त भी हुई है :

मत करो अफ़सर बेचारों की
शिकायत जन-सभा में
वे नहीं हैं, सदन में हैं नेहरू करते मना
भाई साहब! वे जहाँ पर हैं वहाँ पर क़ौम है,
हम ग़रीबों की सुनें, या दें
कौन कहता है कि फ़ाइल नई!
ओ मेरे अफ़सर
तुम सरकारी अफ़सर हो,
तुम्हारा काटा पानी नहीं माँगता
क़ानून की दरार में से तुमने गोली चलाई,
और मुझे चुपचाप सुला दिया
अफ़सर से भरा सरकारी कारख़ाना
साँपों-सी आँखें नहीं झपकती!
अफ़सरों कोठरी है—

संकलन शीर्षक 'शुक्रतारा' नामक कविता में कवि की यांत्रिकता का स्वरूप इस कविता में मुखरित हुआ है :

इंजन के हैड्लाईट-सा, शोरगुल के बीच
सूरज निकल गया!
गार्ड की रोशनी-सा पीछे-पीछे गुमसुम अब
शुक्रतारा जा रहा है!
हमारी बस्ती में दीये-से, बल्ब से
(पेट्रोमेक्स-सा चाँद)
चारों ओर जल उठे तारे!
दूरी में बैलगाड़ी की लालटेन-सा यह
शुक्रतारा जा रहा है!
शहर को, अँधेरा कर
हवाई जहाज़ से मिनिस्टर चले गए!
जनता से एम.एल.ए.-सा
पीछे-पीछे यह शुक्रतारा जा रहा है!

व्यावसायिक तौर पर अपने कारख़ाने से ... कवि का एक और पहलू था। उनका व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन-सौम्य अति सुदर्शना ... का कदाचित् कम सूरत पति होना ही संभवतः उनके काव्य को सौंदर्य गत अनुभूतियों का नया आयाम प्रदान करता है। वे लिखते हैं :

गोरी मोरी गेहूँअन साँप
महुर घर रे गोरी मोरी गेहूँअन साँप
टोना नैन, तरंग अंग में रोक ली रात
मेरी राह
लिपट गई अंग-अंग लपट-सी
गोरी मोरी गेहूँअन साँप!

'शुक्रतारा' की संपादिका रश्मि रेखा ने डॉ. नामवर सिंह के 'कविता के नए प्रतिमान' के हवाले से यही लिखा है : ''हिंदी में पहचान के लिए एक कवि को मृत्यु का इंतज़ार करना पड़ता है, तो मदन वात्स्यायन भी इसके अपवाद नहीं...'' लगभग चालीस वर्षों के अंतराल और बयासी वर्ष की अवस्था में मृत्योपरांत (11 जुलाई 04) ही उनका पहला कविता-संग्रह आया—भले ही देर से आया, पर दुरुस्त आया!

मदन वात्स्यायन की कविताएँ बाद में उभर कर आईं, यद्यपि वे सन् साठ में लिखी गई थीं। इस बीच नरेश सक्सेना की कविताओं का ... राग चर्चा में आने लगा। उन्हें हिंदी साहित्य का दूसरा इंजीनियर-कवि कहा जा सकता है। उनका एकमात्र कविता-संग्रह *समुद्र पर हो रही बारिश* गत सदी के अंत में आया—वह भी 'पहल' सम्मान के निमित्त—उसी अवसर पर।

सिविल इंजीनियरिंग में स्नातकोत्तर शिक्षा प्राप्त नरेश सक्सेना का जन्म 16 जनवरी 1939 को ग्वालियर में हुआ। उत्तर प्रदेश जल निगम एवं टेक्नोलॉजी मिशन में कार्य करने के पश्चात् ...

वे सेनानिवृत्त हो—साहित्य के अलावा दृश्य मीडिया एवं अनुवाद का कार्य भी कर रहे हैं।

'यंत्र सप्तक' में शामिल वे पहले कवि हैं। उनके अनुसार, "इंजीनियरिंग कॉलेज मेरी कविताओं का दूसरा स्कूल था। परिस्थितियाँ बदलते ही कैसे एक पदार्थ दूसरे पदार्थ की तरह व्यवहार करता है, ठोस से तरल होकर बहने लगता है—ठीक मनुष्यों की तरह! उसके तनावों दबावों, स्मृतियाँ और संरचनाओं को जानना मुक्तिबोध की कविताओं को जानने से कम रोमांचकारी नहीं था।"

"भोपाल, जबलपुर और ग्वालियर में मुक्ति-बोध, ज्ञानरंजन, विनोद कुमार शुक्ल, हरिशंकर परसाई, ओम प्रभाकर, निदा फ़ाज़ली, शरद जोशी, अशोक वाजपेयी, राजेश जोशी, विष्णु खरे, सुदीप बनर्जी, लीलाधर मंडलोई, मंगलेश डबराल आदि के सान्निध्य के कारण मेरी जो भी टूटी-फूटी रचनात्मकता थी, उसके नाभिक का निर्माण भी उन्हीं दिनों हुआ...।"

मुख्यत: प्रेम और व्यवस्था पर उनकी कविताएँ हैं, पर तकनीकी बिंबों से भी वे यत्र-तत्र सराबोर हैं! 'कांक्रीट' कविता सिविल इंजीनियरिंग के ज्ञान का अद्भुत काव्यमय राग है—तथाकथित मज़बूत कांक्रीट (मसाला) में सीमेंट, रेत, गिट्टी और पानी का जो अनुपात होता है, उससे कविता का जीवन परक ढाँचा निर्मित किया गया है—

आपस में सटकर फूटी कलियाँ
एक-दूसरे के खिलने के लिए
जगह छोड़ देती हैं!
जगह छोड़ देती हैं गिट्टियाँ
आपस में चाहे जितना सटें
अपने बीच अपने बराबर जगह
ख़ाली छोड़ देती हैं
जिसमें भरी जाती है रेत
और रेत के कण भी
एक-दूसरे को चाहे जितना भींचे
जितनी जगह ख़ुद घेरते हैं
उतनी ही अपने बीच ख़ाली छोड़ देते हैं
इसमें भरी जाती है सीमेंट
सीमेंट
कितनी महीन
और आपस में कितनी सटी हुई
लेकिन उसमें भी होती हैं ख़ाली जगहें
जिनमें समाता है पानी
और पानी में भी, ख़ैर छोड़िए
इस तरह कथा कांक्रीट की बताती है
रिश्तों की ताक़त में
अपने बीच
ख़ाली जगह छोड़ने की
अहमियत के बारे में!

स्वभाव से नरेश सक्सेना सर्वहारा चिंतक हैं और आम आदमी की तकलीफ़ों से जुड़ा रहना उनकी नैसर्गिक नियति है—ट्रकों पर सामान के साथ सामान जैसे लदे मज़दूरों को देखकर वे कहते हैं :

ओ गिट्टी-लदे ट्रक पर सोए हुए आदमी
तुम नींद में हो या बेहोशी में
गिट्टी लदा ट्रक और तलवों पर
पिघलता हुआ कोलतार
ऐसे में क्या नींद आती है?
दिन भर तुमने गिट्टियाँ नहीं
अपनी हड्डियाँ तोड़ी हैं
और हिसाब गिट्टियों का भी नहीं पाया।

'रस्टिंग' या ज़ंग की प्रक्रिया को वे काव्यात्मक दृष्टि से 'लोहे की रेलिंग' में जताते हैं :

थोड़ी-सी ऑक्सीजन और थोड़ी-सी नमी
वह छीन लेती है हवा से
और पेंट की परत के नीचे छिपकर
एक ख़ुफ़िया कार्यवाही की
शुरुआत करती है
यह शिल्प और तकनीकी के जबड़ों से
छूटकर आज़ाद होने की
जी तोड़ कोशिश
यह घर लौटने की एक मासूम इच्छा...

'ईंटें' नामक कविता में भट्ठी की प्रक्रिया और मकान में निहित ईंट की भावात्मक यात्रा पर उनकी पंक्तियाँ यूँ हैं :

तपने के बाद वे भट्ठी की समाधि से निकली
और एक वास्तुविद के स्वप्न
में विलीन हो गई
घर एक ईंटों भरी अवधारणा है
जी बिलकुल ठीक सुना आपने
मकान नहीं घर...

इसी तरह दीवार पर 'दरार' को देखकर नरेश जी कहते हैं :

ख़त्म हुआ ईंटों के जोड़ों का तनाव
प्लास्टर पर उभर आई हल्की-सी मुस्कान
दौड़ी-दौड़ी चीटियाँ ले आईं अपना अन्न-जल
फूटने लगे अंकुर
जहाँ था तनाव वहाँ
होने लगा उत्सव
हँसते-हँसते दोहरी हुई जाती है दीवार!

संकलन शीर्षक से कविता—'समुद्र पर हो रही है बारिश' में ये पंक्तियाँ अनायास ध्यान खींचती हैं—

नमक किसे नहीं चाहिए
लेकिन सबकी ज़रूरत का नमक वह
अकेला ही क्यों ढोए?
क्या गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध
उसके उछाल की सज़ा है यह
या धरती से तीन गुना होने की प्रतिक्रिया!

रंग अभिनेत्री विजया जी से प्रेम-विवाह में बँधे नरेश सक्सेना की कविताओं को सुनकर नामवर सिंह ने जबलपुर में पूछा था, ''क्या सिर्फ़ प्रेम कविताएँ लिखते हो?'' ''नहीं तो!'' उन्होंने कहा पर लगा कि सच शायद यही है कि सारी कविताएँ प्रेम की कविताएँ ही हैं!

'यंत्र-सप्तक' के दूसरे कवि हैं सिवि इंजीनियर विनोद शर्मा। उनकी कविताओं यांत्रिकता के स्वर कुछ इस तरह उभरे हैं—

ऊब चुका हूँ मैं इस यंत्र नगर में
क्या होता है बोध, नहीं जानता
कोई है जो दबाता है बटन
और हो जाता हूँ मैं सक्रिय
स्वाद, गंध, स्पर्श और अहसास-विलीन!

'यंत्र की यंत्रणा' में तीसरे कवि सिवि इंजीनियर कवि चंद्रसेन विराट कहते हैं—

देह साँस का साथ नहीं दे पा रही
इतना तेज़ जिए जाता है आदमी
निज की रचना यंत्र दे रहे यंत्रणा
सोया हुआ विवेक, कौन दे मंत्रणा
स्थान हृदय का देती है फौलाद को!

एक और मैकेनिकल इंजीनियर कवि ह जोशी की एक कविता है—झलाई (वेल्डिंग वेल्डन)—

धातु की वस्तु जब कड़ी होती है
पीतल, लोहे, ताँबे की छड़ी होती है,
आदमी भी अधिक कड़ा हो अगर
दुनिया में रहकर छड़ा हो अगर
बहुत जल्दी टूट जाते हैं!
और फिर
जब तक धातु या आदमी
स्वयं को तपाते पिघलाते नहीं
जुड़ नहीं सकते!

'यंत्र सप्तक' के संपादक में से एक त कवि होने के नाते मैं अपनी दृष्टि यूँ रखना चाहूँ ''इंजीनियरिंग शिक्षा के दौरान यह प्रश्न मु कचोटता था कि जिस तरह गणित के निर्धा समीकरणों से वांछित परिणाम हासिल किए ज सकते हैं उसी तरह जीवन और मन की समस्या का भी सुनियोजित हल क्यों नहीं पाया ज सकता? पूरी सृष्टि 'हार्डवेयर' और 'सॉफ़्टवेय में विभाजित हैं—जो लौकिक और मूर्त है व

'हार्डवेयर' है और जो अमूर्त अलौकिक है—मन और सोच के अंतर्गत—वह है सॉफ़्टवेयर!''

कवि वास्तव में सॉफ़्टवेयर इंजीनियर ही होता है—लेखन एक तकनीकी प्रक्रिया है। बिंबों के माध्यम से 'शब्द-ऊर्जा' का परावर्तन होता है। जिस तरह ऊर्जा न तो नष्ट की जा सकती है और न ही पैदा...पूरे ब्रह्मांड में ऊर्जा की मात्रा निश्चित है—कहा जाए 'स्पेस' स्वयं ऊर्जा है—आइंस्टाइन के समीकरण $E=mc^2$, को परिष्कृत किया जाए तो कह सकते हैं—$E=sc^2$ यहाँ 's' से तात्पर्य है—स्पेस (आयतन) सृष्टि जब भी बनी होगी तब सबसे पहले 'स्पेस' ही अस्तित्व में आया होगा। उसके बाद आए...उसमें समाए विचार और वस्तुएँ! सब तत्त्वों से बने...और उनमें समाए 'इलेक्ट्रॉन' 'प्रोटॉन' और 'न्यूट्रॉन' परस्पर एक-दूसरे से 'ग्रिड' के रूप में जुड़े हुए—एक-दूसरे को प्रभावित करते हुए संवेदनशील और गतिमान—जिसे समय का बीतना कहते हैं। यह सब मात्रा में सुनिश्चित है, सिर्फ़ ऊर्जा का स्वरूप बदलता है—चाहे वह कविता के रूप में हो या अन्य किसी विधा या प्रक्रिया के द्वारा हो।

प्रयोगात्मक 'ग्राफ़ कविताएँ एवं समीकरण शैली' में लिखा गया गद्य, इसी मानसिकता से प्रेरित है।

विद्युत ग्रहों के संपर्क में अपने व्यावसायिक जीवन का अधिकांश समय बिताया—टनों काले कोयले को उजली रोशनी में बदलते हुए महसूस किया—विद्युत ऊर्जा के समकक्ष 'शब्द ऊर्जा' की ग्रिड का अस्तित्व भी अनुभूतियों में समा गया—और जो पंक्तियाँ बनीं, वे 'वह पिशाच', 'बसंत ऊर्जा', 'ऊर्जा की पंक्तियाँ', 'काला आटा, उजली रोटी' और 'शब्दों का वाष्पीकरण', जैसी अनेक कविताओं में समा गईं—जो *रोशनी के खेतों में* और *शब्दशिला* नामक कविता-संग्रहों में शामिल भी हैं! इसके अतिरिक्त 'वायरस', 'कोयला चला हंस की चाल' और 'चिमनी चोगा' जैसे 'टेक्नो-लिटरेरी' नाटक गढ़ने में भी कोई उलझन नहीं हुई।

चिमनी के पास खड़ी
क्रेन
मानो बिच्छू के डंक-सी
डस रही जड़ता को
श्रमिकों और श्रम को
झोंक रही चिमनी में!
वह निर्जीव दानव-सा
निर्माणाधीन प्लांट
कभी पसीजता
कभी खिलखिलाता
तो कभी भूख से दाँत मिसमिसाता,
उसके पुट्ठों की मालिश करते
क्रूर मस्तिष्क में
अहं को अपने पसीने से सींचते
उसके शरीर को
नोचते...खोदते...
रोपते...तराशते...सँवारते
सैंकड़ों इंजीनियर
हज़ारों मज़दूर
अकसर निर्जीव बुत-सा चुपचाप
उसकी दैनिक ख़ुराक
टनों इस्पात!
सीमेंट के लौंदे लीलता
पता नहीं किस रौ में उदास
वह पिशाच!

हाय बसंत
हमने 'कोल्ड-स्टोरेज' में
तुम्हें सुरक्षित रखने का
उपाय क्यों न सोचा?
सौर-ऊर्जा की तरह
तुम्हारी ऊर्जा को सेल में भर पाते,
रूखे मौसम के कुंठित अँधेरों में भी /
तब बसंती बयार की रोशनी जलाते!

कुछ ऐसा करते
तुम्हें गैस-सा
सिलेंडरों में भर लेते
थोड़ा-थोड़ा काम में लाते
साल भर कमरों में तुम्हारा साथ पाते...
दुर्घटनाग्रस्त हो मरणासन्न हुआ मन
ऑक्सीजन के सिलेंडर पड़ गए कम,
अफ़सोस, उन्हें याद नहीं आया
उन्होंने बसंत का 'इंजेक्शन' नहीं लगाए
और सच है
तब से अब तक
मूर्छित मन को होश नहीं आया
(बसंत ऊर्जा)

अब मेरी कविताएँ
कोयले के साथ बंकर में कूदकर
'पलवेराइज़र' में पिसकर
'बायलर' में झुलस रही हैं!
उनकी राख
उनका धुआँ
अब क़लम से नहीं
चिमनी से निकलता है। (ऊर्जा की पंक्तियाँ)

शुरुआत यूँ कि ग्राइंडिंग मिल्स में कोयला
आटे-सा पीसा जाता है
फिर उसे
बायलर की अग्निशैया पर
सींचा जाता है
यत्र-तत्र
सुदूर जो बल्ब टिमटिमाते हैं
वे
रोशनी की रोटियों से नज़र आते हैं—
कौन कह सकता है-
पावर-हाऊस की किचन से
जो ये उजली रोटियाँ आती हैं
काले आटे को गूँथकर
बायलर के तंदूर में पकाई जाती हैं।
(काला आटा, उजली रोटियाँ)

अभी तो
ठंडे शब्द तुम्हारे
पानी की बूँदों से हैं-
अर्थों की अथाह ताप ऊर्जा से
उन्हें वाष्प बनाओ
एक बूँद आयतन को
सोलह सौ गुना फैलाओ...

इलेक्ट्रिकल इंजीनियर शैलेंद्र चौहान साम्य-वादी विचारधारा के कवि हैं। *ईश्वर की चौखट पर* उनका नवीनतम कविता-संग्रह है। उनकी कविताओं में तकनीकी बिंब कुछ यूँ झलकते हैं :

अनंत आसमान
छूटते हैं कनक-कण
बिखर जाता है
पुष्प-पराग
फूटने लगती हैं
परमाणु भट्ठियाँ
फैल जाती है दूर तक
धरा पर रेडियोधर्मिता
अपना पहला ऑर्बिट
छोड़ देता है इलेक्ट्रॉन
परमाणु विखंडन की
अनचाही प्रतीक्षा
रेडियोधर्मिता
रोकने का प्रयास
विशद ऊर्जा का स्वप्न
निरर्थक! *(उपसंहार)*

स्टील अथॉरिटी ऑफ़ इंडिया
की बनी स्टील की
भरी चादरें
टिस्को की बनी
और आयातित चादरें
प्रौद्योगिकी, भवन निर्माण
आधुनिक तकनीक

संतुष्ट हैं बहुत
विज्ञान की प्रगति से
मध्यवर्गीय जन...
कंप्यूटरीकृत सैलून में
की-बोर्ड पर चलाते हुए उँगलियाँ
अनन्य भारतीय सुंदरियाँ
हो सकती होंगी जो
प्रबल दावेदार
मिस-वर्ल्ड और मिस यूनिवर्स
के सौजन्य से मल्टीनेशनल कंपनियों के।

सिविल इंजीनियर अशोक चंद्र का कविता-संग्रह *धरती ने दिए हैं बीज* आया है। उनकी कविताओं में मानवीय त्रासदी की तीखी व्यंजना है—और व्यापक सरोकार भी इतिहास, विज्ञान और स्मृतियों की दुनिया में जाने की कोशिश में कवि समय व विज्ञान के व्यापक फलक पर जाकर इन्हें देखने की जुगत बिठाता है। वैज्ञानिक तथा तकनीकी विकास की पराकाष्ठा एवं आम आदमी पर उसकी क़ब्ज़ेदारी को लेकर ख़ासे चिंतित नज़र आते हैं अशोक चंद्र—

बसंत ने
कितनी चालाकी से
पेड़ों की हत्या का आरोप
पतझड़ के सर मढ़ दिया है। (आरोप)

इस पूरी हलचल के बीचों बीच
कंप्यूटर इंजीनियरों का
लाजवाब दृश्य-मिश्रण
कहर ढा रहा था,
संगीत-वीडियो में तमाम स्वर्गीय और
जीवित चरित्र अपनी आवाजाही में व्यस्त थे
और गायक की गरिमा में
चार चाँद लगा रहे थे
कि वह लगभग नीम-पागल गायक
अद्वैत-शक्तियों का दूत दिख रहा था
यह इलेक्ट्रॉनिक-इमेजनरी का कमाल था।
(पटकथा)

ऊर्जा, समय एवं नाभिकीय विखंडन से व्यावसायिक सरोकार किसी भी इंजीनियर के लिए स्वाभाविक है, पर कविता में उस सरोकार को किस तरह पिरोया गया है—यह विचारणीय हो जाता है। अशोक चंद्र की ये पंक्तियाँ कुछ इशारा कर रही हैं :

अद्‌भुत होगी हज़ारों-हज़ार साल
बाद की दुनिया
जब सौर-मंडल का समूचा विखंडन
थककर समा जाएगा
श्लथ हो चुके सूर्य में
केवल संहित होगी,
वेग न होगा!
और होगी यह विराट पृथ्वी
गूँगे-समय की भाँय-भाँय से
ढकी हुई!...
कई प्रकाशवर्षों दूर
दूसरे तारामंडलों को
इसकी ख़बर हो भी पाएगी! (ब्लैक होल)

काश
हम विडियो कॉन्फ्रेंसिंग पर होते
और माँ बनती हुई
उस लड़की से बतियाते हुए
मैं उसका चेहरा देख पाता!
(माँ बनती हुई लड़की)

शब्दों के रासायनिक परिवर्तन की प्रक्रिया, उतनी ही रहस्यमयी और रोमांचकारी है, जितनी की प्रकृति के कार्य-कलापों की। धातु के इंजीनियर हर्ष शर्मा का एक आलेख है—'ब्रह्मांड : क्षमता और रहस्यमयता का विराट सृजन' उसमें बताया है, ''पेड़ रोशनी लेता है और हरीतिमा पैदा करता है और लाल, पीले, नीले, गुलाबी, हरे बैंगनी रंग के फूल पैदा होते हैं, जबकि सूर्य की रोशनी सफ़ेद है जिसे पेड़ ने लिया...तब फल-फूल, पत्ते, लाल, पीले, हरे कैसे हुए हैं...क्योंकि श्वेत रोशनी किसी प्रिज़्म

में से गुज़रने पर ही सात रंगों में विभक्त होती है—क्या पेड़ों में सूक्ष्म प्रिज़्म है, क्या हमारी लावण्यमय कंचन काया में सूक्ष्म प्रिज़्म है? क्या पानी की बूँदें हमारे शरीर के अंदर श्वेत प्रकाश को इंद्रधनुष के विविध रंगों में बदल देती हैं, जैसी वे वायुमंडल में सूर्य की किरणों से दूसरी तरफ़ इंद्रधनुष तान देती हैं...''

शब्द भी जैसे प्रिज़्म है जो अनुभूतियों को अर्थों के भिन्न रंग देते हैं। यहीं लगता है कि आध्यात्मिकता, साहित्यिकता एवं प्रौद्योगिक विज्ञान के मूल बंध एक ही तो हैं।

स्वतंत्रता के पश्चात् गत सदी में ऐसे कई यंत्रकर्मी/विज्ञानधर्मी साहित्यकार रचनाकर्म में जुटे रहे जिनकी रचनाओं में कहीं-न-कहीं प्रौद्योगिकता की छाया दिखाई दी। आर्किटेक्ट नरेंद्र नागदेव, राकेश भारतीय, नचिकेता, बोधि-सत्व, हेमंत, राजेंद्र राव, प्रह्लाद चंद्र दास, मंजूर एहतेशाम, संजीव, सैली बलजीत, स्वयं प्रकाश, वंदना हांडा, अशोक गुप्ता, श्रवण उर्मलिया, गुरुदत्त पांडे, श्री गोविंद शर्मा और ओम भारती के अलावा जितेंद्र भाटिया का कथा एवं चिंतन के क्षेत्र में किया गया योगदान अलग ही उभरकर आया।

जितेंद्र भाटिया की कहानी, 'अगले अँधेरे तक'—आगामी समय और मानवीय सोच पर प्रौद्योगिकता के प्रभाव और उसके विडंबनापूर्ण दुष्परिणाम की, झलक दिखाती है। ऐसे औद्योगिक वातावरण से घिरे रहना हमारी विवशता है जिसमें अधिकांश कार्य जड़ यांत्रिकता के ज़रिए संपन्न होते हैं, लेकिन यह भी शाश्वत तौर पर स्थापित सत्य है कि यंत्रकर्मी रचनाकारों को अपनी रचनाशीलता को पोषित करने वाला अधिकांश कच्चा माल अपने व्यवसाय से ही हासिल होता है!

विज्ञानधर्मी, शरीर विज्ञान के डॉक्टरों की विशद चर्चा यहाँ नहीं की गई है—यद्यपि ऐसे अनेक रचनाकार हिंदी साहित्य में सक्रिय रहे हैं—जो पेशे या शिक्षा से चिकित्सक हैं। ज्ञान चतुर्वेदी, वीणा सिन्हा, राजेंद्र कुमार कनौजिया, उदयन वाजपेयी, संजय चतुर्वेदी और प्रेम कासलीवाल उनमें से सहज ही याद आ जाते हैं। *सावधान, नीचे आग है* जैसे उपन्यास के रचनाकार के केमिस्ट संजीव का लेखन भी प्रौद्योगिक साहित्यिकता के घेरे में आ जाता है—यद्यपि उनका रुख़ साम्यवाद, वैश्वीकरण, भूमंडलीकरण और शोषित व्यक्ति की अस्मिता की ओर ज़्यादा बुलंद है! अपने एक आलेख में संजीव ने मार्क्स, रीगेल की 'लो ऑफ़ ट्रांसफ़ॉरमेशन ऑफ़ क्वालिटी, इंटू क्वांटिटी' और 'थीसीस, एंटी थीसीस एंड सिंथेसिस' के हवाले से कहा है, ''साहित्य और कला का आईना अपने समय और समाज को सीधे-सीधे रिफ़लेक्ट (परावर्तित) नहीं करता बल्कि रिफ़रेक्ट (वर्तित) करता है और उसमें भी आगे बढ़कर डिसपर्स (विसर्जित) करता है। रचना के त्रिपार्श्व से गुज़रकर विश्लेषण और फिर संश्लेषण की प्रक्रिया से छनकर आता है रचना का यथार्थ...''

सामयिक समय से सरोकार रखने वाले हिंदी के कई रचनाकार अपनी रचनाओं में 'आई. टी. शब्दावली का उपयोग कर नए अर्थ गढ़ रहे हैं। यद्यपि परिवर्तन इतना सतत और गतिशील है कि भाषा, साहित्य और शब्दों को उसके साथ क़दम मिलाए रखने के लिए ख़ासी कवायद करनी पड़ रही है—जो श्लथ हुआ, वह पिछड़ा। सुषमा जगमोहन के शीर्षक 'ज़िंदगी ई-मेल डॉट कॉम' और 'पानी @ 2015' ऐसे कुछ शीर्षक हैं जो यह दर्ज कराते हैं कि हिंदी के अधुनातन रचनाकार सोच और समय के साथ सामयिक तौर पर प्रतिबद्ध रहने में पिछड़े नहीं हैं।

स्वतंत्रता के पश्चात् गत सदी में हिंदी साहित्य के वाद्य-वृंद में 'यंत्र राग' यद्यपि स्पष्ट उभर कर नहीं आया पर वह अनेक 'हार्मोनिक्स' के रूप में यत्र-तत्र मौजूद हैं। अगर संधान तरीके से लिए जाएँ तो विज्ञान और प्रौद्योगिकता से सराबोर यह 'यंत्र-राग' एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के रूप में सहज ही पहचाना जा सकता है।

ज्योतिष जोशी

सामूहिकता का संकल्प

फणीश्वर नाथ रेणु का आविर्भाव हिंदी कथा-साहित्य में न केवल एक आंदोलन, बल्कि एक ऐसे क्रांतिधर्मी विचार की तरह हुआ जिन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से स्वतंत्रता के बाद के भारत की भग्न तस्वीर दिखाई। रेणु का समय स्वाधीनता आंदोलन का समय नहीं है और न ही बड़े-बड़े सपनों के बुनने का समय है। वह तो ऐसा परीक्षणकाल है जिसमें आज़ादी के पहले बुने गए सपनों की विफलता की मर्मांतक पीड़ा छुपी है। रेणु ने अपने गद्य साहित्य में; जिनमें क्लासिक का दर्जा प्राप्त उपन्यास— *मैला आँचल, परती परिकथा, दीर्घतपा, कितने चौराहे, पलटू बाबू रोड* और *जुलूस*, कहानी-संग्रह— *ठुमरी, अग्निखोर, आदिम रात्रि की महक*, संस्मरण— *ऋणजल-धनजल* तथा *नेपाली क्रांतिकथा* शामिल हैं, भारतीय सामाजिक जीवन की विडंबनाओं, अंतर्विरोधों और अभावों की तो जीवंत अभिव्यक्ति की ही है, सत्ता के छल, पाखंड, राजनीतिक अनैतिकता तथा मानवीय संबंधों के क्षरण को जितनी मार्मिकता से उद्घाटित किया है, वैसी कुशलता किसी भी अन्य गद्यकार में नहीं मिलती। यह वही रेणु हैं जिन्हें कभी आंचलिकता, कभी विचारधारा, कभी क्षेत्रीयता तो कभी भदेस देसी भाषा के लेखक होने के नाम पर उपेक्षा झेलने को विवश होना पड़ा। रेणु ने जीते जी इस उपेक्षा की परवाह नहीं की, पर बाद में ऐसी स्थिति भी आई कि लोगों को स्वीकार करना पड़ा कि रेणु की चर्चा के बिना बीसवीं शती का ही नहीं, पूरी हिंदी भाषा के साहित्य की चर्चा अधूरी है।

ऐसे रेणु किसी विशेष परंपरा में सपने बुनने और किसी ध्येय की सफलता में आंदोलन खड़े करने वाले लेखक नहीं हैं। वे ग्राम्य जीवन की करुणा, हास्य, संताप, माया, सहजता और अदम्यता को व्यक्त करने वाले ऐसे अंतर्यामी चित्रकार हैं जो दृश्य-अदृश्य को शब्दों के रंगों से सजीव दुनिया रचते हैं। ऐसी रसपगी अंतर्यामी प्रतिभा का लेखक रेणु के अतिरिक्त हिंदी में दूसरा नहीं है जो जीवन के विराट् कैनवस पर ऐसा रूपांकन कर दे जिसका सूना कोना भी जीवंत होकर बोल पड़े। यह रेणु केवल कुशल शब्द चित्रकार ही नहीं हैं बल्कि अपने समय के सबसे संजीदा विचारक

...क उपन्यास, आलोचना पुस्तक ...आदि के रचयिता ज्योतिष जोशी का जन्म 1965 में हुआ। संपर्क : डी-4/37, एम. आई. जी., सेक्टर-15, रोहिणी, दिल्ली-110085

भी हैं जो प्रतिपल बदलते सत्ता के छल के साथ-साथ ग्राम्य-जीवन के यथार्थ की विरूपता को भी उसी कुशलता के साथ प्रस्तुत करते हैं।

उन्हीं के शब्दों के सहारे उन्हें 'आंचलिक' कहने की जो प्रथा चली, वह आज तक चली आ रही है और उसमें बहुत बारीकी से अंचलों के प्रति हिकारत का भाव पहचाना जा सकता है। रेणु ने *मैला आँचल* की भूमिका में लिखा था, "यह है मैला आँचल, एक आंचलिक उपन्यास।...मैंने इसके एक हिस्से के एक ही गाँव को—पिछड़े गाँवों का प्रतीक मानकर—इस उपन्यास-कथा का क्षेत्र बनाया है।"

इसी भूमिका में इन पंक्तियों को रेणु के सृजन और चिंतन का उत्स स्वीकार किया गया है, "इसमें फूल भी हैं शूल भी, धूल भी है गुलाब भी, कीचड़ भी है चंदन भी, सुंदरता भी है कुरूपता भी—मैं किसी से दामन बचाकर निकल नहीं पाया।" रेणु का समूचा लेखन बिहार के पूर्णिया ज़िले के आसपास के गाँवों, क़सबों के जीवन पर आधारित है। *मैला आँचल* तो इसी ज़िले के मेरीगंज क़सबे से लेकर उसके आसपास की ग्रामीण पट्टी तक फैला है। इस बहस का कोई औचित्य नहीं है कि रेणु का लेखन आंचलिक है या केंद्रीय। किसी भी भाषा का कम-से-कम कथाकार; जो एक समग्र कथा के ज़रिए, संबद्ध विषय की सांस्कृतिकता के साथ उसे संपूर्णता में व्यक्त करता है, उसमें एक अंचल ही होता है, पूरा देश नहीं। रेणु के कथन को एक कथा-प्रतिमान बनाकर आलोचकों ने आंचलिकता को ग़लत ढंग से समझने की कोशिश की। इस अर्थ में देखें तो ग्राम्य-जीवन को आधार बनाकर लिखने वालों में प्रेमचंद से लेकर, नागार्जुन आदि कथाकारों का कथा-साहित्य आंचलिक ही है, उसमें विन्यस्त राष्ट्रीय-वैश्विक प्रश्न भले ही उसे बड़ा परिप्रेक्ष्य देते हों। रेणु का लेखन भी ऐसा ही है, जिसमें तद्‌युगीन सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संघर्षों, समस्याओं तथा मानवीय संकटों से जन्मे प्रश्नों पर ग विमर्श है। इस अर्थ में रेणु बड़े सचेत कलाक हैं, ग्राम्यता को लेकर उनमें मोह और त्याग बरा भाव से बरक़रार हैं। जहाँ संवेदना की स्थानीय उन्हें अपने में समो लेती है, वहीं उसकी विरू पर बरसते हुए रेणु विरागी हो उठते हैं। रा विराग का यह द्वैत भाव बहुत कम सर्जकों मिलता है, रेणु ने अपनी रचनाओं में इस भाव को व्यक्त कर एक कलाकार की 'वि की भूमिका भी प्रस्तावित की है।

रेणु की रचनाएँ एक स्तर पर प्रेमचंद परंपरा का विकास हैं तो दूसरे स्तर पर स्वयं परंपरा का उद्‌भाव भी। इनमें जैसा कि कहा गया है, सपनों, उम्मीदों की कोई आक शेष नहीं है; यहाँ तो बस जीवन के भग्न, विह यथार्थ को उसकी समग्रता में पकड़ने कलात्मक प्रयत्न है। कहना न होगा कि प्रयत्न में रेणु अद्वितीय हो उठते हैं, उनकी पाठकों को विस्मित कर उसे रचनाओं में सांस्कृतिकता का हिस्सा बना देती है। *आँचल* उनकी कला और सर्जना का उत्कर्ष है, जिसकी परंपरा में लिखने की को तो बहुत हुई, पर कोई उसके आसपास पहुँच सका।

मैला आँचल स्वाधीन भारत के ग्रामीण की अशिक्षा, पिछड़ेपन, अंतर्विरोध और हारी चेतना का ऐसा लिखित जीवंत दस्ता जिसकी हर पंक्ति करुणा में डूबी है और समूचे आख्यान में गहरी वेदना की अभि है। इसमें यथार्थ के चित्रों से अधिक उस के मानसिक उद्वेलनों की भावप्रवण सृजना है जिसके कारण रेणु की कला परवर्ती कथा के लिए एक चुनौती बनकर उभरती है अकेले उपन्यास में राजनीति, मनोवि संस्कृति, धर्म और तत्कालीन मानवीय की इतनी गहरी व्यंजना है जिससे यह विश्वास करना कठिन होता है कि हम उ पढ़ रहे हैं या किसी बड़े चित्रपट को दे

हैं। उपन्यास के चरित्रों में बालदेव, चुन्नी, गोसाईं, बावनदास, कालीचरन, डॉ. प्रशांत, कमली जैसे पात्र *मैला आँचल* की सृजनात्मकता को बहुआयामिता देते हैं, उसे अपनी नियति से, जीवन से एक महान आख्यान में बदल देते हैं। यह उपन्यास विकास पर व्यंग्य है, राजनीति की स्वार्थपरता पर व्यंग्य है, मानवीय संबंधों के ध्वंस की मर्म कथा है, पर इससे भी अधिक मानवीय शक्ति, विघटन और युग के जागृत बोध के क्षरण की गहरी निर्मिति है। उपन्यास में बावनदास के संघर्ष और अंततः उसकी मृत्यु को भारतीय जन की अंतर्शक्ति और एक बड़े मानवीय विचार की समाप्ति के रूप में देखा जा सकता है। उपन्यास में बावनदास जिन लक्ष्यों के लिए संघर्ष करता है, वे लक्ष्य भारतीय सामाजिक जीवन में आधुनिक मनुष्यता की स्थापना के हैं, उसके मूल्यों की स्थापना के हैं। पर अपने संघर्षों के बाद बावनदास की पराजय उसकी मृत्यु में होती है, जो 'चेथरिया पीर' के रूप में पूज्य हो जाता है। जीते जी इतने विरोधों को झेलता बावनदास, अपनी ही आँखों से चारित्रिक पतन, अनैतिकता और भ्रष्ट जीवन को देखता हुआ, अंततः धीरे-धीरे अपनी शक्ति गँवाकर जिस तरह विदा लेता है, वह *मैला आँचल* की क्लासिकी का सबसे बड़ा प्रमाण है। *गोदान* के होरी की ही तरह बावनदास निष्कपट, सहज मनुष्यता का पैरोकार है, पर वह होरी की तरह ठंडा और संघर्षों से घबराने वाला नहीं है। प्रेमचंद के ही चरित्रों से तुलना करनी हो तो बावनदास *रंगभूमि* के सूरदास के अधिक निकट है जो अविराम संघर्ष करता हुआ बिना पराजित हुए मरता है। होरी तो हार चुका है जिसकी नियति ही हार की है। ठीक सूरदास की ही तरह बावनदास लगातार संघर्ष करता है, उसे किसी से डर नहीं लगता। अपने संघर्ष में वह महात्मा गांधी का प्रतिरूप बनता है, जो जीते जी अपने ही लोगों के बीच उपेक्षित हो जाते हैं और मृत्यु को ही अपने विराम का आश्रय कहते हैं। बावनदास, गांधी की ही तरह मरकर 'चेथरिया पीर' बनता है और एक विचार की तरह उसकी उपस्थिति और भी सार्थक हो उठती है।

वास्तविकता यह है कि रेणु के इस उपन्यास में एक ऐसे मनुष्य की खोज का प्रयत्न है जो आधुनिक जीवन में मनुष्यता को नए सिरे से परिभाषित करे तथा विद्रूप जीवन की विरूपता के ख़िलाफ़ सार्वभौम संघर्ष भी।

अपने अनुष्ठान में रेणु सफल होते हैं और बावनदास की मृत्यु से एक नए आधुनिक मनुष्य की निर्मिति की भूमिका तैयार होती है। इसी आधुनिक मनुष्य को समाज और व्यवस्था की प्रतिगामी शक्तियों से लड़ना है, जनता के बीच सहकार विकसित कर उससे समरस समाज का निर्माण करना है। *मैला आँचल* को उस युग में विचारधाराओं की विफलता और नायकत्व के पराभव को उसकी परिणति में भी समझने की आवश्यकता है जो रेणु की प्रखर सामाजिकता का सबसे बड़ा साक्ष्य भी है। केवल इसकी भाषा, शिल्प की क़सीदाकारी, सांस्कृतिक चित्रमयता और आंचलिक समग्रता पर मुग्ध होनेवाले लोग बहुत क़रीने से रेणु की चिंताओं से पाठकों का ध्यान हटा देते हैं। अगर अब भी इन चिंताओं पर विचार करने की कोशिश नहीं होगी तो रेणु को समझना मुश्किल होता जाएगा। दरअसल यह चिंता विचारधाराओं के अंत की उतनी नहीं है (हालाँकि वह भी है) जितनी कि उनके नेतृत्व के पाखंड की। रेणु इस पाखंड को उसके अंतर्विरोधों सहित पकड़ते हैं और यह प्रस्तावित करते हैं कि सामाजिक-राजनीतिक नव-निर्माण के लिए एक नई चेतना-संपन्न शक्ति का उद्‌भव हो। इस शक्ति का उद्‌भावन वे आधुनिक मनुष्य में करते हैं और ऐसे मनुष्यों से एक तरह से सहकारी नेतृत्व की माँग भी। *मैला आँचल* में डॉ. प्रशांत जैसे चरित्र को इसी मनुष्यता के एक रूप में समझा जा सकता है जो बावनदास
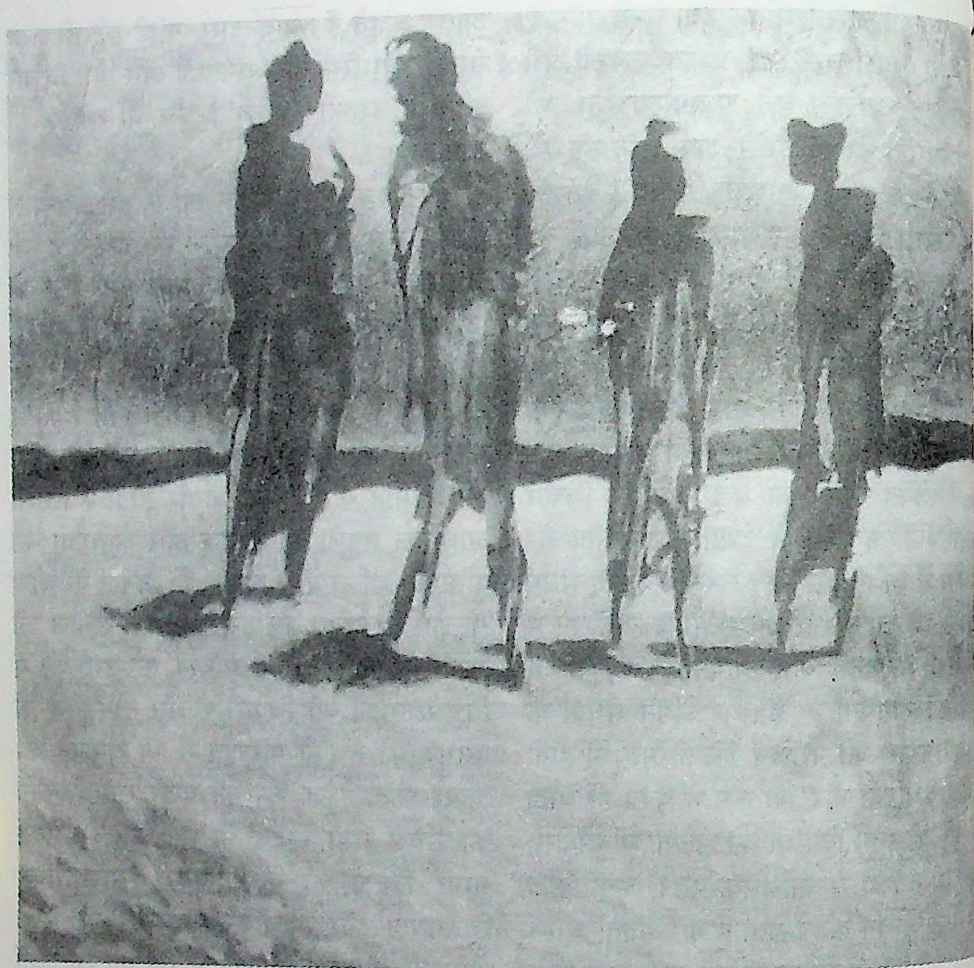
से कहीं भी तुलनीय नहीं है, पर वह अपने समय के ताने-बाने को, उसकी जटिलता को अधिक स्पष्टता से समझता है।

रेणु का यह उपन्यास अपने समय के समूचे भारतीय मनुष्य को उस बिंदु पर लाकर खड़ा करता है, जहाँ सिर्फ़ टूटन है, ध्वंस है, छलनाओं से आहत मन है और एक भयावह अँधेरा है जहाँ न तो विचारधाराओं की रोशनी पहुँच रही है और न उसका दावा करने वाला नेतृत्व ही बचा है। ऐसे में ही अपना रास्ता बनाना है, अपने बीच से ही नेतृत्व पैदा करना है, जन संस्कृति को ही अपनी प्रेरक-शक्ति मानना है। *मैला आँचल* के इस निहितार्थ को अब समझने की ज़रूरत है क्योंकि इसी बिंदु पर रेणु किसी की परंपरा का पल्लवन करते नहीं दिखते, ब परंपरा को हास्य बनाकर अपने ठोस वर्तमान प्रतिष्ठित करते हैं, जो एक तरह से नई पर का प्रस्थान भी है।

मैला आँचल में रेणु लिखते हैं, "दिल्ली राजघाट पर, बापू की समाधि पर रोज़ श्रद्धांजलि अर्पित होती हैं। संसार के किसी भी कोने किसी भी देश का आदमी आता है, वहाँ पहुँच अपनी ज़िंदगी को सार्थक समझता है।

कलीमुद्दीनपुर में नागर नदी के किनारे, चौर के पास साँहुड़ के पेड़ की डाली से लटकती खद्दर की झोली को किसी ने शायद टपा दि है।...कौन लेगा? दुलारचंद कापरा ने एक म के बाद जाकर देखा झोली तो लटक रही है...

से। ज़िला कांग्रेस का कोई भी वर्कर देखते ही पहचान लेगा—बावनदास की झोली है। झोली कापरा ने टपा दी। मगर झोली का फ़ीता अभी भी डाली में झूल रहा है।

किसी दुखिया ने इसे 'चेथरिया पीर' समझकर मनौती की है, अपने आँचल का एक खूँट फाड़कर बाँध दिया है, ''मनोकामना पूरी हो तो नया चेथरा बाँधूँगी।'' बहुत बड़ी आशा और विश्वास के साथ वह गिरह बाँध रही है।...दो चिथड़े।''

इस लंबे उद्धरण में गांधी से बावनदास के साम्य और विचारधारा की परिणति को देखा जा सकता है। बावनदास की झोली, जो गांधी-विचार का ही प्रतीक है, किसी के द्वारा ग़ायब कर दी गई है। साँहुड़ पेड़ की डाली पर केवल उसका फ़ीता बचा है जिसे चेथरी समझकर दुखियारे लोग उसमें कपड़े बाँधते और मनौतियाँ माँगते हैं। गांधी की नीति और निष्ठा का अपहरण इसी तरह हुआ है और केवल उनकी तस्वीर बची रह गई है जिसका अपने हक़ में ओछा इस्तेमाल राजनीतिक दल किया करते हैं। विचारधारा के अंत और नायकत्व के अपसरण का यह विराट् आख्यान नए मनुष्य के उद्भाव की प्रस्तावना करता है जिससे मोहभंग से उपजे संत्रास का मुक़ाबला किया जा सके और एक नए भारत का निर्माण भी।

मैला आँचल के बाद *परती परिकथा, दीर्घतपा, जुलूस, कितने चौराहे* और *पलटू बाबू रोड* नामक उपन्यास लिखकर रेणु ने अनेक सामाजिक प्रश्नों पर विमर्श करने का प्रयत्न किया, उसमें आशावादी स्वर भी उभरा; पर *मैला आँचल* के बाद उनसे अपेक्षाएँ इतनी बढ़ गई थीं कि उनके बाद के उपन्यासों पर अधिक ध्यान नहीं जा सका। एक तथ्य यह भी है कि *मैला आँचल* की क्लासिकी के बाद स्वयं रेणु से अब कुछ विशेष बचा भी न था कि वे आगे के उपन्यासों के विन्यास में कोई नया चमत्कार करते। बाद के उपन्यासों में अच्छी बात यह है कि रेणु ने अपने को दोहराया नहीं है, वरन् उसी के प्रवाह को कुछ विकसित रूपों में दिखाने की चेष्टा की है। मेरीगंज की जगह *परती परिकथा* में परानपुर गाँव आता है जिसके विकास के स्वप्न को फलित करते रेणु कहीं-कहीं अतिरिक्त आशावाद के कारण अपनी ख्यात छवि को क्षति भी पहुँचाते हैं। इसके बाद के उनके उपन्यास दूसरे सामाजिक प्रश्नों की ओर मुड़ते हैं। *दीर्घतपा* एक वर्किंग वीमेन्स हॉस्टल की कथा है जिसमें स्त्री-कल्याण के नाम पर स्त्रियों का शोषण होता है और उनसे देह-व्यापार भी कराया जाता है। मिस बेला गुप्त ऐसी व्यवस्था से टकराती है और भले ही टूट जाती हो, पर समाज के सामने ऐसे लोगों को बेपर्द कर जाती है जो बड़े प्रतिष्ठित बनते हैं और परदे के भीतर कुकर्म करते रहते हैं। *जुलूस, कितने चौराहे* और *पलटू बाबू रोड* में क्रमशः विभाजन के बाद विस्थापित शरणार्थियों की समस्या, स्वाधीनता आंदोलन तथा एक बंगाली परिवार के नैतिक अपसरण की समस्या को चित्रित करते रेणु *मैला आँचल* की उस प्रस्तावना को ही आगे बढ़ाते प्रतीत होते हैं जो आधुनिक मनुष्य से जुड़ी है। इनमें आधुनिक समाज की ओर बढ़ती हमारे जीवन की यात्रा में नैतिकता, आत्मबल तथा दृढ़ चरित्र की माँग करते रेणु बहुत मर्माहत करते हैं।

अपनी कहानियों में भी रेणु अप्रतिम हैं। वैसी कहानियाँ जैसी रेणु ने लिखी हैं, अन्यत्र नहीं पाई जा सकतीं। रोमानी यथार्थ का आत्मीय जीवंत अंकन, रसगंधी चित्रमयता और प्रेम की निश्छलता का जैसा अंकन रेणु ने किया है, वैसा किसी और कलाकार के वश का है भी नहीं। वे सही मायनों में गाँव के प्रतिनिधि सर्जक हैं जिनके यहाँ गाँव की धूल, आँगन की धूप, मेले-ठेले, पर्व-त्योहार, राग-रंग, हँसी-चुहल, ठिठोली, गाजे-बाजे, छोटी-छोटी उम्मीदों से भरी ज़िंदगी और भोली सहजता में छिपी लाचारी को रेणु ने बड़ी आत्मीयता से अंकित किया। 'लाल पान

की बेगम', 'रसपिरिया', 'तीसरी क़सम', 'ठुमरी', 'ठेस', 'अग्निख़ोर', 'पंचलाइट', 'नैना जोगिन', 'जड़ाऊ मुखड़ा' जैसी कहानियाँ केवल कहानियाँ नहीं हैं, एक आत्मीय दर्शन हैं जिसमें प्रेम की भूख और राग की उत्कट आकांक्षा है। उपन्यासकार रेणु का शिल्प उनकी कहानियों में भी दिखता है, पर कहानियों में कथ्य की भंगिमा बदल जाती है और ऐसे चरित्रों से सामना होता है जो अपनी लाचारी, दरिद्रता और मूढ़ता में भी बड़े-बड़े दार्शनिक सत्यों को झुठला देते हैं। एक जागतिक विमर्शक के रूप में रेणु *मैला आँचल* में जिस वैचारिकता और नायकत्व की समस्या से जूझते हैं, कहानियों में प्रेम, समर्पण और त्याग के माध्यम से ऐसे नायकत्व को प्रस्तावित करते हैं। ऐसा नायक प्रेम की निर्मिति होगा, त्याग तथा समर्पण उसे शक्ति देंगे। कहानियों में अपने जीवन को उड़ेलते रेणु अपनी चिरपरिचित अंतर्यामिता में प्रकट होते हैं। हीरामन, सिरचन, पंचकौड़ी मिरदंगिया, मोहना, चुरमुनियाँ, रतनी, रमेसर, बिरजू जैसे चरित्र उस भारतीय ग्राम्य-आत्मा को प्रतिरूपित करते चरित्र हैं जिसमें भोलेपन और सहजता के गुण को यह समय मूढ़ता कहता है। हँसी और ठिठोली के भीतर इनमें जो संकल्प-चेतना है और जीवन की ठोस-वास्तविकताओं से लड़ने की जो क़ुव्वत है, वह इन्हें बड़े चरित्रों के रूप में रखने में समर्थ है।

रेणु अपने विमर्श में प्रेम की जगह लेते स्वार्थ और संबंधों की जगह लेते पैसे की प्रभुता को लक्ष्य करते हैं। वे देखते हैं कि भारतीय जन की समाज दर अवमूल्यित हो रही है। उसकी सहजता का सौदा हो रहा है। ग्रामीण जीवन आधुनिकता के दुष्प्रभाव और शहरी बाज़ारीकरण से अ चिर परिचित संघर्षशीलता गँवा रहा है। विमर्श में इस विरूपता को लक्ष्य करते रेणु कहानियों में उस भारतीय जन से सावधान की ताकीद करते देखे जा सकते हैं जो की अयाचित चकाचौंध के विभ्रम में है। स्तर पर देखें तो रेणु की कहानियाँ भी हमें सांस्कृतिक विमर्श में उतारती हैं।

रेणु वैसे कलाकार नहीं हैं जिनकी रचनाओं स्थानीयता में मुग्ध होकर, उसकी रसमयता खोकर और उसकी पठनीयता में डूबकर उनके गहरे सामाजिक, राजनीतिक सांस्कृतिक विमर्शों की उपेक्षा करें या उस अनदेखी करें। उनकी रचनाएँ अपना प्रति स्वयं बनती हैं तथा गहरे सांस्कृतिक, सामा आशयों को उनके राजनीतिक फलितार्थ में उ हैं। इनमें स्वप्न नहीं है, उम्मीद की डोर भी बची है फिर भी जीवन को एक संकल्प मा जिए जाने की जिजीविषा और अदम्यता ऐ जो हमें आश्वस्त करती है। ग्राम्य संस्कृति जीवन के भीतर छुपी कुटिलता, धूर्तता और चालाकी से सामाजिक परिवर्तनों को निष्फ करने वाली शक्तियों की पहचान भी रेणु में है, जो उनकी दृष्टि में राजनीतिक और सामा व्यवस्था की खलनायकी ही है और जिसे ठीक वे वैचारिकता और नायकत्व के अंत में करते हैं। सही मायनों में रेणु की कलात्मकता साथ-साथ उनके परिवर्तनकामी आशयों को समझने की ज़रूरत है; क्योंकि अब इस आवश्यकता पहले से बहुत बढ़ गई है।

आर.शांता सुंदरी

तेलुगु कविता की नई प्रक्रिया—नानीलु

आज का युग रफ़्तार का युग है। इस युग में सबसे अधिक मूल्यवान चीज़ है, समय। जल्दी-जल्दी हरएक काम पूरा करना ज़रूरी है। फिर साहित्य इससे अछूता कैसे रह सकता है? कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक अभिव्यक्त करने की आवश्यकता है। इसी के फलस्वरूप साहित्य में एक पन्ने की कहानियाँ, लघुकथाएँ और मुक्तक छंद जैसी विधाएँ अधिक देखी जा रही हैं।

अन्य भारतीय भाषाओं की तरह तेलुगु साहित्य में भी इसका प्रभाव देखा जा सकता है। जापानी कविता के 'हाइकू' छंद का अनुकरण करते हुए कुछ समय पहले तेलुगु में भी 'हाइकू' लिखी जाने लगी थीं। इस, विदेशी छंद के बहते प्रभाव को देखकर डॉ. एन. गोपि ने 1997 में 'नानीलु' की सृष्टि की। इस शब्द को दो शब्दों के जोड़ से बनाया गया है—'ना' (मेरा) 'नी' (तेरा), यानी हमारा, 'लु' प्रत्यय तेलुगु भाषा में बहुवचन का द्योतक है। इस प्रकार 'नानीलु' का अर्थ मेरी तेरी, यानी हमारी, बातें होता है। इसके अलावा 'नानी' शब्द का प्रयोग नन्हे बच्चे के लिए भी किया जाता है।

साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित डॉ. एन. गोपि के 'नानीलु' काव्य-संग्रह का अनुवाद हिंदी में भी प्रकाशित हुआ है और हिंदी में उसका नाम है, 'नन्हे मुक्तक'। डॉ. एन. गोपि को 'नानीलु' का जनक माना जाता है। 'नानीलु' पुस्तक के रूप में प्रकाशित होने से पहले एक प्रमुख तेलुगु दैनिक में छह महीने तक लगातार प्रकाशित होती रहीं। इस नए छंद से प्रेरित होकर अनेक नए युवा कवि 'नानीलु' लिखने लगे।

'नानीलु' के सृष्टिकर्ता, डॉ. एन. गोपि अपने इस छंद के बारे में कहते हैं, '' 'नानीलु' की सृष्टि करते समय मैं जानता था कि इनकी शक्ति बहुत अधिक है। मेरे काव्य-जीवन में यह एक मील का पत्थर बनेगा, लेकिन मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि पूरे राज्य में यह प्रक्रिया इस तरह फैल जाएगी।''

1947 में जन्मी आर.शांता सुंदरी हिंदी-तेलुगु में परस्पर अनुवाद करती हैं। संपर्क : 8-3-319/21, एल्लारेड्डी गूड़ा, हैदराबाद 500073
फ़ोन : 9440745709

'' 'नानीलु' को लिखते समय मैंने कुछ नियमों का पालन किया है। कविता में चार पंक्तियाँ हों, और चारों पंक्तियों में कुल मिलाकर 20 से 25 अक्षर हों—यह छूट भावाभिव्यक्ति की सहूलियत के लिए दी गई है। प्रथम दो पंक्तियों में एक बात कही जाती है और बाक़ी दो पंक्तियों में इस बात की पुष्टि की जाती है या उस सोच का विस्तार किया जाता है।''

'नानीलु' में विषयवस्तु का भी काफ़ी विस्तार रहता है। प्रकृति की सुंदरता, तात्विक चिंतन, सामाजिक विषय, समसामयिक जीवन की संक्लिष्टता, व्यंग्य, आदि बातों पर यह कविता लिखी जा सकती है। डॉ. एन. गोपि के शब्दों में कहना हो तो, ''इनके आविर्भाव के मूल में एक उद्वेगपूर्ण, निरंतर संवेदना है। मानव-स्वभाव की विभिन्न प्रवृत्तियों को समझने का प्रयत्न है।''

'नानीलु' के रूप, भाषा और भाव इतने सरल हैं कि ये हर किसी के मुँह से सुनाई देने लगे हैं। पढ़ते ही समझ में आ जाने के कारण ये अत्यधिक लोकप्रिय हुए हैं। स्कूली बच्चों से लेकर विद्वानों तक तथा राजनीतिज्ञों से लेकर अनपढ़ रिक्शेवाले तक इनकी पहुँच है।

अब 'नानीलु' लिखनेवाले दो सौ से अधिक कवि अपनी 'नानीलु' को तेलुगु के विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते देख रहे हैं। लगभग पचास 'नानीलु' के संग्रह अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। यह सब केवल आठ सालों में संभव हुआ है। 'नानीलु' लिखनेवाले कुछ प्रमुख कवि हैं—एस.आर. भल्लम्, अंबल्ल जनार्दन, डॉ. द्वा. ना. शास्त्री, रसराजू, डॉ. एन. रघु, डॉ. चिल्लर भवानीदेवी, श्रीमती शारदा अशोकवर्द्धन, डॉ. पृथ्वीराज, अनिसेट्टि रजिता, पी.लक्ष्मणराव, डॉ. मनसा चेन्नप्पा, टी. संपतकुमार, आदि।

8 अक्तूबर 2005 को हैदराबाद में 'नानीलु' का आठवाँ वार्षिकोत्सव बड़े भव्य रूप से मनाया गया था। सुबह 10 बजे से रात 10 बजे तक, पूरे बारह घंटे के इस उत्सव को तीन भागों में मनाया गया था। इस महोत्सव में 'नानीलु' कवि प्रक्रिया पर एक संगोष्ठी का आयोजन कि गया था जिसमें आठ प्रमुख कवियों ने पत्र सम किए। उसके बाद 'नानीलु' लिखनेवाले कवि की कविता-गोष्ठी हुई जिसमें हरएक कवि अपनी पाँच से दस तक 'नानीलु' पढ़कर सु महोत्सव के अंतिम भाग में 'नानीलु' लिखने लगभग तीस कवियों के संग्रहों का लोका किया गया और उन्हें सम्मानित भी किया ग

अब कुछ कवियों की 'नानीलु' को दे हैं—

डॉ. एन. गोपि की इस 'नानी' में मनुष्य मिट्टी से युगों-युगों से जो संबंध है उसी तात्त्विक चिंतन के रूप में प्रस्तुत किया गया *घड़ा फूट गया/ दुखी मत हो/ मिट्टी रूप बद को/ तैयार है*

पढ़नेवाले इन चार पंक्तियों में जो गंभीर है उसे पढ़ते ही समझ सकते हैं।

भाषा और बोली के फ़र्क़ को बड़ी सुंदर प्रस्तुत किया है : *भाषा/ बैठक का तोता है/ बोली ?/ रसोई की ख़ुशबू है*

कबीर ने कहा था कि जो डूबने के ड किनारे पर बैठा रहता है उसे कुछ भी हा नहीं होता। उसी सोच को दूसरे ढंग से इस में पेश किया गया है। जीवन के सागर में डूब बाहर निकलनेवाले को सुख और दुख दोनों समान रूप से स्वीकार करना पड़ता है : *में डूबकर / लाया हूँ सीपियाँ / कुछ मोती / कुछ आँसू*

एस.आर. भल्लम् ने बाँसुरी के संगीत बड़ा ही सुंदर वर्णन किया है : *बाँस की ल से/ हवा में/ प्राण फूँकना ही/ संगीत है*

किसानों की समस्या भारत की बहुत समस्या है। विशेषकर पिछले कुछ सालों से प्रदेश में किसानों का जीवन बद से बदतर होता रहा है। भला कवि का कोमल हृदय उनके दु प्रतिस्पंदित हुए बिना कैसे रह सकता है?

असल में
खेती जुआ नहीं है
फिर भी
जीत-हार होती ही हैं

के. भुजंगराव नामक एक और 'नानी-कवि' ने भी किसानों की दुस्थिति पर दुख प्रकट करते हुए लिखा : *हल का इतिहास/ भूल गए—/ धरती के चेहरे से/ हँसी उड़ गई*

प्रकृति का चित्र लगनेवाली इस कविता में कवि पी. नरसिंह राव ने पेड़-पौधों के प्रति बढ़ती उपेक्षा की ओर ही इशारा किया है : *सूखे पेड़ पर/ तोते आ बैठे/ ऐसा लगा/ अंकुर उग आए*

लकुमा नामक कवयित्री अपने साहित्य-प्रेम का वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में प्रस्तुत करती हैं : *गद्य पढ़कर/ पद्य पीती हूँ/ खाने की मेज़/ किताबों से भर गई*

पी. लक्ष्मणराव टूटते मानव-संबंधों को देखकर चिंतित हैं : *रक्त संबंध/ बने रिक्त संबंध/ संदेह नहीं/ धन ही कारण है*

पिछले साल तबाही मचानेवाली 'सुनामी' के प्रभाव को प्रत्यक्ष देखने के बाद मन में जो वेदना और आवेग का तूफ़ान उठा, उसी का नतीजा है टी. संपत कुमार की 'सुनामी नानीलु'। इस संग्रह में सौ 'नानीलु' हैं। संपत कुमार का कहना है कि इतने सारे देशों में जन-जीवन को तहस-नहस करनेवाली इस 'सुनामी' को 'कुनामी' कहना ही ठीक रहेगा। इस संग्रह की कुछ कविताएँ :

पैदा हुई कहीं
तेरह देश ध्वस्त किए
क्या हदों का
कोई अर्थ है?

तीन-चौथाई पृथ्वी तो
तेरी ही है!
फिर भी
क़ब्ज़ा करने आ गई?

खेतों पर
रेत के बिस्तर
मृत्यु-देवता!
उनपर लेटकर मर!

समुद्र-जल खारा है
आँसू भी हैं खारे
देश में
नमक की कमी नहीं

विभिन्न भाषाओं की साहित्यिक विधाओं में समय की माँग के अनुरूप परिवर्तन आते रहते हैं। कविता में यह परिवर्तन अत्यधिक देखा जाता है, शायद इसका कारण यह है कि कवि अधिक स्पंदनशील और भावुक होते हैं। कहा जाता है कि हिंदी साहित्य के दोहा-छंद में 'गागर में सागर भरने' का गुण होता है। वही बात तेलुगु की 'नानीलु' में भी देखी जा सकती है। वर्तमान जीवन की सभी समस्याएँ 'नानीलु' में प्रतिबिंबित हुई हैं, हो रही हैं। " 'नानीलु' को भारतीय साहित्य के मुक्तकों की श्रेणी में स्थान दिया जा सकता है", यह बात दिल्ली में 'नानीलु' का हिंदी अनुवाद 'नन्हे मुक्तक' के लोकार्पण के दौरान प्रसिद्ध कवियों ने कही थी। इस प्रकार 'नानीलु' को भारतीय साहित्य में एक प्रमुख स्थान दिया गया है।

सुषमा भटनागर

हिंदी साहित्य का अभिमन्यु : भुवनेश्वर

"वह जीवन से निबटारा कर चुका था। मौत उसे नहीं चाह थी, पर तब भी वह समय के मुँह पर थूक कर जीवित और किसी भली-बुरी राय की परवाह किए बिना वह कभी नहीं बोलता था और सत्य से दिखला देता था कि सत्य भी कि ऊसर और भयानक हो सकता है।"

ये पंक्तियाँ हैं अप्रैल, 1938 में *हंस* में प्रकाशित कह 'भेड़िए' की जिसके रचयिता हैं भुवनेश्वर। यह वही मोड़ है छायावाद का प्लेटॉनिक आदर्शवाद प्रगतिशील आंदोलन के यूरोपि यथार्थवाद में अंतरित हो रहा था। 1935 में लीडर प्रेस, प्रया इसी लेखक का बहुचर्चित एकांकी नाटक-संग्रह *कारवाँ* चुका था। इससे पहले *सप्तसरोज* नामक कहानी-संग्रह में भुवने की कहानी 'मौसी' संकलित हो चुकी थी। साहित्य के इतिहा लेखकों ने आगे चलकर भुवनेश्वर के साथ चाहे जो भी किया पर याद रखने योग्य बात है कि अपने इतिहास में आचार्य राम शुक्ल ने नाटक पर चर्चा करते हुए विशेष उल्लेख के रूप भुवनेश्वर के एकांकी *स्ट्राइक* का नाम लेना आवश्यक समझ

छायावादी युग के उत्कर्ष काल में एक साथ कहानी नाटक के क्षेत्र में उदित इस 'बाल पतंग' से यदि कुछ साहित्यकारों को पतंगे न लग गए होते तो हिंदी साहित्य रोमानियत की सूखी चाशनी की परतें कुछ कम जमती। 1935 अपने पहले नाटक-संग्रह *कारवाँ* के प्रकाशन के साथ भुवने एक अलग संदर्भ बिंदु की निशानदेही कर चुके थे। इस विलक्ष प्रतिभा की क़दर समझते हुए प्रेमचंद जी *हंस* में उन्हें लगा छापते रहे। उन पर आवारगी या बोहीमियन होने का दोषारो करने से पहले पराधीन भारत की समरोत्तर आर्थिक मंदी समझना अनिवार्य है जब गिरिजा कुमार माथुर जैसे मेधावी सुशि युवा कवि को अंग्रेज़ी में एम.ए. पास करने के बाद दिल्ली में रुपए पर क्लर्की करनी पड़ी।

प्रेमचंद जी की 125वीं जयंती वर्ष में और कुछ नहीं तो उन दृष्टि का मान करते हुए आज हमें फिर से भुवनेश्वर प्रसाद भुवनेश्वर उर्फ़ बी.पी. उर्फ़ हाड़ा के कृतित्व एवं व्यक्तित्व

समीक्षक एवं अनुवादक सुषमा भटनागर का जन्म 1951 में हुआ। *वेदना के नए आयाम*, *नई कविता में प्रेम-संबंध* इनकी प्रकाशित कृतियाँ हैं। संपर्क : एफ़-85, ग्रीन पार्क, नई दिल्ली 110016

पुनर्विचार करना चाहिए। बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में उत्तर प्रदेश के शाहजहाँपुर में एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार में जन्मे भुवनेश्वर प्रसाद श्रीवास्तव बाल्यावस्था से ही दुर्भाग्य से गहनियाए थे। शैशव में ही माँ का निधन, सौतेली माँ की उपेक्षा, किशोरावस्था में पिता का सौतेला व्यवहार, घोर आर्थिक संकट, पढ़ाई का बीच में छूट जाना, जीनियस होकर भी कोई उपयुक्त रोज़गार न मिल पाना आदि असंख्य अभिशाप भुवनेश्वर के सहचर रहे। छोटे से क़द का किशोर भुवनेश्वर विद्यार्थी जीवन में ही 'फ़िलॉसफ़र' नाम से जाना जाता। घर के बग्गीवान की सोहबत में बीड़ी की लत पड़ गई। बड़े होकर एक सिगरेट हाथ में पकड़े रहते, अकसर कश लेना भी भूल जाते, जिसे लोग बनावट मानते, 'पोज़' कहकर फब्ती कसते। बहरहाल, प्रयाग और लखनऊ में वे अपनी वाक्पटुता, हाज़िरजवाबी, अंग्रेज़ी-उर्दू साहित्य के गहन अध्ययन, विशेष रूप से अंग्रेज़ी के ज्ञान और अपने सुरीले गले के कारण मित्रमंडली पर छाए रहते। उनसे मिलकर पंत जी सरीखे अभिजात सुपंडित साहित्यकार समझ बैठते कि वे ऑक्सफ़ोर्ड से अंग्रेज़ी में एम.ए. पास करके आए हैं। आर्थिक कारणों से पराश्रित भुवनेश्वर पत्र-पत्रिकाओं से मिलने वाले पारिश्रमिक से गुज़ारा करते। कोई छोटी नौकरी उनकी आँख तले न आती और बड़ी नौकरी पाने की शैक्षणिक योग्यता उनके पास न थी। इस कशमकश ने उनके व्यक्तित्व में बहुत गाँठें पैदा कर दीं।

इसी जद्दोजहद में भुवनेश्वर गंभीर साहित्य लेखन आरंभ कर चुके थे। 1933 में उनके नाटकों की चर्चा शुरू हो चुकी थी। वे *हंस* में बराबर छप रहे थे। *सप्तसरोज* में संकलित उनकी कहानी 'मौसी' पर टिप्पणी करते हुए भूमिका में मुंशी प्रेमचंद ने जो लिखा वह भुवनेश्वर के लिए कितना साधक सिद्ध हुआ होगा, यह अनुमान लगाया जा सकता है—

"आपकी शैली जैनेंद्र के रास्ते पर चलती नज़र आती है। पर जैनेंद्र की भाषा की शिथिलता उसमें अनुपस्थित है।"

प्रेमचंद ने एक अन्य अवसर पर भुवनेश्वर और जैनेंद्र की इसी प्रकार तुलना की, जो उस माहौल में बहुत ही चौंकाने वाली घटना रही होगी। 1936 में 'अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' के अध्यक्षीय भाषण में केवल दो लेखकों का उल्लेख करते हुए मुंशी प्रेमचंद ने कहा था, "यदि जैनेंद्र में दुरुहता और भुवनेश्वर में कटुता कम हो तो इसका भविष्य उज्ज्वल है।"

भुवनेश्वर के एकांकी नाटक लेखन के विषय में प्रेमचंद जी ने *हंस,* जून 35 में *कारवाँ* की समीक्षा करते हुए लिखा, "हमारे जीवन के गुप्त रहस्यों, प्रेम और भावुकता की आड़ में छिपे हुए मनोविकारों पर ऐसा निर्दय प्रकाश डाला है कि उनकी ओर ताकते हुए डर लगता है।"

हिंदी साहित्य का यह दुर्भाग्य रहा है कि हम मरणोपरांत श्रद्धा-सुमन अर्पित किया करते हैं, परंतु जीवनकाल में यदि किसी बैनर तले कोई साहित्यकार न हो तो कोई सुव्यवस्थित चर्चा नहीं हो पाती, तिस पर रचनाकार कुछ दबंग हो और लकीर का फ़क़ीर न हो तो संभावनाएँ और धुँधला जाती हैं। भुवनेश्वर इसी पंगत के अभागे जीनियस थे। आगे चलकर उन्हें 'हिंदी-एकांकी का जनक', 'हिंदी एकांकी का इब्सन', 'विश्व में एबसर्ड नाटक का प्रस्तोता' माना गया परंतु जब तक उनके दम में दम रहा, भयमिश्रित ईर्ष्यावश उनकी भरपूर उपेक्षा हुई। डॉ. सुरेश अवस्थी ने बेलाग होकर लिखा—"प्रेमचंद अगर प्रश्रय न देते तो हिंदी वाले तो उन्हें खा गए थे।"

वक़्त से पहले साहित्य की डगर पर शिला को फोड़कर उग आने वाले 'पाषाण बेध' भुवनेश्वर 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' के ज़माने में स्त्री-पुरुष संबंध विषयक 'श्यामा : एक वैवाहिक विडंबना' (1933) और शैतान

(पतित) (1934) जैसे नाट्य-प्रयोग कर रहे थे। जब स्वयं प्रेमचंद *गोदान* में मेहता और मालती के ब्याज से स्त्री-पुरुष संबंध की उलझन सुलझा रहे थे तब भुवनेश्वर इस प्रसंग में बहुत बेबाक टिप्पणियाँ पेश कर रहे थे—

"तुम मुझसे प्रेम भी करते हो और उस पुरुष से ईर्ष्यालु भी नहीं हो, जिसको प्रेम करना किसी भी स्त्री के लिए इतना सरल और नैसर्गिक है, जैसे वसंत के आगमन पर प्रातः समीर में कलिका का खिलना। क्या तुम्हारे हृदय की भावनाएँ और वासनाएँ शरीर से विलग हैं?" *(श्यामा : एक वैवाहिक विडंबना)*

इसे भाग्य की विडंबना कहा जाए या ज़माने का सितम कि वे समय से पहले पैदा होकर बहुत आगे तक का रास्ता तय कर रहे थे। उन दिनों पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव को अंग्रेज़ी का भावानुवाद कहकर ख़ारिज कर दिया जाता था। ये वे दिन थे जब साहित्य को निजी जीवन के छलनों में छाना जाता था। परतंत्र भारत में स्वदेशी की लहर के उत्साह में साहित्य में भी 'पिकेटिंग' जैसी फ़ज़ा छाई हुई थी। शॉ अथवा ऑस्कर वाइल्ड की विदेशी मानुस गंध पाते ही बेचैनी होने लगती थी। भुवनेश्वर के एकांकी-संग्रह *कारवाँ* का तत्काल नोटिस लेने वाले उदारचेता, मुंशी प्रेमचंद भी उनकी 'मौसी' कहानी पर टिप्पणी करते हुए इस पाश्चात्य प्रभाव को रेखांकित करना नहीं भूले थे—"भुवनेश्वर की रचनाओं में कला का आभास है। यद्यपि उन पर पाश्चात्य प्रभाव छिपा नहीं रह सका है।"

जैसा कि कहा जा चुका है उनका अपराध यही था कि वे ग़लत समय पर ठीक बात कर रहे थे। जिस हिंदी साहित्य ने आगे जाकर अकारवादी अकहानी आंदोलन और एंटी थियेटर को सिर माथे पर रखा वह इस प्रतिभा की चिनगारी को एक आँख न देख पाया। कृतित्व के साथ इसमें ख़ुद भुवनेश्वर की भी कुछ ऐसी करतूतें थीं जो उन्हें ले बैठीं।

प्रेमचंद जी का देहावसान होने पर उन्हों निराला जी पर एक लघु लेख लिखा जो *माधुरी* नवंबर 1936 में प्रकाशित हुआ। यह लेख 'सूर्यकांत त्रिपाठी निराला' शीर्षक से एक प्रतिक्रिया मात्र था। इसे अंतिम दो वाक्यों से पढ़ना शुरू किया जाए तो ये उद्गार प्रेमचंद जी की स्मृति से उद्भूत उच्छवास ही थे—"कथाकार की हैसियत से निराला गंभीर विवेचन का पात्र है, यह मैं नहीं मानता। उसका दावा है कि उसने प्रेमचंद से आगे क़दम बढ़ाया है, यह मैं नहीं मानता, प्रेमचंद जी की महत्ता या तुच्छता को बिना घसीटे हुए।"

एक युवा संग्रामरत प्रतिभा की यह आचार मुद्रा निराला जी सह न पाए। उन्होंने अपने स्कॉल मित्र डॉ. रामविलास शर्मा को पत्र लिखकर उनका आह्वान किया कि वे इस दुस्साहस का मुँह तोड़ उत्तर दें। इससे पहले उन्होंने *माधुरी* के संपादक पं. रूपनारायण पांडेय जी को एक भविष्यवाणी भरा पत्र लिख भेजा क्योंकि लेख के भावी प्रकाशन की सूचना वे प्राप्त कर चुके थे। स्वयं 'निराला' के शब्दों में—"मैंने पांडेय जी को विस्तार से लिख दिया कि मुझे विश्वास नहीं, भुवनेश्वर प्रसाद मेरे संबंध में सही-सही लिखेंगे। (अगर वह व्यक्तिगत है, आलोचना नहीं) और भुवनेश्वर प्रसाद की मुझसे कोई बातचीत तब तक नहीं हो सकती जब तक कि वे अट्ठारह साल की उम्र में एम.ए. पास करके आई.सी.एस. की परीक्षा में चुने जाने की पूरी योग्यता रखते हुए भी उसे छोड़कर हिंदी-सेवा के विचार से आए हुए हों। मैंने यह भी लिख दिया कि मैं आपकी स्वाधीन वृत्ति पर दबाव नहीं छोड़ता। आप चाहें तो छाप सकते हैं। परंतु इसका भविष्य आप ही के हाथों (मेरा उत्तर *माधुरी* में छपने पर) से भुवनेश्वर प्रसाद के लिए अत्यंत अहितकर होगा। वे साहित्य में दाखिल होकर शायद ही फिर उभर सकें।" लगे हाथों निराला जी ने अपने दो मित्र-प्रशंसकों से

टिप्पणियाँ भी लिखवा लीं और स्वयं भी एक करारा उत्तर रसीद किया जो *माधुरी* में विधिवत छपे। पं. वाचस्पति पाठक ने भविष्यकथन करते हुए अपनी 'संपुष्टि-2' में लिखा—''विदेशी लेखकों के नाम केवल अपने दंभपूर्ण महाज्ञान की विज्ञप्ति उसकी साहित्यिक साधना है।...मेरी समझ में केवल, विदेशी लेखकों के नाम रखकर कुछ कर सकेगा, कोरी विडंबना है।'' पं. बलभद्र मिश्र ने अपनी 'संपुष्टि-2' में भुवनेश्वर के कुछ संस्मरण देकर 'संपुष्टि-2' की राय को दोहराया—''उन्होंने अंग्रेज़ी, फ्रेंच, रूसी आदि साहित्य के ग्रंथों तथा साहित्यिकों के नाम याद कर लिए हैं और उसी आधार पर वे उन सबके असाधारण पांडित्य का दावा करते हैं।''

यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि अंग्रेज़ी साहित्य के रसज्ञ विद्वानों का इस बारे में बिलकुल भिन्न मत रहा। डॉ. प्रभाकर माचवे और गिरिजा कुमार माथुर उनके अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य के ज्ञान पर प्रायः मुग्ध थे। बहरहाल, इस माधुरी प्रकरण का यवनिका-पात होने से पहले स्वयं भुवनेश्वर ने अपनी सफ़ाई में एक पत्र लिखा, जिसमें डींग हाँकने की अपनी अभिवृत्ति को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार भी किया—

''रही एम.ए. और आई.सी.एस. का फ़रेब, मैं अपराधी प्ली करता हूँ, कर चुका हूँ कई बार। परिस्थितियाँ बलवती मनुष्य से इससे भी जघन्य काम करवाती हैं। मुझसे करवा चुकी हैं। इन्हें एक संग्राम करते हुए कलाकार पर दाग़ लगाने के लिए प्रयोग करना हल्कापन है। ख़ैर, अगर इस बात से जन्म भर के लिए मैं 'टैबू' किया जा सकता हूँ तो मेरी बला इसकी परवाह करे।''

उत्तर का मस्तमौला लहजा चाहे कुछ भी कहे भुवनेश्वर इस प्रकरण से घबरा उठे थे अन्यथा लिखकर अपनी कल्पनाओं के लिए क्षमा-याचना करनेवाला वह व्यक्तित्व न था। उधर साहित्य में परतंत्र भारत की मानसिकता काम कर रही थी। लोकतांत्रिक ढंग से विरोध को सहने का माद्दा नहीं के बराबर था। व्यक्ति-पूजा और अंध-भक्ति का बोलबाला था। 'जेनरेशन गैप' जैसे मुहावरे अभी प्रचलित नहीं हुए थे। भुवनेश्वर की यह अति-साहसिकता उनके लिए बहुत घातक सिद्ध हुई। उनके बालसखा श्याम सिंह सेठ बताते हैं—''भुवनेश्वर के ख़िलाफ़ एक शीत युद्ध चल रहा था। पत्र-पत्रिकाएँ उनकी लगातार उपेक्षा करने लगी थीं। साहित्यिक संगोष्ठियों आदि में भी वे बहिष्कृत कर दिए गए थे। विपन्नता के कारण वे पूरी तरह अपने मित्रों पर आश्रित थे क्योंकि जो थोड़ी-बहुत आमदनी पत्र-पत्रिकाओं से होती थी वह भी बंद हो गई थी।''

प्रेमचंद के बाद भी भुवनेश्वर की कृतियाँ *हंस* में छपती रहीं लेकिन एक गहरा अवसाद उन्हें घेरने लगा। वे उत्पीड़न ग्रंथि के शिकार हो गए। मित्रों से कहते कि उन्हें समझा नहीं गया, सराहा नहीं गया। उनके अनेक समकालीन समानधर्मा समरोत्तर मंदी की विभीषिका से जूझ रहे थे परंतु इतना अव्यवस्थित जीवन व्यतीत नहीं करते थे। मन:विक्षेप, शाहजहाँ के रात की रात सफ़ेद हो जाने वाले सिर के बाल जैसी स्थिति नहीं हुआ करती। वर्षों के अभावों ने भुवनेश्वर को अनिकेतन यायावर बना दिया। वे न अपने परिवार में निभ सके और न किसी मित्र के परिवार के साथ रह सके। कॉफ़ी हाउस या किसी हॉस्टेल के कमरे में दिन, तो रातें ख़ाली रेल के डिब्बों या फ़ुटपाथों पर बीतने लगीं। लोग उनसे कतराने लगे। इस मारक वातावरण में ही भुवनेश्वर ने अपनी आधी से अधिक कृतियों की रचना की। उनके एकांकी *ताँबे के कीड़े* (1946) को विपिन कुमार अग्रवाल ने विश्व का पहला एबसर्ड नाटक सिद्ध किया तो डॉ. प्रभाकर माचवे ने उसे सररियलिस्ट एकांकी की श्रेणी में रखा। डॉ. बच्चन सिंह ने इसे 'एंटी थिएटर' का प्रस्थान-बिंदु माना।

इसी जद्दोजहद में जब तक दिमाग़ ने साथ दिया, वे लिखते रहे। उनके सदय मित्र गिरिजा कुमार माथुर उनसे लखनऊ रेडियो के लिए रूपक आदि लिखवा लेते, परंतु धीरे-धीरे दिल और दिमाग़ का संतुलन गड़बड़ा रहा था। 1946 में प्रकाशित उनसे युगप्रवर्तक नाटक 'ताँबे के कीड़े' की एकमात्र अनाउंसर जो कहती है वह वस्तुतः उनका अपना आत्मविश्लेषण था। विक्षेप के बीहड़ में खो जाने से पहले वे अपनी मनोदशा भाँप रहे थे, "मेरी समझ में इस नाटक का लेखक न्यूरॉटिक है। हमें जो रुचता नहीं, हमारे विचारों के साँचे में जो अँटता नहीं, उसे हम न्यूरॉसिस ने कहें तो क्या कहें!"

भुवनेश्वर के समकालीन बताते हैं कि अंतिम वर्षों में पूरी तरह टूट जाने के बाद वे छतरी की एक अकेली तीली थामे रहते थे, मानो ख़ुद उनका ही बनाया गया डूडल्स शैली का रेखाचित्र हो। 'भरोसे की छतरी' नहीं भीतर तक तोड़ देने वाले किसी कल्पित साये की आधी-अधूरी निशानी। अपने मैले-कुचैले कपड़ों और उससे भी ज़्यादा वर्षों से स्नान को तरसती उनकी काया कहीं भिखारियों के टोले में अंततः शांत हो गई, जिसके विषय में अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं।

उनका दोष या दूषण यही था कि वे रेल की पटरी पर बैठकर रेल के इंजन का चित्र बनाते रहे। इस बात से बेख़बर कि कोई असली इंजन शंटिंग करता हुआ उन्हें कुचल न दे। ड्राइंगरूम में बैठकर इंजन की तस्वीर बनाने वालों के गोल ने इस दुस्साहसी जीव को एक ख़तरा समझा और उसकी इस हद तक उपेक्षा की कि वह जानते-बूझते मानो धड़धड़ाते इंजन के पहियों के नीचे लेट गया। वह रेलवे लाइन लखनऊ की हो या इलाहाबाद या फिर बनारस, इससे क्या फ़र्क़ पड़ता है?

जीवन की शुरुआत एक गहरे किताबी आदर्शवाद से करके भुवनेश्वर को ज़िंदगी की ठोकरों ने सिनिक बना दिया। आदर्श का मखौल उड़ाकर उन्होंने उसे बेतुके यथार्थ में बदल दिया। मानव संबंधों में अपेक्षित सदाशयता न पाकर दूसरे सीमांत पर पहुँच गए और केवल उसके खोखलेपन को रेखांकित करते रहे। उन्होंने आरोपित तर्क की तुलना में जीवन में व्याप्त बेतुकेपन का वरण किया।

भुवनेश्वर का हिंदी साहित्य से यों अंतर्धान हो जाना हिंदी साहित्य, विशेष रूप से हिंदी नाटक और कहानी के लिए बहुत बड़ा अभिशाप सिद्ध हुआ। भुवनेश्वर का अपने में खो जाना हिंदी साहित्य की धारा को कहीं से कहीं ले गया। चौथे-पाँचवे दशक में असंगत नाटक और एंटी थिएटर का बिरवा लगाने वाला यह उद्भ्रांत जीनियस नाट्येतिहास के रंगोत्सव का नेपथ्य-राग बनकर रह गया। उनके कुछ साहित्यकार मित्रों ने इस त्रासदी को समझते हुए उसके कारकों पर खुलकर बात की। अंचल जी लिखते हैं—"भुवनेश्वर के साथ हिंदी का कितना अंश क्या मर गया था, यह सोचने की बात कभी किसी ने अनुभव की नहीं। यों उनके जीवन काल में ही हिंदी नाटक का एक जीवित जानदार बड़ा हिस्सा दम तोड़ चला था पर आज की दुनिया में कितने ही मृत, अर्द्धमृत बड़ी शान से जिए जा रहे हैं। पेशेवर एकांकीकारों ने भुवनेश्वर को भुलवाने में ही अपनी ज़िंदगी और बेहतरी देखी।" *(भुवनेश्वर एक उचटती याद)*

कला कला के लिए अथवा कला जीवन के लिए के 'ययौ न तस्यौ' वाले गतिरोध में वे इन दोनों ही पक्षों से विरत होकर अपनी धुन में बढ़ते चले जा रहे थे। छायावादी कुहासे से अप्रभावित उनकी संवेदना का आग्रह था—'जीवन एक लजीली मुस्कान है, कला एक शुष्क हास्य।' *(कारवाँ, 1935)*

उनके छोटे-छोटे नाट्य प्रयोगों ने अवचेतन संसार के अंतर्द्वंद्व के सुरों पर हाथ रखकर अवरुद्ध स्थितियों में एक नई झंकार पैदा की। 'रोमांस : रोमांच' जैसे शीर्षक बताते हैं कि अपने युग के

सीधे सपाट इतिवृत्त शैली के 'मौन करुणा' के आकांक्षी नाटकों से उनके लघु नाटक कितने भिन्न थे।

मानव-स्वभाव की कमियों और अधूरेपन को कोरी आँख से देखकर उसे साहित्य के आईने में उतारकर उसकी चौंध से उन्होंने ज़माने को चुँधियाकर रख दिया था। इस चौंध को उन्होंने किसी वाद से डायल्यूट नहीं किया और न ही उसकी 'उग्र' शैली में पैकेजिंग की। उनके नाटक 'ऊसर' का एक पात्र कहता है—"तुम अपने सोशलिज़्म-ओशलिज़्म के जोश में शायद यह समझ बैठे हो कि ज़िंदगी का गहरे से गहरा मतलब तुम्हारे लिए साफ़ हो गया है। जैसे कोई बड़ा सरकश घोड़ा तुम्हारे क़ाबू में आ गया है, पर ज़िंदगी अगर इस तरह लटके और फ़ॉर्मूलों में बाँधी जा सकती तो कब की ख़त्म हो जाती..."

भारतीय संदर्भ में प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध की छाया में तेज़ी से बदलते राजनैतिक समीकरणों में घटती हुई रोटियों और उठते हुए पर्दों के निहित संबंध को समझकर उन्होंने 'एक साम्यहीन साम्यवादी' जैसे नाट्य रूप लिखे। किसी एक विचारधारा को रामबाण न मानते हुए ख़ाली तूणीरों के खोखलेपन को उद्घाटित किया।

अपने नाटक 'आज़ादी की नींद' में ही इस पहरुए ने 1948 में ही स्वातंत्र्योत्तर युग की पोल खोलकर रख दी थी। ऐसी दूरदृष्टि से उद्दीप्त मोहभंग अभूतपूर्व था—"आज़ादी विशेषज्ञों की चीज़, न जनता की, न देश की। कवियों की बनाई आज़ादी किस काम की है? अगर आप समझदार हैं और विशेषज्ञ की राय मानेंगे तो आज़ादी सिर्फ़ एक ख़बर है। सड़कों की भीड़ में घिसटती हुई ख़बर, इससे ज़्यादा कुछ नहीं।"

इससे कहीं पहले फैलते हुए सिक्के और घटते हुए जीवन मूल्यों के युग में भुवनेश्वर ने एक लघु नाटक लिखा, जो हिंदी नाटक के लिए एक अनजानी राह थी। भुवनेश्वर पर पाश्चात्य प्रभाव की तोहमत लगाने वाले खोजी साहित्यकार भी इस नाटक को फिरंगी सिद्ध न कर पाए। 1946 में हंस के नवंबर अंक में प्रकाशित इस नाटक का शीर्षक ही मानो एंटी थिएटर की पहली घंटी थी, 'ताँबे के कीड़े'। आपाततः तर्कहीन असंबद्ध संवादों के जमघट में आधुनिक जीवन की विसंगतियों को उद्घाटित करने वाला यह प्रयोग आधुनिक नाटककारों के लिए एक चुनौती बनकर आया। 'ऊनी बादलों' में रहने वाली प्रेयसी को चाहने वाले 'मसरूफ़ पति' की एक 'पागल आया' एक सूटर (स्वेटर) लिए भटका करती है। उधर 'मसरूफ़ पति' की 'परेशान रमणी' अर्थात् उसकी पत्नी आया की खोज का निहितार्थ समझती हुई भी उसे नज़रअंदाज़ करती है। उसे यह भी दुख है कि उसका 'मसरूफ़ पति' उसके बादलों में रहने के बारे में कभी क्यों नहीं सोचता।

'एक आवाज़' इस दुविधा को और गहरा कर देती है—एक आवाज़ : हमारी सबसे ईजाद काँच के सूटर। इनको सिर्फ़ ताँबे के कीड़े खा सकते हैं। (कुछ रुककर) हमारी इससे भी ताज़ी ईजाद ताँबे के कीड़े। यह बुलाने से बोलते और हँसते हैं...ताँबे के कीड़े।

इस नाटक को हम असंगत नाटक की श्रेणी में रखें अथवा सररियालिस्ट कोटि में, सार रूप में यह आने वाले युग का सुराग़ था। यही कारण है कि अतीतमोहासक्त युग में उसकी क़दर नहीं हुई। अलबत्ता बाद में विपिन कुमार अग्रवाल ने पूरे विश्वास के साथ साक्ष्य देकर भुवनेश्वर के इस नाटक का स्थान निर्धारित किया—"भुवनेश्वर का 'ताँबे के कीड़े' 1946 में आया, जेने का 'द मेडस' पेरिस में 1947 में खेला गया, आयनेस्को का वाल्ह प्रिमीडोना 1950 में मंच पर आया और बैकेट का 'वेटिंग फ़ॉर गोदों' 1952 में।"

भुवनेश्वर ने जिस नाट्य एकांकी में प्राण-प्रतिष्ठा कर उसे प्रहसन की श्रेणी से निकालकर रूपक का दर्जा दिया, उसी विधा में उनकी कोई

ख़ास क़दर नहीं हुई तो कहानी और समीक्षा के बारे में तो कुछ कहना व्यर्थ ही है। हिंदी कहानी की सीमाओं और संभावनाओं की पैमाइश करते हुए उनकी कहानियों का कोई नामलेवा नहीं हुआ। 'भेड़िए' जैसा ठंठा यथार्थवाद अज्ञेय की 'गैंग्रीन' से आगे ही ठहरेगा, पीछे नहीं। 'मौसी' की बखिया उधेड़ती यथार्थ स्थितियाँ 'भाभीवाद' के कोहरे से पूरी तरह मुक्त थीं और 'माँ-बेटे' की बेलाग सच्चाई के सामने मनोविज्ञान के ठप्पों पर गढ़ी हुई कहानियाँ काफ़ी पिछड़ी हुई प्रतीत हो रही थीं। साठ के दशक में कहानी-अकहानी आंदोलन के ध्वज तले जिस ऊब, अकेलेपन, व्यर्थताबोध और आत्म-निर्वासन की क़दमताल हुई उसकी अकुंठ अभिव्यक्ति स्वतंत्रता मिलने से बहुत पहले भुवनेश्वर अपनी कहानी 'सूर्यपूजा' में कुछ इस तरह कर रहे थे—"यह तो नरक है डॉक्टर, नरक। यह मुर्दों की बस्ती है। यह भरा-पूरा शहर मुर्दों की बस्ती है...बाज मरतबा तो मैं सोचने लगता हूँ कि यह बिलकुल ख़ाली है—यह शहर है ही नहीं, यह कोई प्रेत है? डॉक्टर क्या यह मुमकिन है कि मनहूस शहर में हज़ारों हज़ार आदमी सिर्फ़ खाने-पीने और सोने के लिए ज़िंदा हैं। ...थोड़े-से क्लर्क, दुकानदार, दलाल और अफ़सर हैं, बिलकुल वैसे ही। यह उतनी डुप्लीकेट कॉपियाँ क्यों हैं, जब ख़ुद असल ही इतना ज़लील है।"

उधर प्रगतिवादी खेमे में भी 'भेड़िए' जैसी विलक्षण कहानी ढूँढ़े नहीं मिलती। नायक खा का भेड़ियों का हमला होने पर अपनी रक्षा करने के लिए नटनियों (स्त्री) को एक वस्तु की भाँति भेड़ियों के आगे फेंक देना, स्त्री की सामाजिक स्थिति की अनुपम व्याख्या है। इस कहानी की निपट निस्संगता इसे विशिष्ट बनाती है। अप युग के आदर्श और यथार्थ की रस्साक़शी से अलग यह निराली कहानी है, जिसे डॉ. शुकदे सिंह हिंदी की पहली आधुनिक कहानी मान हैं। उनकी सभी कहानियों में मानव-संबंधों की यही ऊबड़-खाबड़ डगर अपनाई गई थी। खे की बात है कि कहानी और अकहानी आंदोल के पुरस्थापक और विशेषज्ञों ने इस महत्त्वपू मोड़ को ठीक उसी तरह भुला दिया जिस तर एंटी-थिएटर के उन्नायकों ने असंगत नाटक के जनक भुवनेश्वर को। इसी क्रम में अंतिम व में लिखे उनके महत्त्वपूर्ण हिंदी-अंग्रेज़ी नाट प्रयोग अदृश्य हो गए और उनकी अंग्रेज़ी कविता और अनगिनत रेखाचित्र साहित्यिक मित्रों के निजी संग्रहों के पिरामिडों में दफ़न होकर उन की अंग्रेज़ी कविताओं का शीर्षक बनकर र गए—'वर्ड्स ऑव पैसेज'। दूसरे शब्दों में उ पक्षियों जैसी अनित्य रचनाएँ जो ख़ास रुत के बाद दिखाई नहीं देतीं।
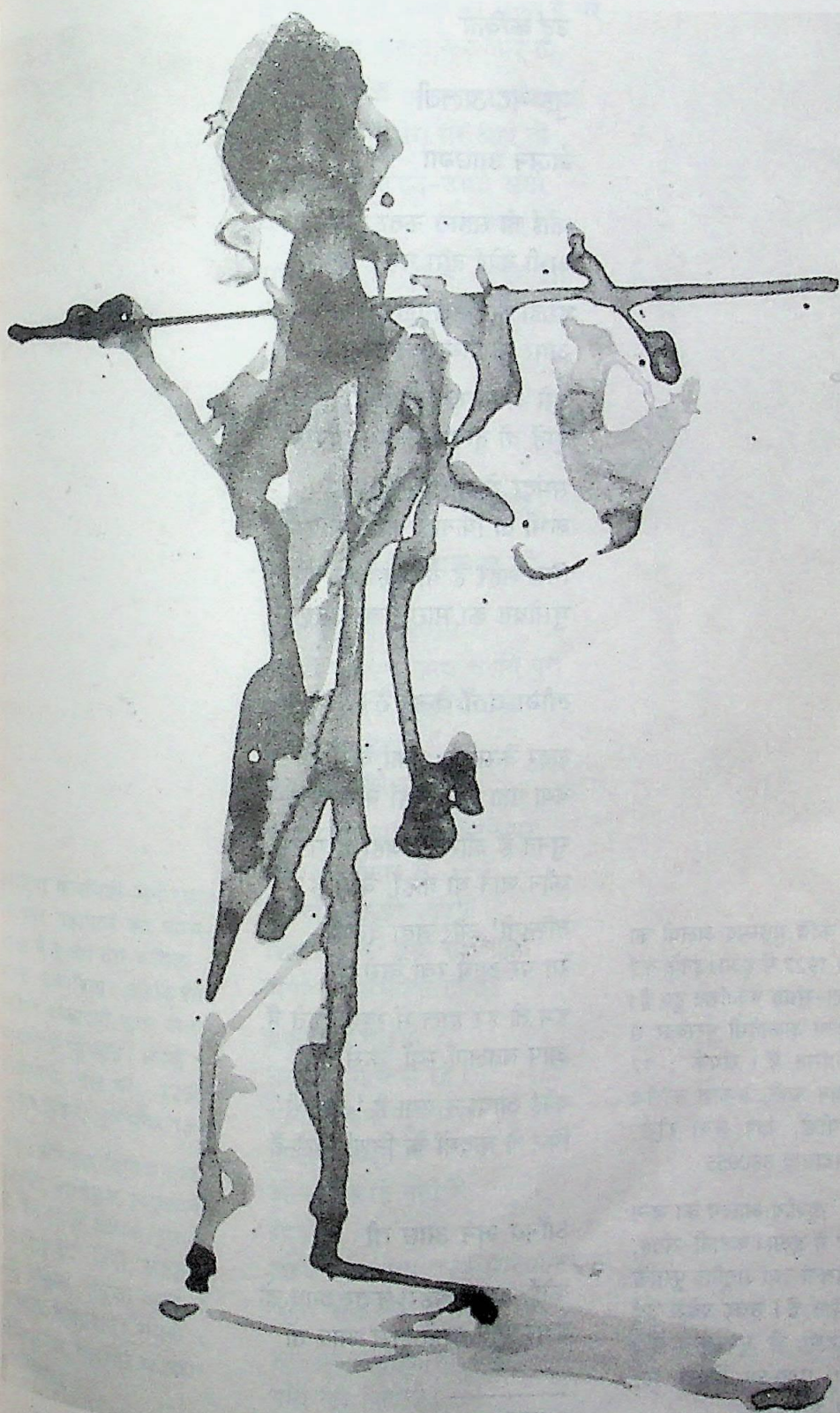
उर्दू कविता

मुहम्मद अलवी

नज़र आएगा

कोई तो सहारा नज़र आएगा
अभी कोई तारा नज़र आएगा

इरादा है उससे लिपट जाऊँगा
अगर वो दोबारा नज़र आएगा

उसे अपने ख़्वाबों में देखा करो
तुम्हें वो तुम्हारा नज़र आएगा

समंदर से यारी बढ़ाते रहो
कभी तो किनारा नज़र आएगा

मिरा शहर है ये, यहाँ हर कोई
मुसीबत का मारा नज़र आएगा

लोग वहाँ कैसे हैं!

शहर कैसा है, मकां कैसे हैं
क्या पता लोग वहाँ कैसे हैं!

सुनते हैं और भी जहाँ हैं मगर
कौन जाने वो कहाँ, कैसे हैं

तश्निगी[1] और बढ़ा देते हैं
रेत पर आबे रवां कैसे हैं

हम तो हर हाल में ख़ुश रहते हैं
आप बतलाएँ म्याँ, कैसे हैं

कोई आया न गया है 'अलवी'
फिर ये क़दमों के निशां कैसे हैं

आँख भर आए तो

कोई अच्छा चेहरा नज़र आए तो
उधर जाते-जाते इधर आए तो

1. प्यास

उर्दू कवि मुहम्मद अलवी का जन्म 1927 में हुआ। इनके कई ग़ज़ल-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित हैं। संपर्क : 17 यूनियन पार्क, प्रकाश कॉलेज के पीछे, खर तेज़ रोड, अहमदाबाद 380055

अनु. ख़ुर्शीद आलम का जन्म 1957 में हुआ। कहानी-संग्रह, आलोचना तथा अनूदित पुस्तकें प्रकाशित हैं। उत्तर प्रदेश उर्दू अकादमी से पुरस्कृत हैं। संपर्क : एफ़-58, सेक्टर-40, नोएडा 201301

ये दिल यूँ तो बच्चों का बच्चा है पर
गुनाह कोई संगीन कर आए तो

चला तो हूँ मैं अपना घर छोड़कर
मगर साथ में मेरा घर आए तो

कबूतर तेरा उड़ते-उड़ते अगर
मेरी टूटी छत पर उतर आए तो

सबब हो तो रोना भी अच्छा लगे
मगर बेसबब आँख भर आए तो।

ओड़िया

मनोरमा विश्वाल महापात्र

कब लौटोगे बनवास से

कब लौटोगे बनवास से
लौटने पर एक साथ चलेंगे पुरी
कई दिन हुए सूर्योदय देखे
एक साथ देखेंगे...
सूर्योदय और सूर्यास्त।

तुम्हारे बनवास से लौटने पर
गाँव के पोखर से
मछली पकड़ी जाएगी।
शिव जी का एक सौ आठ
चंपा से अभिषेक होगा।

एकांत में पूछूँगी
बनवास में कैसे रहे।
माया रावण, सूर्पनखा
तुम्हारे सामने
अंकित करते नहीं थे
इंद्रधनुष ?
आज बेहद चुप-चुप-से लग रहे हो
चलो गाँव लौट चलें।

भरे-पूरे मधुछत्ते की तरह
गाँव की ज़िंदगी।

ओड़िया कवयित्री मनोरमा विश्वाल महापात्र का जन्म 1948 में हुआ। दस कविता-संग्रह प्रकाशित। ओड़िशा साहित्य अकादमी तथा अन्य संस्थानों से पुरस्कृत। संपर्क : प्रीतमपुरी, एल.बी.-125, आचार्य विहार, भुवनेश्वर 13

अनु. : श्रीनिवास उद्गाता कवि, कथाकार, आलोचक, अनुवादक हैं। डेढ़ सौ से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हैं। हिंदी, संस्कृत, उर्दू, बाङ्ला, अंग्रेज़ी आदि में अनुवाद प्रकाशित। संपर्क : कवि कुटीर, बलांगीर 767001 (ओड़िशा)

कहो,
कब लौटोगे बनवास से ?

कवि कह पुकार कर

कवि कह पुकार कर
मुग्ध कर दिया
कवि कह कर मेरे भीतर की
नाजुक भावनाओं को
छू दिया तुमने तो
सारे अनुभव मेरे
सुगंधित हो उठे आवेग से।

तारों से भरपूर आकाश को
ताकती रही
अपलक आँखों से
कविता लिखना
और कवि की तरह जीना
दो अलग बातें हैं।
कभी ख़ून से तरबतर तो
कभी मधु से सराबोर।

अनंत समय से
मैं लगी हूँ
शब्द के खेल में
कि कहीं कभी
शब्द की प्रतिमा एक
हो जाएगी चित्रित
मेरी चेतना में।

मैं तो एक आवेग-परिपूर्ण वृक्ष हूँ
कभी
फूल-पत्ते एकाकार तो
कभी लोतक और लहू।

फिर भी जीवन भला लगता है
तब न दिखते हैं इतने सपने ?
रोना और रूठना
हो जाते एकाकार
एक ही बिंदु में।

मेरे उस निरीह अनुभव को
कैसे तुमने समझा कि
कवि कह के,
जैसे कोई सुन न पाए
पुकार धीरे से।

लौटने की बेला

लौटने की बेला आए तो
कौन किसे रोक सकता है?
तुम मुझे या मैं तुम्हें?
झिलमिलाते संसार की चाहत में
कभी विह्वलित हुई हूँ
कभी मुँह लटकाए बैठी हूँ अँधेरे में।

यह घर मेरा है
सोचते हुए भला लगा है बार-बार
गमले से सूखे पत्ते झाड़ते समय
यह मेरा घर है सोचते हुए
अच्छा लगा है बारंबार।

अलमारी में सहेजी किताबें
पढ़ाई की मेज़ पर रखी हुई चिट्ठियाँ
मैंने दुबारा पढ़ी हैं।
नरम उजाले में
बालकनी में बैठी रही हूँ
अकेली।
कभी मुँह लटकाए अँधेरे में
तो कभी उदासीनता से परेशान।

आज अचानक मेरे जाने की बात
कैसे जान गए कि रोक रहे हो
चलने की बेला आए तो
कौन रोक सकता है किसे
मैं तुम्हें या तुम मुझे?

पास नहीं होती

आजकल बेटी
पास होते हुए भी होती नहीं है पास।

अन्य किसी अरण्य में
किसी और टापू पर
चुपचाप बैठी हुई होती है
आदिमाता की भाँति।

कभी आग सेंकती होती है
तो कभी होती है
आग को गोद में लिए।
आजकल बेटी
पास होते हुए भी नहीं होती है पास।

काफ़ी कुछ, दे नहीं पाई उसे
ऐश्वर्यमय शैशव
नाज़ुक बचपन।
पूजा की छुट्टियों में आएगी
लिखा है।
किसी सुदूर-प्रत्यय में
दूर होती जाएगी पूजा-छुट्टी...
आए तो देखेगी
उसके बचपन के दिन
मेरी छाती में
किस तरह दीए की भाँति
जल रहे हैं।

तू रोई तो

तू रोई तो
हरे धान के खेत से
पानी पीने वाली
माँ चिड़िया के
निःशब्द मन से ख़ून रिसेगा।
धरती के सारे अच्छे दिन
बन जाएँगे दुख के दिन।
माँ चिड़िया मुँह लटकाए
पेड़ पर सो जाएगी।

रो मत
रो मत लाड़ली मेरी, रो मत।

देख,
तेरे बग़ीचे में
बकुल की डाली पर
हल्दी वसंत दोनों
विभोर हैं
मधुचंद्रिका में।

प्यार का झरना
बहता जा रहा है
निरंतर
धरती में
तू रोई तो सपने सारे
मर जाएँगे मेरे मन के।

गुजराती

प्रवीण पंड्या

सूरज की माँ

सूरज की माँ ने
दिए थे उसे मिट्टी के सात घोड़े
जो हर रात
सपने में सच्चीमुच्ची के बनकर दौड़ते हैं
हालाँकि
कैसे हो सकते हैं सूरज के सात घोड़े?
इलेक्ट्रिक के फौलादी टावर में से
एक लाख बत्तीस हज़ार वॉल्ट्स की
हाइटेंशन पावरलाइन गुज़रती है
जिसके नीचे
भेड़ बकरियों के बाड़े वाला
गारे-मिट्टी का एक झोंपड़ा है
जिसमें सूरज की माँ रहती है।
वह तेरह साल की किशोरी है
जिसके पतले से पाँवों में
चाँदी के मोटे कड़े हैं
कोहनी तक हाथी दाँत के चूड़े हैं
और
सुनहरे बालों की माँग में से
माथे पर झूलता है बोर।
उसने अपने माप से बड़ी
हरियर-पीली बेल-बूटेदार
घाघरा-चोली पहनी है।
जो दौड़ते समय
हवा के कारण
परी के पँखों जैसी लगती है।
हाइवे से एक किलोमीटर पहले
शहर के अंदर एक छोर पर कहीं
उसका घर है।
मुझे भी कहाँ पता था
कि वह किशोरी

गुजराती कवि एवं नाटककार प्रवीण पंड्या का जन्म 1957 में हुआ। गुजराती साहित्य परिषद् और संगीत नाटक अकादमी से पुरस्कृत। संपर्क : एच-72, सचिन टावर्स श्यामल चार रास्ता सैटेलाइट, अहमदाबाद 380015 (गुज.) फ़ोन : 9426700943

अनु. हिंदी-गुजराती के परस्पर अनुवादक अख़्तर ख़ान का जन्म 1966 में हुआ। संपर्क : 25/2, ओल्ड म्युनि, स्टाफ़ क्वार्टर्स, आऊट साईड शाहपुर गेट, दूधेश्वर रोड, शाहीबाग, अहमदाबाद 380004 फ़ोन : 079-25632433

सूरज की माँ है!
रोज़ की मानिंद
एक बार अलस्सुबह
उस तरफ़ टहलने गया था
तब उस
हाइटेंशन पावरलाइन पर
मेरी नज़र पड़ी,
बाड़े में
बकरी के पिछले पाँवों के पास
वह पलथी मारकर
गोद में भगौना लेकर बैठी थी,
छोटे बच्चे की नींद जैसा आकाश था।
उसने दोनों हाथों से बकरी के थन दाबे
तब भगोने के बाहर
पूर्व दिशा में
छूटी दूध की धार
सूरज ने मुँह खोला
और जैसे ही दूध की धार
उसके मुँह में पड़ी
वह मुस्कुराया,
उस किशोरी के चेहरे पर
मैंने मातृत्व को मुस्काते देखा,
और मैंने उसे भाँप लिया
कि वह
सूरज की माँ है।
पूर्वज सूरज को प्रणाम करते
यह याद करके
मैंने हँसते हुए
सूरज की माँ को हाथ जोड़े
हालाँकि उसे
इस संबंध में कुछ पता ही न था!
इसके बाद
मैंने सहज ही
उसकी दिनचर्या का अध्ययन शुरू किया।
सुबह
वह बाँहों से चेहरे का पसीना
पोंछते-पोंछते

जब उपले पाथती है तब
सूरज उसके पलने में झूल रहा होता है,
फिर
वह हाइवे और शहर के बीच आए
अंदरूनी भाग में
हाथ में डंडा हिलाती
भेड़-बकरियों को लेकर निकल पड़ती।
भेड़-बकरियाँ हरी घास चरती हैं
सूरज ऊपर चढ़ता है
भेड़-बकरियाँ टेकरी पर चढ़कर
सूखी घास चरती हैं
सूरज ऊपर चढ़ता है
भेड़-बकरियाँ खेतों की मेड़ पर
दोनों पाँव टिकाकर
फूल-पत्ते, बेल-बूटे चरती हैं
सूरज ऊपर चढ़ता है,
दोपहर में सूरज की माँ
बबूल के पेड़ तले
बैठ जाती है
तने से टिककर,
और सूरज
पेड़ की धूप छाँही स्लेट पर
ककहरा-बारहखड़ी लिखता है।
मैं तो मानता था कि
सूरज पर दुनिया टिकी है
लेकिन
यह सब देखने के बाद
मेरी समझ में आया
कि सूरज टिका है घास-चारे पर
सूरज टिका है भेड़-बकरियों पर
सूरज टिका है पेड़ की धूप-छाँह पर
लिखे जाते ककहरे बारहखड़ी पर
सूरज टिका है
किशोर उम्र की माँ के पसीने पर
जो भेड़-बकरियाँ लेकर
निरंतर भटकती रहती है।
विशाल हाइवे पर

मौत की गति से हहराते हैं वाहन,
हाइवे के पास खाइयों में
कुचले हुए वाहनों के
पड़े होते हैं हाड़पिंजर,
पशुओं के शव दुर्गंध मारते हैं
मृत्यु की गंध से लिपटे हुए
विशाल हाइवे पर
मौत की गति से हहराते हैं वाहन।
कभी चारे के लिए भटकती
सूरज की माँ हाथ में डंडा थामे
काली विशाल सड़क के बीचों-बीच
खड़ी हो जाती है
उस समय वह
महिषासुर मर्दनी लगती है
क़तारबद्ध भेड़-बकरियाँ
मगरमच्छों से भरे समुद्र जैसा हाइवे
पार करती हैं।
सूरज भी उनके साथ-साथ
उस पार जाता है।
ट्रक के ड्राइवर पलभर वाहन रोककर
इस किशोरी को देख याद करते हैं अपना
घर-परिवार
सरकारी काफ़िले को अगर रुकना पड़े
तो लाल लाइट वाली चमचमाती मोटर
गाड़ियाँ
इस किशोरी के सामने तुच्छता से हॉर्न
बजाती हैं
मोटरगाड़ी से भेड़-बकरियों या सूरज की
रगड़ लग जाए
तो अंदर ए.सी. में बैठे महाशय क्रोधित
हो जाते हैं
उन्हें कहाँ पता है
कि यह
सूरज की माँ है!
उनके लिए तो यह किशोरी
एक कृषकाय परछाईं से बढ़कर और कुछ
नहीं

उनकी मोटरगाड़ी के काँच पर भी
काली फ़िल्म लगी होती है!
वापस लौटते समय
भेड़-बकरियाँ ऊधम मचाती हैं
और इधर-उधर भागने लगती हैं
सूरज भी उनमें शामिल हो जाता है
तभी सूरज की माँ
लपककर उन्हें समेट लेती है
डंडे से भेड़-बकरियों को सीधा कर देती है
सूरज के कान उमेठती है
सूरज का चेहरा तमतमा जाता है।
एक लाख बत्तीस हज़ार वॉल्ट्स वाली
हाईटेंशन पावरलाइन के नीचे
रात के घुप्प अँधेरे में
वह किशोर उम्र की औरत
खटिया पर ढेर होकर पड़ जाती है
सूरज
माँ के दिए मिट्टी के घोड़ों को
सपने में सचमुच रथ दौड़ाता है।
सारा संसार उसकी माँ को सम्मान की
नज़र से देखता है
सारा संसार उसकी माँ की जय-जयकार
करता है
सूरज
सपने में
पूरे संसार पर
अपने सिक्के की खनक सुनता है
और तभी
सूरज की माँ
अँधेरे में
खटिया के पास बोदे क़दम सुनती है!
एक लाख बत्तीस हज़ार वॉल्टस वाली
हाईटेंशन पावर लाइन
उसकी देह में उतर जाती है...
मैंने तो उसकी दिनचर्या ही देखी है
मनचर्या
कहाँ देख पाया हूँ!

एक दिन सवेरे
मैंने
उस रास्ते पर बड़ी चहल-पहल देखी!
मेरे क़रीब से ही सायरन बजाता
सरकारी काफ़िला निकला
समाज सेवकों की मोटर गाड़ियाँ धड़धड़ाती
उस ओर गईं
'प्रेस' लिखी मोटर गाड़ियाँ
उसी दिशा में दौड़ीं
साधु-संतों की मोटर गाड़ियाँ
फर्राटे से निकलीं
मुझे लगा कि
शायद ये लोग
सूरज की माँ को पहचान गए होंगे,
और उसका सम्मान करने जा रहे होंगे।
इलेक्ट्रिक टावर के पास
लोगों का सैलाब उमड़ा पड़ा था
धक्का-मुक्की में घुसकर देखा
सबसे आगे मंत्री महोदय खड़े थे
उन्हें घेरकर अधिकारियों की भीड़ खड़ी थी
समाज सेवक और साधु-संत खड़े थे
कैमरे से लैस पत्रकारों के झुंड खड़े थे
सबसे पीछे
थर-थर काँपते मनुष्यों की परछाईयाँ खड़ी थीं
मैं सबसे आगे बढ़ आया
और देखा तो
वहाँ सूरज की माँ का घर न था
बाड़ा भी न था
भेड़-बकरियाँ न थीं
सूरज की माँ भी न थी
चारों तरफ़
काले ढेर पड़े थे
चार्ली चेप्लिन जैसे कॉमेडी कर रहा हो
वैसे अधिकारी बोल रहे थे
कि
ये अनपढ़ गँवार लोग समझते ही नहीं
एक लाख बत्तीस हज़ार वॉल्ट्स वाली

हाइटेंशन पॉवर लाइन के नीचे
ग़ैरक़ानूनी ढंग से झुग्गी-झोंपड़ी डाल देते हैं।
मरने के बाद सरकार के लिए मुश्किलें
खड़ी करते हैं।
उन्होंने उसका पंचनामा किया
समाज सेवक और साधु-संत अफ़सोस व्यक्त
कर रहे थे
मंत्री महोदय
कैमरे के सामने
करुणा-भर हाथ जोड़ रहे थे
कैमरे वहाँ से पैन होकर
काले ढेरों पर स्टेडी हो रहे थे
चैनल के संवाददाता
हाथों में माइक थामे
पूरी घटना का वृत्तांत
बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत कर रहे थे
इनमें से किसी को भी यह पता न था
कि
इस हाइटेंशन पावरलाइन के नीचे झोंपड़ी
में
सूरज की माँ रहती थी।
मेरी बुद्धि जड़ हो गई
आँखों के सामने अँधेरा छा गया
जैसे अंधे के हाथ
टटोल-टटोलकर आवश्यक वस्तुएँ खोजते हैं
वैसी ही मेरी दृष्टि
काले ढेरों के बीच घूम रही थी
अचानक उससे कोई चीज़ टकराई।
वह कड़ा था
ग्रहण के समय
सूर्यकंकण दिखता है, वैसा कड़ा!
शायद सूरज की माँ
इस सूर्यकंकण में से सरक कर
चली गई होगी!
शायद

सुरेंद्र तिवारी

रंग अधूरे

आकाश में तो सिर्फ़ बादल ही बादल हैं। गहरे, काले, भूरे बरसते बादल। टकटकी बाँधे बादलों की ओर देखते रहने से बरसात थम तो जाएगी नहीं, ऊपर जितना पानी भर चुका है, नीचे गिरेगा ही। रुके भी तो कैसे? वहाँ कोई टूँटी तो लगी नहीं कि उसे घुमाएँ और पानी बंद हो गया। बौछारों को आज तक कोई रोक पाया है क्या? चेहरे पर असंतोष है, निराशा है, मुर्दनी रेखाएँ हैं, तो हैं, ऊपर जब इतना पानी है तो नीचे आँखों से दो-चार बूँदें अगर टपक भी जाएँ तो कौन देखता है?

कुछ घंटे पहले तक की तेज़ उजली धूप का रंग अभी तक आँखों में है, कितनी चहक थी मन में। चटकती धूप में काम करने की लगन, कुछ मूर्तियाँ एकदम तैयार हैं, एक-दो दिन धूप में रहेंगी तो पूरी तरह सूख जाएँगी, रंग चढ़ जाने लायक़। यह विश्वास था मन में कि मूर्तियाँ समय से तैयार हो जाएँगी। अब अचानक इस तरह जो सब कुछ बदल गया तो मन में पीड़ा होगी ही। सहना पड़ता है। समय बहुत कम है, इस कारण निराशा कुछ ज़्यादा ही घेर रही है। और इस निराशा को चुपचाप अपने अंदर समेटते हुए कभी-कभी सूनी-सूनी आँखों से आसमान की ओर देखना, कभी भीगी-भीगी आँखों से गीली ज़मीन को ताकना, कभी कुछ बड़बड़ाते-बुदबुदाते हुए इधर-उधर टहलना, कभी मन की सारी व्यथा को दोनों हथेलियों के बीच समेटते हुए ऊपर किसी अनजान शक्ति की ओर देखकर दोनों हाथों को जोड़ना। कातर, दीन, असहाय आँखों से पानी के सिवाय आसमान में और कुछ न देख पाना, और फिर एक बेचैनी के साथ कभी सामने खड़ी मूर्तियों को तो कभी पति या पत्नी के चेहरे को उदासीन भाव से ताकना।

काफ़ी देर से यही सब चल रहा था।

उसकी दृष्टि भटकते-भटकते ऊपर टँगे तिरपाल पर अटकी। तिरपाल की टपकन भी बढ़ गई थी। लगता था, तिरपाल के नीचे सब सुरक्षित है, अब यह असंभव दीख रहा था। उसने आगे बढ़ते हुए आवाज़ लगाई, "ज़रा दूसरी तरफ़ से पकड़ना थोड़ा और भीतर कर दें...लगता तो नहीं कि बच पाएगा अब कुछ...पकड़, ज़रा सँभल के पकड़ना, मिट्टी अभी गीली है।"

पति, जिसका नाम सुखमय था किंतु घर और बाहर सुखिया के नाम से जाना जाता था, चेहरे पर गहरी चिंता और निराशा लिए एक

सुरेंद्र तिवारी का जन्म 1948 में हुआ। कहानी, नाटक, उपन्यास आदि की कृतियाँ प्रकाशित हैं। अनुवादित एवं संपादित पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : बी-3/76, सेक्टर16, रोहिणी, दिल्ली 110085

मूर्ति के पास खड़ा होकर दूसरी तरफ़ पत्नी के आने का इंतज़ार करने लगा।

पत्नी, जिसका नाम ममता था और हर जगह ममता ही कही जाती थी, अभी आँखों पर हाथ रखे आसमान की ओर देख रही थी। पति की पुकार उस तक न पहुँची हो ऐसा तो था नहीं, सुना था उसने सब और मन ही मन उठूँ-उठूँ कर रही थी, उठ नहीं रही थी, उसी तरह बैठी रही। कुछ क्षणों की चुप्पी के बाद ही बोल सकी, ''क्या फ़ायदा?''

सुखिया मुड़कर क्षणभर ममता के चेहरे की ओर देखता रहा। तिरपाल के बीच भी कई छेद थे। बूँदें टपक रही थीं।

पास में पड़ी प्लास्टिक की कटी-फटी चादरों को उठाकर उसने दो-तीन तैयार मूर्तियों को ढँक दिया। एक-दो दिनों में ये सूख जाती तो ममता इनमें रंग भर देती। अब धूप कब निकलेगी? इस मौसम में हल्की-फुल्की बरसात तो हर साल होती है, पर इस तरह तेज़ और लगातार बरसात...दो घंटे तो हो ही गए होंगे...सड़कों पर इतना पानी भर आया है।

वह ममता के पास ही आ बैठा। ममता की पीठ पर भी बूँदें टपक रही थीं। साड़ी गीली हो गई थी। शायद भीतर ब्लाउज भी। उसका ध्यान उधर था ही नहीं। पति की निकटता महसूस कर बोली, ''पूजा सिर पर है, जो बयाना दे गए हैं, उन्हें तो समय पर चाहिए ही।''

जवाब था ही नहीं कुछ। मौन ही उत्तर था, वह मौन ही रहा।

''मैं आज एक-दो ढाँचे और तैयार कर लेता हूँ।'' कुछ देर बाद वह बोला।

''घर में भी तो जगह नहीं...एक कमरे में तो सारा सामान ठूँसा पड़ा है।''

''तू मिट्टी के लोंदे ही बना ले...बाहर मैंने बाल्टी रख दी है, बरसात का पानी जमा होगा उसमें।''

''अगर शिवा यहाँ होता...मैंने तो कहा था दिल्ली जा रहा है तो जा, पर कमरा खुला छोड़ जा—तुम कुछ बोले ही नहीं थे।''

''तू तो पगला गई है...जब बहू कमरा बंद कर रही थी, ताला लगा रही थी, मैंने कहा था, दो ही तो कमरे हैं, एक बंद हो गया तो... मानी ही कहाँ थीं! पता नहीं ऐसा क्या रखा उस कमरे में!''

''बाप के घर से कोई दान-दहेज़ भी तो न लाई थी।'' ममता के नथूने कुछ फूलने लगे। ''सिर्फ़ अधिकार! अपना अधिकार नहीं छोड़ चाहती थी उस कमरे पर। बेटे को फुसलाकर गई। नासपीटा, वह भी कैसे कहने लगा, कलकत्ते में अब काम-धंधा है ही कहाँ माँ इतना कंपिटीशन है। दिल्ली में कोई ख़ाली नहीं बैठ नौकरी मिल जाएगी, फिर मूर्तियाँ भी बनाऊँ सुना है, वहाँ भी दुर्गा-पूजा होती है, बंगा बहुत है न! दोहरी इनकम हो जाएगी मेरी। तुम लोगों को भी कुछ रुपए भेज दिया करूँ ठाठ से रहना तुम लोग। यही कहा था न? का ग़ुलाम। माँ-बाप उसके लिए कुछ रहे नहीं। दूसरा कमरा खुला होता तो उसमें मूर्ति रख देते।''

''अरे जब बच्चे उड़ना सीख जाएँ... जाएँ...तो चिंता नहीं करनी चाहिए। भगवा उनका भला करे।'' कहा उसने, परंतु मन एक हूक भी उठी। उसने कोशिश की समझाया भी था बेटे को, इस तरह अपना पुश्तैनी काम-धंधा छोड़कर उसे नहीं जाना चाहिए! न समझा था, न माना था।

''सारा समान तो गीला हो गया। देखूँ समेट पाऊँ तो।''

वह उठी। पानी की बूँदें अब कुछ ज़्यादा तेज़ी से गिरने लगी थीं। तिरपाल के नीचे, मूर्ति के आसपास बहुत कुछ फैला पड़ा था—पुआल, बुरादा, लकड़ी के टुकड़े, राख, रस्सी, फटे-पुराने कपड़े, बाँस की खपचियाँ, हथौड़ी, कील...सहेजने लायक़ तो कुछ रहा

नहीं। पु
के एक-
पास रख
छीलता
परसों त
पिछ
निपटा दे
होशियार
को हाथ
देखते हैं
जीवन क
बोली क
फिर बेक
इस मोह
यह, सैक
कुछ लोग
चेहरा! अ
चेहरे जैस
सीधे देव
देवियों
भावपूर्ण,
हो—दुर्गा
से रूपाक
साक्षात्!
और
तरह से
कारण तो
वह तो
और पुआ
को रूप
कोई भी
पूजा का
मूर्ति बन
दिन के
लिए। अ
लेता है,
जाते हैं
वह जित

नहीं। पुआल के कुछ गट्ठर, रस्सी और कपड़े के एक-दो टुकड़े उठाकर उसने अपने पति के पास रख दिया। वह बाँस की खपचियों को छीलता रहा। ढाँचा अगर आज बन जाए तो कल परसों तक बाक़ी काम...

पिछले साल तक बहुत सारा काम शिवा ही निपटा देता था। शरीर का ढाँचा बनाने में भी वह होशियार हो गया था। सुखिया चेहरे पर किसी को हाथ नहीं लगाने देता। लोग चेहरा ही तो देखते हैं। चेहरा दिव्य होना चाहिए। चेहरे पर जीवन की झलक होनी चाहिए। अब बोली तब बोली का भाव। आँखें अगर सजीव न लगे तो फिर बेकार है न सबकुछ। मूर्तिकार तो बहुत हैं इस मोहल्ले में, मूर्तिकारों का मोहल्ला ही है यह, सैकड़ों मूर्तियाँ बनती हैं,बिकती हैं, परंतु कुछ लोग हर साल उसी के पास क्यों आते हैं? चेहरा! औरों की तरह किसी फ़िल्मी नायिका के चेहरे जैसा चेहरा वह नहीं बनाता। छी: । यह तो सीधे देवी का अपमान है। देवी का चेहरा तो देवियों जैसा ही होना चाहिए—अपूर्व सौंदर्य, भावपूर्ण, आभायुक्त, ममतामयी! देवी कोई भी हो—दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, काली...उसके हाथों से रूपाकार पाकर जैसे जीवंत हो उठती हैं। साक्षात्! गरिमामय! पूज्य।

और फिर ममता के रंगों का जादू। वह जिस तरह से इन चेहरों पर रंग भरती है...असली कारण तो ममता ही है। कैसे मगन हो जाती है। वह तो सिर्फ़ ढाँचा खड़ा कर देता है, लकड़ी और पुआल और मिट्टी से बना ढाँचा, इन ढाँचों को रूप तो ममता देती है। औरत का रूप। देवी कोई भी हो, रंग वही भरती है। जब भी कोई पूजा का अवसर आता है, सुखिया मंगलवार से मूर्ति बनाना शुरू करता है। शुभ मानता है इस दिन को वह। और रहा भी है यह शुभ उसके लिए। आशा से अधिक मूर्तियाँ हर साल बना लेता है, बेच लेता है। कुछ मूर्तियों को पशु तोड़ जाते हैं तो कुछेक को उपद्रवी बच्चे, फिर भी वह जितना बनाता-बेचता है, उससे संतुष्ट रहता है। ग्राहकों के बीच उसकी मूर्तियाँ लोकप्रिय हैं। पहली मूर्ति बनाने के लिए, कह सकते हैं शुभारंभ के लिए, ममता सुबह ही सुबह जाकर गंगा में नहाती है, गंगाजल से ही गंगा की पूजा करती है, और वहीं से ढेर सारा रेत और एक मटके में गंगाजल लेकर घर लौटती है। इस रेत और गंगाजल को मूर्ति बनाने के लिए रखी मिट्टी में मिलाती है। तब सुखिया शुरू करता है मूर्ति-निर्माण। ममता थोड़ा-सा गुड़ ले आती है, ''लो, मुँह मीठा कर लो।'' सुखिया सिर्फ़ हँसता है यह सब देखकर, कुछ कहता नहीं। चुपचाप ममता का साथ देता रहता है। आज पानी न रुकता देख, वह बोला, ''लगता है, इस बार तेरी गंगा-पूजा में कोई कमी रह गई है।''

ममता कुछ न बोली, बस मुरझाई-मुरझाई आँखों से पति की ओर देखती रही। सुखिया भी कुछ क्षणों तक उसके चेहरे को देखता रहा। फिर उसे लगा कि अगर वह ज़्यादा देर तक उस तरफ़ देखता रहा तो मुरझाई आँखें जल्द ही पानी से भर उठेंगी, फिर उस बरसात को झेलना उसके लिए और भी कठिन होगा।

उसने तत्काल अपनी दृष्टि घुमा ली और अधूरी मूर्तियों को देखने लगा। ममता भी नज़र घुमाकर दुर्गा की एक प्रतिमा को देखने लगी। मन ही मन न जाने कितनी प्रार्थनाएँ उभर रही थीं, ऊपर से वह बिलकुल चुप थी। बस एकटक उस मूर्ति को देखे जा रही थी। सुखिया की नज़रों से ममता के हावभाव छिपे न रहे। इन प्रतिमाओं के प्रति ममता के लगाव को देखकर वह कई बार डर जाता है, विस्मित होता है। विशेष रूप से जब ममता दुर्गा प्रतिमा के पास होती है। दुर्गा प्रतिमा को पूर्णता देते हुए वह जिस तरह तन्मय हो जाती है, सुखिया चकित होता है, आशंकित होता है, परंतु अपने मनोभावों को छिपाए रखता है। ममता के हाथ में रंग से सना ब्रश होता है, हाथ चलते नहीं, वह न जाने क्या टटोलती रहती है दुर्गा के चेहरे पर। बतियाती रहती है जैसे उस प्रतिमा से। एक-दो बार उसने उसकी बड़बड़ाहट

सुनने की कोशिश भी की है, कैसी पागल औरत है यह! निष्प्राण मूर्ति के सामने कैसी-कैसी कामना करती है। एक दिन वह कह रही थी, ''देवी, तुम हर साल आती हो और चली जाती हो किंतु दुनिया के असुरों का नाश नहीं होता। कब करोगी उनका नाश? या सिर्फ़ पूजा-पाठ लेने के लिए ही आती हो? काम-धाम कुछ नहीं?'' कभी कहती, ''माँ, तुम तो औरत हो और फिर भी औरतों पर होते अत्याचार को देखकर चुप हो? इस तरह जलती-मरती-बिकती औरतों को देखकर एक बार भी तुम्हें दया नहीं आती उन पर? इस बार आना तो यूँ ही मत चली जाना! मर्द-रूपी असुरों को कुछ शिक्षा ज़रूर देकर जाना।''

उसकी बड़बड़ाहट से घबराकर कई बार सुखिया उसे टोक भी देता, ''दिमाग़ फिर गया है क्या तेरा? माटी की मूरत से बात करती रहती है।'' सुनकर ममता के चेहरे पर संकोच और झल्लाहट साथ-साथ उभरती। पति की ओर एक बार देखती फिर अपने काम में मगन हो जाती। दुर्गा प्रतिमा के बाद लक्ष्मी, सरस्वती की प्रतिमाओं को सँवारना, सहेजना। परंतु गणेश, कार्तिकेय, शंकर, महिषासुर आदि के चेहरों को वह हाथ नहीं लगाती। सुखिया ही इन्हें पूरा करता है। कई बार व्यंग्य या इस परिहास में ही वह कहता है, ''पति से असंतोष का गुस्सा सारे मर्दों पर तू क्यों उतारती है? अरे मैं ठहरा मानुष-जात, मैं तुझे ख़ुश नहीं रख सकता, परंतु ये लोग तो ठहरे देवता? इन्हें ख़ुश रखेगी तो तू भी ख़ुश रहेगी, समझी?''

ममता पति के परिहास को समझती है। साल-दर-साल गंदगी के बीच रहकर, पचासों-पचासों मूर्तियाँ बनाकर भी जीवन में सुख क्या होता है, यह वे लोग नहीं जान पाते। मूर्तियाँ जिस-जिस दिन बिकती हैं, सुखिया बाज़ार से चिंगड़ी मछली ज़रूर लाता है। दुर्गापूजा के समय उसके लिए एक नई साड़ी भी ख़रीदता है। अपने लिए ज़्यादा से ज़्यादा एक बनियान या एक लुंगी। कहता है, ''अरे मुझे कहाँ जाना है, बनियान बहुत हैं। तू तो देवी को पूजना है।''

वह पति के व्यंग्य और हास-परिहास को उसी रूप में लौटा देती है, ''अरे छोड़ो भी, मर्द सब एक जैसे ही होते हो, मानुष हो या दे... कभी देखे हो, कोई देवता हमारे पास फटका हो? ये लोग भी बड़े-बड़े घर खोजते हैं। ह... यहाँ इनको क्या मिलेगा? भरपेट खाना भी नहीं दे सकते!''

ममता बहुत सहज होती, उसका स्वर सामान्य होता, फिर भी उसकी अंतिम ... सुखिया को चुभ जाती। उसे लगता, ममता उस... असमर्थता को, उसकी असहायता को, विपन्... को ललकार रही है। परंतु यह विचार क्षणां... ही उसके अंदर से ग़ायब हो जाता। वह जा... है, उसके जीवन में पत्नी का क्या अर्थ है, ... के बाद से अब तक स्थिति तो एक जैसी ही... है, अँधेरे-उजाले का खेल चलता रहा है ... में—परंतु समय जैसा भी रहा हो, स्थिति कि... भी विकट रही हो, दोनों के बीच का जु... बढ़ता ही रहा है, जैसे एक-दूसरे के पूरक ... दोनों। साझा जीवन। दुख हो या सुख, भोगना साथ-साथ ही है। साथ-साथ उठना, साथ-... काम करना, खाना बनाना, हँसना-हँसाना, ... बाज़ार जाना, सबकुछ साथ-साथ! अँधेरे में परछाईं भी अलग हो जाती है, ये दोनों ... कभी किसी को अकेले कहीं जाना ही पड़... उसके न लौट आने तक दूसरे की बेचैनी दे... ही बनती थी। घर में घड़ी तो थी नहीं, आस... में चमकते सूरज को देख-देखकर समय... अंदाज़ लगता रहता।

ममता कुछ और चीज़ों को समेटती है। ... की ढेर पर एक तसला उलटकर रख देती... भट्ठीवाले से माँगकर लाना पड़ता है। लोहे... भट्ठी। मिट्टी में यह राख मिल जाए तो ... पक्की हो जाती है। भट्ठी से राख तो ... निकलती है। वे लोग बुला लेते हैं उसे—... चाहिए, ले जा। और भी कई लोग ले जा...

भट्ठीवाला भला आदमी है, कभी एक पैसा भी माँगता नहीं। कहीं से, किसी के खेत से मिट्टी उठाओ तो लोग दाम माँग लेते हैं। पूजा-वूजा, मूर्ति-वूर्ति के नाम से उनका मन नहीं पसीजता। "बिजनेस है तुम लोगों का, फ़ायदा उठाते हो, हम मुफ़्त में अपनी ज़मीन क्यों ख़राब करें!" किसी का नया मकान बन रहा हो तो उसकी नींव की मिट्टी भी मिल जाती है—साफ़, चिकनी। कुछ लोग यों ही दे देते हैं, कुछ दाम माँग लेते हैं। दस-बीस रुपए पकड़ाने ही पड़ते हैं। साल भर चलता है यह सब। कहाँ से लाएँगे मिट्टी। यह भी पता नहीं कब तक मिले—शहर तो फैलता ही जा रहा है। दूर-दूर तक। ख़ाली ज़मीन पर अब ऊँची-ऊँची इमारते हैं। मिट्टी के लिए इतनी दूर जाओ। अब तो ठेले पर या भैंसा गाड़ी पर मिट्टी भरकर लोग बेचने भी आते हैं। दुर्गा पूजा के समय में लोग ज़्यादा नज़र आते हैं। मोहल्ले में हर जगह मिट्टी ही मिट्टी होती है। इतनी सारी मूर्तियाँ जो बनती हैं। पहले से इंतज़ाम करना पड़ता है। शिवा भी ज़ोर दिया करता था, ठेलेवाले से ले लिया करो...कितना समय लगता है इतनी दूर आने-जाने में? फिर रिक्शेवाले का भाड़ा अलग। सुखिया मान भी जाता तो ममता तैयार न होती, "नहीं, मैं ले आया करूँगी। वह सस्ता पड़ता है। मिट्टी महँगी होगी तो मूर्तियाँ भी महँगी हो जाएँगी...ख़रीदार का विश्वास हम पर से उठ जाएगा।"

एक तरफ़ रखी मिट्टी पानी के साथ बह रही थी। राख पर से तसला उठाकर मिट्टी के ढेर पर रखना पड़ा। तसला तो एक ही है। राख के पैसे नहीं लगते। भट्ठीवाला इधर-उधर फेंकने से बच जाता है।

कुम्हारों की यह बस्ती पहले शहर से कुछ बाहर ही थी, अब शहर इससे काफ़ी आगे तक निकल गया है। दुर्गंध का फैलाव बहुत है यहाँ। नाक पर रूमाल या कपड़ा रखकर ही लोग आते-जाते हैं। बाहर के लोग। जो यहाँ रहता है, उसकी नाक अभ्यस्त हो चुकी है। दुर्गंध है या सुगंध, अहसास मिट चुका है।

सुखिया और ममता मिलकर जो मूर्तियाँ बनाते हैं, सजाते-सँवारते हैं, प्रशंसा मिलती है उन्हें। पूरा बाज़ार छोड़कर कुछ लोग इन्हीं के पास आते हैं। हर साल आते हैं। एडवांस दे जाते हैं। कुछ ज़्यादा पैसे लगे तब भी कोई बात नहीं! उनके पंडाल में इन्हीं की बनाई मूर्तियाँ सजेंगी।

सुखिया ने इस साल ज़्यादा काम नहीं लिया है। लड़के का साथ अब नहीं मिलेगा। अकेले ही सब करना पड़ेगा। ममता तो दिन भर लगी ही रहती है। उसे और नहीं फँसाया जा सकता। जो परमानेंट ग्राहक हैं, उनका काम तो करना ही पड़ेगा। सुखिया लंबी साँस लेकर कहता है, "आठ-दस मूर्तियाँ ज़्यादा बन जातीं तो साल भर का ख़र्चा निकल आता।"

ममता कुछ नहीं बोलती। यह साल भर का ख़र्चा! वह मन ही मन बुदबुदाती है—हर साल यह यही सोचता है, साल भर का ख़र्चा निकल आएगा। कहाँ हो पाता है यह। चार-पाँच महीने ठीक-ठाक कट जाते हैं, फिर वही हाय-हाय! तब सुखिया को कुछ और काम खोजना पड़ता है। कभी कहीं चौकीदारी करता है, कभी किसी बनते मकान के लिए ईंट-पत्थर-गारा ढोता है। मन नहीं मानता। मूर्तियाँ बनानेवाले हाथ ईंट-पत्थर ढोएँ, वह बुरी तरह अपने आप पर खीझता है। पर भूख? भूख तो रोज़ समय से लगती है। सिर्फ़ पानी से काम तो चल नहीं सकता।

बाँस की खपचियाँ छीलते-छीलते सुखिया रुक गया। सोचा तो यही था कि हाथ, पैर, छाती सबके हिसाब से खपचियाँ काट ले, एक-दो ढाँचे बना ले, पर अचानक ही उसने खपचियों को सरकाकर एक तरफ़ रख दिया। इस बरसात में वह कहाँ खड़ा होकर ढाँचे बनाएगा?

सुखिया ने कमर से बँधी अपनी लुंगी की गाँठ को टटोला। नसवार की डिब्बी। डिब्बी में से चुटकी भर नसवार लेकर बारी-बारी से नाक के दोनों द्वंद्वों में भर लिया। बस यही एक चीज़
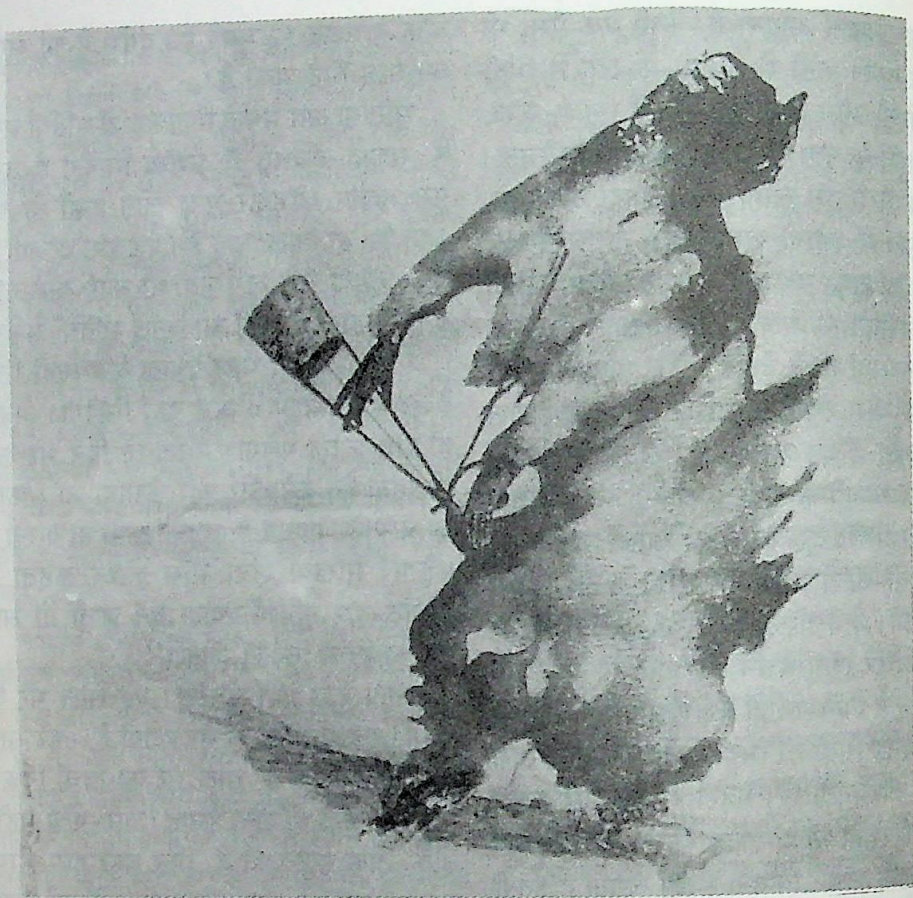
थी जिसे ममता पसंद नहीं करती थी। शुरू-शुरू में कुछ विरोध भी करती थी, अब आदत बन चुकी है। सहने की आदत। झेलने की आदत। अब वह कुछ भी सह लेती है, झेल लेती है। बचपन से ही सहते-झेलते, अब विरोध में कुछ भी कहना जैसे वह भूल गई है। उसने देखा है, उसकी माँ छोटे भाई को कितना प्यार करती थी क्योंकि वह लड़का था। उसे बात-बात पर डाँटती-पीटती रहती क्योंकि वह लड़की थी। पिता जो थे, माँ को पीटते थे और माँ उसे चुपचाप सह लेती थी। माँ पति को भगवान मानती थी तथा उसका विरोध घोर पाप। क्या माँ से उसने यह सहना सीखा है। मरने के बाद माँ ही तो उसके अंदर नहीं बस गई है। मार खाते-खाते ही मर गई थी बेचारी। पिता को शराब की आदत! आमदनी का कोई निश्चित ज़रिया नहीं। कभी कोई काम, कभी कोई। घर में कई बार चूल्हा भी नहीं जलता। बच्चों के लिए माँ पंथा-भात (पानी में भिगोया हुआ बासी भात) बचाकर रखती। बच्चे माँगते तो नमक के साथ दे देती। पिता ख़ामोश देखते रहते, जब होश में होते। दुनिया की सारी खीझ जैसे माँ पर उतरती, बच्चों पर उतरती। आठ-नौ साल के बेटे को भी बाप ने किसी घर में नौकर बना दिया था। कुछ दिन बाद ही पता चला, बेटा वह घर छोड़कर कहीं भाग गया है। कहाँ गया होगा? अब तो कई साल हो गए? भाई की याद अभी भी कभी-कभी मन को दुखा जाती है।

माँ के मरने के बाद बाप ने इस सुखिया के खोजा था। जात-बिरादरी का लड़का। कोई दान दहेज़ नहीं। बस दो साड़ी में ब्याह दी गई थी वह। पास-पड़ोस के आठ-दस लोग घर में जुटे

थे। देशी शराब की एक-दो बोतलें, कुछ मिठाइयाँ, मछली और भात! हो गई थी शादी। तब बारह-तेरह की रही होगी ममता। पिता को इतनी जल्दी क्या थी, कुछ दिनों बाद समझ पाई थी वह, जब एक दिन सुखिया ने कहा था, "तेरे बापू ने दूसरी शादी कर ली है।" उसे ज़्यादा आश्चर्य तो नहीं हुआ था, थोड़ा दुख अवश्य हुआ था—बापू ने उसे बुलाया तक नहीं।

सुखिया अनाथ। माँ-बाप का बनाया हुआ बस दो कमरों का एक मकान था उसके पास। कुम्हार टोली में बहुतों के पास यह भी नहीं। किसी तरह झुग्गी-झोंपड़ी डालकर या किराए पर रहकर लोगों का जीवन चल रहा है। कुछ दिनों तक इन लोगों ने भी अपना एक कमरा किराए पर दे दिया था—दो सौ रुपए माहवार! कई किराएदार आए गए। किराएदारों से किच-किच होती, टट्टी-पाखाने को लेकर, नल के पानी को लेकर, साफ़-सफ़ाई को लेकर। ममता चुपचाप सब सह जाती। सुखिया को कुछ बोलने का मौक़ा न देती। कुछ तो आधार था उनके पास। कम से कम दोनों वक़्त भूखे रहने की नौबत नहीं आती थी। सुखिया ने कोशिश की थी, कहीं कोई नौकरी-चौकरी, काम-धंधा मिल जाए, संभव नहीं हुआ। उसके पास योग्यता ही क्या थी, सिवा मूर्तियाँ गढ़ने के। हाँ, सुखिया की विपन्नता के बीच ममता ने एक सुख पा लिया था—पति का प्रेम। वह रंग गई थी उसके रंग में। सुखिया तब भी मूर्तियाँ बनाता था, आज भी बनाता है। उसके हाथों में जादू है जैसे। निर्जीव चीज़ों को सजीव कर देता है। बेकार और रद्दी चीज़ों से ही देवी-देवताओं के शरीर का निर्माण होता है। ममता जब उन मूर्तियों में रंग भरती है तो सामने जैसे एक सजीव देह होती है। कूची चलाते-चलाते कई बार ममता के हाथ रुक जाते हैं! वह दुर्गा के हाथ-पैरों को ध्यान से देखती है। उसे लगता है, उसके पति ने उसके अंगों को ही इस मूर्ति में रूपांतरित कर दिया है। यह सामने जो मूर्ति है, यह दुर्गा नहीं, ममता है! उमंग से भर उठती है वह! हल्की लज्जा और कुछ अकुलाहट के साथ वह पति की ओर मुड़ती है, "तुमने फिर वही शरारत की? मेरी पिंडलियों जैसी पिंडलियाँ..."

सुखिया कुछ बोलता नहीं! मुस्कुरा भर देता है और फिर अपने काम में लग जाता है।

बेटा जन्मा! बड़ा हुआ। उसने अपने माँ-बाप के काम में हाथ बँटाया। फिर अपनी पसंद की लड़की से शादी कर ली। तब किराए का मोह छोड़ना पड़ा। बेटे-बहू को एक कमरा चाहिए। अभी तो साल भी नहीं हुआ। आज वह कमरा बंद है। क्या बेटे-बहू कभी लौटकर आएँगे? ममता को विश्वास है, बेटा लौटेगा। सुखिया उसके विश्वास को तोड़ना नहीं चाहता। कुछ कहता नहीं, मन ही मन हँसता है—अगर लौटना ही होता तो वे लोग जाते क्यों? कुम्हार टोली के जवान बच्चे यों ही अब भागने लगे हैं—दूसरे शहरों में। कलकत्ता उन्हें नहीं लुभाता अब। अब वे दिल्ली और मुंबई जाते हैं। वहाँ उन्हें मूर्तियाँ नहीं बनानी पड़तीं। कल-कारख़ानों में काम मिल जाता है। बिल्डिंग कंस्ट्रक्शन का काम आजकल ज़ोरों पर है, वहाँ काम करने लगते हैं। और कुछ नहीं तो स्मगलिंग करनेवालों के किसी गिरोह से जुड़ जाते हैं! अंडरवर्ल्ड का तो बहुत बड़ा जाल है, फँस जाते हैं कहीं न कहीं। यहाँ रहकर अब उन्हें क्या मिलेगा! मूर्तियाँ गढ़ने के लिए भी अब घर-घर में मशीनें लग रही हैं! बना-बनाया साँचा। मशीन में डालो, चेहरा तैयार। अब हाथ से रंग भरने की भी ज़रूरत नहीं। कैसी-कैसी तो मशीनें आने लगी हैं। बच्चा भी अब फटाफट मूर्तिकार बन जाता है।

सुखिया और ममता उधर झाँकते भी नहीं। हाथ से काम करने का, एक मूर्ति के सृजन का जो सुख है, नशा है,आनंद है, दोनों उसे समेटे रखना चाहते हैं। इसी कारण उनके पास ग्राहकों की संख्या ज़्यादा नहीं है। ज़्यादा मूर्तियाँ बना ही नहीं पाते थे। पंचमी-षष्ठी के दिन जब पूरे मोहल्ले में ख़रीदारों का हो-हल्ला मचा रहता

है, उनके यहाँ गिनती के ही लोग होते हैं। देर रात तक जब मोहल्ले में ख़रीद-फ़रोख़्त चलती रहती है, वे लोग निश्चिंत भाव से सबकुछ देखते रहते हैं। सुखिया बार-बार नसवार सूँघता रहता है और ममता चिंगड़ी मछली पकाने में जुटी रहती है।

शिवा कहता था, "अब कुछ ही दिनों में यहाँ का यह सारा शोर-शराबा ख़त्म हो जाएगा। बाज़ार में कोई ठेकेदार आ गया है। वह मूर्तिकारों को थोक के भाव से मूर्तियों का ऑर्डर दे देता है, एडवांस पैसा भी! वह यहाँ से ढेर सारी मूर्तियाँ ख़रीदकर ले जाएगा, कई ट्रकों पर लादकर, और कलकत्ता शहर में कई जगहों पर बेचेगा। आठ-दस दुकानें हैं उसके पास। इस तरह के बिचौलिए और भी आएँगे बाज़ार में। लोगों को अपने घर के पास ही जब मूर्तियाँ मिल जाएँगी तो कोई इतनी दूर क्यों आएगा? फिर महँगाई इतनी बढ़ गई है कि पूजा के पंडाल कम बनने लगे हैं। मूर्तियों के भरोसे अब जीवन नहीं चल सकता। इतनी गंदगी में रहो, दिन भर राख-मिट्टी में लिथड़ो, फिर भी भूखे रहो। बहुत दिनों तक नहीं चलेगा यह धंधा।"

लड़के को दोष नहीं दिया था दोनों ने। सुखिया की तो उम्र हुई उसे अपना यह ख़ानदानी पेशा कभी बुरा नहीं लगा। रम जाता था इस काम में। लड़के को घिनौना लगता है यह सब। पढ़ा-लिखा लड़का है, स्कूल तक की सारी पढ़ाई उसने की है, उसे यह सब अच्छा क्यों लगेगा! ठीक है, उसका अपना जीवन है, चाहे जैसे जिए, परंतु देवी माँ का आगमन तो हर साल होता ही रहेगा। आदमी को असुरों से बचाने के लिए उनका आगमन ज़रूरी है। अगर माँ नहीं आएँगी, लोग उन्हें पूजना भूल जाएँगे तो इस कुम्हार टोली के सैकड़ों परिवार कहाँ जाएँगे!

गहरे नैराश्य में डूबकर उसने ममता से पूछा, "कुछ खाने को है?"

ममता उठी। कमरे में गई। एक डलिया में थोड़ी-सी मूढ़ी और गुड़ का एक टुकड़ा लेकर लौटी। बिना कुछ बोले वह मूढ़ी फाँकने ला[illegible] ममता चुपचाप उसके पास ही बैठ गई।

शाम तक बरसात ने ऐसा भयंकर रूप पक[illegible] कि चारों तरफ़ पानी ही पानी! अब मूर्तियों [illegible] कहाँ रखा जाए, कैसे बचाया जाए?

दोनों ने खींच-तान कर दो-तीन मूर्तियों [illegible] अपने कमरे तक पहुँचाया! इतनी जगह ही [illegible] वहाँ। आठ-दस तैयार मूर्तियाँ अभी बाहर [illegible] कई दिनों की मेहनत पर पानी फिर जाने वा[illegible] था। तिरपाल के छेदों से अब पानी की बौछ[illegible] तेज़ रफ़्तार से सीधे मूर्तियों पर पड़ रही [illegible] निराशा में दोनों काफ़ी देर तक चुप खड़े रहे।

गली में चारों तरफ़ एक विचित्र-सा [illegible] मचा हुआ था। हर जगह तैयार मूर्तियों को सुरक्षि[illegible] रखने की चिंता, छिपाने की व्यग्रता। आध[illegible] अधूरी मूर्तियाँ तो यूँ ही पानी में इधर-उधर [illegible] रही थीं, डूब रही थीं! इस गली में कबूतरख[illegible] की तरह बने पचासों मकानों में न जाने कित[illegible] कितनी मूर्तियाँ समाई-सिमटी होंगी। इन दो[illegible] की चिंता तो सिर्फ़ आठ-दस मूर्तियों की [illegible] अगर ये मूर्तियाँ भी किसी तरह बच जाएँ [illegible] परमानेंट ग्राहकों के सामने इज़्ज़त बच ज[illegible] नहीं तो फिर अगले साल कौन आएगा? [illegible] पूजा तो करेंगे ही। कहीं न कहीं से मूर्तियाँ [illegible] ख़रीदेंगे!

"लगता है कुछ नहीं बचेगा। इस साल [illegible] तुम्हारे लिए एक साड़ी भी नहीं ख़रीद पाऊँगा[illegible] घोर निराशा के बीच उभरा एक स्वर और [illegible] एक मूर्ति के पास जमे पानी में वह धम्म से [illegible] गया। उसकी जीभ ने गाल पर बहते खारे [illegible] का स्वाद चखा।

ममता कुछ देर तक उसे देखती रही, शून्य[illegible] फिर वह मुड़ी और एक तरफ़ पड़ी हथौड़ी [illegible] उठाकर दूसरे कमरे के ताले पर उसने [illegible] चोट की।

कमरा एकदम ख़ाली था!

सुखिया लहराते हुए उठ खड़ा हुआ।

एन. प्रभाकरन

देवता की तितली

कई सालों बाद उसने देवता की तितली को देखा। बेटे की पाठ्य-पुस्तक पर पंख समेटे हुए बैठी थी वह। वह श्...श्...श् करता हुआ उसे उड़ाने की कोशिश कर रहा था। बेटे की आँख बचाकर वह उस बड़ी तितली को टकटकी बाँधे देखती रही। धीरे-धीरे बेटे की उँगलियाँ उसकी ओर बढ़ने लगीं तो वह ज़ोर से बोली, "अरे बेटे, उसे तंग मन करना; वह देवता की तितली है।"

चौंकते हुए उसने मुड़कर देखा। "अच्छा क्या वह देवता की अपनी है?" उसकी आवाज़ में अविश्वास और हल्का-सा डर भी निहित था। हामी भरते हुए उसने सिर हिलाया।

"हमारे जाने के बारे में जानने के लिए क्या देवता ने ही भेजा है?"

"हाँ।" ख़ास बेचैनी के साथ वह बोल उठी।

लड़के को उसने हाथ पकड़कर उठा लिया। कंघी से बाल ठीक किए। खिड़कियाँ और दरवाज़े बंद कर बाहर निकली तो वह फिर शंकित हुआ, "माँ, खिड़की भी बंद कर देंगे तो वह कैसे बाहर निकलेगी?"

"उसे वहीं रहने दो।"

"तो उसे जाना नहीं? हमारे पहुँचने के पहले ही उसे देवता के पास पहुँचना है न!"

वह बहस में नहीं पड़ी। दरवाज़ा खोला और एक खिड़की खुली छोड़ दी, फिर लड़के के साथ बाहर निकली।

उन्हें जिस देवता से साक्षात्कार करना है वह बहुत दूर था। दो-तीन बसों में चढ़ने के बाद क़रीब दोपहर में पहुँचे। एक प्रांतीय देवता का छोटा-सा मंदिर था वह।

वह दिन कोई ख़ास महत्त्व का था, पर उसे याद करना वह भूल गई थी। मंदिर के रास्ते में असाधारण भीड़ लगी थी। सहजतापूर्ण चाल के साथ बच्चे और बुज़ुर्गों की छोटी टोली उसके सामने से चली जा रही थी। उनके ठहाके और बातचीत ने उसे बेचैन बना दिया। उन सबसे उसे अकारण ही ईर्ष्या हुई। उसने बीच-बीच में मुँह फेर लिया ताकि ठीक सामने पति की छाया में चलनेवाली युवती की खिली हुई साड़ी और भरी हुई कलाई वह न देख पाए। तब अपने पैर की उँगली में पहनी हुई काँच की अँगूठी पर उसकी नज़र पड़ी।

मलयालम रचनाकार एन. प्रभाकरन का जन्म 1952 में हुआ। कहानी-संग्रह, उपन्यास, नाटक की कई पुस्तकें प्रकाशित। केरल साहित्य अकादमी से पुरस्कृत। संपर्क : अध्यक्ष, मलयालम विभाग, सरकारी ब्रेनन कॉलेज, तलशेरी, कण्णूर, केरल।

अनु. प्रमोद कोव्वप्रत का जन्म 1972 में हुआ। इनकी कविताएँ, आलेख, अनुवाद आदि प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : प्राध्यापक, हिंदी विभाग, कालिकट विश्वविद्यालय, केरल 673635
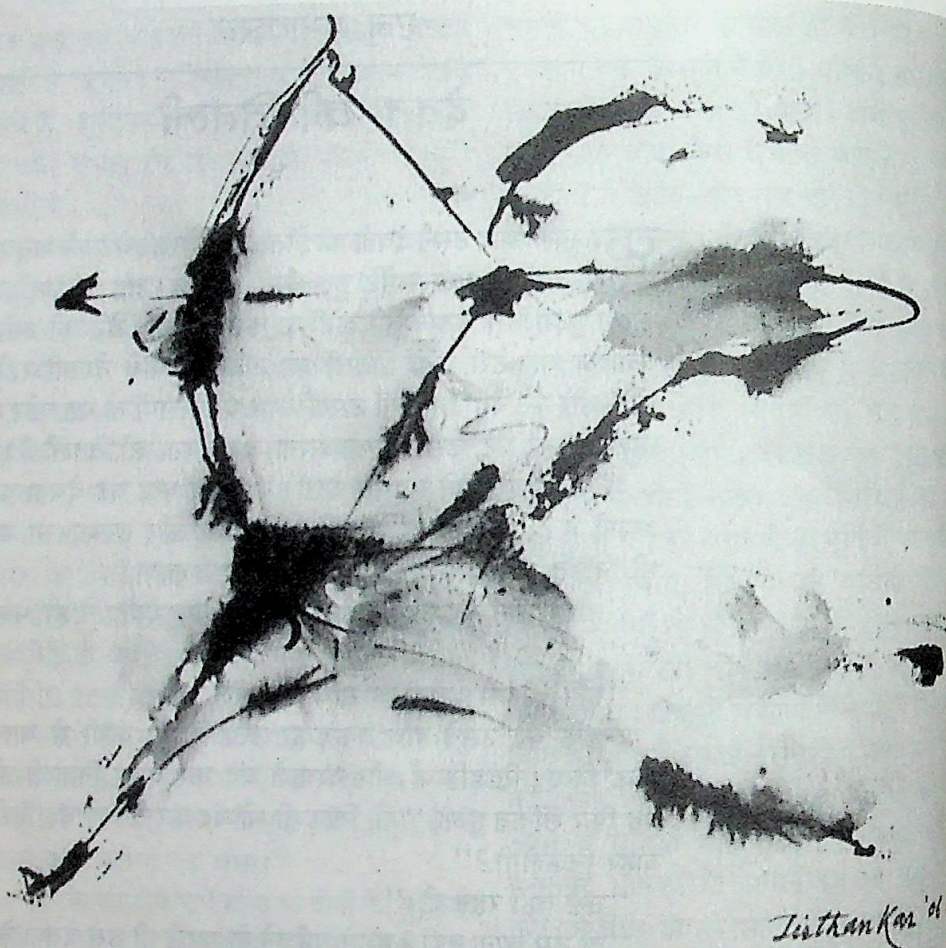
मंदिर के सामने झुंड में खड़े लोगों के बीच बेटे का हाथ पकड़ते हुए वह धीरे-धीरे आगे बढ़ी। पकी हुई दाढ़ी-मूँछ वाले बुड्ढे देवता के पास पहुँची तो वह सिसक पड़ी। देवता ने उसकी बदरंग साड़ी और बच्चे के झुलसे चेहरे को डर के साथ देखा।

उसने साड़ी के आँचल की गाँठ को खोला और उसमें जो चीज़ सँभालकर रखी थी उसे देवता के हाथ में रखकर सिर झुका दिया।

देवता का दायाँ हाथ फूल लिए उसके सिर पर पड़ा।

"अंदर की व्यथा को हम जानते हैं। जिसका सहारा मिलना चाहिए वह और कहीं बुरे रास्ते पर चला गया; है न?" उसके आँसू फ़र्श पर गिर पड़े।

"जान लो कि अँधेरे के बाद रोशनी होती है। हर समय मेरा सहारा होगा।"

रोने के बीच वह हँस पड़ी। उसने बेटे की कलाई दबाकर पकड़ते हुए उसे देवता के सामने खड़ा कर दिया। देवता ने उसके सामने आशीर्वचन का हाथ हिलाया।

पीछे अधीर होकर प्रतीक्षारत लोगों के लिए वे हट गए। एक विशाल प्रांगण की भीड़ में फिर से शामिल हो गए।

रंग से पुती काठ की सलाख़ों के पीछे के कमरे की ओर कोई उनको ले गया।

अजनबियों के बीच बैठकर उन्होंने पके हुए मूँग और नारियल की गरी खाई। आसपास बैठे लोगों को तथा माँ को देखकर लालच के साथ वह खा रहा था। दोपहर की गर्मी में पसीने से लथपथ बेटे के सूखे गाल देखे तो वह फिर रो पड़ी। आँसू पोंछने के लिए साड़ी का आँचल उठाने लगी तो उसने देखा कि सामने बैठे युवकों में से एक उसकी ओर ही देख रहा है। उसके चेहरे पर पत्थर का-सा अडिग भाव था। आँखों में परेशान करने वाले वर्चस्व का भाव था। जब युवक ने जाना कि वह उसकी ओर देख रही है तो उसके होंठों पर हल्की-सी मुस्कान खिल उठी।

"बस बेटा, हम चलें?" बेटे से वह बोल उठी। उसने माँ के चेहरे को देखा और चुपके-से उठ खड़ा हुआ।

मंदिर के सामने खिलौने और मिट्टी की मूरतों को बेचनेवाली दुकानों की लंबी क़तार ही थी। उसने उसे देवता के चित्र वाली एक अँगूठी ख़रीदकर दे दी। जब हठ करके वह रोया तो काले कपड़े में भूसा चिपकाकर बनाई गई तितली भी मोल-तोल करके ख़रीदी।

मंदिर से बस स्टॉप तक की लंबी चढ़ाई चढ़ते समय उसने देखा कि बेटे के पैर लड़खड़ा रहे हैं। अब उसकी उम्र उठाकर ले चलने की नहीं रही, फिर भी उसने उसे उठा लिया। तब उसने अचानक मुड़कर देखा। चढ़ाई की शुरुआत में अडिग क़दम रखते हुए तनकर आगे बढ़नेवाले उस आदमी का आकार उसकी आँखों में उभर आया। उसके अंदर एक प्रकार की सिहरन हुई। शरीर के जोड़ में थकावट का ठंडापन। "हो पाएगा नहीं बेटा, इस माँ से नहीं हो पाएगा।" बेटे को उसने नीचे उतार दिया और उसे साथ लिए जल्दी-जल्दी वह चलने लगी।

निकलने के लिए तैयार खड़ी एक बस में वह किसी न किसी तरह जा चढ़ी और सामने वाली एक ख़ाली सीट पर बेटे को सटाकर पकड़कर बैठी तो फिर उसका रोने का-सा मन हुआ। तब भी उसने बस के बाहर उस चढ़ाई के रास्ते में नज़र दौड़ाई।

वापसी में वह उसकी गोद में सिर रखकर सोया। बादल से भरे आसमान के नीचे बिना जोश के रेंगनेवाली बस में वह खोई-सी बैठ गई।

"मैंने क्यों मुड़कर देखा, हे भगवान, क्यों... ?" वह फुसफुसाई। उसकी उँगलियाँ बेटे की छाती को सहलाती रहीं।

दिन ढले वे दोनों घर वापस पहुँचे। दरवाज़ा खोला और दिया जलाते ही वह चिल्लाया, "माँ, वह गई नहीं, वह तितली नहीं गई!"

उसने उचटती-सी दृष्टि उस पर डाली और अंदर चली गई।

उस तितली के पंखों के चारों ओर चींटियाँ रेंग रही थीं। उसका शरीर और भी सिमट गया था। उसने उसे धीरे-से हाथ में लिया। उसके पंखों पर पड़ी चींटियों को धीरे-धीरे हटा दिया। तब उसका शरीर ज़रा-सा हिला। उसके नन्हे-नन्हे पैरों ने उसकी हथेली में गुदगुदी पैदा की।

रसोई में वह दो कच्ची लकड़ियों को फूँक-फूँककर जलाने की कोशिश कर रही थी। धुएँ से उसकी आँखें लाल हो गईं। एक चिनगारी तड़पकर उड़ी और घने धुएँ में समा गई। "माँ, देख-देख यह मरी नहीं है!" आवाज़ सुनकर वह दौड़ पड़ी। मुस्कुराते हुए बच्चे ने तितली को उसकी ओर उठा दिया।

'चल फेंक अपनी बेदम तितली को!' नफ़रत के साथ उसने उसे बाहर फेंकवा दिया। आँगन की मिट्टी में वह गिर पड़ी और धीरे-धीरे वह सीधी खड़ी हो गई। उसके शरीर में एक असामान्य कँपकँपी फैल गई। वह एक ओर गिर पड़ी और लाचार पंखों को आसमान की ओर फैला दिया। संतुलन खोया-सा वह रो रहा था। माँ भी।

खडकराज गिरी

आख़िरी ठौर

आँगन में पसरे अनाज की तरह फैली हैं राहें—चौराहे, चौक, लेन, गली, पगडंडी,...

फिर भी मैं रास्ता ढूँढ़ रहा हूँ। इन हज़ारों रास्तों में से मुझे सिर्फ़ एक रास्ता चाहिए। ऐसा रास्ता जो सीधा हो, बिलकुल सीधा कहीं टूटा न हो कहीं छूटा न हो—एक सरल, पर... ! आख़िरी...!

यह 'फ़ैंसी-स्टोर्स' के पास का रास्ता है। इस राह से चलनेवाली अनेक युवतियों की मधुर मुस्कान, रास्ते की सुंदरता बढ़ाती है। कहते हैं—यह नया रास्ता है ! पर नई पीढ़ियों को यह ऐतिहासिक दिग्दर्शन नहीं दे सकता। कारण इसमें केवल वर्तमान की लोलुपता विद्यमान है।

कई रास्तों को पार कर मैं पहुँचता हूँ एक कीचड़ सनी पगडंडी पर। इसके किनारे पीपल के पेड़ तले बैठकर एक सत्तर-अस्सी साल का बूढ़ा हुक़्क़ा गुड़गुड़ा रहा है। मैं उससे पूछता हूँ—दद्दू, इस रास्ते का अंत कहाँ होता है ? टकटकी बाँधे मुझे देखता रहता है वह। कुछ देर ग़ौर से देखने के बाद हुक़्क़े से धुआँ उगलते हुए कहता है, "गुफा ! यह रास्ता सीधा जाकर गुफा तक ही पहुँचता है और वही इसका अंत है।" मेरे मन में कौतूहल जागता है—रास्ते का भी अंत होता है ! अर्थात् रास्ते का विसर्जन स्थल, यह अंत कैसा होता होगा ?

थोड़ी देर बूढ़े की हरकत देखने के बाद मैं फिर पूछता हूँ, "क्या, मैं उस जगह पर पहुँच सकता हूँ ?"

"...अवश्य, इस रास्ते से गुज़रने वाले वहाँ तक पहुँचते हैं।" बूढ़े का दृढ़ स्वर।

अब मैं चलता हूँ—गुफा तक जाकर अंत होने वाली इस सड़क से होते हुए।

गुफा की ओर जानेवाले इस तन्हा रास्ते भर मुझे संगीत की धुन सुनाई देती है। सतरंगी धुन—ताल, लय व्याप्त है यहाँ—हर्ष-विषाद भी। चलते-चलते मैं बहुत दूर पहुँचता हूँ। पर रास्ता ख़त्म होने का नाम ही नहीं लेता—धूप-छाँव—रास्ते का रूप बदलता जाता है; फिर एक दूसरी छोटी-सी पगडंडी में जा पहुँचता हूँ। शायद लोगों के चलते-चलते अपने आप बना हो यह ! नया, सृजन होता है न इसी तरह !

नेपाली कहानीकार खडकराज गिरी का जन्म 1958 में हुआ। स्रष्टा पुरस्कार से सम्मानित। संपर्क : सी.एम.एच. एरिया, 1702/बी,पो. डिगबोई 786171 (असम)

अनु. सुंदर प्रसाद क्षेत्री का जन्म 1951 में हुआ। असमिया, नेपाली, हिंदी में परस्पर अनुवाद। संपर्क : प्रधानाध्यापक, पूर्वांचल विद्यालय, डिगबोई 786171 (असम)

गुफा तक फिर भी नहीं पहुँच पा रहा हूँ मैं। मृगतृष्णा की भाँति मैं जितना क़रीब पहुँचना चाहता हूँ रास्ता उतना ही दूर भागता चला जाता है। पर आश्चर्य कि यह साथ नहीं छोड़ता, रास्ता सीधा है—कहीं टूटा नहीं, कहीं छूटा नहीं—मेरी पसंद का ही रास्ता है न यह!

समय की विकराल परिस्थिति से टक्कर लेने का गुर सिखानेवाला रास्ता—प्रत्येक पग-पग में अपना अलग-अलग नाम से परिचित होने वाला राष्ट्रीय मार्ग, आर.जी.रोड, अशोक पथ,...भिन्न-भिन्न स्थान, भिन्न-भिन्न नाम।

...थकावट के कारण जब मैं सुस्ताना चाहता हूँ, दू...र...कुछ धुँधलका अपना चेहरा दिखाता गुफा की तरह का संकेत देता है। शारीरिक थकान के बावजूद अब भी मेरे मन में उत्साह अटूट है। मैं विश्राम न लेकर आगे बढ़ता हूँ अब बड़ी तेज़ी से...मानो, गुफा नज़दीक आ गई हो।

मैं गुफा पहुँचने से पहले ही एक आर्तनाद सुनाई देती है। ठिठक जाते हैं मेरे पाँव। यह कैसा आर्तनाद!...यह किसका आर्तनाद! कहीं यही इस रास्ते की समाप्ति तो नहीं?...रास्ते का अंतिम पड़ाव। निश्चय ही यह विकलता, यह आर्तनाद रास्ते का ही हो सकता है।

मेरे भीतर अस्थिरता उमड़ती रही। मेरे लिए यह रास्ता और वह पड़ाव एक प्रहेलिका बन चुका है।

इस रास्ते से कितने लोग गुज़रे हैं उसका अंदाज़ा नहीं। बुद्ध भी इसी रास्ते से चले थे। जिस रास्ते से अशोक चले थे, वह भी यही है। बूढ़ा कह रहा था इस रास्ते से जितने लोग गुज़रे हैं उन्हें लौटते नहीं देखा! 'नहीं देखा' सुनते ही मेरे पाँव फिर अस्थिर बन जाते हैं। शिथिल हो जाते हैं। कैसी प्रहेलिका है यह?

मैं रुका नहीं—चलना जो धर्म है—निभा रहा हूँ। आकाश मेघाछन्न होता जा रहा है। आकाश की मेघाछन्नता गुफा के दिशा की भयावहता को और बढ़ा रहा है। फिर भी मुझमें जिज्ञासा है, आशंका नहीं। शायद इसीलिए मुझे डर नहीं लग रहा है। डर मनुष्य जीवन का आंशिक व्यतिक्रम है।

मेरे दृढ़ पाँव जब गुफा के पास पहुँचते हैं, तब मेरे मन की सारी उत्सुकता समाप्त हो जाती है। गुफा के भीतर घना अँधेरा व्याप्त है। मैं रास्ता ढूँढ़ने की कोशिश में हूँ, रास्ता! रास्ते का आख़िरी पड़ाव! जिसे अंतिम पड़ाव माना गया हो। परंतु मैं घने अँधेरे के उस कोहरे को नहीं चीर पा रहा। नज़रों के चारों ओर फैले अँधेरे के कारण मैं कुछ भी नहीं देख पा रहा हूँ। विवशता कि मैं ख़ुद को अंधा महसूस कर रहा हूँ।

मेरी नज़रों के चारों ओर फैले उस घने अँधेरे को चीरने में जब असमर्थ हो जाता हूँ तब मेरा जी 'धक' हो जाता है...और भय स्वतः ही उमड़ पड़ती है...हाय! हाय!...शरीर सिहरने लगता है...अवाक् मैं मूर्तिवत हो जाता हूँ...क्या यही आख़िरी पड़ाव है रास्ते का?—जहाँ पहुँचते ही मनुष्य का शरीर पूर्णरूप से शिथिल हो जाता है।...अंतिम ठौर! शायद आख़िरी रास्ता!

और मैं भी शून्य हो जाता हूँ।

रज़ा जाफ़री

आईने

यह सन् अस्सी की एक शाम की बात है। छोटे मामूँ ने करा से रवाना होकर नई दिल्ली पहुँचने की इत्तिला क्या दी कि स घर में बिजली की एक लहर-सी दौड़ गई। यह ख़बर इत अचानक और चौंका देने वाली थी कि अभी तक घर के जो हालात थे वह एकदम से जैसे अपनी जगह पर मुनजमिद[1] हो ग अब सबके सामने एक नई और दिलचस्प सूरतेहाल आकर ख हो गई थी।

अम्मा अपने बीमार और कमज़ोर जिस्म को सँभालती हु उठने की कोशिश करने लगी। अब्बा अपनी बूढ़ी टाँगों को पलं से उतारकर अपने डंडे के सहारे खड़े होने लगे। छोटा भाई अक हमेशा की तरह हंगामी वक़्त पड़ने पर अपने कमर बंद को खोल बाँधने लगा। उसकी बीवी जो दूसरे ख़ानदान से ब्याह कर आई आँखें फाड़कर सारे मुआमलात को समझने की कोशिश क लगी। मेरी बीवी फ़ातिमा की समझ में कुछ नहीं आया तो मेरे ह से तार का काग़ज़ लेकर उस मज़मून[2] को फिर से पढ़ने ल जिसको मैं कई बार ज़ोर से पढ़कर पहले ही सुना चुका था। पूरे घर में बच्चे ही ऐसे थे जो हर चीज़ से बेन्याज़[3] अपने खेल दुनिया में मगन थे।

फ़ातिमा को साथ आने का इशारा करता हुआ मैं अम्मा अब्बा के पलंगों के बीच बिछी कुर्सियों में से एक पर आकर ब गया। घर के और लोग भी धीरे-धीरे वहाँ आकर जमा हो गए अम्मा जब से बिस्तर से लगी थी हम लोग इसी तरह उनके पलं के आसपास जमा होकर अपने ख़यालात बाँटा करते थे। अम्मा चूँकि घर में मरकज़ी[4] हैसियत हासिल थी इसलिए ज़्यादातर ब की डोर उन्हीं के हाथों में रहती थी। अम्मा आज बहुत ख़ुश थी उनका बरसों का बिछड़ा भाई मिलने के लिए आ रहा था। उन बस नहीं चल रहा था कि किस तरह उड़कर दिल्ली पहुँच जा जहाँ छोटे मामू किसी इंटरनेशनल सेमिनार में शिरकत के लि पहुँच चुके थे। उनकी ज़ेहनी कैफ़ियत बता रही थी कि उन निगाहों के आगे माज़ी[5] की किताब के पन्ने वरक़-वरक़ खुल र

उर्दू और हिंदी के कहानीकार रज़ा जाफ़री की कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में छपती रही हैं। संपर्क : 50, मक़बरा, गोलागंज, लखनऊ 18

अनु. स्वयं

1. जम गए, 2. आलेख, 3. अनभिज्ञ, 4. केंद्रीय, 5. भूतकाल।

हैं। उन्हें याद आ रहा है कि तक़सीमे-हिंद[1] के वक़्त भरतपुर से उनका लुटा हुआ क़ाफ़िला आगरा पहुँचा था और वहाँ से अम्मा के वालिदेन उनके पाँचों भाइयों को लेकर कराची के लिए रवाना हो गए थे। अम्मा अब्बा के साथ मेरठ आ गई थीं क्योंकि वो उस ज़माने में वहीं तैनात थे। मैं उस वक़्त बहुत छोटा था। अम्मा यह बातें इतनी बार बता चुकी थीं कि वो जब भी इस तरह सोच में डूबतीं हम समझ जाते कि उनके दिमाग़ में यही सब चल रहा है।

अम्मा ने यकायक पूछा, "तो फिर तुमने क्या सोचा-कब जा रहे हो लेने?"

मेरे लिए फ़ौरी[2] जवाब देना इतना आसान नहीं था। बहुत-सी बातें सोचनी थी। उनका दिल रखने के लिए मैंने कहा, "आज का दिन तो निकल गया कल देखते हैं। ऑफ़िस जाकर कुछ इंतज़ाम करना होगा।

मैंने सबके चेहरों की तरफ़ देखा। ख़ुश तो सब थे मगर शायद, घर में बोरियाँ न होने का अहसास उनको अंदर ही अंदर कहीं साल रहा था। इतनी बड़ी नौकरी और मुल्कों-मुल्कों घूमने वाले आलीशान ज़िंदगी गुज़ारने वाले छोटे मामूँ उनके इस ख़स्ताहाल मकान में कैसे रहेंगे। शायद यही बात सब सोच रहे थे। मैंने भी नज़रें दौड़ाईं तो लगा घर वाक़ई बड़ा बोसीदा और पुराना हो गया है। दिल चाहा काश कहीं से अलादीन का वह चिराग़ मिल जाए जिसका जिन्न बाहर निकलकर सारे हालात बदल देता है। मैंने छोटे भाई की तरफ़ देखा। उसने शायद मेरे दिल का हाल पढ़ लिया और इसीलिए पलकें झपकाकर अपनी बीवी की तरफ़ देखा। मगर कोई भी कुछ कर सकने की हालत में नहीं था। एक बेनाम-सी बेबसी की बदली घिर आई थी घर पर। देखते ही देखते एक अजीब तरह के तनाव में आ गया था पूरा घर।

दूसरे दिन लखनऊ से रवाना होकर जब मैं नई दिल्ली के रेलवे स्टेशन पर उतरा तो रात के दस बज रहे थे। आख़िर नवंबर की ख़ुशगवार रात थी। बाहर निकलकर मैंने ऑटो लिया और सीधा उस होटल के काउंटर पर जा पहुँचा जहाँ छोटे मामू ठहरे हुए थे। नंबर लेकर मैंने फ़ोन मिलाया जिसने फ़ोन उठाया वह बड़ी मोहज़्ज़ब[3] निस्वानी[4] आवाज़ थी।

मैंने कहा, "मैं इक़बाल बोल रहा हूँ, होटल की लॉबी से!

दूसरे ही लमहे ऐसा लगा जैसे आवाज़ में ख़ुशी की लहर दौड़ गई हो, "अच्छा इक़बाल भाई! अस्सलामालेकुम! आप आ गए? वहीं ठहरिए हम आते हैं।"

और फ़ोन बंद हो गया। मेरा दिल एकदम से धड़कने लगा। यह आवाज़ किसकी है? क्या मुमानी भी आई हैं? मुल्कों के फ़ासलों ने क्या जुल्म ढाया है कि हम एक-दूसरे की आवाज़ भी नहीं पहचानते।

उसी वक़्त सामने की लिफ़्ट का दरवाज़ा खुला और छोटे मामू दिखाई दिए। फिर पता ही नहीं चला हम कब एक दूसरे से बग़लगीर हो गए। दोनों मुल्कों की सरहदें दरम्यान से मादूम[5] हो गईं। 33 साल का वक़्फ़ा[6] भी मादूम हो गया। जब हमने सिर उठाकर एक दूसरे की तरफ़ देखा तो कुछ ऐसा अहसास हुआ जैसे आईना देख रहे हों। हमारी शक्लें आपस में इतनी ही मिलती-जुलती थीं। वो रिश्ते में मेरे मामू ज़रूर थे मगर उम्र में वो मुझसे सिर्फ़ दो साल ही बड़े थे।

फिर छोटे मामू ने पीछे खड़ी ख़ातून की तरफ़ इशारा किया, "इनको पहचानो!" मैंने उनकी तरफ़ देखा। उनका चेहरा उनकी आवाज़ का आईनादार था और ख़ुशी से गुलनार हो रहा था। मैंने बेसाख़्ता कह दिया, "शकीला मुमानी।"

1. भारत-पाक बँटवारा 2. तुरंत, 3. सभ्य, 4. जनाना, 5. ग़ायब, 6. अंतराल।

और दूसरे ही लमहे शकीला मुमानी के दोनों हाथ मेरे हाथों में थे और मेरा सिर उनके हाथों पर झुका हुआ था और हमारी आँखों से अश्क रवाँ थे।

दूसरी सुबह वापसी का रिज़र्वेशन कराने के बाद जब मैं उनसे मिलने होटल पहुँचा तो छोटे मामूँ जाने को तैयार खड़े थे। मुझे देखते ही बोले, ''तुम अपनी मुमानी को दिल्ली दिखाओ, मेरा तो सारा दिन कॉन्फ्रेंस में निकल जाएगा।'' और वो चले गए।

मैं और मुमानी होटल के पुरतकल्लुफ़[1] माहौल से निकलकर टहलते हुए बाहर आ गए। कनॉट प्लेस का इलाक़ा दूर तक अपनी बाँहें फैलाए शादो-आबाद खड़ा था और दिल्ली की ज़िंदगी हमेशा की तरह रवाँ-दवाँ थी। सड़क के किनारे लगी दुकानों में टूरिस्टों को लुभाने के लिए हर रियासत का मख़सूस सामान भरा हुआ था। दुनिया के तक़रीबन हर मुल्क का टूरिस्ट वहाँ मौजूद था और इतने अच्छे, ख़ूबसूरत और बहुत सारे सामान को लालच भरी नज़रों से देख रहा था। भारत के बेहतरीन कारीगरों के हाथों का बना हुआ सामान इतनी वाफ़र[2] मिक़दार में देखकर मुमानी कुछ हैरान, कुछ परेशान थीं। ऐसा मैंने महसूस किया। मैंने कहा, ''आइए क़रीब से चलकर देखते हैं।''

मगर वो एकदम से भड़क गईं, ''नहीं-नहीं। बस यूँ ही, ठीक है...''

मैंने महसूस किया वो मजमे के दरमियान जाने को तैयार नहीं थी: वो चल भी बहुत मोहतात[3] अंदाज़ में रही थीं जैसे किसी चीज़ से ख़ौफ़ज़दा हों।

मैंने पूछा, ''आप ठीक तो हैं ना... ?''

''हाँ, हाँ। मैं बिलकुल ठीक हूँ।'' वो बोलीं, ''दरअसल मैं तुम्हारे मुल्क की सड़कों पर आज पहली बार चल रही हूँ। अजीब-सा लग रहा है। एकदम से माज़ी[4] की बहुत-सी यादें ताज़ा हो गई हैं।''

''माज़ी की यादें ? यहाँ ?'' मुझे उनकी बात सुनकर कुछ ताज्जुब हुआ क्योंकि बँटवारे के वक़्त जब वो यहाँ से गई होंगी उस वक़्त यक़ीनन उनकी उम्र इतनी नहीं रही होगी कि जिसकी कुछ यादें भी हों—मैंने सोचा।

''क्यों ? आपको ताज्जुब हो रहा है ?'' मुझे लगा उन्होंने मेरे ज़ेहन में चलती हुई फ़िल्म को देख लिया है। फिर वो बोलीं, ''ख़ैर छोड़िए यह बताइए यहाँ की जामा मस्जिद और लाल क़िला कहाँ हैं ? पहले वह देख लेते हैं।''

उन्होंने बात के रुख़ को मोड़ दिया। मैंने भी ज़ोर नहीं दिया एक जाते हुए टू सीटर को रोककर हम लोग जामा मस्जिद के लिए रवाना हो गए। रास्ते में कई जगह ट्रैफ़िक के जाम लगे। मुमानी बड़े ग़ौर से देखती रहीं। इतनी भीड़ को देखकर वो बहुत परेशान थीं। उनका ध्यान बँटाने के लिए मैंने रास्ते में पड़ने वाले तारीख़ी मुक़ामात के बारे में उनको बताया, मगर जामा मस्जिद का इलाक़ा आते ही मैंने महसूस किया मुमानी यहाँ की भेड़-बकरियाँ और लंबी-लंबी दाढ़ियाँ देखकर ना जाने कैसे कुछ नॉर्मल हो गईं। जामा मस्जिद की अज़ीमुश्शान (भव्य) इमारत, लंबे-चौड़े दालान और कुशादा[5] सेहन[6] को देखकर वो कुछ और मुतमइन[7] नज़र आईं।

फिर जब हम जामा मस्जिद की सीढ़ियाँ उतरकर नीचे आए तो वो आहिस्ता से बोलीं, ''चलिए ख़ुदा का शुक्र है दिल्ली का एक इलाक़ा तो ऐसा है जहाँ कुछ मुसलमान नज़र आते हैं और इस्लामी अज़मत का अहसास होता है।''

मैंने उनकी तरफ़ चौंककर देखा और सोचा—अच्छा, तो ये यहाँ के मुसलमानों और इस्लामी अज़मत के लिए इतनी परेशान हैं।

मुझे ख़ुशी हुई कि उनकी सोच का एक सिरा तो हाथ में आया। मैंने कहा, ''यह दिल्ली का

---

1. शिष्टाचार भरे 2. बहुसंख्या, 3. रक्षात्मक, 4. भूतकाल, 5. फैले, 6. आँगन, 7. संतुष्ट।

पुराना इलाक़ा है लिहाज़ा मुसलमान यहाँ एक ख़ास लिबास में नज़र आ रहे हैं और लिबास से उनके मज़हब की पहचान हो रही है, वरना यह मुल्क तो दुनिया का सबसे बड़ा जम्हूरी[1] मुल्क है। यहाँ लिबास, बोली, ख़ुर्दोनोश[2] से मज़हब की तमीज़ करना कुछ आसान नहीं है।''

वो कुछ नहीं बोलीं : मुझे लगा जैसे उनको मेरी इस बात में कोई वज़न महसूस नहीं हुआ। ज़ाहिर है वो मुम्लिकते-ख़ुदादाद[3] से आई थीं जहाँ फ़ौजी जनरलों का दबदबा था। उनके लिए यह बात समझना आसान नहीं था।

लाल क़िले जाने के लिए जब हम रिक्शा पर बैठे तो वो बड़े तास्सुफ़[4] भरे अंदाज़ में बोलीं, "औरों को तो जाने दीजिए, मेरी तो समझ में यह बात नहीं आती कि यहाँ आप लोगों का मुस्तक़बिल[5] क्या है? अभी तो आपके बच्चे छोटे हैं। कल को जब वह बड़े होंगे उनके रोज़गार, ब्याह-शादी का मसला दरपेश होगा। रोज़गार छोड़िए, शादी-ब्याह का क्या होगा? यहाँ कितने सैय्यद घराने हैं? क्या ग़ैरों में करेंगे रिश्ते?''

मैंने मुमानी की तरफ़ देखा। मुझको उनकी बात सुनकर अफ़सोस इसलिए हुआ कि वो तो सारी दुनिया घूम चुकी हैं फिर भी उनके क़ल्ब[6] पर इंसानी अज़मत[7] का कोई असर नहीं हुआ। वो ज़ेहनी तौर पर अब भी अपने मुल्क के बंद मुआशरे[8] में ही घूम रही हैं। वहाँ की वह ख़्वातीन जिन्होंने बाहर की दुनिया देखी ही नहीं उनका क्या हाल होगा? मैंने देखा मुमानी अपनी बात के लिए बहुत फ़िक्रमंद नज़र आ रही थीं।

मुझे हँसी आ गई। मैंने कहा, ''मुमानी! यह मुल्क और यहाँ के लोग बड़े अजीब हैं। शुरू में ऐसा ही लगता है। जब आप यहाँ कुछ दिन रह लेंगी तब आपकी समझ में आएगा कि यहाँ लोगों के दिलों में कितनी वुसअत[9] है, यहाँ आपस की मोहब्बतें कितनी गहरी हैं। ख़ून के रिश्तों और मज़हबी सोच से आज़ाद होकर जब आप यहाँ के लोगों से मिलेंगी तभी आप समझ पाएँगी कि इस मुल्क में वह कौन-सी बात है जो इसको सदियों से ज़िंदा रखे हुए है।''

''भाई! यह सब जज़बाती बाते हैं, इनमें कुछ नहीं रखा है।'' वो बोलीं, ''आपके यहाँ जब फ़िसाद होते हैं तो आप पर क्या गुज़रती है? क्या अकसरीयती[10] फ़िरक़े के साथ हुकूमत भी आपकी दुश्मन नहीं होती? तब यह आपका फ़लसफ़ा कहाँ चला जाता है?''

मैंने कहा, ''मुमानी! यह हुकूमत वाली बात आपके अख़बार लिखते होंगे। मगर आपको मालूम है यहाँ मुसलमानों पर वक़्त पड़ने पर उनका साथ कौन देता है? कौन होता है उनकी हर बात के लिए, सीना सिपर? मुसलमान तो यहाँ मुसलमानों को आपस में लड़ाने का काम करते हैं—सीना सिपर हमेशा हिंदू होता है। अब आपने छेड़ा है तो मैं बताऊँ कि दरअसल यहाँ आपस में बेएतबारी का दौर वहाँ से शुरू हुआ जब आज़ादी मिलने के बाद ना आक़बत अंदेश[11] मुसलमान इस मुल्क को छोड़कर जाने लगे। जब मिलकर बैठने का वक़्त था, बिछड़ने लगे। नतीजा यह हुआ कि जो मुसलमान यहाँ बचे रह गए मुल्क से उनकी वफ़ादारी शुकूक[12] के घेरे में आ गई। और इस बात ने मुल्क में फ़सादात कराए। मगर आज ख़ुदा का शुक्र है कि सारे आईने साफ़ हो गए हैं। जो कुछ बचा है वह बक़ौल मिर्ज़ा ग़ालिब घर की रौनक़ का मुआमला हैं: *एक हंगामे पे मौक़ूफ़*[13] है घर की *रौनक़ + नौहए-ग़म*[14] *ही सही, नग़म-ए-शादी*[15] ना सही।

मुझे लगा अभी मुमानी के दिल का आईना साफ़ नहीं हुआ है। लाल क़िले के बाज़ार से गुज़रते वक़्त मुमानी वहाँ के दुकानदारों के चेहरे

1. प्रजातंत्र, 2. खान-पान, 3. भगवान का बनाया देश, 4. खेद, 5 भविष्य, 6. दिल, 7. मानवीय पराकाष्ठा, 8. सामाजिक रहन-सहन। 9. फैलाव, 10. बहुसंख्यक, 11. आगे की न सोचने वाले, 12. संदेह, 13. निर्भर, 14. शोक गीत, 15. ख़ुशी का गीत

बहुत ग़ौर से देख रही थी। मैं समझ गया। मैं समझ गया वो उनके माथे पर उनका मज़हब तलाश रही थीं, जो नदारद था और इसीलिए शायद वह कुछ बेचैन थीं। वह जिस मुल्क से आई थीं वहाँ सारे मज़हबी धारे एक ही दहाने से होकर बह रहे थे और इसीलिए उनकी नज़रें बहरए-बेकराँ[1] को ना देखकर महज़ एक जूए-कमआब[2] को देखने की आदी हो गई थीं। मुझे यह देखकर बहुत तकलीफ़ हुई। मगर किसी के जावियए निगाह[3] को बदलने के लिए कुछ मुद्दत चाहिए। मैंने सोचा और दिल में कहा, ''मैं उस वक़्त का इंतज़ार करूँगा।''

जब हम वापस होटल पहुँचे तो छोटे मामू आ चुके थे। मुझको देखते ही बोले, ''भई! पहले यह बताओ, तुमने अपनी मुमानी को कुछ खिलाया-पिलाया भी या ये अभी तक भूखी हैं?''

''भूखी हैं'' मुझे सुनकर शॉक लगा। फिर एकदम से याद आया कि रास्ते में कई बार मैंने मुमानी से कुछ खा लेने के लिए कहा था मगर अपनी बातों में हर बार इस बात को वह टाल गई थीं।

मुझे चुप देखकर छोटे मामू बोले, ''जब से ये तुम्हारे मुल्क में आई हैं, इन्होंने बिस्कुट और केक के अलावा कुछ नहीं खाया है। इनके दिल में एक ख़ौफ़ समाया हुआ है, कहीं यहाँ के खाने में कुछ मिला हुआ ना हो।'' छोटे मामू हँसने लगे। मगर मुझे अपने मुल्क के बारे में ऐसी छोटी बात सुनकर बहुत दुख हुआ। मैंने मुमानी की तरफ़ देखा, उनका चेहरा ज़र्द हो रहा था।

छोटे मामू बोले, ''दरअसल, ये मुल्क के बँटवारे को अभी तक भूल नहीं पाई हैं। बड़ी तल्ख़[4] यादें जुड़ी हैं इनकी बँटवारे के साथ।''

फिर उन्होंने जो बात बतलाई उसको सुनकर मेरे भी रोंगटे खड़े हो गए। वे बोले, ''ग़ैर मुनक़सिम[5] हिंदुस्तान में इनके वालिद यहाँ के एक रियासत में बड़े ओहदे पर फ़ायज़[6] थे। तक़सीम[7] के वक़्त जब चारों तरफ़ हलचल मची और मुल्क छोड़ने का माहौल बना तो इनके वालिद भी अपने ख़ानदान के साथ तर्के-वतन पर मजबूर हुए। मगर रास्ते में बलवाइयों ने उनकी गाड़ी रोक ली। इनकी वालिदा तो किसी तरह इनको लेकर कराची पहुँच गईं मगर इनके वालिद रास्ते में ही मारे गए। इन्होंने जब से होश सँभाला है और उस अलमिये[8] की तफ़सील सुनी है तबसे वह इनको हाँट कर रहा है। इनको किसी भी तरह यह एतबार नहीं हो पा रहा है कि अब हालात बदल गए हैं और ये यहाँ महफ़ूज़ हैं-दरअसल इनको साथ लाने का मक़सद भी यही है कि यह अहसास ख़त्म हो जाए।''

उन्होंने मेरी तरफ़ देखा। मुझे शर्मिंदगी तो ज़रूर महसूस हुई मगर मैं उन्हें कैसे बताता कि यह अलमिया तो उस पूरे दौर का है। और यह दोनों तरफ़ हुआ। एकदम से मेरे ज़ेहन में वो सारी गुफ़्तगू रिवाइंड होने लगी जो सुबह से मेरे और मुमानी के दरमियान हुई थी। अब जाकर उसका सारा स्याक़ो-सबाक[9] मुझको मालूम हुआ था। फ़ानूस अगर गंदा हो तो शक्लें भी गंदी दिखाई देती हैं। मुमानी तो वही देख रही थीं जो वक़्त ने उनको दिखाया था। अब यह मेरा फ़र्ज़ था कि मैं फ़ानूस के शीशे साफ़ कर दूँ ताकि वो मौजूदा वक़्त की तस्वीर साफ़ देख सकें। मुझे मुमानी पर एकदम से प्यार आने लगा और वो मुझे एक मासूम-सी गुड़िया नज़र आने लगीं।

दिल्ली आने के बाद मुझे अपने बचपन के दोस्त पंकज की याद आई तो ज़रूर थी मगर चूँकि मुझे ख़ुद नहीं मालूम था कि छोटे मामू का क्या प्रोग्राम है इसलिए मैंने उससे कोई राब्ता[10] क़ायम नहीं किया था, अब जबकि यह तय हो गया था कि मुमानी को लेकर दूसरे दिन की ट्रे

1. अथाह सागर, 2. केवल एक जूहड़, 3. दृष्टिकोण, 4. खट्टी, 5. अविभाजित, 6. आसीन, 7. विभाजन, 8. [illegible]
9. संदर्भ, 10. संपर्क

मुझको लखनऊ वापस जाना है मैंने पंकज को उसके दफ़्तर में फ़ोन किया। मेरी आवाज़ सुनते ही उसके अंदर हमेशा की तरह ज़िंदगी दौड़ गई। मैंने उसको अपने दिल्ली आने के मक़सद से आगाह किया तो वो और भी ख़ुश हो गया।

वह बोला, "मैं ऑफ़िस में छह बजे तक हूँ। तुम मामू से मालूम करके बताओ वो शाम को कब तक मेरे यहाँ आ सकते हैं। मैं लेने के लिए गाड़ी भेज दूँगा।"

मैंने कहा, "पहले उनसे पूछ तो लूँ, वो आएँगे भी या नहीं।"

वह हमेशा की तरह दावे से बोला, "वाह, आएँगे क्यों नहीं! क्या वो मेरे मामू नहीं हुए?"

इस तरह रात को आठ बजे के क़रीब हम लोग उसकी गाड़ी में बैठकर पंकज के घर पहुँच गए। दिल्ली की एक पॉश कॉलोनी में उसका छोटा-सा मगर ख़ूबसूरत घर था। पंकज के साथ उसकी बीवी देवयानी और दोनों बच्चे भी हमारे इस्तिक़बाल[1] के लिए गेट पर ही खड़े थे।

हमारे उतरते ही पंकज बोला, "इसके साथ आप मेरे भी तो मामू हुए,इसलिए आप लोगों को होटल छोड़कर अब मेरे पास ही रहना होगा।" और साथ ही उसने बड़े अदब से झुककर मामू और मुमानी के पाँव छू लिए। उसके साथ देवयानी और बच्चों ने भी उनका इसी तरह इस्तिक़बाल किया।

मामू ने हँसकर कहा, "अरे भाई? तुम लोग तो मुझे बड़ा बुज़ुर्ग बनाए दे रहे हो। मैं तुम लोगों से थोड़ा ही तो बड़ा हूँ।"

"वह तो है। मगर आपका रिश्ता तो हमारी माता जी के भाई का हुआ ना, इसलिए बड़े तो आप हर हाल में हुए।"

सब लोग हँसते हुए ड्रॉइंगरूम में आ गए जहाँ गर्म-गर्म कॉफ़ी सब का इंतज़ार कर रही थी।

तीन घंटे किस तरह गुज़र गए पता ही नहीं चला। मैं, पंकज और छोटे मामूँ दोनों मुल्कों के समाजी और सियासी हालात पर मुख़्तलिफ़ ज़ावयों[2] से गुफ़्तगू करते रहे। मुमानी और देवयानी में बातों के दौरान न जाने कैसा रब्त[3] पैदा हुआ कि वो अपने-अपने वजूद को भूलकर ड्रॉइंगरूम से कब देवयानी के कमरे में चली गईं किसी को पता ही नहीं चला। वह तो खाना जब मेज़ पर लगाया जाने लगा तो मैंने देखा देवयानी के साथ मुमानी भी उसका हाथ बँटा रही हैं और उसको कढ़ाई गोश्त बनाने की तरकीब समझा रही हैं। मैंने देखा उस वक़्त मुमानी के चेहरे पर एक अजीब-सी आब[4] थी और वह भी देवयानी की तरह हश्शाश बश्शाश[5] नज़र आ रही थी।

खाने के बाद जब सबने घड़ी की तरफ़ देखा तो वह रुख़सत होने का वक़्त बता रही थी। पंकज ने बहुत ज़ोर दिया कि सब लोग वहीं रुक जाएँ, मगर छोटे मामू के लिए यह मुमकिन नहीं था। देवयानी ने मुमानी की तरफ़ देखा और उनके चेहरे पर न जाने क्या लिखा देखकर उसने अपनी दोनों बाँहें मुमानी के गिर्द डाल दीं आख़िर तय हुआ कि छोटे मामू अकेले होटल जाएँगे। कल सुबह मैं और मुमानी देवयानी के साथ दिल्ली घूमने के बाद होटल पहुँचेंगे।

दूसरे दिन लखनऊ जाने के लिए जब हम अपनी ट्रेन के रिज़र्व कंपार्टमेंट में पहुँचे तो वहाँ हस्बे-मामूल[6] हंगामी हालात थे। हर मुसाफ़िर को अपनी पड़ी थी। हम किसी तरह रास्ता बनाते हुए अपनी सीटों तक पहुँचे तो देखा वहाँ पंकज और देवयानी हमारा इंतज़ार कर रहे थे। वो अपने साथ ढेर सारा खाना और नाश्ता लेकर आए थे।

पंकज मुझको देखते ही बोला, "अरे भले आदमी? फ़र्स्ट क्लास या ए.सी. में मुमानी को ले जाना था। यहाँ सबके बीच सेकेंड क्लास में तूने रिज़र्वेशन कराया है। इनको आदत है इसकी?" उसने भीड़ की तरफ़ इशारा किया।

---

1. स्वागत, 2. विभिन्न दृष्टिकोणों, 3. जुड़ाव, 4. आभा, 5. गदगद, 6. हमेशा की तरह।

"यार! तुझे पता नहीं। पहले तो मैंने अपनी जेब देखकर रिज़र्वेशन कराया था। मगर अब शायद अल्लाह की मसलेहत[1] थी कि मैं इनको इसमें ले जा रहा हूँ। दरअसल मैं इनको बताना चाहता हूँ कि अवाम दोनों मुल्को के एक जैसे हैं। यह सियासतदाँ हैं जो हमें आदमी से हैवान बना देते हैं। हम एक ही तहज़ीबी विर्से[2] के वारिस हैं। बस अल्लाह से दुआ है कि यह सफ़र इज़्ज़त से कट जाए।" मैंने कहा।

"भगवान तुम लिखने वालों को समझे!" वह लाचारी से बोला, "तुमने इंसानों को भी चूहे-बिल्ली की तरह तजुर्बे की चीज़ बना लिया है।"

हम दोनों हँसने लगे। गाड़ी छूटने का वक़्त हो रहा था। मैं अपनी सीट पर जा बैठा। देवयानी जो अभी तक मेरी जगह बैठी थी, नीचे उतर आई। गाड़ी रवाना हुई और हम एक-दूसरे को अलविदा कहने के लिए हाथ हिलाते रह गए।

हमारे आसपास सीटों पर सिख और पंजाबी ख़ानदान बैठे हुए थे। मुमानी काफ़ी दिनों तक लाहौर में रही थीं इसलिए पंजाबी बोली अच्छी तरह समझती थीं। गाड़ी रवाना होने के कुछ देर बाद मैंने महसूस किया वो यहाँ सबके बीच में बैठकर कुछ बेचैन हो रही हैं। गाड़ी अब तेज़ रफ़्तार से चल रही थी और सारे मुसाफ़िर अपनी जगहों पर इत्मीनान से बैठ चुके थे। मैंने देखा थोड़े फ़ासले पर चार सीटें ख़ाली थीं।

यकायक मैंने महसूस किया सामने बैठी गोरी-चिट्टी सिनरसीदा[3] सरदारनी जिसके सारे बाल सफ़ेद थे मगर जिसके ख़ूबसूरत चेहरे से नूर छन रहा था मुमानी की सदरी को बहुत ग़ौर से देख रही है। मैंने भी उस तरफ़ देखा तो पाया उन्नाबी रंग की सदरी पर शीशे की बड़ी उम्दा कारीगरी थी। वह सदरी मुमानी पर लग भी बहुत अच्छी रही थी। फिर वह नज़रों ही नज़रों में मुमानी के पूरे सरापे[4] का जायज़ा लेने लगी। उसने मुतमइन होकर अपने बराबर बैठे सरदार जी से कुछ कहा फिर उन दोनों ने मिलकर मेरी तरफ़ बड़ी तजस्सुस भरी[5] निगाहों से देखा। ऐसी निगाहें जिन्होंने पूरे वजूद का एक्स-रे कर डाला। मेरी समझ में कुछ नहीं आया तो मैं आहिस्ता से मुस्कुरा दिया। सरदार जी को शायद हौसला मिला। वे बोले "आपने लखनऊ जाना है?"

"जी!" मैंने मुख़्तसर जवाब दिया।

"आप भी पाकिस्तान से आ रहे हो?" उसने सीधा सवाल किया। उसके सवाल को सुनकर मुझे ताज्जुब हुआ।

"नहीं तो... !" मुझे ख़ुद लगा कि मेरा जुमला अधूरा है।

"मगर ये तो पाकिस्तान की हैं पूरी..." अबकी बार बुज़ुर्ग ख़ातून कुछ इस अंदाज़ में बोलीं कि अगर मैंने इनकार किया तो वह शायद किसी बड़ी दौलत से महरूम हो जाएँगी।

"जी हाँ! मैं कराची से आ रही हूँ।" अबकी बार मुमानी ने जवाब दिया।

वह बुज़ुर्ग ख़ातून एकदम से खिलखिलाकर हँस दीं, "तभी मैं कहूँ, यह अपनी मिट्टी की ख़ुशबू कहाँ से आ रही है!"

और उन्होंने बेइख़्तियार अपने लंबे हाथ आगे बढ़ाकर मुमानी के दोनों गाल बड़े लाड़ से थपथपा दिए। न जाने उनके हाथों में कौन-सा जादू था कि मुमानी के चेहरे का रंग बदल गया और अभी तक जो तनाव छाया हुआ था दूर हो चला गया।

वह दोनों तर्के वतन[6] से पहले गुजराँवाला में रहते थे मगर कारोबार के सिलसिले में कराची और हैदराबाद सिंध बहुत आना-जाना रहता था। वहाँ के लिबास, खाने, बूदोबाश[7] सभी से वाक़िफ़ थे वो। आहिस्ता-आहिस्ता पूरे डिब्बे को मालूम हो गया कि उनके बीच एक मुसाफ़िर पाकिस्तान

1. इच्छा, 2. सांस्कृतिक धरोहर, 3. वृद्ध, 4. सिर से पैर तक, 5. जिज्ञासापूर्ण, 6. अपना देश छोड़ने, 7. रहन-सहन

का भी है। फिर तो ऐसा लगने लगा जैसे वह अकेली मेहमान हैं और बाक़ी सारे मेज़बान, न जाने कितनी तरह के अचार, चटनियाँ, पराठे, छोले और भटूरे निकल आए । ट्रेन जब मुरादाबाद पर रुकी तो चार बुर्क़ापोश औरतों को रुख़सत करने के लिए एक पूरी जमाअत डिब्बे में आ गई। ख़ुशहाल और ख़ुशपोश, तनोमंद[1] मर्द और औरतें। इस तरह वह चार सीटें भी भर गईं और उसके बाद जो बातों का सिलसिला शुरू हुआ तो पता ही नहीं चला हम कब लखनऊ पहुँच गए, पंकज और देवयानी का खाना और नाश्ता यूँ ही बँधा रहा।

ट्रेन जब लखनऊ स्टेशन पर रुकी तो अब्बा और अम्मा को छोड़कर सारा घर वहाँ इस्तिक़बाल को मौजूद था। मेरे दोस्त नदीम, शांति और पुरुषोत्तम भी थे। डिब्बे से उतरकर बाहर आते-आते मुमानी के हाथों में न जाने कितने कार्ड आ चुके थे जिनमें उनको अपने घर बुलाने वालों के नाम और पते दर्ज थे। उनके नामों को पढ़-पढ़कर वो हैरान थीं।

उसी वक़्त मैंने देखा मेरे बॉस अग्रवाल साहब अपनी पत्नी के साथ आ गए। मुमानी से मिलने के बाद वो मुझसे आहिस्ता-से बोले, ''मैंने सवारी का इंतजाम कर दिया है, गाड़ियाँ बाहर खड़ी हैं।''

मैंने उनकी तरफ़ देखा। वो जो अपने उसूलों के बड़े सख़्त थे और ऑफ़िस में नाक पर मक्खी भी नहीं बैठने देते थे, आज सिर तापा[2] मेज़बान नज़र आ रहे थे।

और फिर वह दिन भी आ गया जब लखनऊ में मुमानी के क़्याम[3] की मुद्दत पूरी हुई और वो अपना सामाने-सफ़र बाँधने लगीं। इतने तोहफ़े थे कि समझ में नहीं आ रहा था क्या ले जाएँ और क्या छोड़ जाएँ। कोई आ रहा था। कोई जा रहा था। नाश्ते और फलों से घर भरा हुआ था। मगर वह हँसी और कहकहे जो इतने दिनों से घर में गूँज रहे थे आज ख़ामोश थे। जा तो मुमानी रही थीं मगर सफ़र सबके ज़ेहनों पर सवार था।

जब आख़िरी बार रुख़सत होते हुए मुमानी ने मेरी तरफ़ देखा तो उनकी आँसुओं से लबरेज़ आँखों में मुझे एकदम से वह लमहा तैरता हुआ नज़र आने लगा जब उन्होंने दिल्ली में मुझसे पूछा था, ''मेरी समझ में यह बात नहीं आई कि यहाँ आप लोगों का मुस्तक़बिल क्या है ?''

और मैं बेचैन हो गया। पता नहीं अब उनके दिमाग़ में क्या चल रहा है ?''

उसी वक़्त वो आहिस्ता-से बोलीं, ''भाई ! मैं यहाँ फिर आऊँगी। बार-बार आऊँगी...कोई चीज़ है जो यहाँ छूटी जा रही है...''

1. स्वस्थ, 2. सिर से पैर तक 3. रहने।
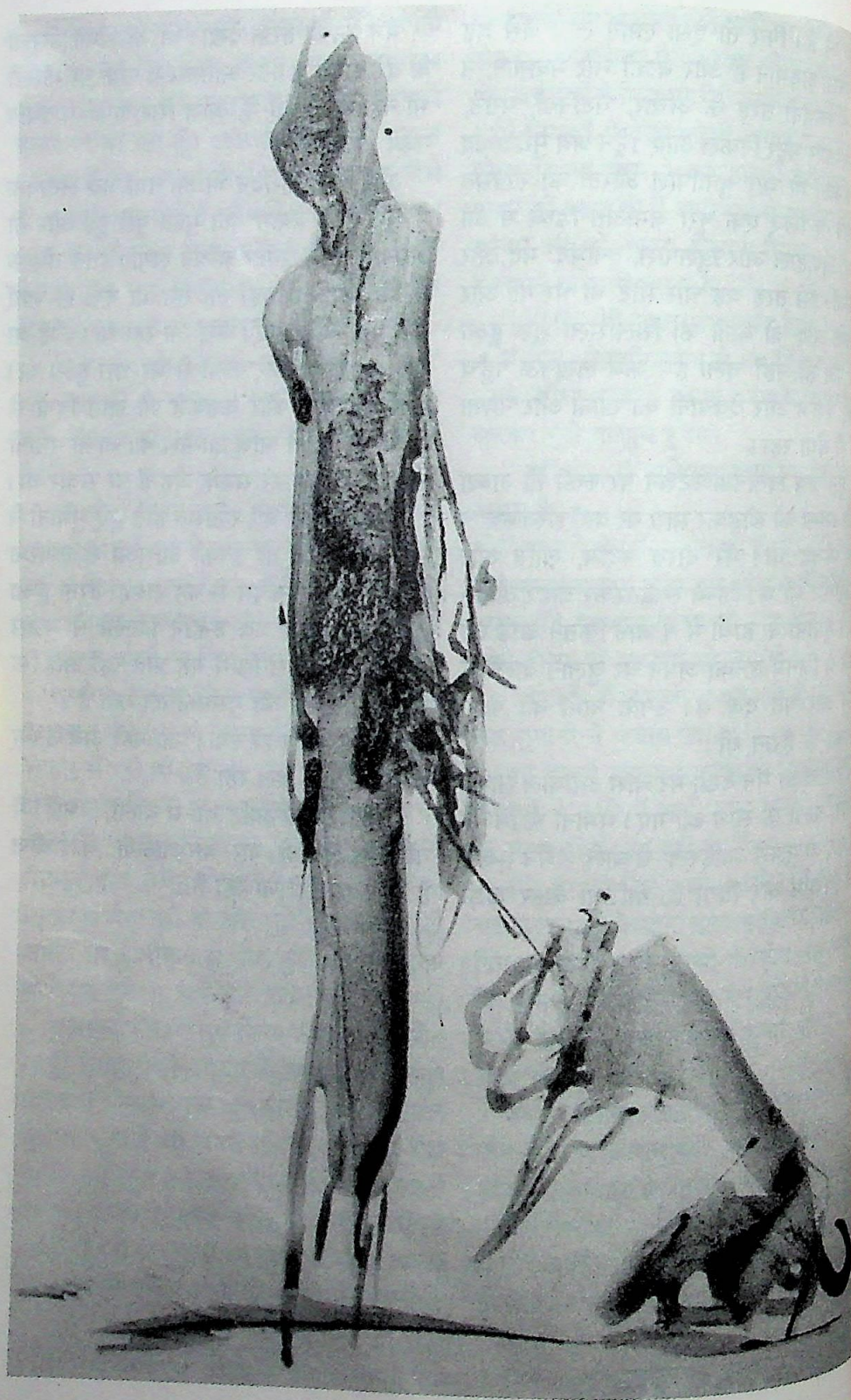
हिंदी

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

देह

स्मृति है यह संवत्सरों की
इसी में गूँजती है
जन्म जन्मांतरों की कथा

कितने लोक
कितने आकाश
कितने महाभूत
कितने ज्वालामुखी हैं
इस अनंत में
इसकी अँधेरी खाइयों को
भेद नहीं पाए
खरबों प्रकाशवर्ष

नश्वर है यह
मगर यही तो मुक्त करती है
नश्वरता के बोध से

देवकानन है यह
पारिजात गंध से महमह
अपसराएँ उतरती हैं
इसी देहवन में
उतरते हैं देवता
और जन्म लेते हैं महारथी

इसके रंगों में चमकती हैं
सूरज की वल्गाएँ
इसकी छाती में धड़कती हैं
सदानीराएँ
इसकी पलकों में झरते हैं
नेह के निर्झर
इसकी पुतलियों में बहती है
करुणा की गंगा

इसकी हथेलियों में ढूँढ़ते हैं
जो भाग्यरेखाएँ
अभागे हैं वे

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का जन्म 1940 में हुआ। कहानी एवं आलोचना की कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। उत्तर प्रदेश सरकार से पुरस्कृत हैं। संपर्क : दस्तावेज़, बेतियाहाता, गोरखपुर 273001

यह स्वयं एक ज्योति लता है
अदृष्ट के समानांतर
इसकी उँगलियों में झनकते हैं
वीणा के तार
इसकी मुट्ठियों में बंद हैं
सूर्य, चंद्र, बृहस्पति
इसी में लहराते हैं चौदह रत्न

देह है यह
इसी में फूटता है
देही का अर्थ

इसके होंठों से दमकता है बाल रवि
इसकी ध्वनि से झंकृत है प्रकृतिराग
इसकी स्मृति से खिलते हैं सहस्रदल
शतद्रु है यह महाज्वाला के लिए

जो इसमें नहीं है
नहीं है ब्रह्मांड में।

दूसरे दिन का अख़बार

जी.आर.पी. दारोगा ने
नहीं लिखी रपट
उस पहाड़ी युवक की
जो लौट रहा था
जलंधर से कमाकर अपने देश नेपाल

जिसे गुंडों ने फेंक दिया
चलती गाड़ी से बाहर
और उठा ले गए
जिसकी बीस वर्षीया बहन को
जिसे सुंदर बनाया था उसके दुर्भाग्य ने

एक ही दिन छपी यह ख़बर अख़बार में
दूसरे दिन तलाशता रहा बेचैनी से
कि क्या हुआ उस पार्वती का?
किस टीसन के पास रौंदी गई वह लक्ष्मी
गोदी गई चाक़ुओं से किस खेत में दुर्गा
किस कोठे पर बेची गई सरस्वती?

मगर दूसरे दिन का अख़बार
गूँज रहा रेलमंत्री की दहाड़ से

धनबल, बाहुबल, सुरक्षा बल के अट्टहास में
कहीं एक पंक्ति नहीं थी
उस अनाम अबला के बारे में।

पकड़ा गया हरिया

पकड़ा गया हरिया
भर पेट भोजन करते
मुहल्ले में ही उत्सव था उस दिन
एक व्यापारी की कोठी पर
सुबह से ही निगाह थी
हरिया की ललचाई

मोटर पर मोटर ठेले पर ठेला
ढोया जा रहा
सामान पर सामान सुबह से ही

व्यापारी से ज़्यादा ही ख़ुश था हरिया
सूरज धीमी गति से चल रहा था उस दिन
किसी तरह कटी दोपहरी

तीसरे पहर नगरपालिका के नौकर
चमका रहे थे सड़क को
दोनों ओर चूने की रेख
पानी का छिड़काव
फिर आई घोड़े सवार पुलिस
खड़ी हो गई कोठी के द्वार

हरिया ने कई चक्कर लगाए बाहर-बाहर
भीतर के अमर पकवान की गंध
भरते हुए अपने भीतर ही भीतर

शाम को पट गई सड़क मोटरों से
और सजे-धजे लोगों की भीड़ में
घुस गया हरिया भी
चरम आनंद के उस क्षण
जब सधी हुई चम्मचों से चख रहे थे लोग
छप्पन व्यंजन

हरिया के हाथों से छूटकर गिर पड़ी भरी प्लेट
और इस तरह पकड़ा गया हरिया
भरपेट भोजन करते।

फूलचंद मानव

परदेदारी का पर्व

परदा घर का हो या बाज़ार का
इज़्ज़त का हो या कारोबार का, एक बार तो नचाता है
आख़िर एक दिन परदा भी बेपरदा हो जाता है
रंगों और फूलों के अर्थ फैलते
समय बाँध जाते हैं
परदे के आगे या पीछे जितने भी सच हैं
आपको यूँ क्यों चौंकाते हैं।
छल्ले या धारियाँ, उभरी सिमटी रंगों की क्यारियाँ
परदे पर भाने लगती है, चाहे अनचाहे एक नई संस्कृति
दिखाने लगती है, जो आप परदे के पीछे छिपा रहे होते हैं

फूलचंद मानव का जन्म 1945 में हुआ है। कहानी, कविता, उपन्यास एवं अनूदित कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : 239, दशमेश एनक्लेव, हिम्मतगढ़-ढकौली 140201, जीरकपुर।
फ़ोन : 9316001549

परदा एक प्रकाश है, या फिर बनवास है
इसके उजास या त्रास का
आप जब भी शिकार होते हैं, होशियार होते हैं
बड़े क़द के आप, छोटे होकर,
अपने सिमटते साए में डूब जाते हैं
या फिर क्षणभंगुर इतराते हैं बच्चों से, छोटों की तरह
मित्रो! इसी परदे ने आपको आज तक
बड़े-बड़े अवसरों पर छोटा होने से रोका है
फिर भी आपको क्यों लगता है—
कि परदा एक धोखा है।
मन या आत्मा में जी जान से
लिपटे या बिखरे किसी अरमान से
हम यहाँ जो परदादारी निभाते हैं
क्या इसी के आसरे दानिशमंद नहीं कहलाते हैं?

चादर

चादर को चादर की नज़र से
आपने कभी देखा है!

यहाँ भी एक लेखा है—
चादर में लिपटे सिमटे आदमी से लेकर
इसमें धँसे जन तक एक लय होती है
जो अनकही सोती है

सोते या जागते, भागते या हँसते
जब जब चादर आप पर सवार होती है, दुश्वार होती है।

रोती हुई चादर को हँसी में
हँसते फैलाव को उदासी में, आप ही तो बदलते हैं
क्योंकि चादर इटली की हो या ब्रिटनी की
एक धोखा है, अंततः उसका रंग मटमैला है,
फिलहाल भले लगता वह चोखा है
कबीर की चादरिया से आज की चादर तक, झुमरी तलैया से दादर
तक, एक द्वंद्व है
सोचते, फिसलते हैं, फँसते, हिचकते हैं। आख़िर चादर के शिकार—
हो जाते हैं, बँधी-बँधाई लीक पर दुनियादार हो जाते हैं

दोस्तो! आज की चदरिया ज्यों की त्यों धर देने के लिए नहीं
आप धर भी नहीं सकते, धरना चाहेंगे भी नहीं।

क्योंकि आपके पास पैसा है, माल है, चीज़ों की सँभाल है
आप इसे भी तानपूरे की तरह लेटी या खड़ी रख सकते हैं
धरती या दीवान पर कहीं भी पड़ी रख सकते हैं

सिलवटों का सिलसिला आपको चौंकाएगा
चादर का कोई रंग आपके काम नहीं आएगा
क्योंकि आप तो आदत के ग़ुलाम हैं
पाने, हथियाने से चादर को ओढ़ जाने तक बदनाम हैं

इस जगत के ख़ौफ़ से नहीं डरते आप
अगले से क्या डरेंगे
पता नहीं भविष्य में चादर के साथ क्या-क्या करेंगे?

बहिन, बेटी, माँ, आई या ताई चादर तो एक व्यवहार है।
सब कुछ पाकर, लेकर भी, इन्हीं की देनदार हैं
एक बार फिर, इसीलिए कहता हूँ, चादर को चादर की-
नज़र से देखो: यह तुम्हें जगा सकती है,
उठाकर आदमी बना सकती है
इसीलिए चादर एक चतुराई है, तालाब की काई है,
जो कभी भाई, या काम आई है।

माधव कौशिक

हल तो निकले

चट्टानों के जिगर से जल तो निकले
हमारी मुश्किलों का हल तो निकले।

चलूँगा तेज़ से भी तेज़ लेकिन
मेरे पाँवों से ये दलदल तो निकले।

शहर को चीरकर देखो तो यारो
शहर की कोख से जंगल तो निकले।

मैं तुमसे प्यार करना चाहता हूँ
ये रिश्तों की फँसी साँकल तो निकले।

बिछड़ने का सताए ग़म तुम्हें भी
तुम्हारी आँख का काजल तो निकले।

मैं तपती धूप में मुरझा रहा हूँ
किसी कोने से अब बादल तो निकले।

माधव कौशिक जी की कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : 3277/45-डी, चंडीगढ़।
फ़ोन : 0172-2665276, 09217707488

सहना पड़ा मुझे

फूलों का सख़्त लम्स भी सहना पड़ा मुझे
काँटों के साथ देर तक रहना पड़ा मुझे।

यूँ तो हवा के साथ कोई दुश्मनी नहीं
दरिया के बरख़िलाफ़ भी बहना पड़ा मुझे।

तुम तो नज़र चुराकर ख़ामोश हो गए थे
आख़िर में दर्द सबका कहना पड़ा मुझे।

बालू में जज़्ब हो गए सब रेत के महल
ऐसे ही इत्मिनान से ढहना पड़ा मुझे।

मुझसे ना पूछ वक़्त की मजबूरियाँ अभी
हर लमहा अपनी आग में दहना पड़ा मुझे।

सारे चिराग़ वक़्त की आँधी में बुझ गए
ये हादसा भी दोस्तो सहना पड़ा मुझे।

सतीश जायसवाल

माँ, मुक्ति और सपना

...कभी मुझे लगता है
मैं हूँ संतान मातृविहीन...

कहीं कोई गा रहा था
एल्विस प्रिस्ले[1] के साथ
दर्द भरी धुन में
यह गीत

मुझे लगा
मेरा मन गा रहा था
एल्विस प्रिस्ले के साथ
दर्द भरी धुन में
यह गीत

...कभी मुझे लगता है
मैं हूँ संतान मातृविहीन...

ऐसे में
घिर जाता हूँ मैं

सतीश जायसवाल का जन्म 1942 में हुआ। इनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : बृहस्पति बाज़ार चौक, बिलासपुर 495001 (छत्तीसगढ़)

1. अमरीकी गायक एल्विस प्रिस्ले को, उसके इस गीत—'समटाइम आय फ़ील लाइक अ मदरलेस चाइल्ड'—के कारण तीसरी दुनिया की अनुभूतियों का गायक माना गया।

घोर असहायता में
सूझता नहीं
कहाँ से ढूँढ़कर लाऊँ एक माँ
उस मातृविहीन संतान के लिए
रचा गया होगा यह गीत
यह दर्द भरी धुन
जिसके लिए

कहीं कोई कविता सुना रहा था
स्टीवेंस के साथ
बुन रहा था मुक्ति का सपना
ग़ुलाम के लिए
मुझे लगा
मेरा मन पढ़ रहा था
स्टीवेंस की कविता
बुन रहा था मुक्ति का सपना
अपने लिए

सपने में चमक रहा था सूर्य
और पारदर्शी था आकाश
नदी के जल-तल पर उतर रही थी
आकाश की छाया
ग़ुलाम मुक्त हो चुका था
और मुस्कुरा रहा था
अनंत हो चुका था उसका सपना
सपना कविता में फैल रहा था

कविता में मुस्कुरा सकता है
ग़ुलाम, निर्बंध
कविता में सपना हो सकता है
सपने में हो सकती है एक माँ
उस मातृविहीन संतान के लिए
गा रहा था सुर चढ़ा के
एल्विस प्रिस्ले जिसके लिए

कहीं कोई बुला रहा था
नंदिता दास और शोभना नारायण[1] के साथ
मिल के
सपने देखने के लिए

1. इस सहस्राब्दी के प्रारंभ में नंदिता दास और शोभना नारायण ने बच्चों को सपने देखने का आह्वान किया था और उसे एक प्रतियोगिता का रूप दिया था।

अपनी सहस्त्राब्दी के बच्चों को
मुझे लगा
मेरा मन बुला रहा था
नंदिता दास और शोभना नारायण के साथ
मिल के
अपनी सहस्त्राब्दी के बच्चों को
सपने देखने के लिए

मुझे लगा
मैं मुक्त हो सकता हूँ
अपनी घोर असहायता से
अब ढूँढ़ के ला सकता हूँ
एक माँ
उस मातृविहीन संतान के लिए
एल्विस प्रिस्ले गा रहा था
दर्द भरी धुन में
जिसके लिए
जिसके लिए मुझे लगा
मेरा मन गा रहा था
एल्विस प्रिस्ले के साथ सुर मिला के
दर्द भरी धुन में

मुझे भरोसा है
सपने में माँ होगी...

रात ड्यूटी वाली नर्स

रात दस से
सुबह छह बजे तक
मरीजों की देखभाल के बाद
वह, इस समय
अस्पताल से बाहर निकली होगी
साढ़े सात वाली लोकल पकड़ने के लिए
वैसे ही ढक-मूँदकर छोटी-सी शॉल से
पूरी की पूरी अपने-आप को

बहुत सर्दी लगती है
रात ड्यूटी वाली उस नर्स को

तीखी हवाओं और
ओस भीगी उस रात में
मेरे सामने थीं एक जोड़ी आँखें

बिलकुल बादाम के बीज-सी, और
माथे पर बिखर रही कुछ लटें काले केशों की
वह मुझे मिली थी
छब्बीस दिसंबर की रात को
नौ-बीस वाली लोकल ट्रेन में

मुझे नहीं मालूम
कौन-सा राग
निर्धारित होता है
सर्द रात के
इस समय के लिए
संगीत के व्याकरण में

बस, कोई धुन थी
उठ रही थी
एक लय थी
भेद रही थी, ओस-भीगी हवाओं को
एक स्त्री-देह आलाप ले रही थी
रात के उस समय के लिए निर्धारित ठीक वही राग

क्या पता
कभी ऐसे ही
अकस्मात् हो
रात के उस समय के लिए निर्धारित ठीक वही राग
रूपांतरित हो जा प्रभाती की धुन में
अभी यह, जो झाँक रही है लालिमा
आकाश के उस कोने से
अभी यह, जो झाँक रही है लालिमा
आकाश के उस कोने से
अभी यह, जो किसी ने डाले हैं चावल के दाने
चिड़ियों को बुलाने के लिए
सुबह की चाय पीते हुए
रच रहा है यह सारा कौतुक
अकेले आदमी का मन
सुनाई पड़ने लग जाए वह धुन
निर्धारित होती है, जो सुबह के ठीक इस समय के लिए
अपने घर लौटती हुई वह लड़की, किसी दिन
अपनी लीक छोड़
निकले, सड़क नंबर तैंतीस के सामने से होकर

मुझे नहीं मालूम उसका नाम
फिर भी, मैंने उससे कहा था
सर्दी की दवा ले लेना, अस्पताल पहुँचकर
नर्सों वाली अपनी यूनिफ़ॉर्म पहनने से पहले
मुझे विश्वास है, मेरी बात उसने मानी होगी
चाहे, सर्दी से लाल हो रही होगी उसकी नाक
फिर भी, छींकें थम गई होंगी
सर्दी के इन दिनों, सुबह के समय
तुलसी की पत्ती और काली मिर्च वाली चाय
अच्छी होती है
किसे पता होता है, कौन चला आए
सुबह-सुबह अपने घर
चाय के इस समय

रातभर जागकर ड्यूटी करती है, अस्पताल में
तब, घर जाने के लिए कपड़े बदलती है एक नर्स
रातभर
किसी अकस्मात् का भरोसा संजोता है
एक मन
तब सुबह की अकेली चाय के साथ

जुड़ता है
बार-बार किसी आहट का भ्रम
बंगला नंबर 4-बी के लोहे वाले छोटे-से गेट पर

एक आलाप उठती है
धूप को समुद्र बना जाती है
एक धुन गूँजती है
मन को नाविक बना जाती है...

पेड़ पर फल

बार-बार मुड़कर
पीछे देखता है
ललचाई नज़रों से
मेरे घर के सामने से
साईकिल पर निकलता हुआ
गली का एक छोकरा

मेरे यहाँ आ गए हैं
छोटे-छोटे फल
सीताफल के पेड़ पर
मुझे चिंता हो रही है

मेरी उम्र के पिताओं को
ऐसी ही चिंताओं से
घेर रही होंगी
बेटियों की माँएँ
जब से
छोटे पड़ने लगे होंगे
बढ़ती हुई बेटियों के
नाप के कपड़े

इतना जतन करके भी
कहाँ रोक पाती हैं
चिंतातुर माँएँ
कपड़ों की यह पराजय

पेड़ों पर आ गए
फलों को
दूर से टोह लेते हैं
गली के छोकरे
घर के सामने से

निकलते हुए
बार-बार मुड़कर
पीछे देखते हैं
अकारण बजाते हैं
साईकिल की घंटियाँ...

हेमंत कुकरेती

बादल घिरने पर इन दिनों

पिछली बार इन दिनों बादल घिरने पर
जाग गई थी यादें अचानक
अँधेरा घना था उसमें अजीब ख़ुशबू थी
गिर गया था दिसंबर का पारा जम गए थे दुख
तबाह हो गया था इराक़
गुजरात में बलबला था
शाम की आँखों में जमा हो रही थी रात की ओस

कल्याणकारी राज्य में अपने हक़ों से वंचित नागरिक
गटर में ढूँढ़ रहे थे ठिकाना
कैसा समाज बना रही थी राजनीति कि
परिवार में रिश्तों का नाम लेने-देन था
शराब की दुकानों पर भी नहीं थी बराबरी

कई जनमों तक वे पवित्र मंत्रों के कैसेट सुनते रहे
दूब पीली थी धूप बन गई थी राख
समंदर उमड़ा स्मृति का
गुफाओं में बसे पुरखे छा गए हम पर

आदमी कैसा हो गया
कैसे बदल गए दोस्त
देश क्यों नहीं बन सका इच्छाओं का गणतंत्र

दो आदमी मिलते हैं तो टूटने लगते हैं

बड़ी पीड़ा है
अपने ही सामने गुम रहे हैं हम स्मृतियों में

हिंदी कवि हेमंत कुकरेती का जन्म 1965 में हुआ। कविता एवं आलोचना की कई पुस्तकें प्रकाशित। भारत भूषण अग्रवाल सम्मान, हिंदी अकादमी से पुरस्कृत। संपर्क : डी-61/6, परमहंस अपार्टमेंट्स, दिलशाद कॉलोनी, मेन रोड, दिल्ली 95

सफल

सफल आदमी कभी थकते नहीं
वह रफ़्तार में होते हैं हमेशा

मुश्किल में छिप जाते हैं चालाक के पीछे
सफल होते ही छोड़ देते हैं उस आदमी को
जो उन्हें बनाता है सफल

उनके हाथ-पैर दर्द नहीं करते, रहते हैं ताज़ादम
जैसे अभी-अभी हुआ हो उनका जन्म

रहते हैं वह असहनीय ख़ुशबू में डूबे हुए
कुचले हुए लोगों की उदासी
पुराने काग़ज़ों से फैलती ऊब
हड्डियाँ चटकने की आवाज़ें घेरे रहती हैं उन्हें

उन्हें पता होती है असफल होने की वजह
फिर भी उन्हें अचरज होता है
इतने ज़्यादा लोग असफल हैं कि
उनका सफल होना अन्याय से संभव हुआ

वह निर्णय नहीं कर पाते कि
यह उनका अपराध है या पाप
बहुत हुआ तो खेद व्यक्त करते हैं ऐसे कि
किसी को सुनाई नहीं दे

नींद में भी उनके सीने पर धरा रहता है
सफलता का पहाड़

सारे ग़लत गुमान

यह मेरी ही आवाज़ है
जिसकी कोई शक्ल नहीं बन पाई
यह मेरी ही परछाईं है
जो ढूँढ़ रही है मेरा शरीर
यह मेरे ही दुख हैं
जिन्हें मैं छुपाता फिर रहा हूँ सबसे

कोई अर्थ ज़रूर होगा
रात की घड़ियों में
कहीं गूँज रही होगी नींद
कुछ में पसरा होगा चीरता हुआ
सन्नाटा

मेरी पीठ पसीने से भीगी हुई है
हाथों में छलछला रहा है ख़ून

एक निर्माता बदहवास चीख़ रहा है
सुबह उसके दावे थे
लोगों की ज़िंदगी सँवारने के
वह उल्टियाँ कर रहा है

सारे नशे हैं कि
ग़लत हो गए हैं

प्यासे को देते नहीं पानी
(संत मलूक को पढ़ते हुए)

प्यासे को पानी नहीं देते
भूखे से छीन लेते हैं रोटी
मैं जो एक मनुष्य हूँ मुझे जीने क्यों देंगे!

तुम तक आना लड़ाई है एक
मैं सलाम करता हूँ उन्हें जो निहत्थे लड़ते हैं
और बचाए रखते हैं अपने में मनुष्य

यह मौसम का बदलना है जुड़ रही हैं हमारी परछाइयाँ
धुँधला रहा है यादों का काँच
चमक रही है एक कौंध
कुछ नहीं है
आसमान एक नाम है नदी सिर्फ़ पानी मैं मिट्टी हूँ

कहाँ जाऊँ कि बच सकूँ उजड़ रहे हैं सारे घर
धँस रही है दुनिया
मेरे प्राचीन दुखों में से तुम हो जो साथ हो

मैं इस सिहरन को पहचान रहा हूँ
यह प्यार के नज़दीक होती है
और उसके ठीक बग़ल में खड़ी मिलती है मृत्यु

इतने सारे डर हैं कि हँसी आती है

एक-एक करके सारे सूर्य सागर में दफ़न हो जाते हैं
यह पहला सोमवार है या साल का आख़िरी दिन
समय को याद रखना कष्ट में होना है

उससे छिपकर मैं रोज़ आता हूँ वह रोज़ बीत जाता है

फिर भी मैं बचा हूँ
तो बचा है मनुष्य

हरदयाल

नया थिसॉरस

'थिसॉरस' का मूल अर्थ होता है कोश। इसलिए किसी भी प्रक... के शब्दकोश को 'थिसॉरस' कहा जा सकता है; लेकि... पीटर मार्क रोजट (1779-1869) ने एक विशेष प्रकार का को... तैयार किया और 'थिसॉरस' को एक नया अर्थ मिल गया। पेशे... चिकित्सक रोजट ने शौक़िया तौर पर अंग्रेज़ी में शब्दों की सूचि... बनाई और उन शब्दों को पारस्परिक संबंधों के आधार पर विभि... वर्गों में बाँटकर रखा। शब्दों के पारस्परिक संबंध पर्यायों, विपर्या... मानवीय रिश्तों, मिलते-जुलते क्रियाकलापों आदि के थे। इ... प्रकार 'थिसॉरस' का जन्म हुआ। अंग्रेज़ी में आज तक विभि... आकार-प्रकार के विभिन्न लोगों के द्वारा संपादित अनेक 'थिसॉर... प्रकाशित हो चुके हैं, लेकिन उन सबके साथ रोजट का ना... अवश्य जोड़ा गया है।

किसी भी सामान्य शब्दकोश की तरह 'थिसॉरस' उपयोगी है... लेकिन उसकी उपयोगिता सामान्य शब्दकोश से थोड़ी भिन्न है... आई.ए. रिचर्ड्स का 'थिसॉरस' के संबंध में यह कहना उस... महत्त्व और उपयोगिता को रेखांकित करता है : 'थिसॉरस' सामा... शब्दकोश का प्रतिलोम है। जब तुम्हारे पास अर्थ तो होता है... लेकिन उसे ठीक-ठीक व्यक्त करने वाला शब्द नहीं होता है त... तुम थिसॉरस की सहायता लेते हो। हो सकता है, उस अर्थ ... व्यक्त करने वाला उपयुक्त शब्द तुम्हारी जिह्वा की नोक पर हो... लेकिन वह क्या है, यह तुम अभी तक नहीं जानते। तुम अच्छी... तरह जानते हो कि अब तुमने जिन अन्य शब्दों को उपयोग में ला... का प्रयत्न किया है, उनसे तुम्हारा मंतव्य ठीक-ठीक व्यक्त न... होगा। वे या तो बहुत अधिक व्यक्त करते हैं या बहुत कम, वे ... तो बहुत सपाट हैं या बहुत भड़कीले; वे या तो बहुत कोमल हैं ... बहुत कठोर। लेकिन तुम जिस नितांत उपयुक्त शब्द की तलाश ... हो, वह तुम्हें नहीं मिल रहा है तब तुम 'थिसॉरस' की शरण ... जाते हो।''

स्पष्ट है कि 'थिसॉरस' हमें अभिव्यक्ति के लिए नितांत उपयु... शब्द सुलभ कराती है।

हिंदी में बीसवीं शताब्दी में विभिन्न प्रकार के अनेक कोश नि... हुए हैं, जिनमें पर्यायवाची शब्दकोश भी हैं; विलोमवाची शब्दको... भी हैं, लोकोक्तियों और मुहावरों के कोश भी हैं; लेकिन 'थिसॉ...

1939 में जन्मे डॉ. हरदयाल के अब तक तीन कविता-संग्रह, दो शोधप्रबंध, एक दर्जन आलोचना-पुस्तकें, डेढ़ दर्जन संपादित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। आपको हिंदी अकादमी का साहित्यकार सम्मान मिल चुका है। संपर्क : एच-50, पश्चिमी ज्योतिनगर, लोनी रोड, दिल्ली-110094

की चर्चा दिसंबर, 1996 में अरविंद कुमार के *समांतर कोश* के प्रकाशन के साथ शुरू हुई। यों उनके *समांतर कोश* से बहुत पहले 1968 में डॉ. बदरीनाथ कपूर का *शब्द-परिवार कोश* प्रकाशित हो गया था, किंतु न तो स्वयं उन्होंने और न ही किसी अन्य व्यक्ति ने उसे 'थिसॉरस' कहा, यद्यपि है वह 'थिसॉरस' ही।

अरविंद कुमार को *समांतर कोश* (हिंदी थिसॉरस) की प्रेरणा रोजट के 'थिसॉरस' से ही मिली। अब जो उनका *सहज समांतर कोश* (शब्दकोश भी थिसॉरस भी) आया है, उसकी 'प्रस्तुति' शीर्षक भूमिका में उन्होंने अपनी प्रेरणा के संबंध में लिखा है : ''रोजट के अंग्रेज़ी थिसॉरस के प्रथम प्रकाशन के ठीक सौ साल बाद 1952 में उसका अनुपम कोश पहली बार मेरे हाथ लगा। और मैंने एक सपना देखा...हिंदी में भी कोई ऐसा कोश बनेगा।'' (पृष्ठ-8) इस सपने को साकार करने के लिए उन्होंने 1976 में काम शुरू किया और बीस वर्ष के परिश्रम के परिणामस्वरूप *समांतर कोश* सामने आया और लोकप्रिय हुआ। अरविंद कुमार को प्रेरणा चाहे रोजट के 'थिसॉरस' से मिली हो, लेकिन वे इस तथ्य से परिचित हैं कि विश्व में 'थिसॉरस' जैसे कोश का प्रारंभ भारत में ही हुआ। उन्होंने स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख किया है : ''संसार को सबसे पहला थिसॉरस भारत ने ही दिया प्रजापति कश्यप का *निघंट*। छठी या सातवीं सदी में बना *अमरकोश* विश्वविख्यात है।'' (*अरविंद सहज समांतर कोश* पृष्ठ-11) दुर्भाग्यवश कोश-निर्माण की यह परंपरा हमारे यहाँ अवरुद्ध हो गई और इसका पुनरोदय बीसवीं शताब्दी में हुआ।

अरविंद सहज समांतर कोश उनके *समांतर कोश* से थोड़ा भिन्न है। इस भिन्नता को उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

'थिसॉरस' का विन्यास संदर्भ क्रम या विषयक्रम से होता रहा है। हमारे *समांतर कोश* का विन्यास भी विषयानुसार है। अब 'थिसॉरसों' के लिए एक *नया विन्यास* प्रचलन में आ रहा है। यह है पाठकों का सुपरिचित कोशक्रम।

अरविंद सहज समांतर कोश की रचना कोशक्रम से की गई है।

''यह शब्द को अर्थ, अर्थ को शब्द और भाव को अभिव्यक्ति देता है। विस्मृत को स्मृत कराता है। यह अपने आप में इंडेक्स भी है—किसी एक शब्द से अन्य अनेक पर्यायों तक पहुँचाता है; संबद्ध शब्द (सपर्याय)बताता है और विपरीत शब्द (विपर्याय) का संकेत देता है।'' (वही; पृष्ठ-11)

समांतर कोश और *अरविंद सहज समांतर कोश* का स्वरूप और अंतर एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगा। *समांतर कोश* के 'अनुक्रम खंड' में 'अंक' शब्द दिया है, जिससे हमें पता चलता है कि वह 'संदर्भ खंड' में विभिन्न शब्द वर्गों या 'शब्द परिवारों' में 28 स्थानों पर आया है; जबकि *अरविंद सहज समांतर कोश* में अक्षर-क्रम में प्रारंभ में ही इस प्रकार रखा गया है—**अंक**—अक्षर, एक, खेल, रन, गोदी, चिह्न, दाग़, धारावाही क़िस्त, नाटक अंक, पत्र-पत्रिका अंक, पूर्णांक, बग़ल, मुहर चिह्न, शरीर, संख्या, संस्करण। **अंक**—सं. आँकड़ा, चिह्न, नंबर, प्रतीक, मार्क, संख्या, संख्या अंक, संख्या पद, हिंदसा, (सपर्याय) संख्या। **अंक अंत**—यवनिका पात। **अंक कंबीनेशन**—सं. संक्रमण, संख्याक्रम, (सपर्याय) कंबीनेशन लौक, चाबी, ताला। **अंक क्रम**—अंक कंबीनेशन इत्यादि। स्पष्ट है कि *समांतर कोश* की तुलना में कोश का सामान्यतः उपयोग करने वालों के लिए *अरविंद सहज समांतर कोश* अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। अरविंद कुमार का बल शब्दों के पर्याय, विपर्याय और सपर्याय देने पर अधिक है, उनका अर्थ देने पर नहीं। डॉ. बदरीनाथ कपूर ने अपने 'शब्द-परिवार कोश' में शब्द के अर्थ पर भी बल दिया है। उन्होंने 'अंक' शब्द का ही एक वर्ग या पर्याय बनाया है और 'अंक' तथा

उसके संयोग से बनने वाले विभिन्न शब्द अक्षरानुक्रम से दिए हैं और उनके अर्थ भी स्पष्ट किए हैं। उनके कोश में अंक की प्रविष्टि इस प्रकार है :

अंक (अंक् + अच) पु.—1. गणित में उन चिह्नों में से हर एक जिनसे गिनती सूचित की जाती है। 2. परीक्षण में, किसी विषय में प्राप्त योग्यता, गुण आदि का सूचक मान। 3. मुद्रण-प्रकाशन में समाचारपत्र, पत्र-पत्रिका आदि का कोई प्रकाशन-क्रम। 4. गोद। 5. नाटक का विशिष्ट खंड।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यदि अरविंद कुमार ने अपने *सहज समांतर कोश* में पर्याय, विपर्याय और सपर्याय देने के साथ-साथ उनके अर्थ पर भी बल दिया होता तो उनके कोश की उपयोगिता और अधिक बढ़ जाती। यह हम उनके इस दावे के संदर्भ में कह रहे हैं कि उन्होंने अपने इस कोश को 'शब्दकोश भी—थिसॉरस भी' होने का दावा किया है। शब्दों के अर्थ के अभाव में इसका उपयोग करने वालों को अपनी बग़ल में हिंदी का कोई सामान्य शब्दकोश भी रखना पड़ेगा।

किसी भी जीवित भाषा का कोई भी कोश पूर्णता का दावा नहीं कर सकता, लेकिन प्रत्येक कोश से यह अपेक्षा की जाती है कि उस भाषा की प्रमुख साहित्यिक कृतियों में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द और उसका अर्थ या पर्याय उसमें अवश्य मिलेगा। अरविंद कुमार के *सहज समांतर कोश* ऐसे अनेक शब्द नहीं मिलते, जो सुपरिचित साहित्यिक कृतियों में प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरण के लिए, इस कोश में 'शेखर' शब्द हमें नहीं मिलता। हिंदी में यह सुपरिचित-सुप्रचलित शब्द है। यशपाल ने *दिव्या* उपन्यास में इसका प्रयोग किया है—''देवी मल्लिका ने...रोली और अक्षत लेकर मुक्तावलियों के शेखरों में छिपे उत्तराधिकारिणी के मस्तक पर तिलक कर दिया।'' (*विद्यार्थी संस्करण*-2005; पृष्ठ-195) यहाँ 'शेखर' शब्द का प्रयोग शिरोभूषण के अर्थ में किया गया है, जो अपरिचित नहीं है। ज्ञानमंडल के *बृहत् हिंदी कोश* में यह शब्द यथास्थान दिया है और इसका पहला ही अर्थ 'शिरोभूषण' दिया है। *सहज समांतर कोश* में अरविंद कुमार ने शिव के पर्यायों में भी 'शशिशेखर' नहीं दिया है, जबकि यह शिव का अत्यधिक प्रचलित पर्याय है और हिंदू-समाज में पुरुषों का सुप्रचलित नाम है। कुछ प्रविष्टियाँ तो एकदम झटका देती हैं। ऐसी ही एक झटका देने वाली प्रविष्टि है 'शूकर क्षेत्र', जिसका पर्याय दिया है 'सूअरबाड़ा'। हिंदी के शब्दकोशों में शायद ही किसी ने 'शूकर क्षेत्र' के पर्याय के रूप में 'सूअरबाड़ा' दिया हो। ज्ञानमंडल के *बृहत् हिंदी कोश* में इसका तद्भव रूप 'सूकर खेत' देने के बाद इसका अर्थ 'सोरों (ज़िला एटा, उत्तरप्रदेश) नामक तीर्थस्थान' दिया है। डॉ. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने अपने *भाषा-शब्द-कोश* में 'शूकर क्षेत्र' और 'सूकर खेत' दोनों दिए हैं और अक्षरानुक्रम से अलग-अलग दिए हैं। उन्होंने 'शूकर क्षेत्र' का अर्थ दिया है—''नैमिषारण्य के समीप एक तीर्थ जो अब सोरौं कहलाता है।'' उन्होंने 'सूकर खेत' का अर्थ दिया है—''एक प्राचीन तीर्थ, मथुरा प्रांत, सोरौं।'' इस अर्थ की पुष्टि के लिए उन्होंने तुलसीदास का यह दोहांश उद्धृत किया है—''मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सु सूकर खेत।'' स्थान की पहचान को लेकर इस कोश में भी अंतर्विरोध है जो दुखद है। असल में शूकर क्षेत्र वह स्थान है जहाँ विष्णु ने पृथ्वी का उद्धार करने के लिए वराह के रूप में अवतार लिया था। यह स्थान सोरों या सोरौं था, इस पर सहमति है; लेकिन उत्तर प्रदेश में इस नाम के तीर्थस्थानों में से एक एटा ज़िले में है और दूसरा बाँदा ज़िले में। तुलसीदास के उपर्युक्त उल्लेख के कारण बाँदा ज़िले के सोरौं को अधिक प्रामाणिक माना जाता है। नैमिषारण्य (वर्तमान नीमसहर) के पास भी कोई सोरों नामक तीर्थस्थान है, इसकी जानकारी मुझे नहीं है। कोशों में जो भी सूचना या अर्थ दिया जाए वह पूरी तरह से प्रामाणिक हो, अन्यथा उनकी संदर्भग्रंथता संदिग्ध हो जाएगी।

अरविंद कुमार ने 'शूकर क्षेत्र' का जो पर्याय 'सूअरबाड़ा' दिया है वह न तो शब्दार्थ की दृष्टि से ठीक है और न ही प्रचलन की दृष्टि से। 'क्षेत्र' का तद्भव और अर्थ 'खेत' होता है, 'बाड़ा' कभी नहीं। 'बाड़ा' का अर्थ अहाता, घेरा, पशुशाला होता है। *Animal Form* उपन्यास के अनुवाद में 'फ़ार्म' के लिए 'बाड़ा' शब्द का प्रयोग अवश्य किया गया है; लेकिन शायद ही किसी अंग्रेज़ी-हिंदी शब्दकोश में फ़ार्म का अर्थ बाड़ा दिया हो। फ़ादर कामिल बुल्के ने फ़ार्म के हिंदी पर्याय चक, फ़ार्म या फ़ारम दिए हैं। हरदेव बाहरी ने अपने *बृहत् अंग्रेज़ी-हिंदी कोश* (ज्ञानमंडल लि.) में 'फ़ार्म' के ये हिंदी पर्याय दिए हैं—क्षेत्र, प्रक्षेत्र, क्षेत्रभूमि, कृषिक्षेत्र, कृषिभूमि क्षेत्रवाट, बारी, बाड़ी, खेत, चक, फ़ार्म। इसलिए पर्याय देते समय विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है, विशेषत: धर्म और आस्था से जुड़े शब्दों के।

हमने कहा कि किसी भी जीवित भाषा का कोई भी शब्दकोश पूर्णता का दावा नहीं कर सकता। अरविंद कुमार का *सहज समांतर कोश* भी पूर्णत: पूर्ण और निर्दोष नहीं है। उसमें भी अपूर्णता और त्रुटियाँ हैं; लेकिन वह हिंदी के शब्दकोशों की ऐसी नई शृंखला-कड़ी है, जो हिंदी के शब्दकोश-भंडार को समृद्ध करती है। जैसे-जैसे उसका उपयोग किया जाएगा, उसके अभाव और त्रुटियाँ सामने आएँगी। यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि आगामी संस्करणों में वह अधिक पूर्ण और निर्दोष बन सकेगा; क्योंकि अरविंद कुमार सपरिवार कोश-रचना में मग्न हैं; साधनारत हैं।

चर्चित पुस्तक :

अरविंद सहज समांतर कोश : अरविंद कुमार, कुसुम कुमार; राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली; 2006; 395 रुपए।

पुष्पपाल सिंह

युवा चेतना की कहानियाँ

पिछले पाँच-सात वर्षों में हिंदी में समर्थ कथाकारों की जो पीढ़ी उभरकर आई है, उनमें सर्वाधिक संभावनाशील नामों में एक नाम नीलाक्षी सिंह है जिनका प्रथम कहानी-संग्रह *परिंदे का इंतज़ार-सा कुछ* प्रकाशित हुआ है। इस संग्रह से पूर्व ही विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में उनकी कहानियाँ चर्चा में रही हैं और 'एक था बुझवन' पुरस्कृत भी हुई। जब-जब नीलाक्षी सिंह की कोई कहानी प्रकाशित हुई है, उसने पाठकों का ध्यान खींचा है और कहानी के समकालीन इतिहास में अपना रेखांकन कराया है। उनकी कहानियों को पुन: संग्रह के रूप में एक साथ पढ़ना इस बात की तीव्र प्रतीति कराता है कि ये कहानियाँ नई पीढ़ी, नई उमर, नई सोच तथा नई भाषा-शैली की प्रभावी कहानियाँ हैं। प्रस्तुत संग्रह में 'प्रतियोगी', 'एक था बुझवन...', 'धुआँ...! कहाँ है?', 'फूल', 'उस शहर में चार लोग रहते थे', 'सो काफ़िर बेपीर', 'माना, मान जाओ न', 'उस बरस के मौसम', 'पहाड़ा', 'रंगमहल में नाची राधा' तथा 'परिंदे का इंतज़ार-सा कुछ...' —ग्यारह कहानियाँ संकलित हैं। इन कहानियों की कथ्य-भूमि—'कैनवस'—में एक विस्तृति और वैविध्य है।

नीलाक्षी सिंह का कहानीकार अपने समय के प्राय: सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों से टकराता है, चाहे वह उपभोक्तावादी संस्कृति में बाज़ारवाद की समस्या है, सांप्रदायिकता की समस्या है, आतंकवाद की समस्या है, स्त्री-चेतना का विमर्श

है, वृद्धावस्था की समस्या है, भारतीय समाज में दूर तक फैले जातीय-समीकरणों की समस्या है या फिर व्यक्ति के स्तर पर युवा-पीढ़ी के प्रेम संबंधों की दृष्टि है—सभी पर अपनी एक बेबाक सोच लेकर कहानीकार प्रस्तुत है जिसमें नई पीढ़ी की युवा मानसिकता से सहज साक्षात्कार होता है। इस सोच में एक ऐसी इतिहास-दृष्टि है जो समस्या में गहरे पैठती हुई एक प्रकार की संपन्नता अपने पाठक को देती है। कहानीकार ने कथ्य-संप्रेषण के लिए जिन कथा-युक्तियों का इस्तेमाल किया है, उनमें एक ताज़गी और अपना आकर्षण है जिसकी चर्चा यथा स्थान होगी।

बाज़ारवाद और उपभोक्ता संस्कृति पर हिंदी कहानी ने तरह-तरह से निशाना साधा है किंतु इन स्थितियों को नीलाक्षी सिंह ने अपनी 'प्रतियोगी' कहानी में इस तरह विश्लेषित किया है कि इन स्थितियों की विकासात्मक परिणति बड़ी जीवंतता से सामने आती हुई विमर्श को बोझिल नहीं बनाती अपितु अपने समय से सीधे-सीधे टकराती है। किस प्रकार 'देसी बाज़ार' के 'देसी ढंग' पुराने पड़ते गए, किस प्रकार जलेबी, कचरी को नए ज़माने के फ़ास्ट-फ़ूड-टाइप आइटम पछाड़ते चले गए, किस प्रकार 'बमशंकर भंडार' और 'छक्कन प्रसाद एंड संस' नामक मिष्ठान संस्थानों में 'प्रतियोगिता' से एक-दूसरे को पछाड़ डालने का माद्दा आया, किस प्रकार "लोग वहाँ दुधियाने लगे और क़सबे-भर की मक्खियों ने दुलारी और मुसमातिन की कड़ाहियों पर धावा बोल दिया। न कोई पिअनुआ को पूछता अब, न कचरी को, न जलेबी को। इन चीज़ों के नाम ही इतने धुर देहाती प्रतीत होने लगे थे कि जीभें उचारने में लजाती थीं।" यह पीड़ा केवल दुलारी और मुसमातिन की ही नहीं है, धीरे-धीरे सारे 'पुरातन' की विलुप्ति की पीड़ा है, यह पीड़ा 'एक पूरी परंपरा... ख़ुद दुलारी जैसों को उखाड़कर बहा दिए जाने की थी।' जो एक नया मध्यवर्ग उस बाज़ार के माध्यम से उदित हुआ जिसका चरित्र 'ख़ूब कमाने' और 'ख़ूब खरचने' का है, वह मध्य वर्ग केवल पाकड़पुर सदर में ही उदित नहीं हुआ है, पूरा देश इसी बाज़ारवा की गिरफ़्त में आ गया है। छक्कन प्रसाद एं संस, फ़ास्ट-फ़ूड सेंटर एक प्रतीक है जिसके माध्यम से पूरे देश के गाँव-क़सबों के वैश्वीकर की आँधी में एक ग्लोबल विलेज के रूपांतर की पीड़ा दर्ज हो सकी है। इन्हीं स्थितियों को और अधिक विस्तार और गहराई में 'उस श में चार लोग रहते थे' में अभिव्यक्ति मिली है प्रसिद्ध अर्थशास्त्री माल्थस के संदर्भ को फ़ंतास शैली में बारीकी से बुनते हुए कहानी में अनुस्यू किया गया है। माल्थस अपनी काल और कल्प का सामंजस्य देख स्तब्ध रह जाता है, "व देश, यह समय भी तकनीकी क्रांति नाम के एक नई क्रांति से गुज़र रहा था। मानव की क्री दिन-ब-दिन निचले सूचकांक को छू रही थ और जनसंख्या भी कि एक स्थानीय देवता के डग के समान तीनों लोक नाप लेना चाहती थी। वर्तमान की बाज़ारवादी स्थितियाँ किस प्रक शहीद की विधवा स्त्री के शोक को 'कैश' करत उस पर म्यूज़िक एल्बम बनाती है, वह इ स्थितियों का त्रासद आलेखन है जिसमें हर चीज़ को स्त्री के जिस्म के इर्द-गिर्द विज्ञापित क परोसा जाता है। 'छोटे राजा साहब की बड़ प्रोडक्शन कंपनी' हाल में हुए युद्ध में वीरग प्राप्त शहीद की स्मृति को 'जो लौट के फिर न आए' शीर्षक से एल्बम बना यह सिद्ध कर दे है कि हर चीज़ का बाज़ारीकरण किया जा सक है। 'मनुष्य का आँसू' भी किस प्रकार बाज़ार के लिए मूल्यवान बन जाता है, स्वयं कहानी क माल्थस इस बात से हैरान-परेशान है। कहा का अंतिम अनुच्छेद अपने अभिप्रेत को बहु मुखर होकर अभिव्यक्ति देता है कि किस प्रका इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति ने मनुष्य के हा की कारीगरी को मशीन से परास्त कर दिया

और आज उसी के परिणामस्वरूप बाज़ार की ये दर्दनी स्थितियाँ बनी हैं। इस सबको कथाकार ने जिस प्रकार आख्यान (नैरेटिव) में बुना है, वह एक आह्लादकारी आश्चर्य की स्थिति है—कितनी कथा-युक्तियाँ प्रयुक्त की गई हैं, जादुई यथार्थवाद या फ़ंतासी की शैली में माल्थस जैसे प्रसिद्ध अर्थशास्त्री की उपस्थिति, उसके सिद्धांतों पर प्रोफेसर वाकर और मार्शल की टिप्पणियाँ, राजा साहब का सामंती परिवेश, उनके द्वारा शिल्पियों की उँगलियों का कटवाना, अपने पोते के समय में उनका 'अधुनातन' (अल्ट्रामॉडर्न) स्थितियों से सामना, माल्थस द्वारा मनुष्य के अपरिवर्तित आँसू का चखना, शहीद की स्त्री के दर्द पर म्यूज़िकल एल्बम बनवाना—ये सारी युक्तियाँ कहानी को एक अत्यंत सशक्त शिल्प प्रदान करती हुई अनायास ही उदयप्रकाश की कहानियों के शिल्प की याद कराती हैं। कथा-युक्तियों के इस समर्थ प्रयोग के साथ नीलाक्षी सिंह की कहानियों में एक खिलंदड़ शैली है जो प्रायः सभी कहानियों में देखी जा सकती है। इस शैली में एक ओर युवा मानसिकता को अभिव्यंजित करता, एक आकर्षक अल्हड़पन है तो दूसरी ओर उसमें संप्रेषणीयता की अद्भुत सामर्थ्य; और यह कहन कहानी को क़िस्सागोई के गुण से संलग्न करती है। किसी भी कहानी से ऐसे उदाहरण लिए जा सकते हैं, ''उन्होंने अभी तक के अपने बौद्धिक पिछड़ेपन और रैंप पर क़दम-से-क़दम न मिला पाने पर घोर ग्लानि का अनुभव किया'', पहले अब उस तीसरे पात्र तक पहुँचा जाए जो एंट्री मारने के लिए बेहाल है। स्त्री ने सदमे से कच्चा-पक्का उबरकर ज़िंदगी में आगे की तरफ़ उचककर झाँकने की कोशिश की, ''ट्रॉय की हेलन सुख-दुख के आँसू बिखराती, सीढ़ियाँ पार करती, चौखट लाँघती विदा हो गई'' ''घोर कलिकाल से पूर्व मुखिया की जो वांछनीय योग्यताएँ थीं, वे सब हैं यहाँ।'' ''दो सौ अस्सी के लगभग मादामुंड के केशों को शैंपू से चमकाने का भी सवाल ठहरा।'' कहना न होगा कि इस प्रकार की शैली में व्यंग्य की एक प्रच्छन्न धार कथन को और भी प्रभावी बना देती है।

अपनी इसी प्रभावी कथन-शैली के बल पर नीलाक्षी कहानी के पुराने विषयों को भी एक नया निर्वाह—'ट्रीटमेंट' दे सकी हैं। 'एक था बुझवन' में वृद्धावस्था और 'फूल' में आतंकवाद के चिरपरिचित विषय को नए कोण और नई दृष्टि (विज़न) के साथ उठाया गया है। इसी प्रकार 'परिंदे का इंतज़ार-सा कुछ...' कहानी में बाबरी मस्जिद प्रकरण के संदर्भ में सांप्रदायिकता की मानसिकता को बारीकी से विश्लेषित किया गया है, किंतु फिर भी यह कहानी अपने विषय-निर्वाह के कारण बाबरी मस्जिद प्रकरण पर लिखी अनेक सशक्त कहानियों के बीच अपनी अलग पहचान बनाती है। 'एक था बुझवन' कहानी का प्रारंभ एक वैज्ञानिक की खोज कि किस कारण बुढ़ापे में स्मृति-क्षरण होता है और इसे कैसे रोका जा सकता है, के संदर्भ से हुई है। नीलाक्षी की यह वही शैली है जिसमें उन्होंने 'उस शहर में चार लोग रहते थे' कहानी में माल्थस के संदर्भ दिए थे, यहाँ एक वैज्ञानिक खोज को गाँव के बूढ़े कारीगर बुझवन से जोड़कर पीढ़ियों के अंतराल और मूल्य टूटने के दर्द की गहराई से अभिव्यक्त किया गया है। कहानी का अंत उसके कथ्य को सूत्र रूप में कह जाता है, ''बुझवन की आत्मा बदहवास भागी जा रही थी, गीस महोदय के दरबार में यह अर्ज करने कि भारत के भावी बूढ़े अपना पिछला भूलकर ही सुखी रहेंगे। उन्हें गीस महोदय के स्मृति-पिल्स की कोई दरकार नहीं।''' 'फूल' कहानी जम्मू-कश्मीर के आतंकवाद की स्थितियों पर लिखी गई है जिसमें भारतीय क्रिकेट टीम के उपकप्तान राठौर का अपहरण कर भारत सरकार से अपने चौबीस साथियों की रिहाई की शर्त आतंकवादियों ने रखी है। कहानीकार ने अपनी कल्पना और

अख़बारी सूचनाओं-जानकारियों का अच्छा इस्तेमाल कर आतंकवाद का एक चेहरा उघाड़ने की चेष्टा की है किंतु कहानी का अंत कुछ फ़ॉर्मूलाबद्ध ढंग से होता है, इससे उसकी प्रभावान्विति क्षीण होती है। 'परिंदे का इंतज़ार-सा कुछ...' में बाबरी मस्जिद प्रकरण को केंद्र में रखकर सांप्रदायिकता की समस्या को विभिन्न आसंगों में चित्रित किया गया है। यह एक बहुत ही सशक्त और शिल्प-ढली कहानी है—एक ओर यह कहानी नई पीढ़ी की खुली दृष्टि और संबंधों को जीने की उनकी गहरी समझ का परिचय देती है और दूसरी ओर अपने समय को बहुत तटस्थ दृष्टि से विश्लेषित करती है, "...दो साल बीते जिस बूढ़े ने काठ के रथ पर सवार होकर एक मस्जिद के विनाश के लिए कमर कस ली थी, वही उस बार असफल हो जाने पर, अब एक बार फिर...अपने तीर-तरकश इकट्ठा कर रहा था। उस मस्जिद का ढह जाना उतना ही ज़रूरी था, जितना कि उसका न ढहना। मस्जिद के ढहने, न ढहने-दोनों स्थितियों में ख़ून का बहना तय था।" इस कथ्य पर लिखी अनेक कहानियों का यह अभाव रहा है कि वे एक ही वर्ग की हिमायत में खड़ी हो लेखक की धर्मनिरपेक्ष दृष्टि का उद्घोष करती हैं, किंतु नीलाक्षी का कहानीकार पूर्ण तटस्थ दृष्टि से स्थितियों को विश्लेषित कर समस्या की जड़ तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। कहानी की नायिका का यह निर्णय बहुत प्रभावित करता है कि वह सिर्फ़ इंसान की तरह जीना चाहती है, न कि एक लड़की की तरह, न मुसलमान की तरह! इस कहानी की भाषा-शैली भी विशेष प्रभावित करती है, शायद इस कहानी की भाषा को सर्वाधिक मेहनत और मनोयोग से बुना गया है, कुछ उदाहरण : "मेरी उमर तब बाईस साल, चार महीने, सत्रह दिन। ये साल, ये महीने, ये दिन...सब क़ैद हो जाने चाहिएँ तारीख़ में... वजह...यहीं से मेरी ज़िंदगी पलटी खाती है", "उसके होने पर मैं बच्ची बन जाती और उसके न होने पर उसकी माँ बन जाती", "मुझे भीतर से ख़ुशी होती कि वह मीठा-सा लड़का और मीठा होता जा रहा था", "मोनालिसा-सी इस मुस्कान का राज़ खोलने में लोग चूकने लगे थे।" अपनी वैचारिकता और प्रस्तुति-दोनों दृष्टियों से यह एक अविस्मरणीय कहानी है।

प्रेम-चित्रण में भी 'धुआँ...कहाँ है ?' कहानी में नीलाक्षी ने विषय को व्यापकता और एक नया आयाम दिया है। यह कहानी एक ओर तो युवा मानसिकता का परिचय देती हुई नई पीढ़ी के छात्रावास-जीवन का परिचय देती है तो दूसरी ओर हड़ताल आदि के संदर्भ में विश्वविद्यालयों के कैंपस-जीवन, छात्र-राजनीति आदि पर प्रकाश डालती हुई, इंडोनेशिया आदि की राजनीति के संदर्भ देकर व्यापक सरोकारों की एक बहुत सशक्त कहानी बन जाती है। प्रेम के विषय को नीलाक्षी ने 'उस बरस के मौसम' कहानी में भी बहुत कलात्मक निर्वाह देकर एक गूँगी लड़की के इंटरनेट-युगीन प्रेम को चित्रित करते हुए स्त्री-चेतना के कई प्रश्न, यथा 'दूसरी औरत' के संदर्भ में स्त्री की स्थिति, प्रेम में देह का महत्त्व किस सीमा तक आदि चर्चित किए हैं। 'माना, मान जाओ न!', 'पहाड़ा', 'रंगमहल में नाची राधा' कहानियों में भी स्त्री-स्वातंत्र्य तथा इसी से संबंधित कई-कई सवाल बार-बार उठाए गए हैं। 'रंगमहल में नाची राधा' की दीवान बाई का निर्णय स्त्री-स्वातंत्र्य के प्रश्न पर एक बहुत साहसी क़दम सिद्ध होता है। 'सो काफ़िर बेपीर' भी इसी तरह से स्त्री-चेतना के सवालों से टकराती है।

परिंदे का इंतज़ार-सा कुछ... कहानी-संग्रह निश्चित रूप से एक सशक्त कथाकार की आमद का दृढ़ विश्वास देता है किंतु यहाँ एक 'किंतु' मैं समीक्षक को परेशान करता है। नीलाक्षी सिंह ने सर्वत्र 'यह' के लिए 'ये' का प्रयोग किया है जो अच्छी दाल में एक कंकड़ी के समान लगता है। नीलाक्षी सिंह ने यह प्रयोग चाहे भले ही प्रयोग के

लिए किया हो किंतु अखिलेश जैसा 'तद्भव' का प्रबुद्ध संपादक और ज्ञानपीठ के अत्यंत प्रतिष्ठित निदेशक-संपादक प्रभाकर श्रोत्रिय भी इस अभाव की ओर ध्यान क्यों नहीं दे पाए, यह मेरी चिंता का विषय है। यदि इसे लेखिका ने ही यथावत् रखने का आग्रह रखा हो तो मैं यह प्रश्न प्रबुद्ध साहित्य वर्ग की चिंता के लिए छोड़ता हूँ कि पूरे कथाक्रम में 'यह' के स्थान पर 'ये' का यह प्रयोग कितना औचित्यपूर्ण है।

चर्चित कहानी-संग्रह :
परिंदे का इंतज़ार-सा कुछ...: नीलाक्षी सिंह; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2005; 150 रुपए।

कहानी के जाने-माने आलोचक, 1941 में जन्मे पुष्पपाल सिंह की कई आलोचना पुस्तकें प्रकाशित हैं। केंद्रीय हिंदी निदेशालय से पुरस्कृत हैं। संपर्क : 63, केसर बाग, पटियाला-147001

रमेश दवे

विवक्षा : शब्द में शब्द की मुक्ति

अशोक वाजपेयी एक भाषा-चेतस कवि हैं। उनके लिए भाषा एक प्रकार से उस पवित्र प्रार्थना की तरह है जिसके एक छोटे से छोटे शब्द को वे ताज़े फूल की तरह वापरते हैं। भाषा उनका राग है, भाषा उनकी काव्य-गंध है और भाषा हद तक जाकर उनका संवेदन और सम्मोहन भी है। अपनी भाषा से इस क़दर प्रेम करने की चैतन्य ऊर्जा जिस कवि के मानस में सतत प्रवाहमान होती है, वहाँ भाषा अनेक संस्कारों, संदर्भों, क्रियापदों, समासों और सर्वनामों में व्यक्त होती है—कविता का सर्जनात्मक व्याकरण बनकर भी और निबंध और विचार बनकर भी।

एक कवि जो अपने विवेक और विचार का विन्यास काव्य के माध्यम से करता हो, भाषा के वस्तु-रूप और द्रव्य-रूप दोनों को कविता की लय में इस तरह रूपायित करता हो कि पत्थर गाने, सिहरने और महसूस करने लगे और क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर सब कुछ भाषा के आँगन में खेलने लगें, तो लगता है एक कवि की विवक्षा कितनी विराट है, असीम और अतलांत है। अशोक वाजपेयी के अपने काव्य-शिल्प में किसी का प्रोटो-टाइप या अनुकरण नहीं है—न निराला का, न अज्ञेय, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय और श्रीकांत वर्मा का; न विचार में, न शिल्प में, न विन्यास में! शब्द उनके लिए कविता के धर्म या अध्यात्म की तरह हैं, जिसमें प्रार्थनाएँ, पूर्वजों के प्रति श्रद्धाएँ, बचपन से अंत तक की व्यथाएँ, विडंबनाएँ सब इस तरह समाहित होती हैं जैसे अध्यात्मक में दर्शन और दर्शन में विचार या चिंतन। इसलिए *विवक्षा* की कविताएँ हिंदी कविता का कोई ऐसा सरलीकृत मॉडल नहीं रचतीं जिन पर किसी पूर्ववर्ती या समकालीन कवि की छाप नज़र आए। अशोक वाजपेयी का शिल्प भी अपना है, कल्प भी अपना फिर चाहे उसमें दुख की अभिव्यक्ति हो या सुख की विडंबना।

वे 1960 से लेकर अद्यतन कविताओं के ज़रिए एक बात यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि उनका कवि होना, बने रहना और कविता में जीवन और मुक्ति खोजना स्वाभाविक है, प्रकृतिगत है और शेष सब तो काव्य के ही अनुषंग हैं। शब्द के प्रति एक कवि का इन कविताओं में जो समर्पण है, उसे वे आमुख में ही अभिव्यक्त कर देते हैं—

''मैंने हमेशा उन्हें (शब्दों को) उत्साह, ललक और कृतज्ञता से उठाया और उनसे अपनी कविता विन्यस्त की है। इसका ग़म कभी नहीं हुआ कि

सच मेरे हिस्से नहीं आया या उसके लिए दौड़ में आगे नहीं जा पाया। चिंता इसकी ज़रूर रही कि कहीं शब्दों के मामले में पिछड़ न जाऊँ। उन्होंने हमेशा साथ दिया और कई बार गिरने से भी बचाया। शब्द ज़्यादातर दूसरों के बनाए-बरते होते हैं और अकसर उन्हीं के माध्यम से दूसरों तक, उनके नज़दीक पहुँचते हैं। शब्द 'दूसरे' हैं अपने होते हुए भी कविता में। उसी मानवीयता का पक्षधर हूँ जो शब्दों से रोशन हैं ?" (आमुख से)

एक कवि जब शब्द के 'दूसरेपन' को कविता में विन्यस्त करता है तो उसका दुख यह है कि इस 'दूसरेपन' को वह अपना कैसे बनाए और यदि दूसरेपन को क़ायम भी रखे, तो उसे दूसरों तक उनका शब्द बनाकर कैसे लौटाए। यदि कवि ऐसे दुख का शिल्प रचता है तो वह दुख भौतिक वस्तुविश्व का दुख न होकर अपने आंतरिक मर्म का शिल्प होता है, कविता के कविता होने की आकुलता का दुख होता है लेकिन जब कविता सचमुच कविता हो जाती है तो जिस 'दूसरे' के पास जाकर वह बुझ जाए या जिसके पास जाकर वह शब्द अर्थ भाव रूप राग किसी से जूझना ही न चाहे, उनमें डूबना ही नहीं चाहे, तो कविता हो जाने के सुख की इससे बड़ी विडंबना क्या हो सकती है। हर अच्छा कवि इस विडंबना या इस व्यथा से त्रस्त है क्योंकि उसकी कविता के लिए ऐसा पाठक, आलोचना या सहृदय है ही नहीं, जो कविता से जूझे भी और कविता में डूबे भी।

यदि इस संचयन के पाँचों भागों की कविताओं का विवेचन व्यापक स्तर पर किया जाए, तो कविता का नया भाषा-विज्ञान या भाषा का एक नया काव्य-व्याकरण हमारे सामने आ खड़ा होगा। यदि वे परिवार और पूर्वजों, माँ, पिता, बेटी, पोते पर कविता करते हैं तो वहाँ की समूची परिवेशगत स्थानीयता और आत्मीयता को वे शब्द के 'दूसरेपन' में समाकर अन्य के पास शब्द में ही वापस भेज देते हैं। प्रार्थना, पूजा, कीर्तन, मंदिर आदि शब्द से वे किसी परम सत्ता के अर्चन में कोई भक्तिमार्गी रचना नहीं करते, बल्कि इनसे बनी कविता में शब्द की भावसंज्ञा पवित्रता के किस आत्मलोक तक ले जाई जा सकती है, उसका एक चित्र-सा उभर आता है। ये शब्द विनम्र प्रणम्यता के शब्द हैं जो कवि को बड़ा करते हैं और उसके मनुष्यगत अहं को घटाते हैं। लेकिन जब वे व्याकरण, विन्यास, सर्वनाम, क्रियापद, संरचना, वाक्य जैसे अनेक भाषागत, व्याकरणगत या भौतिक वस्तुगत शब्द रचते हैं तो उनकी यह वस्तुभाषा भाव-भाषा में बदल जाती है, रूपक बन जाती है और संरचनाजन्य वाक्य-विन्यास संवेदन के मानवीय एवं दार्शनिक विन्यास में बदल जाते हैं। ऐसे प्रयोगों से अशोक वाजपेयी यह साबित करते हैं कि कविता के लिए कोई शब्द अस्पृश्य, असंगत या अनुपयुक्त रहने को मजबूर नहीं है। हर शब्द जब काव्य में अपनी अभिव्यंजना के साथ व्यक्त होता है तो वह शब्द में शब्द की मुक्ति भी पाता है और अर्थ में अर्थ का एक नया अस्तित्व भी। प्रेम और आत्मीय संबंधों की कविताओं में अनुभव का एक संसार तो आकार लेता है लेकिन प्रेम की गहन ध्यानमग्नता और अलौकिकता खो भी जाती है।

विवक्षा के प्रारंभ में पोलिश विदुषी रेनाता चेकाल्स्का ने अशोक वाजपेयी की कविता पर तीन प्रमुख बातें कही हैं—एक, इन कविताओं में कवि द्वारा अपने काव्यातीत की पुनर्रचना, दूसरी, जीवनीपरक पृष्ठभूमि और सौंदर्यशास्त्र और तीसरी, कविता के धर्म और विचार के बारे में उनकी समझ। इन तीन बातों के अतिरिक्त जहाँ एक ओर उनके काव्यात्मक आध्यात्मिक और बौद्धिक आयामों को जटिल कविता का सामना करने के समान माना गया है वहीं वे समझने में आसान भी हैं क्योंकि वह है कविता का बहिरंग जो सूचनात्मक स्तर पर पाठक को मौलिक प्रसंगों से रिझाता भी है और साथ ही शब्दों के अनुशासन से रूपात्मक संरचनाओं तक पहुँचाता भी है। रूप

और वस्तु का यह द्वैत अशोक वाजपेयी की कविता में सर्वत्र व्याप्त है। भाषा उनकी अंतरंग है और भाषा उनका बहिरंग भी।

'हमारी बनाई दुनिया', 'शब्द गिरने से बचाते हैं', 'पूर्वजों की अस्थियों में', 'प्रेम का पंचांग' और 'इसी मटमैलेपन पर'—ये पाँच कविता प्रभाग यह तो बताते हैं कि वे एक आत्मचेतना के कलाकार हैं, दार्शनिक और अस्तित्वपरक चेतना उनकी कविता पर हावी रहती है, लेकिन बावजूद इस सबके उनकी कविता में एक बिखरा-बिखरा बहुवचन भी है जो उन्हें 'थोड़ी-सी जगह' से 'उठाकर उजाला एक मंदिर बनाता है' तक के कलालोक के मर्म तक ले जाता है। अशोक वाजपेयी की कविताओं को आत्म-स्वीकारमय या कंफ़ेशनल पोएट्री की भी संज्ञा दी गई है, लेकिन यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि यह कवि की कॉन्शस या आत्मचेतना की ईमानदार अभिव्यक्ति है, न कि कोई रिलीजियस रिचुअल। वह उनके आंतरिक सत्य का उद्घाटन है, न कि किसी बनावटी बड़प्पन से मुक्ति की आकांक्षा।

कवि का भाषा और शब्द के प्रति प्रेम इतना गहन है कि कई बार ऐसा लगता है कि भाषा उनका विश्वास है और शब्द उनकी श्वास।

मेरी भाषा अब भी मेरे पास है।

मैं शब्द को/शब्द में फँसाकर/बनाता हूँ/नसैनी/अनंत में।

अशोक वाजपेयी की एक विशेषता यह है कि वे प्रेम को रूप-संज्ञा का मांसल आकार न देकर भाव-संज्ञा में निराकार तो करते हैं लेकिन प्रेम को उसके चरम में पाने के प्रति बहुत उत्सुक नहीं लगते क्योंकि प्रेम उनके लिए अस्तित्वमूलक आस्था है। अंतिम प्रभाग की कविताओं में पौराणिकता और आख्यानात्मक के प्रतीक आते हैं और भाषा यहाँ जिस प्रकार के गंभीर और आत्मश्लिष्ट प्रयोगों के साथ जब दार्शनिक मुद्रा अपनाती है तो यहाँ याद आते हैं रवींद्रनाथ, जो कविता रचते-रचते अस्तित्व का अध्यात्म भी उत्पन्न कर देते थे। इस कारण कविता का व्याकरण इस भाग की कविताओं में जटिल भी है और चुनौतीपूर्ण भी।

एक आदमी ने अपने को बाहर फेंक दिया है/मेरे शब्द उछलकर/उसे बीच में ही झेल लेना चाहते हैं/; उसने एक पेड़ काटकर फेंक दिया/क़ानून की उस निष्क्रिय धारा की तरह/जो उस जैसों के हित के लिए बनाई गई थी/...मुंशी और हवलदार वहीं पास थे/रौब के संवैधानिक व्याकरण से बँधे हुए/; चालू मुहावरे में कहूँ, यह है मेरा देश-संविधान में सना हुआ/; कितना सुखद है/इस तरह अपने डर को/भाषा के तांडव में छुपाना।

इन उदाहरणों में अशोक वाजपेयी की कविता के 1960 से 2003 तक के विविध रंगों में से एक रंग यह भी प्रकट होता है कि उनकी कविता का प्रथम प्रस्थान मानवीय संवेदन से है और उस विडंबना से भी है, जो भौतिक सुखों से उपजकर दुख के शिल्प में बदल जाती हैं, और कवि को लगता है— *उड़ जाएँगी सारी कविताएँ/अनंत में विलीन हो जाने वाले पक्षियों की तरह।*

अशोक वाजपेयी की कविता में जब पेड़, प्रार्थना, पूर्वज, पुस्तकालय और प्रेम जैसे तत्त्व होते हैं तो उनकी काव्यभाषा में एक प्रकार का तेज़ उतर आता है लेकिन जब वे भौतिक विषय और वस्तु जगत को सतह पर बिखरी समस्या या थीम से जोड़ते हैं तो मानवीय संवेदन का स्तर भले ही तीव्र हो जाए लेकिन कविता अपनी कलात्मक योगमुद्रा में ढीली पड़ जाती है जैसे— मैं अपने गुनाह, बुढ़िया, कवि, कुम्हार, लुहार, बढ़ई, मछुआरा, कबाड़ी, कुँजड़ा आदि कविताएँ। यह सही है कि अशोक वाजपेयी किसी रघुवीर सहाय, धूमिल या राजकमल चौधरी की आवाज़ नहीं बनते, लेकिन यह उनके उस समय की आवाज़ अवश्य लगती है जो उक्त कवियों की भी आवाज़ें थीं। उनका काव्य शिल्प उन आवाज़ों

में स्पष्ट प्रगट होता है। इन्हें किसी प्रगतिशील यथार्थ के प्रति अशोक वाजपेयी का रागभाव भले ही न माना जाए लेकिन मनुष्यगत आस्था के मूर्त आकार तो इनसे प्रकट होते ही हैं।

'प्रेम का पंचांग' कविताओं को लेकर कहा जा सकता है कि दरअसल वे 'जीवित शब्दों से दीप्त अधरों पर' ही बनी हैं। यहाँ कवि के पास शरीर, आत्मा, प्रेम, सूर्य-स्मरण, आकाश की शय्या, देह को प्रकट करती देह, आदि भी है, जो प्रेम की सर्वात्म व्यापकता रचती है, वहीं सद्यः स्नाता, वासक सज्जिता, अभिसारिका, दिगंबरा, नखशिख आदि के वे सब श्रृंगारपरक प्रतीक भी हैं जो यदि व्यक्ति परक हैं तो देह में प्रतिफलित हैं, और यदि कवि के मनोराग की अंतरछवियाँ हैं तो प्रेम के सौंदर्य और आत्मा के अध्यात्म की वाणी में प्रकट होती हैं। प्रेम अशोक वाजपेयी का देहराग है, मनोराग भी है लेकिन वह ऐसा पारदर्शी होता कि वह जल में आकाश जैसा लगता तो उस प्रेम से छलकता अध्यात्म ट्रांसेंड करता। ऐसा शायद अशोक जी ने स्वयं को व्यर्थ में किसी परम सत्ता की अलौकिकता से बचाने के लिए किया हो।

'इसी मटमैलेपन पर' में 'अगर समय होता' जैसी कविता पढ़कर लगता है कि अशोक वाजपेयी शब्द से, ध्वनि से, वाक्य से, विन्यास से उस जीवन-अध्यात्म की रचना के कवि हैं जो उनकी आंतरिक चेतना से उपजता है और यहाँ वे प्रेम से आगे जाते हैं। ये कविताएँ अपने कलेवर, विचार-वस्तु और दर्शन, सभी में जटिल हैं, विशेष काव्य-अवधान की माँग करती हैं क्योंकि इसी मटमैलेपन पर ही काव्य का उजास जन्म लेता है और यहीं से शब्द की आत्मा विकीर्णित होती है। न ऐसी कविता जनाकीर्ण होती है न उसके जीर्णोद्धार की ज़रूरत है। ये कविताएँ तो ऐसी हैं जो 'अंत के बाद भी हम चुपचाप नहीं बैठेंगे' की ज़िद करवाती हैं लेकिन यहाँ कवि के वैचारिक विलोम भी प्रगट होते हैं क्योंकि यहाँ कवि की कम और कविता की विवक्षा अधिक है। भाषा अधिक है—व्यंजना कम।

चर्चित कविता-संग्रह :

विवक्षा : अशोक वाजपेयी; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; 2006; 450 रुपए।

संपर्क : रमेश दवे, एस.एच. 19, ब्लॉक-8 सहयाद्रि परिसर, भदभदा रोड, भोपाल-462003, फ़ोन : 07551277045
मो. 9300729517

राजकुमार सैनी

राजस्थानी ग्रामांचल की कहानियाँ

चरण सिंह पथिक राजस्थान के ग्रामीण अंचल के कहानीकार हैं। इनकी अधिकांश कहानियों में वर्ण-संघर्ष की अनुगूँजें सुनाई देती हैं। इतिहासकार डी.डी. कौसांबी के एक कथन के अनुसार अविकसित समाजों में वर्ण-संघर्ष के स्वर वर्ग-संघर्ष की ही पूर्वध्वनियों के रूपों में सुनाई देते हैं। तथापि पथिक की कुछ कहानियाँ इसका अपवाद भी हैं। 'बात यह नहीं है' शीर्षक कहानी ऐसी नहीं है। इसी कहानी के शीर्षक को पूरे कहानी-संग्रह के शीर्षक के रूप में रेखांकित किया गया है। ज़ाहिर है कि कहानीकार इस कहानी की ओर पाठकों का विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करना चाहता है। सवर्णों के आतंक से संत्रस्त होकर दलित किसान गाँव छोड़ देते हैं।

और नगर में आकर मज़दूरी करने लगते हैं। यद्यपि इसे संघर्ष से बचकर पलायन करना भी कहा जा सकता है तथापि यह वर्ण-संघर्ष से जुड़े घटनाक्रम का ही एक सिलसिला है।

संग्रह की पहली कहानी 'कलेक्टर आया! कलेक्टर आया!!' में एक निर्धन किंतु ईमानदार अध्यापक प्रशासन और सवर्णों के गठजोड़ तले पिसता हुआ प्रताड़ित होकर नौकरी से निलंबित हो जाता है। ऐसा इसलिए होता है कि प्रशासन पर सवर्णों का दबदबा है। उसका दोष केवल यह है कि वह मासूमियत और निश्छलता के साथ अपने सरकारी दायित्व और कर्तव्य का पालन करता है। यह कहानी सरकार द्वारा चलाए जा रहे 'साक्षरता अभियानों' और 'ग़रीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करनेवाली ग्रामीण जनता संबंधी सर्वेक्षणों' के व्यावहारिक पहलुओं का भी खुलासा कर देती है।

संग्रह की दूसरी कहानी 'दुकान' ग्राम्य समाज के इस तथ्य को उजागर कर देती है कि सवर्ण समुदाय आपसी हितों के टकराव में दलितों को ही दाँव पर लगाता है। उनका इस्तेमाल करता हुआ वह अपने आपको लड़ाई के दलदल से बचा ले जाता है।

'खिलौना' कहानी महानगर के परिवेश पर आधारित है। भरोसी नाम का घरेलू नौकर मिस्टर दीपक सिन्हा (मालिक) के बच्चे सोनू का 'घोड़ा' बनने के लिए विवश है। सोनू के शिकायत करने पर कि 'घोड़ा' तेज़ नहीं दौड़ता, दीपक सिन्हा का एक मेहमान दोस्त, जो शराब के नशे में धुत्त है, भरोसी की पीठ पर लात जमाता है ताकि वह तेज़ दौड़ सके।

'बक्खड़' कहानी एक औरत के पारिवारिक उत्पीड़न को उसके पुत्र की ज़ुबानी बयान करती है। सत्तर साल का बूढ़ा बक्खड़ स्मृति-विधान की शैली में अपनी माँ के यौन-उत्पीड़न की कथा कहता सुनाई देता है।

अधिकतर कहानियाँ सरल और सहज शैली में लिखी गई हैं; लेकिन सामाजिक यथार्थ के चित्रण में कहानीकार जागरूकता और संवेदनशीलता का परिचय देता है। दलित और पीड़ित जनता के प्रति लेखक की सहानुभूति और पक्षधरता छिपती नहीं है, प्रगट होती रहती है; साथ ही, नैतिक मूल्यों के संप्रेषण में भी लेखक कोई लुका-छिपी का खेल नहीं खेलता जैसा कि आजकल कुछ कलावादी लेखक किया करते हैं।

'लाल क़िले का जिन' अपने ढंग की अनूठी कहानी है। ख़लील हिंडौनवी नाम का एक बुद्धिजीवी, जो अपने को मुग़ल साम्राज्य का अंतिम वारिस मानता है, बहादुर शाह ज़फ़र-सा नामी शायर होना चाहता है, किंतु अंत तक गुमनाम ही रहता है। साधनहीनता का शिकार यह विपन्न व्यक्ति महत्त्वाकांक्षा की मीनार पर चढ़ता-उतरता और सिर के बल गिरता अंततः विक्षिप्तप्राय होता हुआ गुमशुदा हो जाता है।

'क़साई' कहानी में पारिवारिक कलह और उत्पीड़न के परिदृश्य उभरते हैं। स्वच्छंद प्रेम करने वाले नवयुवक की परिजनों द्वारा हत्या हो जाती है। उसका भूत परिवार को परेशान करता है। क़साई घर के भीतर ही हैं।

'दंगल' कहानी में मच्छीपुरा की दो कीर्तन मंडलियों की प्रतिस्पर्धा भी वर्ण-संघर्ष को गुंजायमान करती है। इस दंगल में एक ओर पंडित फत्तु, ठाकुर नत्थूसिंह और नवल पटेल की मंडली है तो दूसरी ओर पीरू तेली, प्रह्लाद कुम्हार, रमजानी सक्का और भजनी चमार की कीर्तन मंडली है। यह कीर्तन मंडली गायन-कीर्तन की प्रतिस्पर्धा में अंततः सवर्ण-मंडली से पराजित होती है। विजेता मंडली के सदस्यों के चेहरों पर जीत का उन्माद है। यदि दलितों और पिछड़ों की मंडली जीत जाती तो उन्हें गाँव से निष्कासित हो जाने का अंदेशा था। ऐसा दंगल फिर गाँव में दुबारा नहीं हुआ। इसी में दलितों की भलाई थी। आख़िर पानी नीचे की ओर ही बहता है। हमारे समय की यही विडंबना है।

'बीमार' कहानी में सास जिस अधिकार के लिए अपने पति से आजीवन संघर्ष करती रही, उसी अधिकार से अपनी बहू को वंचित रखना चाहती है। बहू बीमार रहने लगती है। उसका पति बुद्धिजीवी है, कहानीकार भी; नारी के अधिकारों के पक्ष में कहानियाँ लिखता है। तथापि उसे अपनी पत्नी की दुर्दशा के बारे में होश तब आता है जब वह रोग-ग्रस्त होकर खोखली हो जाती है।

'बाँध टूट गया' कहानी भी सवर्ण ज़मींदार द्वारा दलित किसान के उत्पीड़न की कथा दोहराती है।

कहा जा सकता है कि चरण सिंह पथिक ग्राम्य परिवेश के यथार्थवादी कहानीकार हैं। इ परिवेश में जागरूक परिप्रेक्ष्य उभरता है। कहानि की भाषा पारदर्शी है। शिल्प सहज है। पू संभावना है कि कहानी के संरचनात्मक कौश और व्याकरण को पथिक अपनी सतत और नि साधना द्वारा साधते जाएँगे।

चर्चित पुस्तक :

बात यह नहीं है : चरण सिंह पथिक; सूर्य प्रकाश मंदिर, बीकानेर; 2005; 100 रुपए

उपन्यासकार, कवि, आलोचक राजकुमार सैनी का जन्म 1942 में हुआ। कई पुस्तकें प्रकाशित। संपर्क : 385, सेक्टर-, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली 110022

लीलाधर मंडलोई

ज़िल्लत की रोटी

मनमोहन की किताब *ज़िल्लत की रोटी* 30 वर्ष में प्रकाशित हो 2006 में आई। यह धैर्य का रिकॉर्ड है और उदासीनता का भी। मुमकिन है इसका भी कि किताब छापने या छप जाने से क्या होता है? जबकि चार संग्रह भर कविताएँ कवि के पास हैं। यह कवि की तबीअत और शख़्सियत का जुदा पता देने वाली बात है और अहम्। संग्रह से निकलने वाला इसका पहला ठोस गुण है इसका आद्यंत वैचारिक तेवर। एक और ख़याल—अगर यह संग्रह अपने समकालीनों के साथ आया होता तो आठवें दशक की कविता का चेहरा दूसरा होता और अधिक अर्थवान।

ग़ौरतलब और भी बातें हैं—लबो-लहज़ा, ज़ेहनी कैफ़ियत, ज़ुबान की ताक़त और कहना न होगा एक ख़ास क्लासिक अंदाज़। चीज़ें कविता में ऐहतियात लेकिन सरलता से दाख़िल होती हैं। गति और वक़ार के विरल उदाहरण। फ़रियाद और चीख़-पुकार के कोई निशानात नहीं। मनमोहन ऐसे कवि हैं जो आदमी के रतजगे में शामिल हैं। उनकी रातें छतों के भीतर क़ैद नहीं बल्कि बाहर की दुनिया की हमसफ़र हैं। अँधे की शिनाख़्त अपने समकालीनों में उनके पा सबसे अधिक है इसीलिए अनदेखे आख्यान भी बहुत हैं। बावजूद इसके कि वह अपनी आँ खुली रखने की विवशता में चश्मदीद गवाह है अनेक कालिमाओं का, लेकिन वह ख़ामोशी का शाइर अधिक है। उसके कहने में वो ख़ामोशी और वीरानी है जो जघन्य और हृदय विदारक घटनाओं के बाद दृश्य में होती है। सजीव घटनाओं के दौरान जो चीत्कार और रूदन है, स्मृति में शायद उसका प्रभाव कम होता है जबकि ख़ौ के बाद की ख़ामोशी अधिक गहरे दर्ज रहती है "दहशत जो है। और अकसर दिखाई नहीं देती काफ़ी क़रीब होती है। जिसके रोएँ तक आ छूकर देख सकते हैं। और उसके गड़े हुए दाँ को अपनी गर्दन पर महसूस कर सकते हैं।" कवि ऐसी ही भाषा को तरजीह देता है क्योंकि उसका मानना है "एक भाषा है जो ख़ामोशी

...ही रह पाती है।" कहना न होगा ऐसी भाषा को पा लेना एक बड़ी उपलब्धि है। मनमोहन के यहाँ इस तरह के अनेक दृश्य हैं जहाँ दहशत, ख़ौफ़, वीरानी आदि सघन रूप से मौजूद हैं। कुछ उदाहरण—

- सब रास्तों पर फैला हुआ साँय-साँय बियावान है।
- शाम होते न होते। ख़ौफ़ और ख़ामोशी का ऐसा आलम तारी होता है, जैसे कोई वारदात होने वाली हो।
- यह स्त्री डरी हुई है। इस तरह, जैसे इसी के नाते इसे मोहलत मिली हुई है।

मनमोहन की ख़ामोशी के कई रंग हैं। वह बारहों मास अपने ऑब्जेक्ट और सब्जेक्ट की गहराई में टहलते हैं। उनकी कविता में रातों में जागती दुखद कहानियाँ हैं, जीवित मित्र की जगह उसकी स्मृति अधिक, कम बोलता, कम रोता, कम याद करता और कम साँस लेता व्यक्ति है। ख़तरे की घंटी को अनसुना करते लोग हैं, अकसर रास्ता छोड़, अकसर ख़ामोश रहता एक शख़्स है। ठिठके लमहे पर एक स्त्री है दुखों पर भरोसा करती। शरीर को लेकर दुनिया में दाख़िल स्त्रियाँ हैं सावधान, न देखती हुई आँखें हैं। इस किताब में अनेक मार्मिक दृश्य हैं आज के समय-समाज के जो शोर और चीख़ों से अधिक साफ़ और ख़ामोशी में गहरे तक कील-काँटे की तरह धँस जाते हैं। इस धरती पर कविता की पंक्तियाँ इस रंग को सघन रूप में अभिव्यक्त करती हैं : *इस धरती पर वह भी जीवित है/जो बस जीवित रह गया है/जिसका नाम नहीं लिखा गया/इस दुनिया के स्कूल में/जो भाषा की बस्ती वस्तुओं के नगर से बाहर रहता है/जिसका कोई दावा/किसी अदालत के पास/अटका हुआ नहीं है/जो सदियों अपनी पत्नी से दूर/धीरे-धीरे सूखता रहा।* (पृष्ठ 63)

यदि ग़ौर करें तो मनमोहन की कविता में ज़िंदगी और चीज़ों को देखने की आत्मीय प्रविधि है। यह देखना क्लोज़अप में अधिक है। बमुश्किल लॉङ्ग और एक्स्ट्रीम शॉर्ट देखने में आते हैं। दअसल वे हर हलचल, धड़कन, यहाँ तक साँसों को एकदम समीप से दर्ज रखना चाहते हैं : *या कहिए एक गोपनीय आँसू/जो छलक आता है अकेले में*। या फिर ये पंक्तियाँ : अपनी आवाज़ ने बताया/*कितनी दूर निकल आए हम/अपनी आवाज़ ने बताई निर्जनता*। इसी तरह नींद, आँख, घास, संध्याएँ, इच्छाएँ, कमज़ोरी, सूनी जगह, त्वचा, पानी, नमी, रोशनी, शर्म, हँसी, रोटी, रंग आदि वे आत्मीय चीज़ें जिनसे मनमोहन की कविता स्थानीय संदर्भों में भी वैश्विक बातें सहजता में करती हैं।

मनमोहन उन कवियों में हैं जो थोड़े शब्दों में लिखने-बोलने का जादू जानते हैं। यह गुण हमें नागार्जुन, शमशेर, नरेश सक्सेना और विष्णु नागर में मिलता है। यह काव्य तपस्या से ही संभव है। मनमोहन की मुद्रा इसीलिए एक तपस्वी की लगती है, अपनी कविताओं के सृजन को लेकर। ख़ासे सजग शब्दों के प्रति। एक-एक वाक्य पर मेहनत। एक-एक कविता को कसौटी पर परखने का धैर्य। दरअसल प्रबल नैतिक धर्म इससे कम कुछ और नहीं माँगता।

मनमोहन आज की राजनीति को जितना अधिक समझते हैं, वह आज की कविता लगभग भूल रही है। आज जबकि सर्वाधिक धैर्य और विचार की ज़रूरत है—ये दोनों गुण कवियों में छीज रहे हैं। इसलिए बड़बोलेपन की तफ़सीलें तो बहुत हैं लेकिन धीरज में पकी ऐसी कविता नहीं जो संवेदना के रास्ते पर विचार बनती हो। जिस तरह नृशंस घटनाओं के चीत्कार के बरक्स मनमोहन एक शांत और निरुद्वेग आवाज़ को कविता में एक हथियार बनाने की कला जानते हैं उसी तरह राजनीति प्रयोजित शोरगुल के बरक्स भी वह ठोस किंतु धीमा स्वर खड़ा कर उसे संघर्ष के लिए एक धातु में ढाल देते हैं : *यह निरा आँसू*

नहीं/कठिन निष्कर्ष है/अथवा कमज़ोर की ताक़त वहीं कहीं है/जहाँ उसकी कमज़ोरी है।

हमारे समय में आज जबकि नैतिकता और विचार की जगह कम हो रही है, तब नैतिकता और वैचारिकता को दीवाने की तरह अपनाने वाले कवि मनमोहन की आज कहीं ज़्यादा ज़रूरत है।

चर्चित पुस्तक :

ज़िल्लत की रोटी : मनमोहन; राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. नई दिल्ली; 2006; 150 रुपए

सुपरिचित कवि-आलोचक लीलाधर मंडलोई का जन्म 1953 में हुआ। इनकी गद्य और पद्य में अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : ए-2492, नेताजी नगर, नई दिल्ली 110023

शंभु गुप्त

विडंबना के आनंद से पीछा छुड़ाने की प्रक्रिया

तीसरी चिट्ठी, पिज़्ज़ा और छेदीलाल के बाद कवि-कथाकार प्रेमपाल शर्मा का तीसरा कहानी-संग्रह है *अजगर करे न चाकरी।* जैसा कि लगभग हर कहानी के अंत में दिए प्रकाश

...से स्पष्ट होता है; ये कहानियाँ पिछले दस सालों की समयावधि में लिखी-छपी हैं।

प्रेमपाल शर्मा की इन कहानियों को यदि हिंदी-कहानी की रचना-संरचना के मौजूदा स्वरूप की एक बानगी माना जाए और इनके आधार पर बात की जाए तो कुछ नए तथ्य उभरकर सामने आते हैं। इनमें सबसे पहला तो यही है कि कहानी अब आख्यान की विधा नहीं रही; वह विचार या विमर्श का एक उपकरण बन गई है। कथानक या घटना यहाँ क़तई नहीं है, ऐसा नहीं है। वह है और पर्याप्त है, लेकिन वह कुछ इस तरह संघटित किया गया है कि कहानी के पहले ही वाक्य से संकेत मिलना शुरू हो जाता है कि लेखक घटना-सृजन के स्थान पर यहाँ किसी विचार-निर्माण की कोशिश में है। मसलन, 'अजगर करे न चाकरी' कहानी की यह शुरुआत, ''मैं इतने ढीलेपन से कभी पेश नहीं आया था।''

"यहाँ तक कि कमरे में घुसने से पहले ही मुझे सारी संवेदनाओं को फ्रीज करना पड़ा था। बार-बार चकनाचूर।''

"मैं नहीं चाहता था कि मैं हर बार की तरह इस बार भी अजगर का एक निवाला मात्र सिद्ध होऊँ।'' (*अजगर करे न चाकरी*; पृ.-9)। इसी तरह 'सत्संग' कहानी की यह शुरुआत :

''और अब सत्संग!''

'बाबू वीर बहादुर सिंह की नसें चटकने लगीं।' (वही; पृ.-50)। और, इसी तरह 'अलबर्ट का गुस्सा' कहानी का यह प्रारंभिक अंश :

''बहुत वर्षों बाद अलबर्ट ने कोई प्रतिज्ञा ली कि चाहे जो हो, ग़ुस्सा नहीं करूँगा। क्या होगा ग़ुस्से से या अब तक क्या हुआ है? ख़ून जला होगा तो ख़ुद का ही। सामने वालों पर तो कोई असर देखा नहीं। 'बकता है तो बकने दो' जैसी मुद्रा और किनारे वाले कनखियों से मुस्कुराते— पागल है!'' (वही; पृ.-61)।

ये उदाहरण कहानियों के हैं। लघुकथाओं में तो वैसे भी विचार-निक्षेप कुछ ज़्यादा होता ही है।

कहानी की इस तरह की शुरुआत संकेत देती है कि लेखक के दिमाग़ में कहानी किसी घटनात्मक द्वंद्व के रूप में नहीं, बल्कि किसी वैचारिक द्वंद्व के अंतर्गत उद्बुद्ध हुई है। इस वैचारिक द्वंद्व को हालाँकि वह भरसक एक घटना या कथानक के रूप में चित्रित करने का जुगाड़ करता है लेकिन, जैसा कि हम जानते हैं, प्राथमिक तौर पर घटनाक्रम और प्राथमिक तौर पर विचारान्वयन के अंतर से आगे की कहानी का रूप परस्पर नितांत भिन्न हो उठता है।

निश्चय ही, इस बात से हम असहमत नहीं हैं कि घटनात्मकता के प्रस्थान-बिंदु से चलकर लिखी गई कहानियाँ भी अंततः किसी न किसी विचार या वैचारिकता की ही स्थापना करती हैं। विचार या वैचारिकता अनिवार्यतः घटनात्मकता का उत्पाद या निष्कर्ष होता है। बिना वैचारिकता या दृष्टि-संपन्नता की कोई भी संवेदना या अनुभूति निरी भाववाद में ग़र्क हो सकती है। अतः जिन कहानियों की संरचना घटना-केंद्रिक होती है, विचारधारा वहाँ भी किसी अंतस्सूत्र की तरह संचरित होती ही है। लेकिन ऐसी घटना केंद्रित कहानियाँ कई बार बावजूद पर्याप्त वैचारिक अंतःसूत्रता के या तो स्फीति की शिकार हो जाती हैं, और मात्र घटनात्मकता या कि आख्यान के लिए घटनाओं का आधान करती चलती हैं, या फिर घटनाशीलता के तर्कजाल में फँसकर स्वयं विचारधारा को तिलांजलि दे बैठती हैं। यहाँ घटनावाद धीरे-धीरे इतना हावी होता चला जाता है कि घटनाओं के प्रति लेखक का आलोचनात्मक रुख़ तिरोहित होने लगता है। ऐसी कहानियाँ अंततः आनंदवाद में पर्यवसित होती हैं। यह घटना का आनंद है। जिन कहानियों में वैचारिकता प्रास्थानिक होती है, वहाँ घटनात्मकता का ऐसा प्राधान्य नहीं होता। घटनाएँ वहाँ मात्र उपजीव्य होती हैं और उन्हें गढ़ा भी जा सकता है। ऐसी कहानियों में घटना के प्रति लेखक अधिकांशतः क्रिटिकल होता है।

हिंदी का पाठक समुदाय मुख्यत: आख्यानक कहानियों का अभ्यस्त है। उसके संस्कार मूलत: महाकाव्यात्मक हैं, अत: कहानी से भी वह कविता की तरह रसात्मकता की माँग करता है। पाठक ही नहीं, हिंदी के अधिकांश कहानी-आलोचकों की भी कहानी से लगभग यही दो-तीन माँगें रहती हैं; शायद उस तरह जैसे मवाद भरे फोड़े की टीस आनंददायक होती है। कहानी की मध्यवर्गीयता का इससे बड़ा अभिशाप भला और क्या हो सकता है!

निश्चय ही, वैचारिक प्रास्थानिकता भी कहानी-रचना का एक मध्यवर्गीय उपक्रम ही है, लेकिन यहाँ लेखक का व्यंग्यात्मक-आलोचनात्मक रुख़ उसे इस सीमाबद्धता से उबार भी लेता है। मसलन, प्रेमपाल शर्मा चाहे बच्चों पर लिखें, घरेलू या नौकरीपेशा स्त्रियों पर लिखें, सरकारी उच्चाधिकारियों-बाबुओं इत्यादि पर लिखें, सामान्य कामगार स्त्री-पुरुषों (मज़दूरों, बाइयों इत्यादि) पर लिखें : उनकी चिंता के केंद्र में कहीं न कहीं से मौजूदा भ्रष्ट और ठस और जन-विरोधी राज्य-व्यवस्था या तंत्र आ ही जाते हैं। यहाँ घटनाएँ अलग-अलग हैं, पात्र अलग-अलग हैं, कहानियों के विषय-संदर्भ अलग-अलग हैं, लेकिन सारे नदी-नाले जैसे एक ही महासमुद्र की दिशा में उन्मुख हैं, या यों कहें कि ये सारी घटनाएँ, पात्र, संदर्भ मानो एक ही महायथार्थ के स्थानीय टुकड़े हैं या कि एक्सटेंशन (विस्तार) हैं। यहाँ लेखक के केंद्रीय ध्यान में यह समूची राज्य एवं सामाजिकार्थिक व्यवस्था है, जिसके प्रति कि आद्यंत वह क्रिटिकल है। यह आलोचनात्मकता कहानी के पाठ को भिन्न तरीक़े से संघटित करती है। यहाँ आख्यान भी हालाँकि होता है और उसकी विडंबनाएँ भी होती हैं लेकिन वहाँ रस नहीं होता; रस के स्थान पर तंज़ या आक्रोश होता है। यह तंज़ या आक्रोश किसी अंतस्सूत्र की तरह सारे कथानक को अंतर्संयोजित करता चलता है। इस अंतर्संयोजन का कुल रचनात्मक परिणाम यह होता है कि कहानी का पाठ पूरी तरह बदल जाता है और वह पाठक के दिल को सहलाने या पंखा झलने के स्थान पर उसके दिमाग़ पर दस्तक देती और उसे विचार के लिए कुछ मुद्दे देने का प्रस्ताव करती नज़र आती है। यथार्थ के प्रति लेखक के इस तुर्श रवैये का कहानी की संरचना पर अनिवार्यत: असर पड़ता है और विमर्श-मूलकता स्वभावत: वहाँ घर करती चलती है। प्रेमपाल शर्मा इस संग्रह की लगभग हर कहानी में इस प्रक्रिया से गुज़रते दिखाई देते हैं। हर कहानी में ऐसी घटनात्मक स्थितियाँ या पात्र संयोजित किए गए हैं, जो परिदृश्य पर कड़ी नज़र रखते हैं और लगभग हर कथित मूल्यहीनता, बेहयाई, छद्म, खोखलापन की ख़बर लेते, उन्हें कठघरे में खड़ा करते चलते हैं। हम देखते हैं कि इन कहानियों में अपार प्रश्नांतकताएँ हैं, अस्वीकृतियाँ हैं, संदेह हैं, तल्ख़ियाँ हैं। इन सबने अवयवों ने कहानी के पाठ को विमर्शमूलक बना दिया है। इस विमर्शमूलकता का सबसे बड़ा फ़ायदा यह होता है कि कहानी में पाठक के लिए ज़्यादा से ज़्यादा जगह बनती जाती है। कहानी में निहित चिंता में पाठक आप-से-आप शामिल होता चलता है और इस तरह लेखक अपने मंतव्य पर विचार हेतु पाठक-समुदाय को आमंत्रित करता चलता है। मसलन, 'अलग का ग़ुस्सा' कहानी का यह अंश : "मुझे यक़ीन नहीं होता कि विवेकानंद चौक पर चवन्नी की चाय पीते बीस वर्ष पहले हम जिन आदर्शों के लिए सरकारी नौकरियों में आए थे उनका ये हश्र होगा और मेरा अपना जिगरी दोस्त ही ये करेगा। इतने वर्षों के बाद हमें एक वर्ष, एक ही शहर में रहने का सुयोग मिला था। सोचा था, लौटेंगे उन्हीं सपनों में, उन्हीं आदर्शों में जो अभी तक हमसे दूर बने हुए हैं तो क्यों?" (पृ.-71) यह प्रश्न विमर्शमूलक इसलिए है कि यथार्थ की द्वंद्वात्मकता इसमें अंतर्निहित है। और वह है : "मान गए क्या स्पीड है!... मैंने एक वर्ष तुम्हें एक-एक टुच्ची चीज़ों के पीछे रफ़्तार

भागते देखा है। यह मेरे लिए अभूतपूर्व अनुभव है।...लेकिन इन बेकार की चीज़ों के लिए क्यों अपनी सारी ताक़त और सारी मशीनरी को झोंक रहे हो? इन सुविधाओं के तूफ़ानी दौड़ का कहीं तो अंत होगा।" (पृ.-70-71)। द्वंद्वात्मक यथार्थ के इस विमर्शमूलक निरुपण का ही संभवतः यह परिणाम है कि कहानी यथार्थवाद से मुक्ति की दिशा में कई क़दम आगे निकलती चलती जाती है–"बेईमानी में पैदा होने पर भी बड़े होते-होते हम भूल ही जाते हैं कि हम किसी बेईमानी का हिस्सा भी हैं। यह अहसास नहीं कर पाते कि जिस धरती पर हम खड़े हैं वह लगातार घूम रही है।..." (पृ.-69)।

यह क़तई आवश्यक नहीं कि कोई यह माने कि कहानी की यह विमर्शमूलक संरचना यथार्थवाद से मुक्ति का मॉडल है। यह तो एक संरचना भर है। यथार्थवाद से मुक्ति के रास्ते और भी कई हो सकते हैं। जैसे कि 'बचपन', 'दाँत', 'परीक्षा', 'कहानी के आर-पार' आदि कहानियों में हम देखते हैं। वैचारिकता यहाँ भी है, लेकिन यहाँ वह घटनाओं और स्थितियों से छनकर अवाप्त होती है। यहाँ तंज़ और तुर्शी नहीं है बल्कि एक तरह की दृश्यमान वैकल्पिकता है। यह विकल्प भी हालाँकि वास्तविक यथार्थ का ही एक टुकड़ा है, लेकिन एक ऐसा टुकड़ा जो जीवन के नए आयाम खोलता है। किसी को यदि 'विकल्प' शब्द पर एतराज़ हो तो इसे 'यथार्थ की संभावना' नाम दिया जा सकता है। कुल मिलाकर कहने का मतलब यह कि विडंबना के आनंद से हिंदी कहानी अब पीछा छुड़ाने की प्रक्रिया में है। काशीनाथ सिंह ने इस संग्रह के फ्लैप में 'दाँत' कहानी की पूरे एक पैराग्राफ़ में प्रशंसा यों ही नहीं की है। यहाँ 'रोज़मर्रा की ज़िंदगी में कहीं भी कहानी ढूँढ़ लेने या उसमें कहानी की चमक पैदा करने की कला' का कौशल तो है ही, रोज़मर्रा की ज़िंदगी में से ही ज़िंदगी की आगामी यथार्थमूलक संभावनाएँ तलाश लेने का वैचारिक उपक्रम भी है। 'दाँत' की मिसेज़ कुट्टी तो इसका एक उदाहरण है ही; 'कहानी के आर-पार' की प्रभा भी इसी का एक और उदाहरण है। कोई चाहे तो कह सकता है कि प्रभा यहाँ एक फ़ैंटेसी में है; जैसा कि कभी-कभी अलबर्ट ('अलबर्ट का ग़ुस्सा' कहानी; पृ.-69) रहा करते थे; इस फ़ैंटेसी को सच में बदलना भारी पड़ सकता है; लेकिन कोई क्या इस तथ्य से इनकार कर सकता है कि कहानी केवल लक़ीर पीटने का दूसरा नाम नहीं है, यथार्थ की संभावनाएँ तलाशना भी उसका एक ज़रूरी कार्य-भार है। यह कहानीकार पर निर्भर है कि वह इनमें से कौन-सा शिल्प चुने! अपनी प्रौढ़ावस्था में, अपने लगभग ठस हो आए लंबे दांपत्य के पार आज यकायक जिस संभावनापूर्ण अनुभूति की आकांक्षा में ये स्त्री-पुरुष स्वयं को जो इतना उत्फुल्ल और प्रसन्न अनुभव कर रहे हैं; तो वह अनुभूति क्या मात्र एक ख़याली पुलाव कहकर चलती की जा सकती है? हो सकता है, कुछ लोग इसे भूमंडलीकरण के मुक्त बाज़ार और आर्थिक उदारीकरण का सामाजिक-पारिवारिक प्रतिरूप कहकर आर्य-समाजी नैतिकता के हथौड़े से कुचलना चाहें, लेकिन फिर सवाल यह उठेगा कि नैतिकता की गतिशील मानवीय आख्या क्या हो, क्योंकि वह नैतिकता जो आदमी को ठस और संभावनाहीन बना दे, क्या एक रूढ़ि मात्र नहीं है? जो हो, लेकिन इतना निश्चित है कि जीवन के साथ-साथ कहानी भी अब एक नई करवट लेने की कोशिश में है। उम्मीद है कि इसकी 'हर करवट हँसी की हिलोर' (पृ.-152) होगी।

चर्चित कहानी-संग्रह :

अजगर करे न चाकरी : प्रेमपाल शर्मा; सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली; 2005; 150 रुपए

भु गुप्त के आलोचनात्मक लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : 122, अलकापुरी, अलवर-301001, (राज.), फ़ोन : 0144-2705299, मो. 094147-89779

सुरेश ठनियाल

कुइयाँ जान

नासिरा शर्मा के पास सबसे बड़ी सुविधा यह है कि उर्दू कथा परंपरा की क़िस्सागोई की ख़ूबसूरत कला तो उनके पास है ही, चीज़ों को क़रीब से देखने का हुनर भी उनके पास है। और इन दोनों चीज़ों के साथ अगर एक अच्छे और आज के समय के सबसे ज्वलंत सवाल, यानी पानी के सवाल की बात की जा रही हो तो *कुइयाँ जान* के रूप में एक ऐसा उपन्यास आकार लेता है जो 416 पृष्ठों में फैला होने के बावजूद ख़ुद को आसानी से पढ़वा ले जाने में सफल होता है। और पढ़वाने के बाद भी कुछ सवाल आपके दिमाग़ की ख़ुराक के लिए छोड़ जाता है कि जनाब अगर आप आज इस सब के बारे में नहीं सोचेंगे तो कल और ज़्यादा दिक़्क़तों का सामना करने के लिए तैयार रहिए।

नासिरा ने इसके लिए इलाहाबाद के किसी पुराने मुहल्ले की गलियों की ज़िंदगी से अपने पात्र लिए हैं। यहाँ बताशेवाली गली है, अदरसेवाली गली है। उपन्यास की शुरुआत एक बच्चे के जन्म लेने और एक बूढ़े की मौत से होती है। बच्चा पन्नालाल जौहरी के घर जन्मा है, शादी के अठारह साल बाद पहली संतान। और मौत हुई है मौलाना की जो एक पुरानी टूटी-फूटी मस्जिद में अकेले रहता है। कभी-कभार एक लड़का बदलू मदद के लिए उनके पास आ जाता है। अब दिक़्क़त यह है कि दफ़नाने से पहले मौलाना के आख़िरी ग़ुसल के लिए पानी नहीं है। पानी किसी के पास नहीं है। ''मोहल्ले के कुएँ बरसों पहले कूड़े से पाट दिए गए थे। एक-दो घरों में हैंडपंप थे जो ख़राब पड़े थे। मस्जिदवाली गली से मिली अदरसेवाली गली थी। वहाँ कुछ पक्के बड़े-बड़े घर थे। उनके यहाँ भी पानी की हाय-तौबा मची थी। शिव मंदिर के पुजारी भी बिना नहाए परेशान बैठे थे। उन्होंने न मंदिर धोया था, न भगवान को भोग लगाया था। उनके सारे गागरे लोटे लुढ़के पड़े थे। नल की टोंटी पर कौआ पानी की तलाश में आ-आकर बैठ-उड़ चुका था।'' (पृष्ठ 11)

पानी मिला ख़ुर्शीद आरा के घर से। जो एक बूढ़ी नौकरानी के साथ अकेली रहती थीं। यहाँ से कहानी ख़ुर्शीद आरा के साथ चलने लगती है। बदलू को भी शरण उन्हीं के घर में मिलती है। हमारी मुलाक़ात शकर आरा बेगम से भी होती है जो ख़ुर्शीद आरा की बड़ी बहन है और जिसके बड़े बेटे डॉ. कमाल के साथ उनकी बेटी शमीना की शादी हुई है। मुस्लिम मध्यवर्ग की नब्ज़ पर नासिरा की पकड़ अपने पूर्ववर्ती राही मासूम रज़ा, शानी आदि की तुलना में ज़्यादा क़रीब दिखती है। उनके संवादों में राही वाला खुलापन व खिलंदड़ा अंदाज़ और शानी वाली शाइस्तगी भले ही न हो लेकिन पढ़ते हुए पाठक इन पात्रों के साथ सहज ही एक अपनत्व बना लेता है, इनके साथ ख़ुद को आइडेंटिफ़ाई करने में उसे ज़्यादा सुविधा होती है।

उपन्यास में बदलू जैसे चरित्र केंद्र में न होने के बावजूद पाठक के मन में जगह बनाने में सफल होते हैं। पानी के इस घोर संकट के समय में वह सड़क के जानवरों के पीने के लिए अमलतास के पेड़ के नीचे पानी का एक हौदा रख देता है। जब भी मौक़ा मिलता दो-चार बाल्टी पानी लाकर उसमें डाल देता। गर्मियाँ तो गर्मियाँ, वह भोला लड़का तो भरी बरसात में भी ख़ुद को भिगोता हुआ उस हौदे को भरने की कोशिश में रहता।

दोनों बहनों के परिवारों के साथ चलती कहानी कहीं भी अपने मक़सद से ज़्यादा देर तक दूर नहीं

रहती। आज अगर पानी की इतनी कमी है तो इसके पीछे के कारणों की तलाश कहानी लगातार करती रहती है। कुछ जगहों पर हालात सीधे-सीधे वस्तुस्थिति के रूप में हमारे सामने रख दिए जाते हैं : "आज विश्व में आँकड़ों द्वारा ज्ञात होता है कि लगभग एक अरब से ज़्यादा लोगों को पीने के लिए साफ़ पानी उपलब्ध नहीं है। दो अरब लोगों को नहाने-धोने के लिए पानी नहीं मिल पाता। जिससे लोग अनेक तरह के रोगों का शिकार हो रहे हैं।" (पृष्ठ 88) यह विवरण हमें यह भी बताता है कि भारत में गाँवों, क़सबों, शहरों में लोग कुओं, तालाबों और नदियों से जो पानी लेते हैं उनमें कीटाणु तो होते ही हैं, संखिए की भी बड़ी मात्रा होती है। जो नदियाँ एक से ज़्यादा देशों से गुज़रती हैं, उनमें पानी के कारण सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक तनाव पैदा होते हैं। पानी जिस तरह से लगातार आम आदमी के हाथों से निकलकर व्यावसाइयों के हाथों में पहुँच रहा है वह आने वाले समय के लिए एक बहुत बड़े ख़तरे का संकेत है। (यह भी एक दिलचस्प संयोग है कि इस चिंता को लेकर लिखी गई आज के समय की एक अन्य लेखिका सुषमा जगमोहन की कहानी 'पानी डॉट कॉम' को *कथादेश* ने अपनी कहानी प्रतियोगिता में पुरस्कृत किया है। इस बारे में लेखिकाओं की यह चिंता सराहनीय है।) नासिरा यहाँ हमें यह सूचना भी देती हैं कि छत्तीसगढ़ में भिलाई के पास शिवनाथ नदी की 22 किलोमीटर की पट्टी को एक निजी कंपनी के हाथ में देकर वहाँ के लोगों के लिए नदी में प्रवेश पर रोक लगा दी गई है।

एक और जगह हमें विवरण मिलता है : "केरल के पालक्कड़ ज़िले में प्लाची मड़ा गाँव में कोकाकोला कंपनी ने पानी का बॉटलिंग प्लांट लगाया था। इसके लिए कंपनी ने 300 से 600 फ़ुट गहरे 30 बोरवैल खोदे और वह प्रतिदिन 15 लाख लीटर पानी ज़मीन से खींचने लगी। इसका नतीजा यह हुआ कि (आसपास के) सारे पोखर, कुएँ, दो बड़े जलाशय और धान के खेत सूख चले हैं।" (पृष्ठ 103)

गर्मी में पानी की कमी का ज़िक्र तो उपन्यास के शुरुआती हिस्से में आ जाता है। बीच में आते-आते बरसात भी आ जाती है। यह बारिश चिलचिलाती गर्मी से राहत तो देती है लेकिन अपनी तरफ़ से कुछ परेशानियाँ भी लेकर आती है। इसका एक विवरण है : "बारिश रुकी तो राम अवतार तेली के पड़ोसी सुखनवा कुंजड़े ने ऊपर से आती अपनी नाली राम अवतार के नीचे बनी नाली से जोड़ ली थी जिससे उनके घर के सामने के रास्ते पर बजबजाहट फैली हुई थी। ढाल के कारण नाली का पानी बह जाता मगर अपने पीछे कूड़ा छोड़ जाता, जिसमें गू से लेकर न जाने क्या अल्लम-गल्लम होता।" (पृष्ठ 142)

पानी को लेकर प्रकृति और इंसान के रिश्तों के पूरे इतिहास में जाते हुए नासिरा उन कारणों की तलाश भी करती हैं जो अच्छे साफ़ पानी को लगातार हमसे दूर किए जा रहे हैं। वह उन उपायों की तलाश की भी कोशिश में हैं कि जो नुक़सान हो चुका है, उसकी भरपाई अब कैसे की जा सकती है। लेकिन सरकारी कोशिशों की जो दिशा है उससे असहमति प्रकट करने में नासिरा ज़रा भी संकोच नहीं करतीं।

चर्चित उपन्यास :

कुइयाँ जान : नासिरा शर्मा; सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली-110002; 2005; 400 रुपए

कथाकार सुरेश उनियाल के समीक्षात्मक आलेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : बी-8, प्रेस अपार्टमेंट 23, इंद्रप्रस्थ एक्सटेंशन, दिल्ली-110092, फ़ोन : 9811866488

विद्या सिंह

कौंध-सी उपजी लघुकथाएँ

लघुकथा को विधा विशेष की पहचान दिलाने में, हिंदी की सुपरिचित वरिष्ठ कथा लेखिका चित्रा मुद्‌गल का अवदान महत्त्वपूर्ण है। 'एक ज़मीन अपनी', 'आवां', 'गिलिगिडु', उपन्यासों, दर्जन भर कहानी-संग्रह तथा अन्य विविध लेखन से हिंदी साहित्य को समृद्ध करने वाली चित्रा जी का लघुकथा-संग्रह है *बयान* जिसमें विगत लगभग तीस वर्षों के अंतराल में लिखी गई लघुकथाएँ संकलित हैं। लघुकथा के प्रति संपादकों की उदासीनता से खिन्न लेखिका का कथन है, "एक और दुख! छोटी-बड़ी सभी पत्रिकाओं के मुखपृष्ठ पर कहानीकारों के नाम होते हैं, विचारकों के होते हैं—नहीं होते हैं तो लघुकथाकारों के नाम!" स्पष्ट है, लघुकथाएँ लिखना उनकी नज़र में दोयम दर्जे का काम है और लघुकथाकारों का आकर्षण शून्य। जबकि, "सच तो यह है कि लघुकथाओं ने बड़ी ज़िम्मेदारी से नई कविता के जनसरोकारीय दायित्व को आगे बढ़कर अपने कंधों पर ले लिया है।"

वस्तुतः यही कारण है कि आज लघुकथा एक सम्मानित विधा के रूप में मान्यता प्राप्त कर चुकी है। लघुकथाकारों को मिले विविध पुरस्कार इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि एन.सी.ई.आर.टी. ने अपने देशव्यापी पाठ्यक्रम में लघुकथा को स्थान दिया है। उनकी ग्यारहवीं कक्षा की हिंदी पाठ्यपुस्तक *विविधा* में चित्रा जी की लघुकथा 'रिश्ता' भी शामिल है।

चित्रा जी का लेखकीय व्यक्तित्व पूरी क्षमता के साथ उनकी लघुकथाओं में अभिव्यक्त हुआ है। लघु कलेवर के बावजूद, कथ्य को एक स्फोट की तरह व्यक्त करने में उनकी लघुकथाएँ सक्षम हैं। शब्दों से जितना व्यक्त होता है, उससे अधिक संकेतित होता है और रचना देर तक पाठक को अपनी गिरफ़्त में लिए रहती है। शोषण, अत्याचार, अनाचार, छुआ-छूत आदि जिन सामाजिक विकृतियों से हम नित्य दो-चार होते हैं, वे ही एक कौंध उत्पन्न कर लेखिका को रचना का सूत्र थमा देती हैं। स्वीकारोक्ति है, "लघुकथा जब भी जन्मी कौंध-सी जन्मी। कौंध के साथ ही उसने अपना चुनाव-रचाव स्वयं रचा। मैंने उसे दर्ज भर कर लिया।"

मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग की संस्कृतियों, परंपराओं और मजबूरियों को लेखिका ने उन्हीं की बोली-बानी में व्यक्त किया है। इन रचनाओं का मूल वैशिष्ट्य है, इनमें निहित प्रामाणिकता। समाज के विभिन्न समुदायों, विशेषकर दलित-शोषितों के बीच बैठकर काम करने के कारण जिस यथार्थ को उन्होंने अत्यंत निकट से देखा, उसकी स्पष्ट प्रतिच्छाया लघुकथाओं में दिखाई देती है। चित्रा जी की सूक्ष्म पर्यवेक्षण दृष्टि मानव-मन के भावों के अध्ययन में अत्यंत सक्षम है तथा अभिव्यंजना कौशल के बल पर उतनी ही सहजता से व्यक्त करने में समर्थ लेखनी। अधिकांश लघुकथाओं में वह 'नैरेटर' की तरह हैं और तटस्थ भाव से स्थितियों का बयान भर कर देती हैं।

कथनी और करनी, शब्द और कर्म का द्वैत समाज की दुर्दशा का मुख्य कारण रहा है। 'डोमिन काकी', 'राक्षस', 'शहर', 'मानदंड' 'नसीहत', 'भूखे-नंगे' आदि अनेक लघुकथाओं में यही द्वैत उजागर हुआ है। 'डोमिन काकी' संबोधन न कर सिर्फ़ 'डोमिन' कहने पर दादी, लड़की को थप्पड़ मारती है, किंतु उसी डोमिन काकी को बालिका द्वारा छू दिए जाने पर दादी की संवेदना कपूर की

ति उड़ जाती है और लड़की को एक थप्पड़ और रसीद कर देती है। 'राक्षस' लघुकथा में पिता अपने युवा बेटे के शराब पीने के कारण उसे राक्षस कहते हैं तथा घर से निकाल देते हैं, किंतु बॉस के आने पर स्वयं शराब मँगवाते हैं। लड़के द्वारा बचपन में पूछने पर "क्या साहब राक्षस हैं?" पिता उसे एक चाँटा जड़ देते हैं। बॉस अन्नदाता है अतः राक्षस कैसे हो सकते हैं? भिन्न संदर्भों में सच्चाइयाँ कितनी बदल जाती हैं, अनेक लघुकथाएँ इसका उदाहरण हैं।

कई बार अस्तित्व का प्रश्न इतना बड़ा हो जाता है कि उसके लिए साधन के रूप में अपनाया जाने वाला झूठ ही एकमात्र विकल्प होता है। 'ग़रीब की माँ' इस तथ्य को संवादों के माध्यम से बड़े कौशल से प्रस्तुत करती है। ग़रीब की माँ को बेटे के अस्तित्व के लिए बार-बार मरना पड़ता है। यह लघुकथा महानगरों की आवास और उससे जुड़ी अनेक समस्याओं को उजागर करती है। एक भिखारी अन्य भिखारियों से पैसा लेने में कामयाब होता है, यह प्रस्तुत किया है लेखिका ने 'शहर' लघुकथा में। 'नसीहत' लघुकथा में सुधारवादी मानसिकता की पोल खोली गई है। वाचिका द्वारा भिखारी लड़के को पहले दी गई नसीहत "ईमानदारी और मेहनत से काम करने का वादा करो तो...कौन नहीं रखेगा? घरेलू नौकर की कमी तो हर घर में है", और फिर लड़के द्वारा काम माँगने पर उसका जवाब "मेरे पास पहले से ही एक नौकर है, तुम्हें रखकर क्या करूँगी। हाँ यह लो पाँच रुपए...कुछ धंधा कर लेना...बूट पॉलिस या रूमाल-उमाल बेचने का...छोटी-मोटी चीज़ें बहुत-से बच्चे ट्रेनों में बेचते हैं।" छद्म संवेदना उजागर करती है। "आज हर पेशे के पीछे धन कमाने की लालसा छिपी है" इसे प्रस्तुत करती है लघुकथा 'बाज़ार', जहाँ उद्घाटन के पीछे का मंतव्य प्रकट होता है, नर्सिंग होम के मालिक के कथन से "उद्घाटन के बहाने हमें प्रचार की ज़रूरत है।" अतः वे ऐसी किसी हस्ती को आमंत्रित करना चाहते हैं, जिसका नाम सुनकर लोग उमड़ पड़ें। पात्र किसी भी वर्ग का हो सबके मुखौटे को लेखिका ने बेनक़ाब किया है।

एक ओर खोखली संवेदना है, तो दूसरी ओर निम्न तबके द्वारा संवेदना भुनाने की कुटिल मानसिकता भी है। 'व्यावहारिकता' की बाई, मालकिन से माँगकर कपड़े ले जाती है और मालकिन भी यह सोचकर संतुष्ट है कि कपड़े किसी के पहनने के काम आएँगे, किंतु वह यह देखकर ठगी रह जाती है कि उनके द्वारा दिए गए कपड़े के बदले बाई ने बरतन ले लिया था। बरतन वाली उनके सामने उनका ही गट्ठर खोलकर कहती है, "...अब्बी अब्बी में इतना कपड़ा पर आपका पिच्छू झोंपड़पट्टी में एक बाई को रोट्ला (रोटी) का डिब्बा दे के आया।"

आधुनिक समाज में धीरे-धीरे दम तोड़ रही मानवीय संवेदनाएँ लेखिका की चिंता का सबब है। संग्रह की उत्कृष्ट लघुकथा 'मिट्टी' अत्यंत सशक्त ढंग से इस सच्चाई को प्रस्तुत करती है। मृत्यु के सन्निकट पहुँची सास को बहू गाजे-बाजे के साथ उनकी मिट्टी उठाने का प्रलोभन देकर, उनके द्वारा गाड़े गए गहनों का स्थान पूछती है। जिस समय वृद्धा की साँस निकलती है, पूरा घर दूधहड़ी के नीचे की जगह खोदने में व्यस्त है। सास की दयनीयता के बरक्स बहू की कटूक्तियाँ वृद्धा के प्रति उपजी करुणा को द्विगुणित कर देती हैं। छीजती संवेदना का प्रभावपूर्ण अंक 'गणित' में भी दृष्टव्य है। पुलिस की संवेदनहीनता को व्यक्त करती लघुकथा है 'बयान', जो संग्रह के शीर्षक का आधार है। जीवन-जगत की अन्य अनेक विसंगतियों को उजागर करती हुई लघुकथाएँ है 'ऐब', 'रक्षक-भक्षक', 'धर्म', 'दूध', 'बोहनी' आदि। 'पहचान' के माध्यम से लेखिका ने मानवीय संबंधों में उपजे संदेह को वाणी दी है।

रचनात्मक कसाव चित्रा जी की लघुकथाओं की विशेषता है। सीमित शब्दों में वांछित प्रभाव

उत्पन्न करने में लेखिका सिद्धहस्त हैं। "दूध घर के मर्द पीते हैं" मात्र एक वाक्य के सहारे लेखिका ने उस वातावरण को जीवंत बना दिया है, जहाँ लिंगाधारित भेद-भाव की शिकार लड़कियाँ, महिलाएँ होती हैं। सांकेतिकता, सूक्ष्मता, नाटकीयता के गुणों से युक्त ये लघुकथाएँ अनुभव के कतिपय क्षणों तथा क्षेत्रों को तीव्रता से प्रकाशित करती हैं। युग-संवेदना के अधिक तत्त्वों को समायोजित करती ये लघुकथाएँ 'मा मम्मी' जैसे चरित्र के लिए भी पठनीय हैं।

चर्चित पुस्तक :
बयान : चित्रा मुद्‌गल; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दि 2004; 70 रुपए

विद्या सिंह के आलोचनात्मक लेख प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : 77 प्रकाश विहार, धर्मपुर, देहरादून 248001

मनीषा कुलश्रेष्ठ

मैं तुम्हारी शिकस्त की आवाज़

"ग़रीबी और गंदगी के चित्रण में मैं रोमांटिक रियलिज़्म से दूर रहा,...यह तो वही हुआ कि कीचड़ हो और कीचड़ में पाँयचे उठाकर चलो। मेरे लेखन में यथार्थ था, जिसे मैं यथार्थ कहूँगा यथार्थवादिता नहीं कहूँगा। हालाँकि ढाँचा यथार्थवादी था लेकिन संदर्भ सांकेतिक थे। यथार्थ को फ़र्नीचर नहीं बनने देना था न। कि मामूली डीटेल्स से पन्ने भरे हों वहाँ कहानी के गुज़रने की जगह ही न बचे। मेरा ध्यान पात्रों पर अधिक रहता था। उनके मनोलोक पर, मेरी कोशिश उनके रियेक्शंस पकड़ने की होती थी। मैंने आयरनी का इस्तेमाल किया है। आयरनी—क्रुएल बट नॉट जेंटल।" एक साक्षात्कार में कृष्ण बलदेव वैद ने कहा था।

ख़्वाब है दीवाने का में कृष्ण बलदेव वैद की डायरी के बहाने उनकी रचना प्रक्रिया, चिंतन, संस्मरण और आंतरिक विस्तार का एक पहलू था। उसका दूसरा पहलू है यह किताब *शिकस्त की आवाज़*। शिकस्त की आवाज़ें पुरज़ोर होती हैं। तुर्श, तीखी। वैद तो वैद ही हैं, उन्हें अधूरे टुकड़ों में पढ़ने वाला ही उनकी रचनाओं पर असंप्रेषणीयता का आरोप लगा सकता है, जिसने उन्हें ठीक-ठाक तरह से भी पढ़ा हो तो उनके मंशाएँ, उनके महीन संप्रेषण उनके लिए सह ही ग्राह्य होंगे।

जब-जब कृष्ण बलदेव वैद अपने वैचारि लेखों में साहित्यिक प्रश्न उठाते हैं, तो वहाँ उनक चिंताएँ विशुद्ध लेखकीय चिंताएँ होती हैं—च वह गल्प और कविता वाला रूपकात्मक ले 'आधुनिक हिंदी साहित्य अंग्रेज़ी अनुवादक की तलाश में' हो, या आलोचना पर व्यंग्यात्म अंदाज़ में लिखा गया लेख हो। बुनियादी सरोकारों के प्रति प्रतिबद्धता वैद के लेखन की विशेषता है जो उन्हें अलग पंक्ति में खड़ा करती है।

कृष्ण बलदेव वैद का रचनाकार अपने बा नहीं, अपने भीतर विस्तार पाता है, जहाँ आय के नागफनी का जंगल है, जिससे वे उलझते हैं उस पर बरसते हैं, उससे उखड़ते हैं और उ ऊबते भी हैं...लेकिन उससे व्यामोह नहीं पाल लेकिन बस इतना ही नहीं है। कृष्ण बलदेव की दुनिया का भीतरी विस्तार कितना ही व्या हो वे अपने वरिष्ठों, समकालीनों, कनि रचनाकारों, कलाकारों की रचनात्मकता के प्रति सचेत रहते हैं। वे उन कलाकारों के भीतरी विस

को भी उसी सरोकार के साथ उनकी रचनाओं के माध्यम से, उनसे साक्षात्कार के माध्यम से टोहते रहते हैं।

जब कृष्ण बलदेव वैद अपने समकालीन कलाकारों के कला क्षेत्रों को छूते हैं तब भी वे उतने ही मौलिक होते हैं। चित्रकार स्वामी के व्यक्तित्व और कृतित्व के अनूठेपन को यूँ तार-तार करके उसे झीने आलोक में दिखाते हैं। कृष्ण बलदेव वैद कलाकार की निर्दोषता के ख़िलाफ़ खड़े होते हैं। वे लिखते हैं, ''स्वामी की तस्वीरों के सामने खड़ा मैं अकसर कुमार गंधर्व और मल्लिकार्जुन का गायन सुनने लगता हूँ। इन तीनों असाधारण कलाकारों का साम्य असाधारण है। ये तीनों कलाकार निर्दोष नहीं। निर्दोषता का अभाव इन तीनों का असाधारण गुण है।'' (*शिकस्त की आवाज़,* पृ. 13)

जैनेंद्र के मुख्य और मौलिक स्वर को लेकर कृष्ण बलदेव वैद ने अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है। *त्यागपत्र* का सूक्ष्म मूल्यांकन करते हुए वे प्रमोद की एक नरेटर के रूप में बखिया उधेड़ते हैं। प्रमोद के एक चतुर, चालाक मगर भीरू नरेटर के समक्ष मृणाल ही नहीं, स्वयं जैनेंद्र भी असहाय खड़े हैं। वैद लिखते हैं, ''उनके उपन्यासों में प्रश्न और उत्तर ही अकसर पात्र हो जाते हैं। उनके प्रश्न अधिक सशक्त हैं, उत्तर कम। इस कोण से *त्यागपत्र* को देखा जाए तो उत्तर सबसे ज़्यादा प्रमोद के पास हैं, प्रश्न मृणाल के पास। मृणाल इसीलिए ज़्यादा सशक्त चरित्र है।''

(*शिकस्त की आवाज़,* पृ. 31)

अज्ञेय की आत्मा से साक्षात्कार पर लिखा उनका निबंध 'एक ख़ूबसूरत नक़ाबपोश' बहुत ख़ूब बन पड़ा है। वैद के इस लेख को अपने-अपने ढंग से पढ़ा जा सकता है। अज्ञेय की आत्मा से उनके ग़ायब होने से पहले नक़ाबपोश होने व स्वयं का मज़ाक़ बनाने के प्रश्न पर वे अज्ञेय से खुले दिल से आत्मस्वीकृतियाँ करवाते हैं और फिर निश्चिंत होकर निष्कर्ष निकालते हैं, ''नक़ाब की शिकायत एक वहम-सी नज़र आई। नक़ाब पहनना कोई ऐब नहीं, सभी लोग पहनते हैं और कलाकार को तो पहनना ही चाहिए। इस शख़्स से मेरी असली शिकायत यह नहीं थी कि यह नक़ाब पहनता था बल्कि इसका नक़ाब मुझे नापसंद था और शायद यह भी कि इसके चरित्र भी नक़ाबपोश थे और शायद इसे उनके नक़ाब उनके चेहरों से ज़्यादा प्यारे थे।''

इसी तरह वे नेमिचंद्र जैन के साक्षात्कार के बहाने उनके भीतर के कवि और आलोचक दोनों से वे मुखातिब होते हैं। इसी बीच वे ज्योत्स्ना मिलन की कहानियों के अँधेरे तहख़ानों में घूम आते। वहाँ मिलती हैं उन्हें मर्म की तलाश में भटकती कहानियाँ।

बैकेट वैद के पसंदीदा लेखक हैं। 'बैकेट बैरागी' नामक इस लेख में उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का ब्योरा तो है ही, उस अभूतपूर्व कलाकार के दूसरे पहलू भी हैं—मसलन उसका ग़ज़ब का नाटककार होना, उसके विलक्षण मंच प्रयोग, उसका शतरंज प्रेमी तथा क्रिकेटर होना। हक्सले का साक्षात्कार इस पुस्तक की उपलब्धि है, जिसमें न केवल, हिंदू धर्म, अध्यात्म, योग, ओरिएंटल चिंतन पर बातचीत है बल्कि साहित्य में उपन्यास, हिंदुस्तानी उपन्यास और अनुवाद की समस्या पर भी बात की गई है। वैद का यह लेख बड़ा करारा व्यंग है।

कृष्ण बलदेव वैद भारतीय उपन्यास के स्वरूप के सवाल पर गंभीरता से बात करने के मूड में हैं। वे नीम यथार्थवादी उपन्यास, जो पश्चिम से निष्कासित होकर यहाँ आया था, और जम गया; उसे हिंदी साहित्य से बाहर धकेल देने की पैरवी करते हैं। इन उपन्यासों की अतिभावुकता के प्रति कलाकाराना क़िस्म की निर्दोषता के प्रति, यथार्थवादिता की रूढ़ियों से वे गहन विकर्षण महसूस करते हैं। उनकी ख़ुद की रचनाओं में और उनके साहित्यिक मिज़ाज में यथार्थवादिता के घिसे-पिटे स्वरूप के प्रति विकर्षण दिख

जाएगा। वे लिखते हैं, ''सृजन के लिए ऑब्सेशन (ख़ब्त) ज़रूरी है।''

'उपन्यास-अनुपन्यास' में वे *मायालोक, काला कालोज* को स्वयं ही अनुपन्यास घोषित किए जाने के पीछे के उस पक्ष को उजागर करते हैं जिसके तहत कुछ अनिवार्य तत्त्वों के अभाव में हिंदी में किसी उपन्यास को खारिज कर दिया जाता रहा है। ''अनुपन्यास उपन्यास की ही सुषुप्त या अदृश्य संभावनाओं को स्वरूप देता है। अनुपन्यास उपन्यास से इनकार नहीं, उसका विस्तार है।'' इस बहाने वे अपने लेखकीय मिज़ाज को लेकर अपनी आवाज़ मुखर करते हैं। इस संदर्भ में उनकी *जवाब नहीं* पुस्तक में उन्होंने ऐसा ही उल्लेख किया था, ''मेरे उपन्यासों के भीतर ही मेरा औपन्यासिक दर्शन छिपा है।'' (*जवाब नहीं*, पृ. 16)

इस पुस्तक में 'उसका बचपन', 'नर-नारी', 'भूख आग है' (नाटक) की रचना प्रक्रिया के विषय में खुलासा करनेवाले निबंध भी शामिल हैं।

'आधुनिक हिंदी कहानी' के संदर्भ को लेकर कृष्ण बलदेव वैद ने यह लेख 1993 में लिखा था। इसमें वे कहते हैं, ''आधुनिक हिंदी कहानी मेरी दृष्टि में न उतनी आधुनिक है, न उतनी उत्कृष्ट जितनी कि उसके मासूम, आत्ममुग्ध अल्मबरदार उसे समझते हैं। उसके दो ही मूल स्वर हैं—एक बुलंदबाँग नारेबाज़ी का, दूसरा रुँधे गले वाले अतिभावुक भीगे-भीगे सोज़-ओ-गुदाज़ का। वह अभी तक सतही, साफ़-सुथरे, 'स्वस्थ' रूमानी यथार्थवाद और उसकी चुकी हुई, खोखली रवायतों से आज़ाद नहीं हुई है। हाँ, कुछ कहानियाँ और कहानीकार इन स्वरों के बीच अपना विडंबनात्मक स्वर भी साधे हुए हैं, लेकिन उन्हें सुनने और समझने वालों की संख्या बहुत ही कम है। मैं इस स्थिति को अपने साहित्य का दुर्भाग्य मानता हूँ।''

इस पुस्तक के तमाम लेख, संस्मरण, उनके उपन्यासों की रचना प्रक्रिया, कथा संकलनों की चयन प्रक्रिया, किताबों की नई-पुरानी भूमिकाएँ, यात्रावृत्त, लेखक की उन भीतरी प्रतिक्रियाओं की मुखर आवाज़ें हैं जो उन्होंने आधुनिक हिंदी साहित्य, साहित्यकारों और स्वयं के लेखन को लेकर एक लंबे वक़्फ़े में उठाई हैं।

चर्चित पुस्तक :

शिकस्त की आवाज़ : कृष्ण बलदेव वैद; राजपाल एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली; 2006; 295 रुपए

मनीषा कुलश्रेष्ठ उभरती कथा लेखिका और समीक्षक हैं। संपर्क : द्वारा विंग कमांडर ए.के. कुलश्रेष्ठ, एयरफ़ोर्स स्टेशन, सिरसा, हरियाणा

सुदीप्ति

आदमियत की चिंता

''नेताओं ने आविर्भूत होकर अनेक प्रकार की घोषणाएँ कीं। कहा—मनुष्य नाम की कोई जाति नहीं होती, अतः अब से मनुष्य का नाम लेना भी अपराध है।''

'नरक गुलज़ार अथवा भरतखंड महात्म्य'; पृ.132

''हर छँटे-छँटाए अपराधी को शासन ने ताम्रपत्रादि से विभूषित कर दिया।''

'एकादश कुमार चरित'; पृ. 117

''लल्लू डर गया। ये लोग आदमी की खाल में हैवान हैं। हमारे हैं सारे के सारे।''

'काला, सफ़ेद और रंगीन'; पृ. 98

"सारी उम्र मैंने आदमी और आदमियत को बड़ा माना—सबसे बड़ा।"

'यहाँ एक नदी थी'; पृ. 40

ये चारों उद्धरण सुवास कुमार के नए कहानी-संग्रह *यहाँ एक नदी थी* की कुल जमा चार कहानियों से लिए गए हैं। ये उद्धरण स्वयं ही इस बात के साक्ष्य हैं कि कथाकार किस संकट के दौर में किन सरोकारों से जुड़ा हुआ है। इस संकलन की कथाएँ 'हैवानियत के दौर में आदमियत की चिंता' से व्याकुल मानस से उपजी हैं। सुवास कुमार आलोचक होने के साथ-साथ कवि और कथाकार भी हैं। इस संकलन से पहले उनका एक कहानी-संग्रह *देशी विदेशी गुड़िया* और दो उपन्यासिकाएँ *अन्य रस तथा अन्य कहानियाँ, काला, सफ़ेद और रंगीन* प्रकाशित हो चुकी हैं। कथाकार द्वारा दी गई सूचना के अनुसार इस संकलन की चारों कहानियाँ भी *रविवार, परिवर्तन, वर्तमान साहित्य* तथा *अक्षर पर्व* में प्रकाशित हो चुकी हैं। हालाँकि इन रचनाओं का प्रकाशन वर्ष नहीं बताया गया है।

यहाँ एक नदी थी संग्रह की पहली और प्रतिनिधि कहानी है। यह एक परिवार के चार पुश्तों की कथा के माध्यम से एक गाँव के बनने-बिगड़ने-बदलने और विचलने की कहानी है जो तैंतीस पृष्ठों की लंबी-चौड़ी ज़मीन पर फैली है। यह कहानी गंगा और वाया दो नदियों के किनारे बसे गाँव के एक ऐसे परिवार की त्रासद कथा है जिसमें पहली और तीसरी पीढ़ी जहाँ अपने समय और समाज के यथास्थितिवाद से संघर्ष करती हुई मृत्यु का शिकार होती है वहीं दूसरी और चौथी पीढ़ी यथास्थितिवाद को स्वीकारते हुए जीवन को यथासंभव बेहतर ढंग से जीने की जुगत में लगी रहती है। गाँव के 'डीहवार' बन चुके तूफ़ानी बाबा ने 'इस्टेट' से बड़ी लड़ाई लड़कर भैंसवारों का हक़ (चारागाह की ज़मीन) हासिल किया था। अपनी हार से तिलमिला उठे 'इस्टेट' ने अन्याय न बर्दाश्त कर पानेवाले तूफ़ानी बाबा को मारने के लिए अपने लठैतों को भेजा। बाबा को घायल कर चुके दुश्मन लठैत जब ख़ुद एक बाघ की चपेट में आ गए तो बाबा ने अपने प्राणों की चिंता छोड़ उन मनुष्यों की पशु से रक्षा की। भले ही आप खेत रहे। गाँव ने अपने इस 'निडर, और सच्चरित्र महापुरुष' को डीहवार के रूप में पूजना शुरू कर दिया। लोक मान्यता है कि डीहवार "अपनी डीह पर बैठकर एक हज़ार साल तक, वहीं से सारे गाँव की आपद-विपद से रक्षा करते हैं।" कहानीकार सन् 34 के 'भुइकंप' से कहानी शुरू कर तूफ़ानी बाबा के चौदह-पंद्रह साल के पोते शिब्बन को कहानी का नायक बनाता है। वैसे तो कथावाचक ख़ुद कहानीकार है, परंतु कथा का सूत्र जहाँ-तहाँ सरबन बाबा के हाथ में थमा देता है।

यही वजह है कि पूरी कथा में दो तरह की भाषा चलती रहती है। एक पढ़े-लिखे कथा-वाचक की भाषा, दूसरे सरबन बाबा और अन्य की गँवई भाषा। शिब्बन अपने तूफ़ानी बाबा के प्रतिरूप, नहीं कुछ मामलों में उनसे मिलते हुए; पर अधिक आधुनिक विचारों से संपन्न किरदार हैं। उन्हें 'रुपया नहीं इंसाफ़ चाहिए'। अपनी किशोरावस्था में सन् 34 का भूकंप देख चुके शिब्बन ने देखा है कि कैसे लोगों के मन दूध जैसे फटने लगे हैं, अपने-अपने अस्तित्व की रक्षा में। शिब्बन ने सन् 62 में गंगा को पाट बदलते भी देखा है। नदी के रूठते ही दाने-दाने को मोहताज लोगों को शहर भागते, एक-एक पैसे के लिए लोगों को जानवर बनते उन्होंने देखा है। फिर भी वे सारी उम्र आदमी और आदमियत को ही बड़ा मानते रहे। गाँव से बाहर की दुनिया उनके लिए बहुत छोटी और गाँव विशाल रहा। "नदी के दूर हटने से जैसे सारा दियारा बालूमय शुष्क उतप्त हो गया" था "वैसे ही आदमी के भीतर भी ग़रीबी तपती... किरकिराती" थी। शिब्बन पैसे की तंगी बर्दाश्त करना ख़ूब जानते थे, नहीं जानते थे तो दिल की तंगी बर्दाश्त करना। गाँव के लोगों में आपसी

वैमनस्य, ईर्ष्या, दूसरे को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति तो जैसी की तैसी बनी रही। बदलाव हुआ तो यह कि "गाँव की पहले वाली आत्मीयता ने भी नदी की तरह रास्ता बदल लिया।" जीवनभर शिब्बन गाँव में हावी हो रही पशुता से लड़ते रहे। "उन्होंने साँप तक का विश्वास किया"—पर आदमी और साँप दोनों से ही छले गए। सचमुच के हिंसक बनैले सूअर को तो मार गिराया लेकिन गाँव में बहुत से छुट्टा घूम रहे इंसानी सूअरों को नहीं ख़त्म कर सके। फिर भी शिब्बन की सार्थकता इसी बात में रही कि उनके जीते-जी गाँव में पशुता को प्राप्त हो रहे लोग उनके मरने की कामना करते रहे। सुवास कुमार अपनी इस कहानी में अनायास ही शिब्बन को गांधी की छाया से जोड़ देते हैं। गांधी की ग्राम-दृष्टि और ग्राम-प्रेम सुवास कुमार के शिब्बन में मौजूद है।

शिब्बन के व्यक्तित्व का वृहत्-विस्तार तब देखने को मिलता है जब उनके इश्क का भूत उतारने पंच उनके पास जाते हैं और कल्याणी को रखैल बनाकर रखने तथा बिरादरी में पारंपरिक रूप से शादी करने की सलाह देते हैं। दरअसल उनकी समझ में ही नहीं आता कि, "बिना पुरोहित और बारात के भी कहीं कोई औरत किसी की बीवी बन सकती है!" शिब्बन कहते हैं, "अरे, रखैल तो आप लोगों की बीवियाँ हैं। दो जून भोजन और कपड़े देकर ज़िंदगी भर के लिए घर में बिठाए रखते हैं। मेरी बीवी तो मेरे हर काम में साथ देती है।" शिब्बन का अपने रूढ़िबद्ध संकुचित समाज से यह टकराव गाँव वालों की नज़र में व्यर्थ है। वे मानते हैं कि "भरी जवानी की वैसी ताक़त बेकार गँवा दी।" लेकिन शिब्बन का मानना है, "सबको मरना है, पर मौत से डरकर जीवन को सुधारने वाले कितने हैं?...परंपरा भी नदी होती है—जगह छोड़ती चलती है। रास्ता बदलने से चाहे शुरू-शुरू में बंज़र-बालूचर ही क्यों न बने, पर बदलाव तो होता ही है।...जो नदी के संघर्ष को जानते हैं, उन्हें हरियाली में पक्का विश्वास होता है।"

सुवास कुमार ने 'यहाँ एक नदी थी' कहानी के माध्यम से बंजर-बालूचर की तस्वीर को रोचक ढंग से सामने रखा है और हरियाली की उम्मीद को भी तूफ़ानी बाबा की चौथी पीढ़ी 'नूरू' में बरक़रार रखा है।

फणीश्वरनाथ 'रेणु' के कथा-शिल्प के मर्म सुवास जी ने फणीश्वरीय ताने-बाने में ही इस कथा को बुना है। प्रतीकों किंवदंतियों और लोक-मान्यताओं के माध्यम से आगे बढ़ने वाली यह कहानी वाचक की कच्ची-पक्की भाषा में पर्याप्त रूप से प्रभावकारी है। कहीं-कहीं तो भाषा काव्यमयता लिए हुए अद्‌भुत रूप से मोहक है, उदाहरण के लिए, "और जूता भी ऐसा कि जितनी चमक उतनी ही मचमचाहट।" "उ भयानक बरसाती रात के अंधे सन्नाटे में दो बा बाघ की तेज़ दहाड़ सुनाई दी। सोया हुआ गाँ थर्रा उठा। पूरा वातावरण मानो पीतल की था के समान गिरकर झनझना उठा।" सखुनतकिए मुहावरों और कहावतों का प्रयोग भी सर्जनात्मक ढंग से यथोचित रूप में हुआ है। इसलिए बहु सारे सूक्ति-वचन कहानी में यत्र-तत्र मिलते हैं। प्रेमचंद ने अपने निबंध 'कहानी-कला : 2' लिखा है, "कोई वस्तु बहुत सुंदर होने पर भी अरुचिकर हो जाती है, जब तक उसमें कु नवीनता न लाई जाए। एक तरह के नाटक, ए ही तरह के काव्य पढ़ते-पढ़ते आदमी ऊब जा है और वह कोई नई चीज़ चाहता है—चाहे व उतनी सुंदर और उत्कृष्ट न हो।" कहानी मौजूदा दौर में 'यहाँ एक नदी थी' ऐसी ही ए अलग भाव-भूमि की कहानी है जो 'अत्यं सुंदर और उत्कृष्ट नहीं बन पड़ने पर भी बहु लुभावनी है।

इस संग्रह का कहानीकार महसूस करता कि आज देश के सामने तरह-तरह के संकट हैं इन्हीं संकटों की वह 'काला, सफ़ेद और रंगी कहानी में बहुत सर्जनात्मक ढंग से पहचान करा है। इस संग्रह की यह सबसे लंबी कहानी है। यह लंबी कहानी क़िस्सागोई का एक सुंदर न

"किसी ज़माने की बात है" से शुरू होकर …ओ, सुखी रहो। भगवान सबको ऐसा ही …ी बनाए" तक की कथा सात खंडों में बँटी …है। मानो, सात रातों में हम क्रमशः दादा/…या दादी/नानी से एक कहानी सुन रहे हों। …वही शैली, वैसे ही 'लाल बुझक्कड़' …कथा नायक हैं। सुवास कुमार ने लाल बुझक्कड़ को युगीन परिवेश और समसामयिक …लियों से जोड़कर पुनर्जीवन दे दिया है। जैसे …ने ज़माने की कहानियों में तोते में बसे राक्षस के प्राण तक राजकुमार का पहुँचना दिलचस्प …ता था वैसे ही कहानीकार ने लल्लू द्वारा इन आधुनिक जीवन की पहेलियों का हल करना दिलचस्प बनाए रखा है। लेकिन दिलचस्पी आखिर में अवसाद में बदल जाती है जब हम …ते हैं कि यह हमारे समय और समाज की, हमारे लोकतंत्र की त्रासद कथा है।

शेष दो कहानियाँ 'एकादश कुमार चरित' और 'नरक गुलज़ार अथवा भरतखंड महात्म्य' …—भारतीय समाज और लोकतंत्र की विडंबना से उपजी हैं। 'काला, सफ़ेद और रंगीन' में भारत का नाम है—'जंबूराखंड' तो 'एकादश कुमार चरित' एवं 'नरक गुलज़ार अथवा भरतखंड महात्म्य' में क्रमशः 'रसातल' और 'भरतखंड'। …नों कहानियों में अलग-अलग तरह से लगभग …क ही चिंता रसी-बसी है। परंतु बर्ताव का …पन ही इतना रोचक है जो कि पाठक को कहानी पढ़ने के लिए आमंत्रित करता है। सुवास …जी इन कहानियों में सबसे ज़्यादा चोट जनता की ठस्स पड़ चुकी मानसिकता पर करते हैं। 'एकादश कुमार चरित' में वे लिखते हैं, "राज्यचालन की सुंदर नीति और प्रक्रिया ने जनता को अत्यंत शांत और सहनशील बना दिया था। वह सदा सहमी रहती थी।...सहमना जब स्थाई भाव हो जाए तो जनता शासक की हर भली-बुरी नीयत से सहमत रहती है।"

दरअसल कहानीकार की असली चिंता यही है—जनता की यथास्थितिवादी मानसिकता। वह सरकार से शिकायत नहीं करता। उसकी सारी शिकायतें देश व समाज...विशेषकर जनता से हैं। यह बड़ी बात है। कहानीकार जनता की ताक़त जानता है। वह बदलाव उसी के द्वारा होते देखना चाहता है। इसीलिए प्रतीकात्मक ढंग से, संकेत में, व्यंग्य द्वारा चुटकी लेकर और कहीं-कहीं सीधे भी जनता के सोचने के ढंग-ढर्रे पर ही चोट करता है। राजनीति के साथ-साथ लोकनीति पर भी सवाल उठाता है। इन तीनों कहानियों में घटनाओं का बहुत महत्त्व है। इसलिए व्याख्या के अंश बहुत हैं जिससे संवेदना की कसावट ढीली पड़ती है। अंतिम दोनों कहानियों में पहली दोनों कहानियों के बनिस्बत सरलता और सरसता का अभाव है। सामासिक-शब्द रचना भाषा को जटिल बनाती है।

सुवास जी ने अपनी चारों कहानियों में सबसे ज़्यादा श्रम विचारों को उद्यपदेश बनने से बचाने में किया है, ऐसा कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी। पहली कहानी को छोड़कर बाक़ी की कहानियों में तो यह स्पष्ट दिखता है। प्रेमचंद का मानना था कि हम कहानियों में उपदेश भले ही नहीं चाहते हों, लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के लिए मन के सुंदर भावों को जागृत करने के लिए कुछ-न-कुछ अवश्य चाहते हैं। इस दृष्टि से ये कहानियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। सुवास कुमार ने भारतीय कथा-धारा को बिलकुल आधुनिक संदर्भों में उपयोगी बनाया है।

चर्चित पुस्तक :

यहाँ एक नदी थी : सुवास कुमार; रामकृष्ण प्रकाशन, चित्रांगदा कॉम्प्लेक्स, हॉस्पिटल रोड, विदिशा (म.प्र.); 2005; 100 रुपए

…80 में जन्मी सुदीप्ति के आलोचनात्मक लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : 313, गंगा हॉस्टेल, जे.एन.यू., नई दिल्ली 110067

पाठांतर

समकालीन भारतीय साहित्य अंक 124 प्राप्त। प्रकाशन के शुरू से साहित्य अकादेमी की इस पत्रिका को मैं पढ़ता आ रहा हूँ। पहले त्रैमासिक थी फिर द्विमासिक हो गई, हम चाहते हैं कि इसे मासिक पत्रिका बना दिया जाए। अकादेमी के नियमों-नीतियों को बरकरार करके ही।

शानी जी की परंपरा को बख़ूबी आगे बढ़ाया था गिरधर राठी जी ने। आपका भी प्रयास उस तरफ़ दिखाई देता है। आपने संपादन का काम हाथ में ले लिया है। कुछ अंकों ने मुझे निराश कर दिया था। मगर अंक 123 और 124 काफ़ी संतोषजनक लगे।

अंक 124 की कहानियों में सी.वी. श्रीरामन की 'वास्तुहारा', संजीव की 'बाघ' और हरियश राय की 'हीमोग्लोबिन' मुझे अच्छी लगीं। 'वास्तुहारा' के साथ अनुवादक का परिचय है, पर नाम छूट गया है। आदरणीय डॉ. एन.ई. विश्वनाथ अय्यर का नाम पता नहीं कैसे छूट गया है।

मृदुला गर्ग का यात्रा-वृत्तांत 'काली मिर्च बनाम ईश्वर' भी पठनीय है। केरल को 'ईश्वर का अपना प्रांत' कहा जाता है। यह हमारे पर्यटन विभाग का विज्ञापन ही समझिए। प्रकृति की सुषमा एवं लोगों की साक्षरता एवं सफ़ाई-वृत्ति के कारण केरल को सराहा जाता है। पर इसका एक और पहलू है। केरल में पढ़े-लिखों की बेकारी इतनी बढ़ी है कि लोगों में नकारात्मक मनोवृत्ति बढ़ गई। आप पत्रिका को वसंत के बाद ग्रीष्म में और आगे भी सँभालते रहिए। हमारा सहयोग रहेगा। पत्रिका के चयन एवं स्तर पर और कभी...

वी.डी. कृष्णन नंपियार, तिरुवल्ल, केरल

प्रो. गोपीचंद नारंग का स्मृति व्याख्यान के अंतर्गत 'अमृता प्रीतम : आज़ाद रूह का घर' और स्मरण में शंभुनाथ की रचना 'निर्मल वर्मा : अकेले की संस्कृति' से कई अनछुए पहलुओं से मैं रू-ब-रू हुआ। पंडित जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' का आलेख 'प्रेमचंद की उपन्यास कला' वर्णन प्रधान है, जो ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। मैंने 'द्विज' की काव्य कृतियाँ पढ़ी हैं; किंतु गद्य कृतियों से दूर था। इस पत्रिका ने यह कमी पूरी कर दी।

गोपाल राय का आलेख 'अतीत, इतिहास और ऐतिहासिक उपन्यास' इतिहास की अनोखी दुनिया में भ्रमण करा देता है। यह आलेख पठनीय ही नहीं, संग्रहणीय भी है। हिंदी कहानियों के अतिरिक्त पंजाबी, असमिया, तेलुगु कहानियाँ भी हैं। सभी कहानियाँ सार्थक हैं। कुछ कविताएँ अच्छी हैं। अंततः सुंदर संपादन के लिए बधाई!

मनानंद 'हर्ष', पूर्णिया, बिहार

मैं एक ग्रामीण लेखक हूँ। 'मगही' और 'हिंदी' में वर्षों से लिखता आ रहा हूँ। *समकालीन भारतीय साहित्य* पत्रिका का ग्राहक भी हूँ। मार्च-अप्रैल अंक मिल चुका है। आवरण पृष्ठ समझ में नहीं आया। आवरण पृष्ठ से ही पत्रिका में दी गई सामग्री की एक झलक मिल जाती है। मेरा सुझाव है कि दो-तीन लाइनें इस पर ज़रूर लिखा करें। पत्रिका की रचनाओं के माध्यम से लेखक-लेखिकाओं के बारे में जानकारी मिलती है। कभी-कभी उनसे संपर्क भी साधता हूँ। देश भर के साहित्य में क्या हो रहा है, का पता चल जाता है। *समकालीन भारतीय साहित्य* पत्रिका जो पुण्य कार्य करती है उससे मैं प्रभावित होता हूँ। वर्तनी, प्रूफ़ की ग़लतियाँ अपवाद स्वरूप हैं। वाक्य विन्यास कहीं-कहीं असह्य लगता है। अनू

रचनाओं के कारण ऐसा होता होगा। सभी रचनाकारों को यथायोग्य सम्मान के साथ,

कृष्ण मुरारी सिंह 'किसान', शेखपुरा, बिहार

मई-जून 2006 अंक पूरा पढ़ा। अनेक जानकारियों से भरा यह अंक भी मैंने अपने संग्रह में ले लिया है। नेपाली कविता के कई हस्ताक्षर सशक्त रूप से अंकित मिले। मैंने जीवन नामदुंग को पत्र लिखा है।...ओड़िया कहानी से मैं पूर्व से परिचित हूँ। किशोरी रमण हास राजस्थान में भी रहे, क्षीरोद के आलेख में आए कई नाम मेरे पढ़े हुए हैं। ओड़िया कहानी का मुख किस तरफ़ जा रहा है, यह इस आलेख में अंकित है। सुतिंदर सिंह पंजाबी के नामचीन प्रतिष्ठित लेखक हैं। उनके आलेख में पंजाबी साहित्य के पचास वर्षों की अख चेतना पाठकों के समक्ष समृद्ध रूप से प्रस्तुत हुई है। 'सवाँखें' (रत्नकुमार सांभरिया) खींच-खींचकर लंबी की हुई कहानी है। अंधे 'जमन' को पात्र बनाकर अंधे की 'जफ़्फ़ी' को रेखांकित किया गया है। यह चेतना जन जानी है। 'जाति' न बताई जाती कहानी में तो यह क़हानी ऊँचाइयों को छूती। संताली कविता 'माँ' में धान की ख़ुशबू है। अच्छी कविता है—छूने वाली। वृत्तांत से मनोहर श्याम जोशी के इस कथन चिंतन के लिए बाध्य करता है। संपादकीय उत्कृष्ट बन पड़ा है।

बी.एल. माली 'अशांत', मालवीय नगर, जयपुर

समकालीन भारतीय साहित्य का अंक 125। बधाई। बोडो और संताली भाषा का अकादेमी की सूची में स्वीकार। पूर्वोत्तर भारत के साथ एकसूत्रता की ओर हम अग्रसर हो रहे हैं। निर्मल जी की 'औरत' ख़ूब जँची।

डॉ. विपिन शाह, एम.आई. एस्टेट, वडोदरा

124, 125वें अंकों में काफ़ी अच्छी सामग्री मिली है। सबसे ज़्यादा ख़ुशी हुई अपने हमवतन और गुरुभाई विश्वनाथ त्रिपाठी की कृति *नंगातलाई का गाँव* की समीक्षा पढ़कर। वामपंथी दुराग्रह से मुक्त रहकर उन्होंने बलरामपुर क्षेत्र की नई विशेषताओं को रेखांकित किया है, सामंतवादी जीवन की कुछ अच्छी बातों को उन्होंने नज़रअंदाज़ नहीं किया। परंतु लगता है उन्होंने गाँवों में बहुत ज़्यादा सेमैंटीसाइज़ किया है और नवबढ़ुए, नक़ली रईसों, नक़ली साम्यवादियों की अपसंदवृत्ति पर प्रकाश नहीं डाला। एक बड़े ही छोटे वर्ग को छोड़कर अवधी समाज—बलरामपुर, गोंडा, लखनऊ ग्रामीण अंचल विनाश एवं अपचय की कगार पर हैं, सवर्ण हिंदू और शरीफ़, ख़ानदानी मुसलमान प्रायः कंगाल हो चुके हैं। अब ईमानदार लेखक ख़ाली इस वर्ग का मर्सिया लिख सकेंगे। असम में बोडो साहित्य पर इतनी सादी सामग्री भी स्तुत्य है और मैं दिनकर कुमार को बोडो कविताओं के अनुवाद के लिए बधाई देता हूँ। मनोहर श्याम जोशी पर दोनों आलेख मन को छूते हैं और मनमोहन बावा की कहानी 'काला कबूतर', हरेकृष्ण डेका की 'साँप'। अंक 123 की तरह पाठकों को झकझोर डालती हैं। पंजाबी एवं असमिया कहानियों का अनुवाद बहुत अच्छा है। किंतु इंदिरा गोस्वामी की 'लाल नदी' की समीक्षा में विद्या सिंह ने केवल फ़र्ज़ अदायगी की है। 'मॉमोनी बा' की बहुआयामी प्रतिभा को देख पाने में विद्या सिंह सक्षम नहीं हो सकीं। समीक्षा का मतलब केवल प्लॉट समरी तो नहीं है।

उदय भानु पांडेय, लालगणेश, गुवाहाटी, असम

पत्रिका अंक 125 सामने है। पहली बैठक में सभी कविताएँ पढ़ीं। शिवरुद्रप्पा की 'रो रहा है कहीं बच्चा', निर्मल पुतुल की 'माँ', बद्रीनारायण की 'युद्ध', भविलाल लामिछाने की 'लौट आना' अच्छी लगीं। कहानी में प्रतिभा राय की कहानी 'उल्लंघन' ने मानवी मन का चित्रण खींचा है।

सुरेश नारायण कुसूंबीवाल, जलगाँव, महाराष्ट्र

समकालीन भारतीय साहित्य का 125वाँ अंक पढ़ने को मिला। 'आमुख' के द्वारा मनोहर श्याम जोशी के विराट एवं बहुमुखी व्यक्तित्व का पता चला। यह हमारे पाठकों एवं आम जनता के लिए काफ़ी दुखद स्थिति है कि उसके समाज के विशिष्ट व्यक्ति के जीवन के महत्त्वपूर्ण पहलुओं को तब सामने लाया जाता है जब वे हमारे बीच नहीं रहते।

तेलुगु कहानी 'यात्रा' विशेष पसंद आई। ख़ासकर 'परमेश्वर जी' इसके लिए बधाई के पात्र हैं। रचना को अनुवादित होने का अहसास नहीं होने दिया। सतीश जायसवाल के यात्रा-वृत्तांत में मैं लगभग इस तरह खो गया मानो मैं भी यात्रा में शरीक हूँ। उत्तर भारत की यात्रा-वृत्तांत की कमी खटकती है। निर्मला पुतुल की कविता 'माँ' एवं 'औरत' ख़ासकर बहुत पसंद आईं। माँ का निःस्वार्थ जीवन और औरत के जीवन की त्रासदी को रेखांकित करती है। राजेश जोशी की समीक्षा पसंद आई।

मुरारी, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

नए प्रकाशन

यशपाल रचना संचयन, चयन एवं संपादन : मधुरेश

मूल्य 150 रुपए

यशपाल के लेखन की प्रमुख विधा उपन्यास है, लेकिन अपने लेखन की शुरुआत उन्होंने कहानियों से ही की। उनकी कहानियाँ अपने समय की राजनीति से उस रूप में आक्रांत नहीं हैं, जैसे उनके उपन्यास। नई कहानी के दौर में स्त्री के देह और मन के कृत्रिम विभाजन के विरुद्ध एक संपूर्ण स्त्री की जिस छवि पर ज़ोर दिया गया उसकी वास्तविक शुरुआत यशपाल से ही होती है।

स्वतंत्रता पुकारती, चयन एवं संपादन : नंदकिशोर नवल

मूल्य 200 रुपए

प्रस्तुत संकलन, जिसमें 23 कवियों की 173 कविताएँ शामिल हैं, पाँच खंडों में विभाजित हैं। प्रत्येक खंड में सम्मिलित कवि क्रमश: हिंदी कविता के पाँच युगों अथवा धाराओं (भारतेंदु युग, द्विवेदी युग, स्वच्छंद धारा, छायावाद तथा छायावादोत्तर युग) का प्रतिनिधित्व करते हैं। कविताएँ पाठकों में सच्चा देशप्रेम जगाती हैं, उन्हें राष्ट्र की अस्मिता से परिचित कराती हैं और वर्तमान स्थिति के प्रति उन्हें असहिष्णु बनाती हैं। संकलन के आरंभ में कविताओं के चयन-प्रस्तुति संबंधी दृष्टिकोण के साथ राष्ट्रीय कविताओं की निरंतर उपस्थिति, विकास और महत्त्व का आकलन करनेवाली एक लंबी भूमिका प्रकाशित की गई है।

...यह संपन्नता बिखरी हुई, अनुवाद और संपादक : श्यामा प्रसाद गांगुली मीनाक्षी सुंद्रियाल; सहयोग : कुंदन कानन

मूल्य 250 रुपए

इस संग्रह का मुख्य उद्देश्य भारत में समकालीन लातिनी अमरीकी और कैरीबिआई कविता के प्रसार में योगदान देना है। हिंदी में अपनी तरह का यह पहला संग्रह है जो दिल्ली स्थित लातिनी अमरीकी एवं कैरीबिआई देशों के दूतावासों के समूह 'ग्रूलाक' की पहल का नतीजा है। यह संग्रह बीसवीं सदी में लिखी गई इस क्षेत्र की कविता का नमूना प्रस्तुत करता है। कोशिश की गई है कि इस सदी के पहले और दूसरे भाग की कविता के बीच संतुलन क़ायम रहे और दूसरे भाग के युवा कवियों की आवाज़ को महत्त्व दिया जाए।

समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

वर्ष 27 अंक 128 : नवंबर-दिसंबर 2006

संपादक

अरुण प्रकाश

उप-संपादक : मधुमालती जैन

आवरण चित्र : आदित्य देव, चित्रकार, दिल्ली में रहते हैं।
रेखांकन विजेंद्र, प्रख्यात कवि एवं स्वयं शिक्षित चित्रकार, जयपुर में रहते हैं।
रूप-चित्रण : प्रिया टंडन, चित्रकला में रुचि, दिल्ली में रहती हैं।

सज्जा : दिलीप कुमार टेलर : उम्र 44 वर्ष। देश-विदेश में प्रकाशनों तथा व्यापार प्रदर्शनियों के सुप्रसिद्ध डिज़ाइनर, चित्रकार।

द्विमासिक
समकालीन भारतीय साहित्य
वर्ष 27 अंक 128 : नवंबर-दिसंबर 2006

संपादकीय कार्यालय :
रवींद्र भवन, 35 फ़ीरोज़शाह मार्ग,
नई दिल्ली-110001
फ़ोन : 2307 3312 (सीधा नंबर)
23386626, 23386627
(पी.बी. एक्स) विस्तार 207/255
तार : साहित्यकार फ़ैक्स : 091-11-23382428

E-mail : secy@ndb.vsnl.net.in
Visit our Website at :
http://www.sahitya-akademi.gov.in

प्रकाशक : साहित्य अकादेमी

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से साहित्य अकादेमी, संपादक मंडल या संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

मूल्य : 25 रुपए
शुल्क-दर : एक वर्ष (6 अंक) 125 रुपए : तीन वर्ष (18 अंक) 350 रुपए

विदेश में :
हवाई डाक : एक प्रति 10 अमेरिकी डॉलर/6 ब्रिटिश पाउंड
एक वर्ष 50 डॉलर/30 पाउंड : तीन वर्ष 135 डॉलर/85 पाउंड
समुद्री डाक : एक प्रति 5 डॉलर/3 पाउंड
एक वर्ष 25 डॉलर/15 पाउंड : तीन वर्ष 70 डॉलर/44 पाउंड

शुल्क 'सचिव, साहित्य अकादेमी' के नाम पर भेजें :
(मनीऑर्डर, ड्राफ़्ट, नक़द, चैक (दिल्ली से बाहर के ग्राहक चैक से शुल्क 25 रुपए अतिरिक्त भेजें।))

वितरण : उप-सचिव (विक्रय), साहित्य अकादेमी, विक्रय विभाग, स्वाति मंदिर मार्ग, नई दिल्ली-110 001
फ़ोन : 011-23364207, 23745297

SAMAKĀLĪN BHĀRATĪYA SĀHITYA:
A Bi-monthly journal of Indian literature from 24 languages, in Hindi, published by Sahitya Akademi, Rabindra Bhavan, 35 Ferozeshah Road, New Delhi-110001, India

समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की द्विमासिक पत्रिका

समकालीन भारतीय साहित्य : वर्ष 27 : अंक 128 (नवंबर-दिसंबर 2006)

आमुख

संप्रेषण संरचना की कुछ युक्तियों और भाषा पर निर्भर है। रूपबंध संप्रेषण की विधि है। कोई रूपबंध को तोड़ता-फोड़ता आता है तो मुझे लगता है कि वह हद से हद कुछ पुरानी युक्तियों को मिलाकर, किसी युक्ति को छोड़कर, नई युक्ति बनाने और उस पर आधारित रूपबंध रचने का दावा करेगा।

नए रूपबंध की गुंजाइश साहित्य में बहुत कम रह गई है। पत्र, धारावाहिक, चेतना-प्रवाही, मिथक, जादू, इतिवृत्त, पूर्वदीप्ति, अग्रदीप्ति, रेखाचित्र, जीवनीपरक, आत्मकथात्मक, संस्मरणात्मक, यात्रा-आख्यानात्मक, डायरीनुमा—सारी युक्तियाँ आज़माई जा चुकीं। ये सब संरचनात्मक युक्तियाँ हैं। भाषा में सारे टोन—प्रगीतात्मक, व्यंगात्मक, कटाक्ष, सपाटबयानी, सादाबयानी, मुहावरेदार, बोलचाल, नागर, भदेस, लिंग्वाफ्रांका अथवा आंचलिक भाषा और विभिन्न शैलियों के प्रयोग किए जा चुके हैं। कथानक के सारे नुस्खे लिपिबद्ध हैं, चरित्रों के प्रकारों की सी.डी. बिकती हैं। और तो और, आरंभ और अंत, चरित्रों की नियति तक नैरेटोलॉजिस्टों-आख्यानशास्त्रियों—ने विश्लेषित कर रख ली है। रूपबंध के क्षेत्र में बस अनुमान से परे इन युक्तियों का क्रमचयन और संरचना (परमुटेशन एंड कंबिनेशन) भर रह गए हैं।

हाँ, यदि रचनाकार साहित्य में हुए इन विकासों से अनजाना है, तो इनका ही उपयोग कर नया प्रयोग करने का दावा कर सकता है। जिस जादुई यथार्थवाद पर हम फ़िदा हैं, जिसे हम लातिनी अमरीकी खोज मानते हैं, उसका प्रयोग अनजाने में मलयालम के ओ.वी. विजयन 1967 में अपने उपन्यास *खसाक्किंटे इतिहासम्* में कर चुके थे। तब बोर्गेस या मार्ख़ेस या इनसे पहले के कारपेंतियर की रचनाएँ स्पेनिश में ही थीं, अंग्रेज़ी में भी नहीं आई थीं। अब सूचना की आवाजाही तेज़ और सुलभ है, इसलिए ये प्रयोग-रहस्य खुलते जा रहे हैं। जिस 'संगीतधर्मी गद्य' को अद्‌भुत बताया गया था, वह नोबोकोव द्वारा प्रयुक्त प्रगीत गद्य ही था।

हर भाषा के साहित्य में साहित्य रूपबंध के विकास की गति और दिशा एक जैसी नहीं रहती, इसलिए किसी भाषा का रचनाकार अनूठेपन का दावा तो कर सकता है, मौलिक प्रयोग का नहीं। प्रयोग का अर्थ खोज है। खोज एक ही बार होती है, एप्लिकेशन या अनुप्रयोग बार-बार होता है। अनुप्रयोग का अनूठापन अल्पजीवी होता है। बाँस की टोपी पहनकर दिल्ली में घूमें तो अनूठा लगेगा पर ऐसा असम के गाँव में बिलकुल नहीं लगेगा क्योंकि बाँस की टोपी वहाँ आम है। इसका अर्थ यह नहीं कि दिल्ली में कोई दावा करे कि उसने बाँस की टोपी की खोज की है।

कुछ कथाकार चरित्र को बड़े परिप्रेक्ष्य में दिखाने लगे हैं, अहो-अहो की ध्वनि आलोचकों के दाँत से निकल रही है। यह बड़ा परिप्रेक्ष्य कई आयामों को एक साथ रख देने से बनता है। मसलन एक चरित्र पुत्तू को आधासीसी का दर्द है तो कथाकार उसे यूँ लिखता है : ''पुत्तू को अब आधासीसी का दर्द हो रहा था तो केंद्रीय अस्पताल के आपात्कक्ष में डॉक्टर अलां-फलां ऊँघ रहे थे और स्वास्थ्य मंत्री खर्राटे भर रहे थे। दवा कंपनी के मालिक नए शेयर जारी करने की जुगत भिड़ा रहे थे, विज्ञापन एजेंसी वाले इस विज्ञापन अभियान को लपकने का स्वप्न देख रहे थे...'' इस तथाकथित प्रयोगशीलता पर गद्‌गद होने की ज़रूरत नहीं है, सलमान रुश्दी अपने उपन्यासों में यह बहुत पहले से कर रहे हैं। तो क्या साहित्य में नया लाने की गुंजाइश बिलकुल नहीं रह गई? मौलिकता का क्या होगा? मौलिकता का क्षेत्र अंतर्वस्तु का पुनराविष्कार है। रूपबंध सिर्फ़ अंतर्वस्तु के पुनर्सृजन की प्रभावशीलता तय करता है।

तीसरा सप्तक की भूमिका *नई कविता : प्रयोग के आयाम* में अज्ञेय ने इसे स्पष्ट किया है : ''यह कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए कि काव्य का विषय और काव्य की वस्तु (कंटेंट) अलग-अलग चीज़ें हैं पर जान पड़ता है कि इस पर बल देने की आवश्यकता प्रतिदिन बढ़ती जाती है। यह बिलकुल

है कि हम काव्य के लिए नया विषय चुनें पर उसकी पुरानी ही रहे, जैसे यह भी संभव है कि पुराना रहे पर वस्तु नई हो...निःसंदेह देशकाल क्रमणशील परिस्थितियों में संवेदनशील व्यक्ति कुछ नया देखे-सुने और अनुभव करेगा, इसलिए में नएपन के विचार का भी अपना स्थान है पर विषय 'नए' हो सकते हैं, मौलिक नहीं— कता वस्तु से ही संबंध रखती है। विषय संप्रेष्य हैं, वस्तु संप्रेष्य है।''

अधिक कला के समर्थक रचनाकार अपने आग्रह बाड़ को इतनी दूर तक फैला देते हैं कि साधारण शीलता वाले पाठक बाड़ में घुसकर रचना के तक पहुँचने का साहस ही नहीं कर सके। कुछ सुशिक्षित पाठक की माँग भी करते हैं। संप्रेषण में अर्थ खो जाने का ख़तरा दिखलाई देता है क्योंकि लगता है कि अर्थ खोकर ही संप्रेष्य हुआ जा है। अपने निबंध 'संप्रेषण या संकट' में निर्मल ने लिखा : ''आधुनिक लेखन की यह विडंबना सिर्फ़ अर्थ खोकर और अर्थ सिर्फ़ संप्रेषणीयता प्राप्त किया जा सकता है, आज के तकनीकी की विलक्षण देन है।''

इसी निबंध में उन्होंने लिखा : ''अतः आधुनिक को चाहे-अनचाहे दो में से एक रास्ता चुनना है, कम-से-कम संप्रेषणीयता का जोखिम अपने शब्दों में अधिक-से-अधिक प्रामाणिक भरने की कोशिश करना या शब्द को प्रासंगिक से वंचित करके अधिक-से-अधिक व्यापक णीयता-लोकप्रियता उपलब्ध कर पाना।''

यह सच है कि अख़बारी संप्रेषण और साहित्यिक संप्रेषण में अंतर है। इतना ही नहीं, अख़बारी लोकप्रियता और साहित्यिक लोकप्रियता में अंतर है। क्षणिक है तो दूसरी अपेक्षाकृत स्थायी। इसलिए और लोकप्रियता के इकहरे अर्थ के आधार उन्हें सवीकार नहीं किया जा सकता है।

लोकप्रियता की धारणा इकहरी नहीं है। लोकप्रियता के बीच? सामान्य पाठक या आलोचना चेतना संपन्न पाठक? प्रायः सामान्य पाठक जब किसी में अपनी प्रतिक्रिया देता है तो उसमें आलोचना शब्दावली, विश्लेषण आदि नहीं होते जबकि आलोचना चेतना से संपन्न पाठक न केवल रचना की प्रशंसा/निंदा में आलोचना की शब्दावली और विश्लेषण-पद्धति का उपयोग करता है बल्कि उस पर उस पत्रिका के अलावा चर्चा भी करता है। लोकप्रियता बहुधा निर्विवाद होती है जबकि चर्चित रचना आमतौर पर विवादग्रस्त, चौंकानेवाली होती है। चूँकि चर्चा करनेवाला, आलोचना-चेतना संपन्न पाठक मुखर होता है इसलिए उसकी आवाज़ ही सुनी जाती है। सामान्य पाठक की आवाज़ प्रायः उसके शोर में दबी रह जाती है। कोई आवश्यक नहीं कि चर्चित रचना लोकप्रिय भी हो, सामान्य पाठक भी उसे सराहे। उधर लोकप्रिय साहित्य सामान्य और आलोचना चेतना संपन्न दोनों प्रकारों के पाठकों के बीच समादृत होती है। ठीक इसी तरह चर्चित रचना में कला तो रहेगी पर कलात्मक संप्रेषण भी हो, कोई आवश्यक नहीं है। लोकप्रिय साहित्यिक रचना में कला और कलात्मक संप्रेषण दोनों होते हैं।

संप्रेषण और लोकप्रियता को ख़ारिज करना आधुनिकतावादी रवैया रहा है। प्रेमचंद की कलात्मक संप्रेषण और साहित्यिक लोकप्रियता की व्याख्या आधुनिकतावादी कैसे करेंगे? उत्तर आधुनिकतावादी लोकप्रिय को अछूत तो नहीं मानते, वे पॉपुलर को भी अध्ययन का विषय बनाते हैं। मैं अतिरेक के दो छोरों की बात नहीं कह रहा, मैं पाठकों की ओर से पूछना चाहता हूँ—क्या कलात्मक संप्रेषण लोकप्रिय नहीं हो सकता? यदि कोई कृति साहित्यिक लोकप्रियता प्राप्त करती है तो क्या उसका अर्थ छीज जाएगा?

इस अंक में पंजाबी के गीतकार शिवकुमार बटालवी के गीतों के लयात्मक अनुवाद का प्रकाशन अमरजीत सिंह के विशेष सहयोग से संभव हो पाया है। यह हमारी ओर से विनम्र संकेत है कि हमारा जीवन केवल गद्यमय नहीं है कि उसमें प्रगीतात्मकता की थोड़ी-सी ओस भी बची है। मैथिली कविता के नए स्वर पर विशेष आयोजन मैथिली साहित्य के विकास की सूचना देता है। अनेक भिन्न मिज़ाज की कहानियाँ भी दूसरी भाषाओं से आई हैं।

शुभकामनाओं सहित,

—अरुण प्रकाश
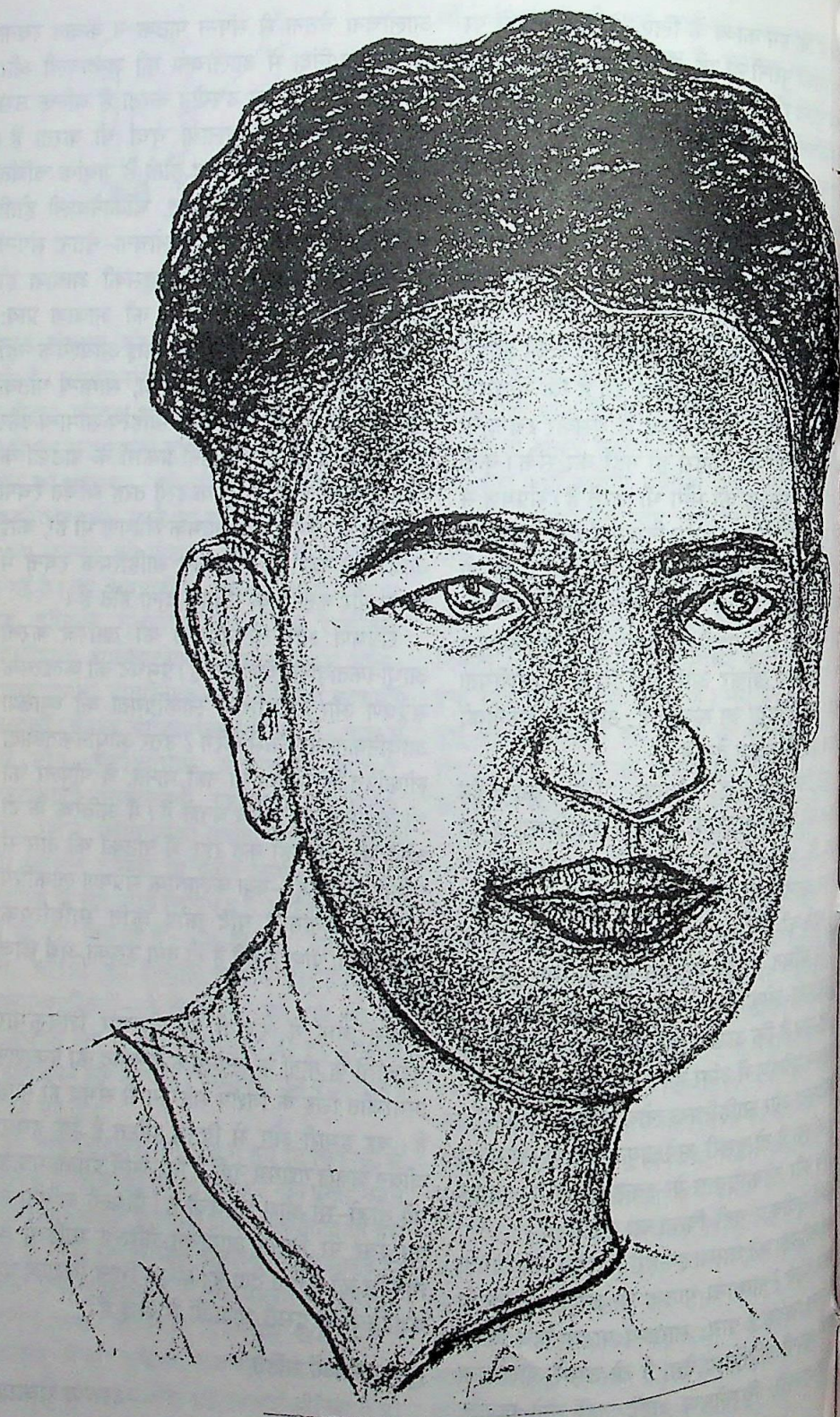
अमरजीत सिंह

पंजाबी कविता का ध्रुवतारा : शिवकुमार बटालवी

शिव कुमार बटालवी—पंजाबी कविता का ध्रुवतारा, एक ऐसा गीत जिसका मधुर संगीतमय स्वर वातावरण में सदैव गूँजता रहेगा।

आज तीन दशकों से भी अधिक समय गुज़र गया उनको हमसे विदा हुए परंतु पंजाबी काव्य में उनकी देन हमेशा बनी रहेगी। उनकी अमिट छाप को मिटा पाना असंभव है।

शिव प्रमुख रूप से विरह के कवि हैं। यही विरह उनके संपूर्ण जीवन की पूँजी है। उनकी कविता मानव संवेदना एवं संस्कृति की एक अत्यंत सुंदर अभिव्यक्ति है। कवि की कविता की पहचान का एक और महत्त्वपूर्ण पहलू है—उनकी आधुनिक चेतनता एवं सामाजिक विसंगतियों पर प्रहार। वह पारस्परिक वस्तुविन्यास के साथ-साथ समकालीन बोध व प्रसंगों को भी अपनी प्रस्तुति का माध्यम बनाता है। उन्होंने अपनी सुमधुर, हृदय छू लेने वाली वेदनामयी कविता से पाठकों एवं श्रोताओं—दोनों को गहरा प्रभावित किया। शब्दों में गुँथी कविता और कविता में गुँथे शब्द एक अद्‌भुत सौंदर्य के प्रतीक बन जाते हैं।

शिव की कविता में प्रयोग किए गए बिंब, रूपक तथा प्रतीक आदि में अपनी ही एक अनूठी मौलिकता है, एक ऐसा आकर्षण है उनमें जो पाठक को अनायास ही अपने मोहपाश में बाँध लेता है। उनकी अभिव्यक्ति क्लासिकी परंपरा के साथ-साथ लोकगीतों की मिठास से सराबोर है। सहसा ही लोगों की ज़बान पर उनकी पंक्तियाँ मुखर हो उठती हैं। कवि का साहित्य रचना काल प्रमुख रूप से 1960 से 1973 के वर्षों में रहा। वे अपनी अल्पायु में ही काव्य सृजन का एक लंबा सफ़र तय कर चुके थे। दुख और ग़मों से घिरे शिव को आभास होने लगा था कि उनकी रचना-प्रक्रिया का सूर्य दूर कहीं अपनी रूपहली किरणों को समेटने लगा है।

पीड़ां दा परागा कवि का प्रथम काव्य-संग्रह था। इसमें उन्होंने अपने अस्तित्व तथा मानसिक अवस्था के प्रकटीकरण के लिए कई बिंबों तथा चिह्नों का प्रयोग किया। कृति की कविताओं ने जैसे पंजाबी जन मानस को स्तंभित-सा कर दिया।

स्व. शिवकुमार बटालवी की रचनाओं के लिए संपर्क : श्रीमती अरुण बटालवी, डी-12, पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला (पंजाब)
फोन : 0175-2286542

अमरजीत सिंह का जन्म 1938 में हुआ। अंग्रेज़ी, हिंदी एवं पंजाबी में कहानियाँ, कविताएँ, लेख आदि तथा अनूदित रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : एच-17/68, सेक्टर- रोहिणी, दिल्ली-110085
फोन : 27044468
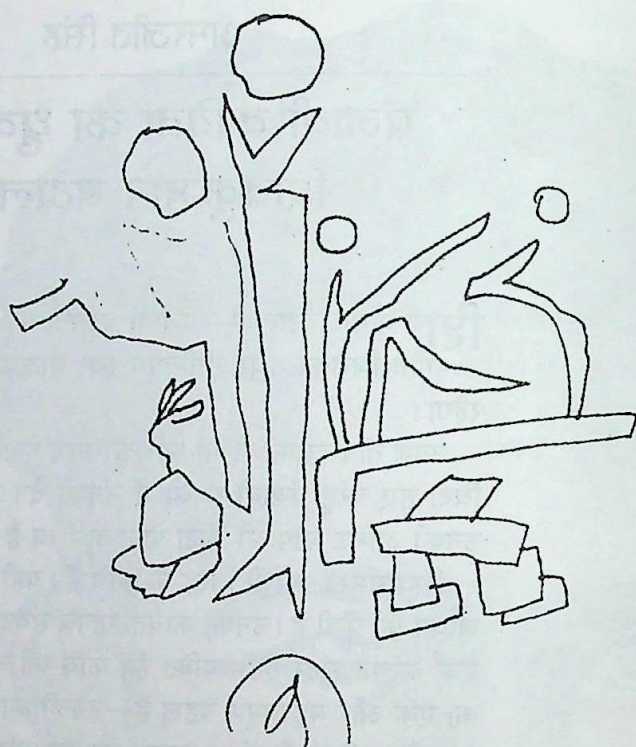
'शीशों' तथा 'पंज पड़ा' कवि की दो लंबी कविताएँ हैं जिसमें कवि की गहरी अनुभूतियों के रहस्य प्रतिबिंबित होते हैं। *आटे दीयां चिड़ियां* संग्रह में शिव एक प्रयोगवादी कवि के रूप में उभरकर आए हैं। उनकी पीड़ा, दुख, निराशा उनके जीवन के अभिन्न अंग बन गए हैं। उनके आगमन से पंजाबी कविता में एक नए युग का सूत्रपात हो चुका था।

अपनी रचना *मैं ते मैं* कवि की मानवीय जीवन की उन समस्याओं से जूझने का प्रयत्न है जो मानवीय अस्तित्व की विडंबनाओं से जुड़ी हुई हैं। इस कृति की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि आज की पीढ़ी की मानसिक अवस्था की ही प्रतिक्रिया है। यह शिव के चिंतन का एक लंबा सफ़र है।

लाजवंती काव्य कला-कृति परंपरा एवं प्रयोगात्मक रूप का प्रांजल स्वरूप है। अलंकारों, रूपकों तथा सुनियोजित बिंब-विधान में एक सहजता व नवीनता का बोध होता है।

शिव की काव्य-नाट्य रचना *लूना* में बिंबों की संरचना में अपनी ही एक मौलिकता है। आधुनिक युग में स्त्री के प्रति उनका अपना ही दृष्टिकोण है। पहली बार उन्होंने एक स्त्री के रूप में लूना के अंत:करण की पीड़ा एवं त्रासदी को उजागर किया है। लूना में जागृत हो चुकी नारी के विद्रोही स्वर की गूँज को हम सुन सकते हैं। नारी जीवन को सामाजिक ढाँचे में समझने के लिए 'लूना' कवि की एक महत्त्वपूर्ण कृति है।

पंजाबी सभ्यता एवं संस्कृति पंजाब की छह ऋतुओं में पल्लवित हुई है। परंतु पतझड़ ही शिव की कविताओं में प्रधान स्वर है। अवसाद के स्वरों में ही वह अपनी युवा अवस्था में मृत्यु से साक्षात्कार करते दिखाई देते हैं।

शिव पुरातनता तथा आधुनिकता के बीच एक कड़ी हैं। उनकी शब्दावली, रूपक, अलंकार आधुनिक शैली में सजीव हो उठे हैं।

उनकी कविता में प्रकृति साकार हो उठती है, पक्षी रुदन करते हैं, चिड़िया चहचहाती हैं, रंग-बिरंगे पुष्प—गुलाब, सेमल, मौलश्री, गेंदा, कनेर,

...वड़ा वातावरण को अपनी सुगंध से भर देते हैं। अपने जीवन के अल्पकाल में ही उन्होंने ...जाबी साहित्य को अपनी अमूल्य रचनाएँ दीं। ...ड़ां दा परागा, *लाजवंती, आटे दीयां चिड़ियां, ...नूं विदा करो, बिरहा तू सुल्तान, लूना* (महाकाव्य) तथा *मैं ते मैं* !

अमृता प्रीतम के अनुसार, "शिव की कला में पंजाब की धरती के पेड़-पौधे, वहाँ की रस्में-...वायतें, परंपराएँ, संस्कार मुखरित हो उठते हैं, ...तु दरद जैसे सारी दुनिया का उसमें समा गया है।"

यहाँ प्रस्तुत हैं उनके कुछ गीतों के छंदोबद्ध अनुवाद :

शिव कुमार बटालवी

लूना

सखी !
कैसे हैं ये दिन
भीगे, गीले और अलसाए
नभ में कारे बदरा छाए
सातों रंग अतिथि आए,
धूप खिली थी उपवन में
छिपी कहीं वन-प्रांतर में
अब तो धूप नज़र न आए
मंदिर के कलशों पर बैठी
मंद-मंद मुसकाए

अभी विहसता अंबर था
नैनों में अश्रु भर आए
अभी दामिनी बनी थी गहना
अब नागिन-सी भय उपजाए

वन में थी आवाज़ मयूर की
तरुओं में अब रोए पपीहे
अभी था हँसता जल में दादुर
पीड़ा के सुर कोयल गाए

अभी तो साँझ घटा में बदले
मेघ-वृक्ष के फूल से लगते
श्वेत कँवल सरोवर तरते
अभी धरा जल धवल हुई थी
अभी तो इसने केश बढ़ाए

उड़ते ऐसे सारस पांखी
लगते जैसे हार पिरोए
जिऊ धरती की कोई पुजारिन
निलय देव का कंठ सजाए
अरी सखी यह कैसी सोच
इस ऋतु में मैं मरना चाहूँ
कहते हैं जो इस ऋतु मरता
शीत साँवली घटा बन जाए
फिर धरती की जून न आए...

याचना

तू ने
जो चुराया सूरज
मेरा था
जिस घर किया अँधेरा
मेरा था।

जो धूप विहसती तेरे घर, मेरी है
बिन जिसके यह उम्र तमस ने घेरी है
यह मेरे दुख से भरी, महकती है
यह धूप थी कल भी मेरी, आज भी मेरी है।

मैं ही किरण-विहीन इसका बाबुल
इसके अंग-अंग मेरी अग्नि
मेरे ही सूरज से महकी
भरी दोपहरी जिसकी चोरी...।
पर तेरा इसमें दोष नहीं
सूरज की हर युग में चोरी
रोती सूरज को हर युग में
देती प्राण सदा दोपहरी
मैं ज्योति-हीन किरण-विहीन अरज करूँ
मैं एक पिता अधर्मी तेरे द्वार खड़ा

आ हाथों से सूरज तेरे शीश धरूँ
आज धूप की ख़ातिर पैर पड़ूँ।

यह भरी कालिमा देह, मुझको क्षमा करो
न लेना मेरा नाम सन्मुख किरणपुंज
कोई पूछे किरण तो रहना मूक
कह देना मुझको 'काला सूरज' बस यही।

यह एक पिता की याचना
यह मेरी धूप जो हुई मृत
सूरज संग तेरी हुई आज
जिस घर हँसती धूप
वही है बाबुल इसका।

तू ने
जो चुराया सूरज
तेरा था
मेरे घर में
जन्म-दिवस से
अँधेरा था...।

बूढ़ा घर

हुई मुद्दत
मेरा स्वयं मुझसे रूठकर
कहीं चला गया
और मेरे पास केवल मेरा
यह ख़ाली ढाँचा बचा है
घर की हर दीवार पर
छाई एक उदासी है...

हुई मुद्दत
मेरा-स्वयं मुझसे रूठकर
कहीं चला गया
और मेरा घर उसके बाद
जर्जर क्षण प्रति-क्षण...

वह अकसर गहरी रात
घर लौटता
और सूरज उगते
दीवारों से डरता
व्यर्थ, अनमना दिन गुज़रता
कुछ न कहता
दिन भर अपनी छाया के पीछे
सतत भागता

उसकी देवदासी भटकन
अकसर मुझे डराती
और उसकी आँखों की वहशत
जैसे शीशे को खाती थी
ख़ामोशी उसकी
बूढ़े घर के जाले करती कंपित

मैं एक दिन
कुछ नीरव क्षणों में
इंगित कर बैठा
घर की दीवारों की ओर
वह धूप में रोता
दीवारों की बात
दिल को लगा बैठा

मैंने भूल से
बात की थी दीवारों की
औ' उसका साथ दीवारों से
हमेशा के लिए गँवा बैठा

घर छोड़ने से पहले उस दिन
वह हर कोने में घूमा
और खाँसती घर की रुग्ण ईंटों से
गले मिलकर रोया
और फिर उस मनहूस दिन के बाद
कभी घर नहीं लौटा

अब जब भी कोई रेल की पटरी पर
ख़ुदकुशी करता
या भिक्षुओं का कोई टोला
सिर मुँड़ाए नगर घूमता
या नक्सलबाड़ी कोई
किसी के प्राण हरता

तो मेरे घर की दीवारें
ज्वर से जल उठतीं
और बूढ़े घर की
रुग्ण ईंटें ठिठुर उठतीं

इस बूढ़े घर की
बीमार ईंटों को है विश्वास
वह जहाँ भी, जिस हाल में है
निर्दोष है
उसे घर पर नहीं
दीवारों से रोष है

मुद्दत हुई
मेरा स्वयं मुझसे रूठकर
कहीं चला गया
और यह हड्डियों का ढाँचा
मेरा वजूद
जो बूढ़े घर की
मर रही दीवारों का साथी है।

लोहे का शहर

लोहे के इस शहर में
पीतल के लोग रहते
सिक्के के बोल बोलें
शीशे का भेस भरते।

जस्तई इसके नभ पर
पीतल का उगता सूरज
ताँबे के पेड़ों पर यहाँ
सोने के गिद्ध बसते।

इस शहर के ये लोग
जीते आषाढ़ सावन
धुएँ की बनती क्यारी
लज्जा हैं बीज आते।

चाँदी की फ़सल खिलती
लोहे के हाड़ खाके
ये रोज़ चुगते बाली
जिस्मों के खेत जाते।

इस शहर के ये वासी
विरह की जून आते
विरह में जलते रहते
ख़ाली ही लौट जाते।

लोहे के इस शहर में
इन छप्परों के पीछे
सूरज कली कराया
नया है लोग कहते।

लोहे के इस शहर में
लोहे के लोग होंगे
लोहे के गीत सुनते
लोहे के गीत गाते।

लोहे के इस शहर में
पीतल के लोग रहते
सिक्के के बोल बोलें
शीशे का भेस भरते।

ओ मेरे परदेसी

साँझ का तारा
जब हर रोज़
नील गगन पर आएगा
जागेगी तेरी याद
ओ मेरे परदेसी!

याद करके जब तेरी
अधरों के छोरों की हँसी
जिगर मेरा हिजर की
इस आग में जल जाएगा
ओ मेरे परदेसी!

तेरे व मेरे ही तरह
वह भी तो न बच पाएगा

जो यार हमारी मौत पर
आ मर्सिया भी पढ़ेगा
ओ मेरे परदेसी!

गर्म साँसों का समुद्र
डूब जाएगा यह दिल
कौन इसको नूर की
कश्ती तलक ले जाएगा
ओ मेरे परदेसी!

धरा के माथे टँगी
अर्श की थाली सियाह
पर ये वैरी नयन
कुछ वक़्त असर कर पाएगा
ओ मेरे परदेसी!

पालते बेशक चाहे
कोयल के नन्हे हैं काग
पर न तेरे बग़ैर
जीवन यह खिल पाएगा
ओ मेरे परदेसी!

कितना चलूँ सँभाल के
लहँगा मैं अपने सब्र का
याद तेरी के करील
साथ जा के अड़ेगा
ओ मेरे परदेसी!

बख़्श दी जाएगी उसको
तेरे जिस्म की यह सल्तनत
दिल के पंछी के लिए
जो चाँदी के जाल बुनेगा
ओ मेरे परदेसी!

साँझ का तारा
जब हर रोज़
नील गगन पर आएगा
जागेगी तेरी याद
ओ मेरे परदेसी!

मैं और मैं

एक दिन रेत को
मिलने आई पवन
मरुस्थल में
और ले आई
मेरे लिए शहर से एक ख़बर
कि जिस बदबख़्त जंगल में
उगी थी मेरी उम्र
और जिस गुमनाम जंगल में
मेरा क़तल हुआ था
उसकी कल भरी दोपहरी
शहर में मौत हो गई।

एक क्षण
कुछ ऐसा लगा
कि जैसे मरु की उड़ती धूल में
मैं दब गया
पूरा आच्छादित
और मौन के सफ़र में
आलिंगनबद्ध कोलाहल से।

और फिर वन के नग्न वृक्ष
सम्मुख आँखों के
लाखों काँप उठे साए,
ज़ेहन में मोर की आवाज़
और दिल में सर्प लहराए
और मरू में भटकते साए
मुझे ही खाने आए।

मैंने देखा
जंगल की हर डाल में सूजन
और काले मधु के छत्ते पर
मेरी उम्र उग रही है।

अपनी उगती उम्र देख
मैं नींद में बड़बड़ाया
ओ जंगल वासियों
मैं यहाँ जन्म लेने नहीं आया

यह मासूमियत ही थी
कि मैं वन में जन्मा
पर मुँह में रेत थी
जो बोल न पाया एक भी शब्द।

फिर देखा कि मेरे शहर के
कुछ तंगदिल लोग
कुछ नग्न, बिलकुल नग्न पोस्टर
दीवारों पर लगाते
पोशीदा अंगों का रेखांकन
और मेरे क़तल का दोष
मुझ पर लगाते।

फिर एक उठता शोर
निस्तब्धता को चीरता
सुनाई दिया
कि जंगल की चिता के साथ
क्यूँ नहीं जला मरुस्थल
जो था जंगल का अपराधी
क्यों नहीं उस संग आलोप हुआ?

और फिर मरुस्थल में
मेरे सम्मुख
मेरा एक अश्रु उग आया
और मेरी चुप्पी ने
फिर शहर के घर में
क़दम न रखा
बस गया इस मरुभूमि में हमेशा के लिए
फिर शहर न आया।

किरण रूपहली

माही मैं किरण रुपहली
पहले तारे की!
मैं शगुनों की देहरी
तेरे द्वारे की!

हमें मुबारिक,
तेरी अगन में
पहले पहल नहाए
तेरी अगन संग, मेरी अगन मिल
अब तक जलती जाए
आज भी आती
इस अग्नि में
महक तेरी चिनगारी की
माही मैं किरण रुपहली
पहले तारे की!

सजन रे,
फूल की महक मरे
पर यह महक न मरती
जिऊँ-जिऊँ तरू
उमर का सूखे
दून सवाई बढ़ती
अगन सुगंध मरे,
जब लज्जा
मर जाए, दरद कुँआरे की
माही मैं किरण रुपहली
पहले तारे की!

हमने साजन,
आग तुम्हारी
अन्य अंग न घोली
आग पराई
संग अपनी लज्जा
बोल कभी न बोली
चाहे अगन धरोहर अपनी
आज किसी अंगारे की
माही मैं किरण रुपहली
पहले तारे की!
मैं शगुनों की देहरी
तेरे द्वारे की!

सुनील गंगोपाध्याय

मेरी पहली विदेश यात्रा

"मैंने इसी क्षण अपने वस्त्र और हैट उतारकर फेंक दिए, एकदम विवस्त्र होकर बालू पर चित लेट गया, उस जंगली धूप में जलता हुआ प्रतीक्षा कर रहा था, मेरी इस त्वचा के नीचे छिपा पड़ा जो भारतीय है, वह अब बाहर आएगा।—जाँ कोक्तो"

मैंने देश से बाहर जाकर जिस विदेशी ज़मीन पर क़दम रखा था, वह फ्रांस देश था। यह बहुत पहले की कहानी है।

उस वक़्त मेरी बहुत छोटी उम्र थी। मेरा शरीर ख़ूब हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ था। ख़तरों से भरी ज़िंदगी बेहद पसंद थी। एकाएक मित्रों के साथ वन-पहाड़ों पर चला जाता अथवा शिमला-हैदराबाद जैसे बड़े शहरों के दर्शन करने जाकर पैसों के अभाव में एक-आध दिन बिना खाए भी बिता देता। अथवा आधी रात कलकत्ता शहर में अकारण एंग्लो-इंडियनों के साथ झगड़ बैठता और पुलिस के घूँसे खाता, गारद में चोर-जेबकतरों के साथ रात बिता आता। फिर भी इन सबका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जैसे सब कुछ एक मनोरंजन हो। स्वच्छंद, एक बोहेमियन जैसा जीवन बिताकर उसके माध्यम से जीवन को खोद-खोदकर देखने का प्रयास। इसे और क्या कहूँ।

हालाँकि कच्ची उम्र से ही मेरा सपना विश्व-भ्रमण का था। इसे एक प्रकार के कबंध का दिवा स्वप्न कहा जा सकता था। अथवा एक अंधे द्वारा आकाश कुसुम का चयन।

मैं पूर्वी बंगाल के एक विस्थापित और अत्यंत ग़रीब परिवार की संतान हूँ। कॉलेज जीवन के प्रारंभ से ही एकाध ट्यूशन और अनेक तरह के फुटकर पार्ट टाइम, काम करते हुए अपनी पढ़ाई-लिखाई का ख़र्चा चलाता रहा हूँ, यही कारण है कि मैं पढ़ाई-लिखाई में भी अधिक मन नहीं लगा पाया हूँ। मैं वैसे एक मेधावी छात्र था भी नहीं। इसके अलावा उसी समय से मेरे दिमाग़ में कविता लिखने का कीड़ा घुस जाता है, लिटिल मैगज़ीन निकालना और कॉलेज के क्लास से जी चुराकर कॉलेज स्ट्रीट वाले कॉफ़ी हाउस में अड्डेबाज़ी करना, यही मुझे परमार्थ जैसे काम लगते थे। ख़ूब अच्छे छात्र के अतिरिक्त अन्य किसी के भी लिए उस वक़्त विदेश जाना अत्यंत दुःसाध्य था। पहले जो धनी व्यक्ति अपने ख़र्चे पर विदेश भ्रमण पर जाया करते थे, उसे भी पाँचवें दशक के अंत होते-होते विदेशी मुद्रा के घट जाने पर भारत सरकार ने बंद कर दिया था।

मनसा मथुरा, ब्रज अर्थात् मन में ही मथुरा और ब्रज हैं। आलस्य भरी कई दोपहरों में मैं विभिन्न लेखकों की भ्रमण कहानियाँ

सुनील गंगोपाध्याय का जन्म 1934 में हुआ। इनकी कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, संस्मरण, निबंध आदि की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इन्हें साहित्य अकादेमी पुरस्कार, बंकिम पुरस्कार और सरस्वती सम्मान से सम्मानित किया जा चुका है। संपर्क : 'पारिजात', ए-2/9, 24, मंडेविला गार्डेंस, कोलकाता-700019

अनु. समीक्षक, अनुवादक रामशंकर द्विवेदी का जन्म 1937 में हुआ। इन्हें साहित्य अकादेमी के अनुवाद पुरस्कार से सम्मानित किया गया हैं। संपर्क : 1260, नया रामनगर, पाठक का बग़ीचा के पास, उरई-205001 (उ.प्र.)

पढ़कर एवं ग्लोब तथा मैप देखकर दुनिया की परिक्रमा किया करता था। मैप देखना तो मेरा अत्यंत प्रिय नशा था। नहाते समय बाथरूम के एकांत में कभी मैं स्पेन का दस्युओं का सरदार, कभी अलास्का का अभियात्री हुआ करता था। काल्पनिक तलवार मैंने इतनी बार चलाई है कि मेरी धारणा बन गई थी कि मैं डगलस फ़ेयार बैंक के साथ लड़ सकता हूँ।

ख़ैर जो भी हो, ग़रीबी, आवारागर्दी और कविता लेकर मेरे दिन 'हे हे' करते हुए अच्छी तरह ही कट रहे थे, ऐसे वक़्त मेरे जीवन में अकस्मात् एक परिवर्तन आ गया।

मार्क्स स्क्वायर में बंग संस्कृति सम्मेलन उन दिनों कलकत्ता का एक उत्सव था। बाङ्ला के सभी प्रकार के लोकगीति, रवींद्र संगीत एवं शास्त्रीय संगीत का ऐसा एक मिला-जुला अनुष्ठान अब तो होता नहीं है। वह कार्यक्रम बड़ा चमत्कारपूर्ण होता था। मैं और मेरे मित्रगण छोटी उम्र से ही गाने के पीछे पागल रहते थे। बड़े-बड़े उच्चांग संगीत के अनुष्ठानों के काफ़ी महँगे दामों के टिकिट ख़रीदने की हमारी सामर्थ्य न होने के कारण हम लोग फ़ुटपाथ पर अख़बार बिछाकर रात-पर-रात गानों को सुनते हुए बिता देते थे। यही बंग संस्कृति सम्मेलन का प्रांगण तरुण कवियों का अड्डा भी था। कई बार हम लोगों ने यहाँ कविता का स्टॉल लगाया था, लोगों को ज़बरदस्ती यहाँ लाकर उन्हें कविता की पुस्तकें लेने को बाध्य किया है, 'जो कविता पढ़े ना, उसका जीवित रहना उचित ना', यह नारा लगाते हुए अपना गला फाड़ते रहे हैं। एक बार एक मामूली, गोरी-चिट्टी बुढ़िया को बुलाकर हम लोगों ने उससे कहा था, "दीदी माँ, मेरी कविता की पुस्तक ख़रीद लीजिए।" उसने कहा, "दो-चार लाइनें ज़रा पढ़कर सुनाओ तो।" हममें से कोई एक साथी बड़े भाव से कविता पढ़कर सुनाने लगा, कई लाइनें सुनने के बाद वह वृद्धा खिलखिलाकर मीठी हँसी हँसते हुए बोली, "अब मैं इन सब कविताओं को समझ न पाऊँगी, क्योंकि अब मेरे दाँत नहीं हैं!"

एक शाम को हमलोग उसी बंग संस्कृति सम्मेलन के मैदान में इकट्ठे होकर बैठे हुए थे। कोई दाँतों से घास कुतर-कुतरकर फेंक रहा था, किसी के सिगरेट निकालते ही कोई दूसरा उसे माँग लेता था, एकदम कहीं पास से गाने की सुर लहरी बहती आ रही थी। हम लोग एक कान से गाना सुन रहे थे, दूसरा कान हमारा गपबाज़ी की ओर लगा था। इसी समय उस रंग स्थल में एक साहेब व्यक्ति का प्रवेश।

कलकत्ते में उस वक़्त भी साहेब-मेमों का वैसा कोई टोटा नहीं था। हमारी पराधीनता के दौर में, गली-कूचों में हमने ख़ूब साहेब-मेम देखे थे। देश के स्वतंत्र होने पर काफ़ी अंग्रेज़ यहीं रह गए थे। एंग्लो-इंडियन ऐसे थे जिन पर सबसे पहले नज़र पड़ती थी। पचास से दशक के अंत तक चौरंगी पार्क स्ट्रीट को साहेबों का पाड़ा कहा जाता था। उस वक़्त भी एक वर्ग के बंगालियों और मारवाड़ियों के लड़के वैसे साहेब नहीं बने थे। युवकों ने पैंट पहनना शुरू कर दिया था, किंतु धोती को उस तरह से त्यागा नहीं था। विदेश से भी अनेक साहेब-मेम कलकत्ते आते रहते थे। एकदम सुंदर, चमकते हुए, प्राण चंचल इस शहर को उस वक़्त भी किसी ने 'कूड़े का शहर' अथवा 'मृत नगरी' की उपाधि देने की बात स्वप्न में भी नहीं सोची थी। भारत के पहले और तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने एक बार कलकत्ते को 'जुलूसों की नगरी' कहा था, इस बात पर बंगालियों की ओर से उन्हें काफ़ी भर्त्सना सहन करनी पड़ी थी।

कलकत्ते में कई विदेशी आया करते थे, उनमें कुछ कवि-लेखक-शिल्पी भी दिखाई देते थे। साठ के दशक के अंतिम आधे भाग में उग्रवादियों ने पूरी दुनिया को ही कँपा दिया था। उसी समय से जो विख्यात व्यक्ति होते थे उनमें से कोई भी दुनिया के किसी भी देश में सहज और आराम से घूम-फिर नहीं पाते थे। स्वीडेन के प्रधानमंत्री पालमे की हत्या मानवता के इतिहास में एक अत्यंत कलंकपूर्ण घटना है। मैं जिस समय की

बात कह रहा हूँ—साठ के दशक के प्रारंभ की, उस वक़्त बहुत से राष्ट्राध्यक्ष, राजदूत, राजनैतिक नेता बिना सुरक्षा प्रहरियों के ही थियेटर-सिनेमा देखने जाया करते थे, यही नहीं शाम को सड़क पर इच्छानुसार अकेले ही घूमने निकलते थे। पाब्लो नेरूदा अथवा स्टीफ़न स्पेंडर ख़ूब आनंदपूर्वक कलकत्ता घूम गए थे। आंद्रे मालरो जब फ्रांस के मंत्री थे, उसी समय वे भी दिल्ली आकर अकेले ही घूम गए थे। सहसा किसी विख्यात व्यक्ति को देखते ही हम चौंक नहीं पड़ते थे। विदेशी पर्यटकों के लिए उन दिनों कलकत्ता एक अवश्य देखने योग्य स्थान था।

बंग संस्कृति सम्मेलन के मैदान में हममें से ही कोई प्रौढ़ परिचित व्यक्ति जिस साहेब को साथ लेकर आया, उसका नाम था पॉल एंजेल, अत्यंत दीर्घकाय, सुडौल चेहरा, उम्र होगी यही साठ के आसपास। वह एक प्राध्यापक और कवि था। उस अड्डे में उस वक़्त शक्ति चट्टोपाध्याय, संदीपन चट्टोपाध्याय, शरत् कुमार मुखोपाध्याय, भास्कर दत्त, शंकर चट्टोपाध्याय आदि प्रमुख कवि जिन्हें कृतिवास का दल कहा जाता था, समरेंद्र सेन गुप्त, उत्पल कुमार वसु, तारापद राय, प्रणव कुमार मुखोपाध्याय आदि में से अधिकांश उपस्थित थे जिन्हें कृतिवास दल का कहा जाता था। पॉल एंजेल हमलोगों में घुलमिलकर हमारी बातचीत में योग देने लगा। वह ज़ोर-ज़ोर से बात करता था और गला खोलकर हँसता था। उसके व्यवहार में अत्यधिक सरलता फूट उठती थी। वह यहाँ आधी दुनिया घूमते-घूमते आया था, भारत में भी दिल्ली-बंबई में कई कवि-लेखकों, साहित्यकारों से उसका परिचय हुआ था, कलकत्ते में भी उसका वरिष्ठ और विख्यात लेखकों के साथ परिचय हुआ था, हमलोगों के साथ भी उसकी ख़ूब अड्डेबाज़ी जम गई।

इसके बाद भी तीन-चार दिन उसने हमारे साथ घूमा-घामी की, कलकत्ता के कुछ-कुछ स्थानों को हमलोगों ने उसे दिखाया, नीमतला श्मशान घाट हमारी एक प्रिय जगह थी, रवींद्रनाथ का जहाँ दाह-संस्कार किया गया था, उस घिरे हुए स्थान पर खड़े-खड़े रात में गंगा की तरफ़ देखते हुए उसने कहा था—आ! कितना सुंदर दृश्य है! उसने हमें अपनी कविता पढ़कर सुनाई। हमलोगों ने भी अपने दुर्बल अंग्रेज़ी अनुवाद में अपनी कविताओं का पाठ किया। उसके साथ ही खाना-पीना, हँसी-ठट्टा, शक्ति-शरत् कुमार जहाँ हों, वहाँ 'नेवर ए डल मोमेंट' जिसे कहा जाता है, वही होता है।

इसके बाद पॉल एंजेल ने दौड़ लगाई फ़िलीपाइंस होकर जापान की तरफ़। हमलोगों ने भी अपने-अपने काम में मन लगा दिया। मैं कई दिन के लिए चला गया चाईबासा-हिसाड़ी की तरफ़। लौटकर देखा बड़े-बड़े स्टांप युक्त एक विदेशी लिफ़ाफ़ा मेरी प्रतीक्षा कर रहा है। पॉल एंजेल ने मुझे जापान से पत्र लिखा था। अपने पत्र में उसने यह जानना चाहा था कि आयोबा विश्वविद्यालय के क्रिएटिव राइटिंग प्रोग्राम में मैं सहयोग देने को राज़ी हूँ या नहीं। मेरे प्लेन का किराया तथा वहाँ रहने-खाने का पूरा ख़र्चा वही विश्वविद्यालय देगा।

अमेरिका के मध्य-पश्चिम में स्थित आयोबा विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी साहित्य विभाग का प्रधान प्रोफ़ेसर यही पॉल एंजेल था। उसने ऑक्सफ़ोर्ड से पी-एच.डी. की थी एवं रोड्स स्कॉलर था, किंतु अध्यापन की अपेक्षा उसका झुकाव कविता की ओर अधिक था। वह विश्वभर के कवियों में भाई-चारा हो, इसका विश्वासी था। उसकी धारणा थी दुनिया के किसी भी प्रांत में जो-जो कविता लिखते हैं, वे सभी सबके आत्मीय-स्वजन हैं। बीच-बीच में वह इन लोगों का आत्मीय सम्मेलन कराना चाहता था। विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी साहित्य विभाग के साथ उसने इस इंटरनेशनल राइटिंग प्रोग्राम को शुरू किया था, जिसमें दुनिया के विभिन्न देशों से, यहाँ तक कि उस शीत युद्ध की चरम अवस्था

में भी, सोवियत यूनियन, पोलैंड, हंगरी से भी कवियों को आमंत्रित किया गया है। उसमें एक-दूसरे से मिलना, कविता-पाठ, चर्चा, अनुवाद आदि यही सब होगा। ख़र्चा चलाने के लिए उसने अमेरिका के धनी किसानों और कुछ कंपनियों के मालिकों से चंदा एकत्र किया है, अमेरिका की सरकार के साथ इस प्रयास का कोई संपर्क ही नहीं है। दुनिया में कवियों के लिए कहीं पर ऐसा कोई केंद्र भी है, इस संबंध में मेरी कोई धारणा ही नहीं थी। पॉल एंजेल एक दैव्य की तरह परिश्रम कर सकता था, उसने अपने अकेले प्रयास से ही ऐसे एक केंद्र को बना लिया था, यह कई लोगों को अविश्वसनीय लगता था, किंतु दुनिया में ऐसे भी कुछ पागल लोग होते हैं जिनके कारण यह दुनिया इतनी वर्णमय है। बाद के समय में तो यह केंद्र इतना बड़ा हो गया था कि लगभग एक संस्थान में ही परिणत हो गया था, जहाँ पर अफ्रीका के काले देश, सोशलिस्ट देश, अरब देश, हमारे जैसे ग़रीब देश एवं पूँजीवादी देशों के शत-शत कवि और लेखक इस आयोबा जैसे छोटे शहर में पॉल एंजेल के आमंत्रण पर रहने आए थे। मेरे बाद वहाँ गए थे शंख घोष, ज्योतिर्मय दत्त, सैयद मुस्तफ़ा सीराज, कविता सिंह आदि, भारत की अन्य भाषाओं से भी अनंतमूर्ति, दिलीप चित्रे जैसे वर्तमान युग के ख्यातिमान लेखक।

मेरे लिए वह चिट्ठी एक बहुत बड़ी लॉटरी की तरह होने पर भी शुरुआत के मेरे कई घंटे अत्यंत विमूढ़ अवस्था में बीते। यह प्रस्ताव इतना अप्रत्याशित था कि लगभग असंभव के वर्ग में आता था। इतने बड़े कवि-लेखकों के रहते, आख़िर मेरे जैसे नगण्य कवि को क्यों बुलाया गया है? हाँ, मैं ज़रूर अपने को नगण्य नहीं मानता था, उस वक़्त बड़े दर्प से कृतिवास नाम की कविता की पत्रिका का संपादन कर रहा था, बाङ्ला कविता को लेकर मन-ही-मन अन्य लोगों को पछाड़ देने जैसी कल्पना भी करता रहता था, फिर भी पारिवारिक ग़रीबी के कारण बाह्य जीवन में एक हीनता बोध से मैं किसी भी तरह उबर नहीं पा रहा था। कुछ दिन पहले ही मेरे पिताजी की मृत्यु हो चुकी थी, मेरी कच्ची उम्र, अपरिपक्व अवस्था, भाई-बहन भी मेरे छोटे-छोटे थे, परिवार का बहुत-सा दायित्व मेरे ही कंधों पर था। मुझे घूमने का बड़ा भयंकर नशा था, तो भी चौदह हज़ार मील दूर से सहसा आह्वान आने पर ही तो जाया नहीं जा सकता था। दो-चार दिनों का तो कोई मामला था नहीं, लगभग एक वर्ष के लिए जाना पड़ेगा।

कई दिन बड़ी दुविधा में बीते। अपने कई घनिष्ठ मित्रों को बताने पर वे लोग जाने के लिए बड़ा उत्साहित करने लगे। हमारे कृतिवास के लेखक वर्ग में उस वक़्त अकेले शरत् कुमार को ही विदेशों का अनुभव था, वे अपनी पढ़ाई-लिखाई के सिलसिले में इसी बीच कई वर्ष इंग्लैंड में बिता आए थे, वे मुझे निरंतर भरोसा दिलाने लगे। ऐसी भी जानकारी मिली कि अमेरिका में वे लोग मुझे हाथ ख़र्च के लिए जो रुपया देंगे, उससे कुछ पैसा बचाकर मैं अपने देश में अपने परिवार के लिए भी भेज सकता हूँ। वहाँ का एक रुपया हमारे यहाँ के पाँच रुपए के बराबर है। दो-तीन महीने के अंतर से देश में अगर मैं एक सौ डॉलर भेजूँ तो वे पाँच सौ रुपए के बराबर होंगे। साठ के दशक के प्रारंभ में पाँच सौ रुपयों का मतलब था काफ़ी रुपया। एक स्कूल मास्टर का मासिक वेतन डेढ़ सौ रुपयों से अधिक नहीं होता था। एक किलो पोना मछली के दाम थे साढ़े तीन रुपए।

उस वक़्त हिप्पी आंदोलन शुरू नहीं हुआ था, हिप्पी शब्द ही तब अज्ञात था। हिप्पियों ने आकर पूरे विश्व के पहनावे में एक क्रांति घटित कर दी थी। पुराने ज़माने के लोगों को अवश्य याद होगा कि हिप्पियों के आगमन के पहले लंदन की सड़कों पर बिना टाई बाँधे कोई पुरुष ही दिखाई नहीं देता था। पैंट में क़मीज़ बिना दबाए अगर कोई बाहर निकल पड़ता तो अन्य लोग भौंहें सिकोड़कर कहा करते थे, बाथरूम के कपड़ों में

बाहर क्यों निकल आए? कई होटलों, रेस्तराँ में पोशाक के मामले में अनेक बंधन थे। दिन के समय अगर निमंत्रण है तो उसके लिए एक तरह की वेश-भूषा थी और रात्रि के निमंत्रण में बिलकुल भिन्न तरह की पोशाक निर्धारित थी। मोजे के साथ टाई के रंग का सामंजस्य होना चाहिए। हिप्पियों ने इन सब नियम-क़ानूनों को एकदम तोड़ दिया। नीले रंग की जींस, जो कुली, मज़दूरों का पहनावा थी, वही चलन में आ गई। आजकल जींस और बनियान पहनकर पूरी दुनिया ही घूमी जा सकती है। लेकिन उस वक़्त भी ऐसा स्वर्ण युग नहीं आया था। कवि एलेन गिन्सवर्ग कलकत्ते की सड़कों पर कुर्ता-पाजामा पहनकर घूमा करता था। किंतु, अपने देश लौटते समय उसे इन वस्त्रों में प्लेन में चढ़ने नहीं दिया गया था। उसे भी पैंट-टाई-कोट ख़रीदना पड़ा था।

मुझे भी ऐसी ही एक पोशाक चाहिए। उन दिनों मैं वाछेल मुल्ला की दुकान से ख़रीदी गई रेडीमेड पैंट पहनता था, चौरंगी के फ़ुटपाथ से शर्ट ख़रीदता और पैरों में रहती थीं बाटा कंपनी की सात रुपए निन्यानवे पैसे की चप्पलें। एक ही रंग का पैंट-कोट जिसे सूट कहा जाता है, वह तो मेरे वंश में किसी ने कभी पहना ही नहीं था। वैसी एक पोशाक तो ख़रीदनी ही पड़ेगी। साहेब लोगों के देश में क्योंकि बर्फ़ पड़ती है, इसलिए मेरी धारणा थी कि उन सब देशों में पूरे वर्ष ठंड ही पड़ती रहती है। उस वक़्त अगस्त का महीना था, फिर भी मुझे आधा ऊनी सूट बनवाना ही पड़ा, उसमें ख़र्चा आया पाँच सौ रुपया, शरत् कुमार एवं भास्कर दत्त ने आधा-आधा वह रुपया दिया था।

अब इसके बाद आया पासपोर्ट का मामला। आह, वह प्रसंग सोचने पर आज भी बदन जलने लगता है। बाद में तो सुप्रीम कोर्ट के एक फ़ैसले से हर नागरिक को पासपोर्ट पाने का अधिकार मिल गया, किंतु उन दिनों पासपोर्ट के लिए कितनी परेशानियाँ नहीं थीं! दिन-पर-दिन पासपोर्ट ऑफ़िस के चक्कर काटता घुड़की खाकर लौट आता। इधर पहली सितंबर तक अगर न पहुँच सका तो आमंत्रण ही बेकार हो जाएगा। मैं किसी विश्वविद्यालय का चमकता हुआ सितारा नहीं हूँ, नाम वाले किसी परिवार की संतान भी नहीं हूँ, नितांत एक टुटपूँजिया और सिर्फ़ बाङ्ला कविता लिखता हूँ, फिर भी मुझे विदेश का एक विश्वविद्यालय प्लेन का किराया देकर ले जाएगा, एक वर्ष के निवास और खाने-पीने का ख़र्चा उठाएगा, यह एक पासपोर्ट अफ़सर से किसी भी तरह सहन नहीं हो पा रहा था। हर बार हज़ार तरह की जिरह और मनाही। अस्वीकृति, क्रोध के कारण कई बार मन होता था घूँसा मारकर इसकी बत्तीसी तोड़ दूँ। राइटर्स बिल्डिंग्स में जाकर होम सेक्रेटरी, चीफ़-सेक्रेटरी को पकड़ा पर उससे भी कोई काम नहीं निकला, यहाँ तक कि दिलीप गुप्त नाम के एक बंधु के रिश्तेदार के सूत्र से मुख्यमंत्री के पास भी गया। आजकल जैसे पश्चिम बंगाल के प्रति केंद्र सरकार की अन्याय की बातें सुनने को मिलती हैं, कांग्रेस के शासन में भी यही सुर था। 'राज्यों के साथ केंद्र का सौतेला व्यवहार' यह वाक्य बंध समाचार पत्रों में अकसर देखने को मिलता था। उसे तो मैंने अपनी आँखों से ही देखा है, मुख्यमंत्री प्रफुल्ल सेन ने मेरे पासपोर्ट के लिए टेलीफ़ोन किया, फिर भी केंद्र सरकार के एक अफ़सर ने उसे नहीं माना। उस अफ़सर ने मुझसे कहा था, ''क्या मुझे प्रफुल्ल सेन तनख़्वाह देते हैं?'' इसके बाद तो जादू की तरह सारी घटना घट गई। तारापद राय के मौसा जी देवी राय एक प्रभावशाली पुलिस अधिकारी उन दिनों लाल बाज़ार के डी.सी.डी.डी. थे। तारापद राय मुझे अपने मौसा महाशय के पास ले गया, उन्होंने मुस्कुराते हुए कहा, ''हाँ, काम हो जाएगा। उस समय सिर्फ़ एक दिन रह गया था।''

कलकत्ता हवाई अड्डा उस वक़्त इतना लंबा नहीं हुआ था, बहुत से विदेशी विमान यहाँ उतरते और यहाँ से उड़ते थे। मेरा टिकिट था पेन एम का, रात दो बजे की उड़ान थी। पहले दिन तक

मुझे लग रहा था कि शायद जाना ही नहीं हो सकेगा। अंतिम क्षण तक पासपोर्ट लेना, वीज़ा, रिज़र्व बैंक से क्लियरेंस के लिए मुझे जो दौड़-धूप करनी पड़ी उससे थककर मैं एक कुत्ते की तरह जीभ निकालकर हाँफ रहा था। फिर भी सारी थकान बंधु-बांधवों के प्रेम के कारण दूर हो गई थी, मेरे दमदम वाले घर में मेरे कई मित्र मुझे विदाई देने आए थे। बेहाला से आए थे अरविंद गुह, उस रात फिर वे घर लौट ही नहीं सके थे। हाँ, मेरे सभी मित्रों को ख़ुशी हुई हो ऐसा नहीं है, दो-एक लोगों ने क्रोध और ईर्ष्या के कारण मेरा मुँह देखना ही बंद कर दिया था। जैसे मेरा चुनाव मेरा ही अपराध हो। इसके कारण मेरे मन में थोड़ी लज्जा का भी भाव था।

अगस्त मास की गर्मी में गर्म सूट पहने, पैरों में जूते-मोजे, गले में कत्थई रंग की टाई बाँधे, नव कार्तिक जैसे चेहरे से पसीने-पसीने होकर विमान पर चढ़ा। आकाश में उड़ने के साथ-साथ मैं सो गया।
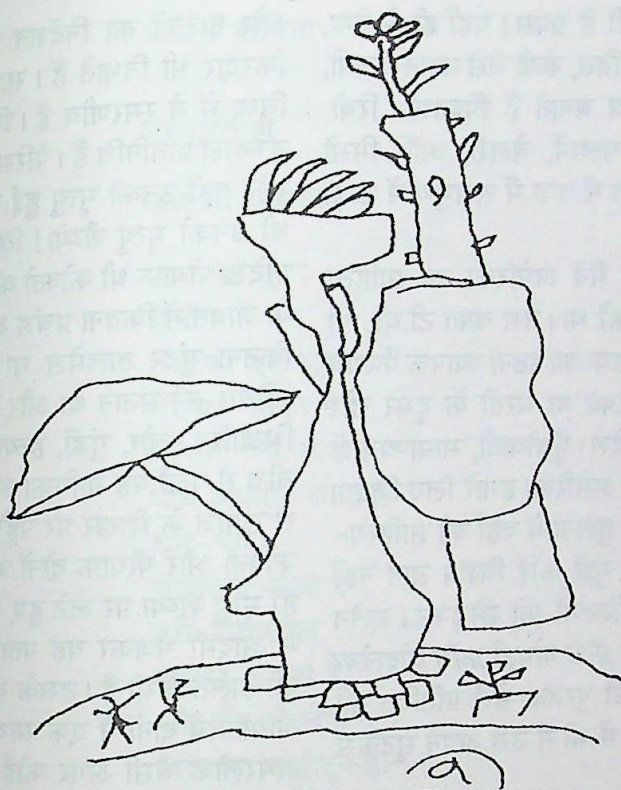
विमान सबसे पहले कराची में रुका था। अस्पष्ट ऊषा लोक में कराची हवाई अड्डे का बाङ्ला अक्षरों में नाम देखकर रोमांचित हो उठा था। अब ज़रूर वह बाङ्ला नाम मिटा दिया गया है। द्वितीय विराम रोम में हुआ था, उस वक़्त मैं सो रहा था। उसके बाद पेरिस पहुँचकर हमें विमान से उतारकर ट्रांजिट लाउंज में भेज दिया गया। पूरी रात सोते रहने से मेरा सारा अवसाद दूर हो गया था, होंठों से पहले दिन की परेशानी की विरक्ति दूर हो गई थी, शरीर काफ़ी तरोताज़ा और चंगा हो गया था। एक सिगरेट पीने के समय मुझे रोमांच हो आया। गत दिवस सवेरे भी यही सोच रहा था कि पासपोर्ट मिलेगा नहीं, और अब मैं सचमुच में विदेश आ गया था। पेरिस, यही वह पेरिस है?

हमारी दृष्टि में उस वक़्त फ्रांस एक स्वर्ग के समान था। असंख्य शिल्पी, साहित्यकार, कवियों की लीलाभूमि। किसी ने कहा था—हर शिल्पी की दो मातृभूमि होती है, एक वह जहाँ उसका

जन्म हुआ है, दूसरी है फ्रांस! यहाँ ही थे देगा, मोने, माने, गोगाँ, मातिस, रूयो जैसे महान शिल्पी, आज भी यहाँ चित्र बनाते हैं पिकासो। रिंबो, वेर्लेन, वोदलेयर, मलार्मे, वेलरी, ऑरि मिसो जैसे कवियों के देश में क्या मैं सचमुच में खड़ा हुआ था?

उस समय तक मैंने अमेरिका का साहित्य विशेष कुछ पढ़ा नहीं था। उस वक़्त टी.वी. भी नहीं आया था, मीडिया का इतना व्यापक फैलाव भी नहीं था, अमेरिका था धरती के दूसरे छोर का बहुत दूर स्थित देश। पूँजीवादी, साम्राज्यवादी शक्ति के हिसाब से अमेरिका हमारे लिए जितना परिचित था, उसकी तुलना में वहाँ की साहित्य-संस्कृति के बारे में मुझे कोई विशेष ज्ञान नहीं था, हॉलीवुड की फ़िल्मों को छोड़कर। एलेन मार्क्स द्वारा संपादित *फ्रेंच पोयट्री फ्रॉम वोदलेयर टू दा प्रिजेंट* नाम की पुस्तक मेरी प्रतिदिन की साथी थी, उस यात्रा में भी मैं उसे अपने सूटकेस में रखे हुए था।

शार्ल देगाल नाम का हवाई अड्डा तब भी बना नहीं था, देगाल उस समय ख़ूब स्वस्थ और जीवित थे। ओर्ली हवाई अड्डे की काँच की दीवार पर नाक लगाकर मैं पेरिस नामक अमरावती को देखने का प्रयास कर रहा था और मन-ही-मन कविता की टूटी-फूटी लाइनें आवृत्त कर रहा था। जाँ कोक्तो की कविता की कुछ पंक्तियाँ ही विशेष रूप से याद आ रही थीं। कारण उस कविता में एक भारतीय व्यक्ति का उल्लेख था।

...'वन्य रौद्रे शरीर पूड़िये प्रतीक्षा करि, बेरुवे कखन आमादेर एइ चामड़ार नीचे लुकिये जे आछे, सेई भारतीय...' (मैं ही वह भारतीय हूँ, मेरे शरीर की त्वचा जैतून के रंग की है, मैं जाँ कोक्तो के नगर में आया हूँ।)

एक ज़माने में कहा जाता था—पेरिस नगर की दो चीज़ें देखने योग्य हैं—एक एफ़िल टॉवर और जाँ कोक्तो। वही यहाँ के पहले नागरिक थे। एक ही साथ वे कवि और उपन्यासकार हैं, नाटककार और निबंध लेखक हैं। ख़ुद फ़िल्म और नाटकों का निर्देशन करते हैं, उनमें ख़ुद किरदार भी निभाते हैं। साहित्य-शिल्प की हर विधा में वे स्मरणीय हैं। विदग्ध नागरिकता के उज्ज्वल प्रतिनिधि हैं। पेरिस के पास उनका जन्म और यहीं उनकी मृत्यु हुई है। कैसी असाधारण थी उनकी मृत्यु शैय्या! विश्वविख्यात गायिका एदिख पीयाफ़ थी कोक्तो की घनिष्ठ मित्र। दोनों के जीवन में कितना प्रचंड असामंजस्य था। और कितना सुंदर तालमेल था। कोक्तो एक धनी परिवार की संतान था और एदिख थी रास्ते की भिखारिन। चोर, गुंडों, हत्यारों और वेश्याओं के बीच में पली यह गायिका अपनी प्रतिभा के ज़ोर से समाज के शिखर पर पहुँच गई थी। एक बार कोक्तो और पीयाफ़ दोनों बीमार हो गए, दोनों ही मृत्यु शैय्या पर लेटे हुए थे, कोक्तो घंटे-घंटे में आदमी भेजकर यह पता लगाते कि पीयाफ़ की हालत कैसी है। उसके बाद एक समय ऐसा आया जब दोनों ने एक साथ अंतिम साँस ली। अमरलोक जैसी अगर कोई चीज़ है, तब वहाँ जाकर ज़रूर इन दोनों की भेंट हुई होगी।

मैं कविता लेकर मग्न था, पता नहीं कितना समय बीत गया, सहसा माइक्रोफ़ोन पर एक विचित्र शब्द सुनाई पड़ा। गेंगो पीडीई—ई-ई-घुनील गेंगो पेडी ई...। अरे यह तो मेरा है! मैं दौड़कर काउंटर पर पहुँचते ही एक व्यक्ति उत्तेजित होकर फ्रांसीसी भाषा में कुछ कहने लगा—मैं उससे कितना भी कहूँ कि मैं फ्रांसीसी भाषा नहीं जानता हूँ—ज्ये ना पार्ल पा फ्रांसे—उसके बाद भी वह रुक नहीं रहा था। अंत में अंग्रेज़ी जानने वाले एक व्यक्ति ने आकर कहा, "तुम अब तक क्या कर रहे थे? यह देखो तुम्हारा विमान उड़ान भर रहा है।"

मेरे उस तरफ़ दौड़ लगाते ही उसने मेरा हाथ पकड़कर कहा, "सीढ़ी हटा ली गई है देख नहीं रहे हो? अब तुम इस प्लेन से नहीं जा सकोगे।"

मैं बुरी तरह डर गया। "कह क्या रहे हो? इसी विमान में तो मेरा सूटकेस था। मेरी जेब में सिर्फ़ आठ डॉलर हैं। मैं यहाँ किसी को पहचानता भी नहीं हूँ, अब मैं कहाँ जाऊँगा?"

मैथिली कविता

महाप्रकाश

अब तो स्वागत

प्रायः हर सुबह
बेख़ौफ़
मैना का एक झुंड
मेरे घर-आँगन में
पुरज़ोर उतर आता है
घाघ अफ़सर की तरह
धीरे-धीरे
मुआयना करता है
दरो-दीवार का
चक्कर काटता है
और ढूँढ़ ही लेता है
अन्न का कोई टुकड़ा
आँगन का कोई कीट
देर तक खाता है और
बेधड़क उड़ जाता है
वह फिर आएगा
मेरे ही सामने
अकड़कर चलेगा
और मैं विवश
हुलसकर
उसका स्वागत करूँगा...।

मैथिली के वरिष्ठ कवि-कहानीकार महाप्रकाश का जन्म 1950 में हुआ। इनका एक कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ है। संपर्क : नया बाज़ार (दक्षिण), सहरसा-852201 (बिहार)

अनु. मैथिली के कवि-कहानीकार केदार कानन का जन्म 1959 में हुआ। इनका एक कविता-संग्रह तथा कई अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। संपर्क : किसुन कुटीर, सुपौल-852131 (बिहार)

हिज़ मास्टर्स वॉइस

प्रायः पचास सालों से मैं
कुत्ते पालने का हुनर और
तरकीबें जानता हूँ
बदलते समय की भाषा में
ख़ुद सीखता और सिखाता हूँ
कुत्तों के झुंड-दर-झुंड हैं

मेरे आगे-पीछे
मेरे नाम और रंगों की पट्टियाँ हैं
उनके गले में बँधी हुई
मेरी छड़ी की जुंबिश में
छुपा होता है उनके लिए
मार, फटकार और दुलार...

फिर मैं उन्हें खिलाता हूँ
मांस की बोटियाँ
इस मुल्क की सरज़मीन पर
जब से लोग नागर बनने की
अंधी ज़िद में उगाने लगे हैं
आदिम जंगल
तमाम तरह के मांस का मिलना
आसान है

अभी-अभी मैंने
कुत्तों की एक प्रदर्शनी की थी
आपके शहर के बीच से गुज़रा था
उनका करामाती कारवाँ
आपने देखा होगा, उनकी
आन-बान-शान
मेरी शोहरत की ऊँचाई
मेरी बाज़ुओं का असीम फैलाव
कुछ अंदाज़ आया होगा आपको
कैसे उमड़ आते थे लोग
जैसे पागल हो गया है ब्रह्मपुत्र
किंतु इन दिनों सरेमंज़र एक आज़ार है
आप भी उसे पहचानते हैं
राहत की बोटियों-रोटियों के साए में
हमारी हर साँसों के बीच
दिन-ब-दिन फैलता हुआ
एक आक्रामक बाज़ार है
बाज़ार से जो डरता है
मेरे साए में बँधकर जीता है
बाज़ार का एक सूचकांक होता है
जो ऊपर चढ़ता है तो कभी नीचे
लुढ़क जाता है

यह एक ख़बर हो सकती है
मगर दहल जाने वाली बात नहीं
क्योंकि इस बाज़ार हुई सभ्यता में
कोई मेरे कुत्तों का तर्जुमा अब
आदमी में कर दे
ऐसा कोई 'वाद' नहीं
फिर कौन मुझे टोकेगा
पकड़ेगा 'हेग' के न्यायालय में
मुझे ठोकेगा?

अदब और इत्मीनान मेरा
वर्षों का आजमाया नुस्ख़ा है
जो हर बेचैन रंगों को सहलाता है
उफनते दिमाग़ में फ़रेब का ही सही
सुकून पहुँचाता है...।

रामलोचन ठाकुर

मनुष्य और ईश्वर

पृथ्वी पर
इस विराट सुंदर पृथ्वी पर
ईश्वर नहीं था
मनुष्य से पहले थे
जंगल, पहाड़, झरना, नदी, पशु, पक्षी...
उन्हें प्रयोजन ही नहीं था
ईश्वर का
प्रयोजन हुआ मनुष्य को
और आविर्भूत होने लगे ईश्वर
एक के बाद एक
राम-कृष्ण-ईसा-मुहम्मद-बुद्ध
मनुष्य के कल्याण हेतु
ईश्वर अविनश्वर
आने लगे
रहने लगे
गुम होता चला गया मनुष्य
एक के बाद एक

...थिली के रचनाकार रामलोचन ठाकुर का जन्म 1949 में हुआ। लगभग एक दर्जन पुस्तकें प्रकाशित। संपर्क : चिराग अपार्टमेंट, फ़ेज़-2, दूसरा तल, ...4, इटलगछा रोड, कोलकाता-700028

अनु. केदार कानन

मनुष्य रहा ही नहीं
रह गए कुछ
हिंदू, मुसलमान, सिक्ख, क्रिश्चियन...
इस पृथ्वी पर
इस छोटी-सी पृथ्वी पर।

ऐसा होता है

ऐसा होता है
प्रायः होता है ऐसा
आप चाहें या नहीं

पर्वतारोहण के क्रम में
फिसल गए अपने साथी को
छोड़ दल को बढ़ जाना होता है आगे
गगनचुंबी पर्वत पर
जमी हिमराशि-सी
अपनी संवेदना को
पत्थर बना लेना पड़ता है

बंधु,
पर्वतारोहण के कुछ नियम होते हैं
ज़िंदगी के भी
कुछ नियम होते हैं।

अग्निपुष्प

बनाएँ नया रास्ता

आइए और पास आइए
कुछ क़दम साथ-साथ
इस अनजान महानगर में चलें
मेड़ पर जैसे
आगे-पीछे चलते हैं लोग

परछाइयाँ हमारी
टकराएँ इस स्याह सड़क पर

मैथिली कवि अग्निपुष्प का जन्म 1950 में हुआ। एक कविता-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : द्वारा-नरेंद्र झा, झा एंड एसोसिएट्स, एस.पी. वर्मा रोड, पटना।

अनु. केदार कानन

पर भीतर चुप बैठा मन
निकले बाहर
जैसे नई दूब
निकलती है खेतों में

आइए और पास आइए
चलें उस नुक्कड़ की ओर
अस्त होते सूर्य को रोक दें
अफ़वाह के अँधेरे को
राख कर दें
पगडंडी ही सही
इस सुनसान में
एक नया रास्ता बना दें।

दादागिरी

अपनी धरती पर
अपनी फ़सल हमने
आज काटी है
आप बेकार ही तमतमाए हैं
हमने इसकी ख़ातिर
दिन-रात बिताए हैं

चाँद रुकता नहीं
आकाश में
लहरें नहीं रुकतीं
समुद्र में
नई कोंपल का होना
नहीं रुकता
किसी पेड़ पर
किसी प्रतिबंध से
बारूद के ढेर पर बैठ
शांति के लिए आपकी
यह कैसी दादागिरी है
यह कैसी साझी बिरादरी है।

विद्यानंद झा

रचना प्रक्रिया

सुनो,
हर बार ऐसा ही होता है

मैं बनाना चाहता हूँ
तुम्हारी एक तस्वीर
छोटा-सा चेहरा
और बड़ी-बड़ी आँखें।

पर तुम्हारी आँखों का विस्तार
और उसमें पसरी
छाँह
किसी विशाल भूखंड-सा
लगता है मुझे
उस पर
नई फ़सल लगे खेत
ऊँचे-ऊँचे पहाड़
बड़ी-बड़ी धारा
और एक अथाह जनसमुद्र
और वह चित्र
हो जाता है लैंडस्केप

फिर
उस लैंडस्केप पर
उभरते हैं
यहाँ-वहाँ कुछ दृश्य—
कालाहाँड़ी में
अपना शिशु बेचती
अकालग्रस्त माँ
मसौढ़ी में
अपने अधिकारों के लिए लड़ते
खेतिहर मज़दूर
हाथ-पैर बाँध
किए गए नक़ली मुठभेड़
और वैसे असंख्य लोग

युवा मैथिली कवि विद्यानंद झा का जन्म 1965 में हुआ। एक कविता-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : आई.आई. एम., जोका, डायमंड हार्बर रोड, कोलकाता

अनु. केदार कानन

जो पैने कर रहे
अपने नाख़ून
आने वाले युद्ध के लिए
और ऐसे में
बन जाता है
एक कोलाज़
तुम्हारी तस्वीर
और यह कोलाज़
दोनों रहते हैं उपस्थित
एक ही साथ
मेरी चेतना में

सच
अब तक ऐसा ही होता है।

मेरी कविता

मेरी देह से सटी
गंजी है
मेरी कविता।

और नहीं है
कोट
किसी साहेब की देह का
दोशाला
या पट परिधान किसी नायिका का।

इसलिए
नहीं मिलेगा आपको
फूल-फाल
मेरी कविता में
नहीं मिलेगा
कोई तमगा
या लाल-पीला रंग

मेरी कविता का रंग है
पसीने से भीगी
गंजी का मटमैला रंग

और सूत-सूत में
बसी है पसीने की गंध
इसलिए
मिलेगी आपको सिर्फ़
मिट्टी
और मिट्टी का रंग और गंध
मेरी कविता में।

शिवेंद्र दास

नेपथ्य में अहिंसा का धीमा स्वर

तीर्थों का अनुसंधान
गति मनुष्य की!
हर यात्रा चौराहे पर
खड़ा है कृष्ण दान याचना को
बढ़ाए दायाँ हाथ!

रुदन-कवच कुंडल का
कटे अँगूठे का
छद्म धर्म का, द्युत का
ऐश्वर्य मंदिरों का।

विपुल बाज़ार
सिंदूर लेपित
आडंबर सिंचित मूर्तियों का
भित्तिचित्रों के पाँचसितारा वैभव
आकंठ मदिरा में डूबे जलमहल
स्थापत्य शिल्प का
रत्नजड़ित स्वप्न संसार।

विराजें देवतागण
सर्वधर्म सर्वत्र
भूमिहीन सर्वस्वछिन्न जन
दंड धर्म का, सार्वभौम सत्ता ईश्वर की
ईस्वी सन् पर सत्तासीन आदिपुरोहित
चरण-कमल से पद दलित करता है
कालशिशु को

मैथिली के कवि तथा समीक्षक शिवेंद्र दास का जन्म 1953 में हुआ। संपर्क : गुणेश्वर स्मृति क्लिनिक, कोशी रोड, सुपौल-852131 (बिहार)

अनु. केदार कानन

श्रद्धावनत भक्तों की झुकी पीठ पर
अनवरत चाबुक दंश
—नेपथ्य में अहिंसा का धीमा स्वर।

तांडव भग्नावशेषों का
देवगुफाओं में धूम्रगंध आप्लावित षड्यंत्र
भंगिमाएँ-पाषाण की
ताँबे की, कांस्य की
अष्टधातु विलास
इंद्र लगाएँ दरबार
चतुर्दिक अप्सराएँ
कंचुकी, नीवीबंध व्याख्यायित
मुद्रास्तुत्य कामचेष्टाएँ
—नेपथ्य में अहिंसा का धीमा स्वर!

परिक्रमा भाग्य की
तीर्थों की-नियति जन की
सामूहिक स्वर्गारोहण वाया गंगासागर
-नियति जन की
गरलपान नीलकंठ का
-नियति जन की
—नेपथ्य में अहिंसा का धीमा स्वर!

रमण कुमार सिंह

ओल्डहोम में वृद्ध

मैथिली कवि रमण कुमार सिंह की रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : सी-208, पांडव नगर, दिल्ली-110092

अनु. पंकज पराशर का जन्म 1976 में हुआ। एक कविता-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : वरिष्ठ कॉपी संपादक, 'कादंबिनी', हिंदुस्तान टाइम्स हाउस, 18-20, कस्तूरबा गांधी मार्ग, नई दिल्ली-110001

जबकि सेवानिवृत्ति के उपरांत
वे रह सकते हैं अपने परिजनों के संग
ओल्डहोम में बैठकर एक वृद्ध
सोच रहा है
दुनिया की घृणा और प्रेम के प्रसंग

यह कोठरी है बोधिवृक्ष
जहाँ वह पाता है ज़िंदगी की निस्सारताओं का ज्ञान
हारे-थके सपने
नाचते रहते हैं उसकी वृद्ध आँखों में
उसे नींद नहीं आती

इस शहर के मकानों में रहनेवाले
नहीं समझ पाते उसकी अनिद्रा का कारण

काग़ज़ की नाव की तरह
आजकल उसका मन
डूबता-उतराता रहता है स्मृतियों की
क्षीणकाय धारा में
सुख-दुख, खोई-मिली कुचक्र, यंत्रणा, नाच-गान
सारी बातें याद आती रहती हैं उसे
जीवन के छोटे-छोटे खंडों में
कई रूप कई रंगों में
...और वह अधिकतर खोया रहता है

वह सोचता है प्रेम के बाबत
जो वह नहीं कर सका जीवन भर
वह सोचता है कर्तव्य के बाबत
जिसे पूरा करने के बाद भी मिली उसे उपेक्षा
वह सोचता है संगी-साथी, परिवार, नाते-रिश्ते
जहाँ से मिला उसे सिर्फ़ दुख
उसे होती है ग्लानि
ज़िंदगी में की गई ग़लतियों पर
कभी वह पूछता है ख़ुद से ही
आख़िर क्या है यह ज़िंदगी ?

हर क्षण आग के दरिया को पार करना
अथवा बचपन में पतंग लूटने का कौशल
या कि एक गीत जो कभी नहीं चढ़ सका लय पर
या कि एक नाटक जिसका पटाक्षेप होता है दुखांत
क्या है यह ज़िंदगी ?

किशोरावस्था का प्रेम या प्रौढ़ावस्था की कर्तव्यपरायणता
अथवा दीनता के रेगिस्तान में गर्म रेत पर चलना
या कि समृद्धि की रंगीनियों में
खो जाना है ज़िंदगी ?

गड्डमड्ड हो रही है सारी स्मृतियाँ
और वह हर वक़्त करता है
अपनी ही संतान के तीर से घायल
भीष्म की तरह आजकल

मौत की प्रतीक्षा
लेकिन मौत भी है अभी
उससे दूर
...बहुत दूर
अपने परिजनों की तरह!

शेफालिका वर्मा

सार्थकता

तुमसे अलग हो आज यह
अनुभूति हुई
साँस लेना ही ज़िंदगी नहीं
किंतु
जीवन को सार्थक बनाना, महती उद्देश्य
होनी चाहिए
सार्थक?
कैसे बनाऊँ-प्रश्न छटपटाता रहा
बेचैन-सा
पछवा पुरवा में लहराते पेड़ों की
शाखों से पत्तों की
लयात्मक गति से झर-झर गिरने से
बेला गुलाब की सुरभि से
तुम्हारा संदेशा आ रहा था—

सार्थकता उद्देश्य नहीं
जीवन की एक प्रक्रिया है
अपनों का साथ
एक-दूसरे के सुख-दुख में साँस लेना
एक-दूसरे के आँसू-पोंछने में ही जीने की
सार्थकता है
अपने लिए तो सभी जीते हैं पर तुम जीओ
उस सूरज की तरह
जो कभी अस्त नहीं होता
धरती के इस छोर से उस छोर तक
परिक्रमा करता रहता है
सबों को रोशनी बाँटता है

मैथिली रचनाकार शेफालिका वर्मा का जन्म 1943 में हुआ। कई पुरस्कारों से सम्मानित हैं। संपर्क : 103, 105-ए, शेफाली ...न होम्स, अभिषेक अपार्टमेंट्स, मयूरपथ, खाजपुरा, बेली रोड, पटना-14, मो. : 3102155
अनु. स्वयं

सबों को चैन देने में
उसका जीवन
सार्थक हो जाता है
बादल लगते हैं
कुहासा उसे ओट कर देता है
किंतु,
वह कभी डगमगाता नहीं
अपने कर्तव्य में
अपने को सार्थक करने में, सबों के जीवन को
वह अडिग अटल है। प्रतिपल-प्रतिक्षण

प्रसंग चाहे जो हो

संबंधों की सीमा में स्नेह नहीं
स्वार्थ बसते हैं
मानवों के देश में राम नहीं रावण
घूमते हैं।
स्वार्थ पर जोड़े संबंधों की दीवार के
प्लास्टर झड़ जाते हैं
विश्वास का कच्चा रंग
वक़्त की धूप में उड़ जाता है।
रंगहीन गंधहीन
निर्जीव
रिश्तों की लाश को क्रॉस की तरह
अपने कंधों पर उठाना
अनुचित में
अपने उचित को मारना
यह परिभाषा भी रिश्ते-नातों की ख़ूब रही।

नाम कोई लाख रख ले
राम-सा राजा
लक्ष्मण-सा भ्राता
सुग्रीव-सा दोस्त
न हुआ है न होगा
हाँ

सीता ने मौन मूक
अग्नि परीक्षा में जलने की परंपरा को
जन्म दिया
और इसीलिए
सीता आज भी जल रही है
प्रसंग चाहे जो हो...

रमानंद रेणु

बाढ़-1

प्रलय के घनघोर लग्न में
अशांत लोगों की ऊर्जा चूक गई है

अन्न रहते हुए भी लोग आज भूखे हैं
अजस्र जल राशि है
फिर भी पूरी आबादी प्यासी है
और निरभ्र आकाश में
आज किसी पंछी के निरंतर
उड़ते रहने पर अंकुश लग गया है

शून्य हो चुके समय की मार से
असहाय जीव-जंतुओं की करुण चीत्कार-ध्वनि
चारों दिशाओं से सुनाई पड़ रही है
विवशता में जकड़ चुका मन
आज साधन विहीन है
आँखों के सामने उठते अनवरत ज्वार से
पराभूत हो चुकी धरती
सुदूर नैराश्य के आक्रोश को सहेजती
अनुस्वार पाल रही है
क्षोभ से आर्त हृदय आज दरिद्र हैं

किसने बुना है ऐसा भयावह भ्रमजाल?
किसने लगाया है पीड़ा का विशाल बरगद?
किसने सींचा है विश्व की तिक्तता का रसायन ?
यहाँ तो सभी लोग त्रस्त हैं, भ्रष्ट हैं

देखें, हाय—पलक में दुनिया बदल गई है।

रमानंद रेणु का जन्म 1934 में हुआ। उपन्यास, कहानी-संग्रह, कविता-संग्रह, संपादित आदि कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। साहित्य अकादेमी तथा अन्य कई संस्थाओं से पुरस्कृत हैं। संपर्क : मिथिलांचल प्रकाशन, राय साहब पोखर, पो. लहेरियासराय, दरभंगा-846001 (बिहार)

अनु. स्वयं

बाढ़-2

आज की घटना आश्चर्यजनक है
दृष्टिपथ पर चारों ओर लहर रहा है समुद्र
ऊब-डूब कर रहे हैं सभी जीव
डूबता जा रहा है घर आँगन खेत और खलिहान
पानी पर तैरते रहे हैं
कितने गाँव, शहर, लोग और जानवर
सभी किसी आश्रय की तलाश में हैं बेहाल

एक साथ ही डूबता जा रहा है विश्वास
लोगों की जात धर्म और संप्रदाय
उनकी तो जात है सिर्फ़ जिजीविषा

कितने ही लोग छाती भर पानी में खड़े विवश हैं
कितने ही लोग राहत सामग्री की प्रतीक्षा कर रहे हैं
कितने ही लोग अपने भंडार को ख़ाली करा बैठे हैं
कितने ही लोग पेट में रस्सी बाँधकर किसी ऊँचे टीले पर
अपने को छिपा चुके हैं लज्जावश

असमय मरते हैं कितने लोग
असमय में कितने पुल सड़क बाँध नहर ध्वस्त हो चुके हैं
और कितने लोग मटियाली पानी को अपना जीवन सौंप चुके हैं
बाढ़ पहले भी आती थी लेकिन इस तरह नहीं
लोग पहले भी मरते थे लेकिन इस तरह नहीं
आकाश में मँडराते थे वायुयान लेकिन इस तरह नहीं
लोग कभी ईमानदार और बेईमान होते थे लेकिन इस तरह नहीं

इस विनाशलीला की कहानी अनंत है
लोगों की त्रासद स्थिति की कहानी अनंत है
सत्ता की नीति गत सुरक्षा की कहानी अनंत है
और एकाकार हो चुकी भावना की कहानी अनंत है

आज की इस वज्राघात सदृश वेदना
मन को बेतरतीब कर दी है
सभी कुछ देखकर भी चुप हैं हमलोग
कान बहरे हैं और कर्म निरुपाय है।
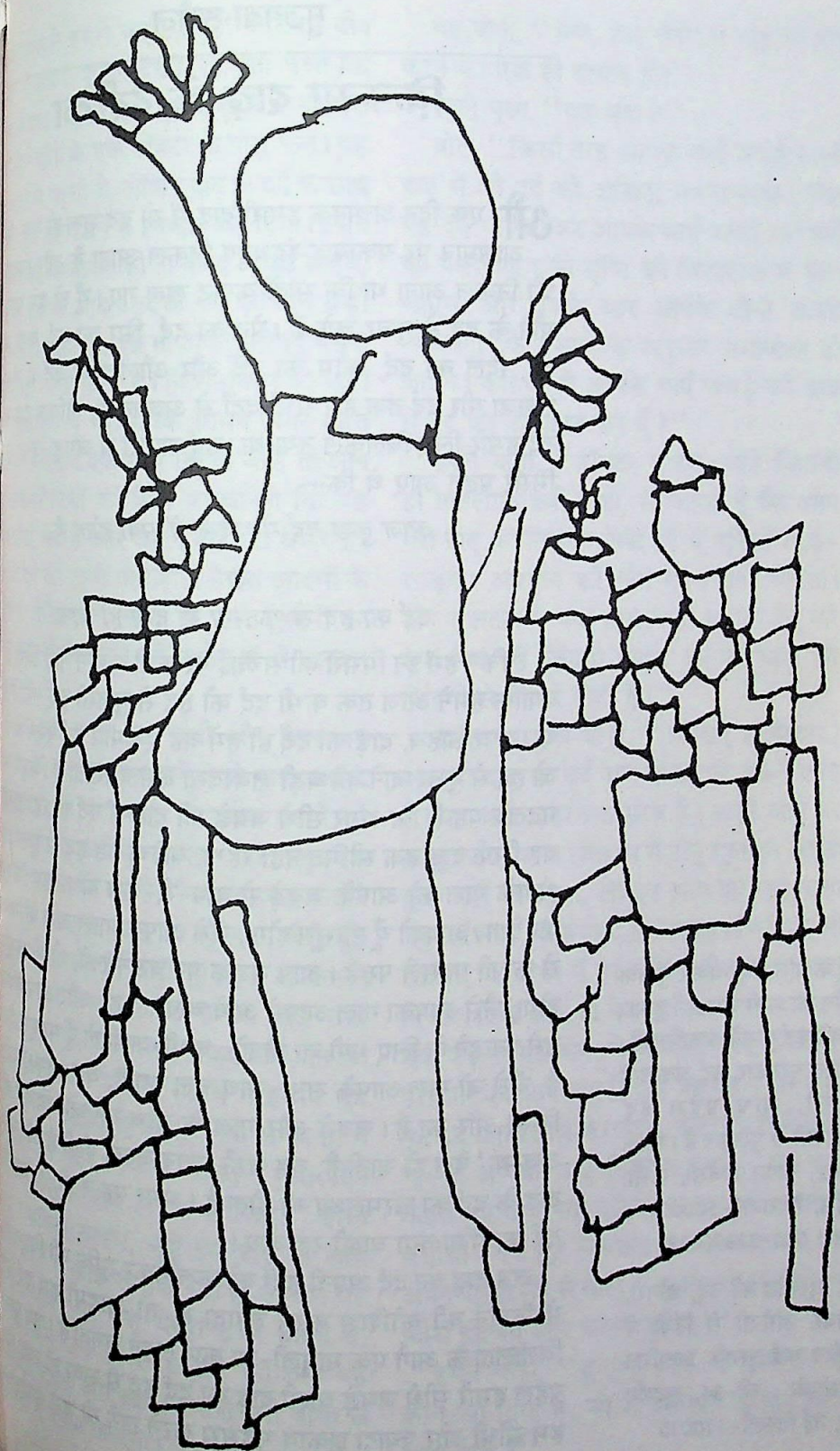
मुज्तबा हुसैन

क़िस्सा दाढ़ के दर्द का

और एक दिन अचानक हमारी दाढ़ में यों दर्द शुरू हो गया, जैसे आसमान पर यकायक इंद्रधनुष निकल आता है और इंद्रधनुष का निकल आना था कि सातों कपाट खुल गए। यूँ तो हम खाने-पीने के दर्द से गुज़र चुके हैं। पेट का दर्द, सिर का दर्द, कमर का दर्द, दिल का दर्द, कौम का दर्द और औलाद के दर्द से लेकर ख्वाजा मीर दर्द तक हम सभी दर्दों से अवगत थे, लेकिन दाढ़ का दर्द हमारे लिए बिलकुल नया था। उर्दू शायरी में जगह-जगह ऐसे मिसरे पढ़ते आए थे कि—

आज कुछ दर्द मेरे दिल में सवा होता है...

या

दर्द का हद से गुज़रना है, दवा हो जाना

लेकिन हमें इन मिसरों की सच्चाई पर कभी यक़ीन नहीं आया था, क्योंकि हमने आज तक कभी दर्द को हद से गुज़रते हुए नहीं देखा था। मगर साहब, दाढ़ का दर्द ही हमें वह एकमात्र दर्द नज़र आया, जो हद से गुज़र जाने की बड़ी ज़बरदस्त क्षमता रखता है। कहने का मतलब यह है कि अगर सीधे जबड़े की दाढ़ में दर्द हो रहा हो, तो वह सिर्फ़ दाढ़ तक सीमित नहीं रहेगा, बल्कि यह हद से गुज़र कर आपके गाल को आपके जबड़े से कम-से-कम पाँच-छह इंच दूर कर देगा। आपको यूँ महसूस होगा, जैसे आपका गाल आप के जिस्म से काफ़ी फ़ासले पर है। आप सड़क पर चलने लगें, तो यूँ महसूस होगा, जैसे आपका गाल आपसे आगे चल रहा हो, और आप केवल उसे पकड़ने के लिए भागे जा रहे हों...कभी-कभी तो यूँ महसूस होता है, जैसे जो गाल आपके साथ-साथ चल रहा है, वह आपका नहीं, किसी और का है। जबड़े और गाल के बीच यह जो 'वियोग की अवस्था' पैदा हो जाती है, वह बड़ी यातनाजनक होती है और यही दाढ़ के दर्द का चरमलक्ष्य भी होता है। अगर यह न हो, तो दाढ़ के दर्द का मज़ा क्या बाक़ी रह जाए!

जब दाढ़ का दर्द अपनी हदों को फलाँगकर सृष्टि की विशालता में फैलने की कोशिश करने लगता है, तो आदमी इस दर्द की विशालता के आगे एक मामूली-सा कर्ण लगने लगता है। जब पहले पहल हमारे सीधे जबड़े वाली दाढ़ का दर्द हद से सवा हो गया और हम सीधी ओर ज़्यादा झुकाव महसूस करने लगे तो उस असंतुलन

उर्दू के प्रसिद्ध व्यंग्यकार मुज्तबा हुसैन का जन्म 1936 में हुआ। इनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। ग़ालिब पुरस्कार, उर्दू अकादमी दिल्ली, आंध्र प्रदेश उर्दू अकादमी से पुरस्कृत हैं। संपर्क : 502, माफेर रिजेंसी, ए.सी. गार्ड्स, हैदराबाद-500004 फ़ोन : 040-23396633

अनु. सुरजीत की उर्दू, डोगरी, पंजाबी, अंग्रेज़ी से हिंदी में अनूदित कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। संपर्क : सी-34, सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली-110015

एहसास ने हममें बड़ी बेचैनी पैदा कर दी। ...ने में अपनी शक्ल देखी, तो पता चला कि ...में हमारी जगह एक भूत खड़ा है। हम घबरा ...फ़ौरन दाँतों के एक डॉक्टर के पास भागे। वह ...पहले से जानते थे, लेकिन दाढ़ के दर्द के साथ ...ने हमें पहचानने से इनकार कर दिया। हमने ...बात की शिकायत की तो बोले, "भाई साहब, ...ढ़ के दर्द के बाद आदमी की पहचान बड़ी ...किल हो जाती है। मुझे तो अपने सारे ही मरीज़ ...हमशक्ल' नज़र आते हैं। किस-किस को कहाँ ...क पहचानूँ? यूँ भी आपके सामने अगर बहुत ...सी डबलरोटियाँ एक साथ रख दी जाएँ, तो आप ...न डबलरोटियों को कैसे पहचानेंगे कि यह ...डबलरोटी ज़ेद है और वह डबलरोटी बकर है। ...ढ़ के दर्द की ख़ूबी यही होती है कि आदमी के ...हरे को देखिए, तो लगता है, जैसे आदमी का ...हरा डबलरोटी बनाने की मशीन में से ढलकर ...कला है!"

डॉक्टर साहब की इस लंबी और दिलचस्प ...बातचीत के बाद हमने अपने आने का मकसद ...बताना चाहा, तो वह बोले, "मतलब बताने की ...ज़रूरत नहीं है, क्योंकि आपका गाल ख़ुद इस ...बात की चुग़ली कर रहा है," यह कहकर उन्होंने ...हमारा मुँह खोलना चाहा, तो यूँ लगा, जैसे मुँह ...पर ताला लग गया है, बड़ी मुश्किल से उन्होंने ...कुछ ऐसा कोण बनाया कि हमारी दाढ़ उन्हें ...नज़र आ गई, जो हमारे सारे वजूद के ध्यान का ...केंद्र बनी हुई थी। डॉक्टर साहब ने हमारा मुँह ...ज़ोर से बंद करते हुए कहा, "इस समय तो मैं ...इस दाढ़ को नहीं निकाल सकता। कुछ दिन ...और इस दाढ़ के साथ निबाह कीजिए!" हमने ...कहा, "डॉक्टर साहब, मुझे इस दाढ़ के साथ ...निबाह करने में कोई एतराज़ नहीं है, लेकिन यह ...जो मेरी गरदन पर डेढ़ चेहरा उभर आया है, ...कम-से-कम उसे तो ठीक कर दीजिए। यह ...असंतुलन मुझसे और ख़ास तौर से मेरी बीवी से ...बिलकुल न देखा जाएगा।"

वह बोले, "भैया, डेढ़ चेहरे में संतुलन पैदा करने का एक ही इलाज है।"

हमने पूछा, "वह क्या?"

बोले, "किसी तरह आपके बाएँ जबड़े वाली दाढ़ में भी दर्द को दाख़िल करना होगा। फिर यह दर्द भी फैलकर आपके बाएँ जबड़े की हदों को फलाँगता हुआ सृष्टि की विशालता में फैल जाएगा और उसके बाद आपके दोनों जबड़े 'ज्योमेट्री' के उसूलों के अनुसार समानांतर हो जाएँगे। कहिए, तो आपके बाएँ जबड़े की दाढ़ में दर्द का उद्घाटन कर दूँ?"

हमने कहा, "डॉक्टर साहब, चाहे कितनी ही तकलीफ़ क्यों न हो, मैं चाहता हूँ कि आप मेरी दाढ़ को निकाल फेंकें। मैं यूँ एड़ियाँ रगड़-रगड़कर अपमान की मौत मरना नहीं चाहता। टीपू सुलतान ने क्या ख़ूब कहा था कि शेर की एक दिन की ज़िंदगी गीदड़ की सौ साल की ज़िंदगी से बेहतर होती है!"

डॉक्टर साहब बोले, "श्रीमान् ख़बरदार! आपकी दाढ़ का दर्द अब फ़लसफ़ा बकने लगा है। यह बड़ी ख़तरनाक स्टेज है। अपने आप पर क़ाबू पाइए, वरना इतिहास में टीपू सुलतान का तो कुछ नहीं बिगड़ेगा, लेकिन आप का रहा-सहा 'जुगराफिया' भी बरबाद हो जाएगा। फिर यह भी सोचिए कि अगर मैं हर मरीज़ की दाढ़ तत्काल निकाल दिया करूँ, तो मेरा कारोबार कैसे चलेगा? एक दाढ़ पर मुझे कम-से-कम सौ रुपए तो मिलने ही चाहिए। आप अपनी दाढ़ का पहले सौ रुपए की हद तक इलाज करवाइए, उसके बाद मैं बिना चूँ-चाँ आपकी दाढ़ निकाल दूँगा।" यह बातें कहते हुए अचानक डॉक्टर साहब की बनावटी बत्तीसी उनके मुँह से बाहर निकल आई और वह अपने पोपले मुँह से बोले, "अब आप मशविरे की फ़ीस दीजिए और चलते बनिए!"

हमने कहा, "हुज़ूर! आप ने मशविरा ही कौन-सा दिया है, जो मैं आपको उसकी फ़ीस अदा करूँ?"

वह बोले, "मैंने तो तुम्हें एक सुनहरी मशविरा दिया है कि दाढ़ के दर्द को फ़लसफ़ा से दूर रखो वरना आदमी बाक़ी न रहोगे, फ़लसफ़ी हो जाओगे!"

हम गुस्से के मारे डॉक्टर साहब के क्लीनिक से बाहर निकल आए। कुछ क़दम चल पाए थे उस दाढ़ में अचानक बिजली-सी कौंध गई। विद्युत की एक तरंग थी जो दाढ़ से निकलकर सारे शरीर में लहरा गई। एक बिजली थी, जो आँखों को चकाचौंध कर गई। यूँ लगा, जैसे हमारी दाढ़ में सहसा एक हिरण ने कुलाँचें भरनी शुरू कर दी हों, जैसे किसी ने हमारी दाढ़ में तोप दाग़ दी हो या एक ट्रेन चलते-चलते हमारी दाढ़ में पटरी से उतर गई हो, जैसे हमारी दाढ़ में अचानक फ़ौजी इंक़लाब आया हो। अवस्थाओं की इतनी भीड़ थी कि हमारे लिए यह पता चलाना कठिन था कि हमारी दाढ़ में क्या हो रहा है, और क्या नहीं? यूँ लगता है, जैसे हम सिर से पैर तक दाढ़ बन गए हों।

हम दर्द के इस अचानक हमले से सँभलने के लिए एक इलेक्ट्रिक-पोल का सहारा लेकर खड़े हो गए और हमारी आँखों के सामने अँधेरा छाने लगा। यूँ लगा, जैसे सारी सृष्टि एक बड़ी दाढ़ है। दाढ़ ही सृष्टि है। दाढ़ के सिवा इस दुनिया में कुछ भी नहीं। हर वस्तु दाढ़ से शुरू होती है, और दाढ़ पर ख़त्म हो जाती है। दुनिया के वजूद से पहले भी दाढ़ थी और हस्ती से परे भी दाढ़ है। आरंभ दाढ़ है। अकस्मात् हमें यूँ महसूस हुआ, जैसे सूरज हमारे मुँह में आ गया हो और हम उसे चबा-चबाकर खा रहे हों। जी चाहता था कि सूरज को चबाकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाएँ। फिर सूरज के उन टुकड़ों को लोगों में बाँट दें कि भई, अपने-अपने घरों में उजाला करो। हर व्यक्ति का अपना सूरज अलग होना चाहिए। हर व्यक्ति की सुबह अलग होनी चाहिए। इतनी बड़ी सृष्टि को उस सूरज के अधीन कर देना मुनासिब नहीं है। आओ कि हम सब मिलकर सूरज को बाँट लें और उसके टुकड़ों को अपनी-अपनी जेबों में रख लें, ताकि सनद रहे और ज़रूरत के वक़्त काम आए।

दाढ़ के दर्द की ख़ूबी यह होती है कि यह दर्द क़िस्तों में होता है, अर्थात् दर्द की एक लहर जाती है और फिर दूसरी आती है। जब दर्द की पहली लहर जा चुकी, तो हम पर यह महान रहस्योद्घाटन हुआ कि दर्द की हर लहर के साथ हममें 'आधुनिक शायर' बनने की ज़बरदस्त क्षमताएँ पैदा हो रही हैं। ऐसे अवतारों जैसे रहस्योद्घाटन केवल दाढ़ के दर्द में ही संभव हैं। अचानक हम पर यह राज़ खुला कि 'आधुनिक शायरी' असल में 'दाढ़ के दर्द की शायरी' है, जिसमें आदमी की सारी पीड़ा सिमट आती है और वह सूरज को चबाकर खा जाने की मंजिल में पहुँच जाता है। हम अब तक हैरान थे कि हमारे अकसर आधुनिक शायर ऐसे कष्टदायक और यातनाजनक ख़यालों को आख़िर किस प्रकार इतनी आसानी और प्रवाह से अपनी शायरी में पेश कर देते हैं। अब दाढ़ के दर्द से वास्ता पड़ा, तो अहसास हुआ कि यह तो बड़ी आसान-सी बात है। आधुनिक शायर बनना हो तो पहले अपनी दाढ़ में दर्द पैदा कीजिए और देखिए कि किस प्रकार : *आते हैं ग़ैब से ये मिज़ामीं ख़याल में...*

आप यक़ीन करें कि दर्द की पहली लहर के साथ ही हमने शायर बन जाने की ठान ली थी और सोचा था कि दूसरी लहर में डूबकर एक शाहकार कविता निकाल लाएँगे, लेकिन दर्द की पहली लहर और दूसरी लहर के बीच जो विराम आता है, वह आदमी को फिर ख़याल की ऊँचाइयों से पतन में ले आता है। हमने सोचा कि जब हमारे पास कोई उपनाम ही नहीं है, तो फिर कविता कहने से क्या लाभ?

ख़ैर, साहब हम इसी प्रकार दर्द की लहरों से गुज़रते हुए अपने घर पहुँच गए। न जाने क्या बात थी कि उस दिन घर का नक़्शा ही बदला हुआ था। जो बच्चा हमें देखते ही लिपट जाया करता था, वह हमें देखकर उलटे पाँव भाग गया। वह बीवी, जो

घर में क़दम रखते ही कोई-न-कोई मसला सामने रख देती थी, वह हमें देखकर रसोईघर में चली गई। हम घर की इस -बदली फ़िज़ा को भाँप न सके। जब बड़ी किसी ने हमारा हाल न पूछा, तो हमने से कहा, "इस घर में सबको साँप क्यों सूँघ है? आख़िर मामला क्या है?"

हमारे इस सवाल को सुनकर बीवी ने कहा, आपसे हमेशा यही शिकायत रही कि में अपने अफ़सर की गालियाँ सुनकर हैं और ग़ुस्सा हम लोगों पर निकालते हैं। तो आपके घर में दाख़िल होते ही समझ गई कि आज आपका 'मूड' अच्छा नहीं है। तो आप गाल फुलाए और मुँह बिसूरे घर में ख़िल हो रहे हैं। अब कोई आपका हाल पूछे, कैसे? आप तो ऐसी हालत में काट खाने को हैं। मैं समझती हूँ, कि आज आपके अफ़सर कुछ ज़्यादा ही डाँट पिलाई है। ज़रा देखिए तो का गाल कितना फूल गया है। इतनी डाँट आपने पहले कभी नहीं खाई थी!"

हमने दर्द से कराहते हुए कहा, "अरी बख़्त! तुझे सदा उलटी हुज्जत करने की आदत हुई है। मैं दाढ़ के दर्द की वजह से मरा जा हूँ और तुझे इसमें मेरे अफ़सर की डाँट नज़र रही है!"

हमारे इस रहस्योद्‌घाटन को सुनते ही ख़ानदान सारे सदस्यों की बाँछें खिल उठीं। बच्चे दौड़कर से लिपट गए और बोले, "अगर सचमुच की दाढ़ में दर्द है, तो हमें इस बात की बड़ी है, वरना हम तो यह समझते थे कि आज भी दफ़्तर से डाँट सुनकर आए हैं, और अब ही देर में हमारी पिटाई होने वाली है!"

दाढ़ के दर्द के बाद आदमी ख़्वामख़्वाह अभिमानी नज़र आने लगता है। सीधे जबड़े दाढ़ के दर्द के ज़माने में ही हमारे आधे केवल इसलिए हमसे किनारा कर गए थे हम शक्ल से उन्हें अभिमानी नज़र आने लगे जगह-जगह हमारे ग़रूर के चर्चे होने लगे कि साहब, इधर जब से दफ़्तर में उसे तरक़्क़ी मिली है, बस सदा मुँह फुलाए रहता है। किसी से सीधे मुँह बात नहीं करता, बल्कि यूँ कहिए कि टेलीग्राम की भाषा में बात करता है। सीधे जबड़े में इतना ग़रूर आ गया है कि यह सदा दो-तीन इंच फूला रहता है।

अब यह केवल संयोग था कि हमारी तरक़्क़ी और दाढ़ का दर्द दोनों एक साथ शुरू हुए थे, वरना कहाँ ग़रूर और कहाँ हम! बाद में जब बाएँ जबड़े वाली दाढ़ में भी दर्द शुरू हो गया, तो हमारे बाक़ी आधे दोस्तों ने भी हमसे किनारा कर लिया। न दाढ़ें रहीं, और न ही दोस्त! अब किसे-किसे समझाते फिरें कि भाई साहब, सारा क़ुसूर दाढ़ के दर्द का है। हम तो आरंभ से मासूम आदमी ठहरे, ज़िंदगी में एक ही बार हमने ग़रूर का प्रदर्शन किया था, जब हम अपनी शादी के मौक़े पर घोड़ी पर सवार होकर अपनी साबिका दुल्हन यानी मौजूदा बीवी के घर गए थे, और उस ग़रूर का जो नतीजा बरामद हुआ है, वह हमारे छह बच्चों की शक्ल में दुनिया पर प्रकट है। उस ग़रूर का कुफ़्र इस तरह टूटा है कि हमें ख़ुद 'ग़रूर' के मानी मालूम करने के लिए 'डिक्शनरी' देखने की ज़रूरत पेश आती है, मगर क्या करें कि उस दाढ़ के दर्द की वजह से हम दुनिया वालों में एक अभिमानी आदमी के रूप में काफ़ी ख्याति रखते हैं।

हमारे साथ एक और अत्याचार यह भी हुआ था, अर्थात् न केवल हम दाढ़ के दर्द में ग्रस्त थे, बल्कि क़ुदरत ने हमारे अफसर को भी यही वरदान बख़्शा था और आप तो जानते हैं कि दाढ़ का दर्द रखने वाले दो व्यक्ति किसी बात पर सहमत नहीं होते, क्योंकि दाढ़ के दर्द के बाद आदमी 'अंतर्मुखी' हो जाता है और अपनी जात की तनहाई में बंद होकर अपने सामर्थ्य के अनुसार दाढ़ के दर्द को स्वीकार करता है। नतीजे में 'प्रेषण की त्रासदी' पैदा हो जाती है। अकसर यूँ होता है कि हम कोई प्रस्ताव लिखकर उसके पास भेज देते और वह उसे रद्द कर देता। वह कोई ऑर्डर लिखकर हमारे पास भेजते और हम उसमें नई जटिलताएँ पैदा कर देते। 'प्रेषण की त्रासदी' इस नौबत तक पहुँच गई थी, जहाँ हम

दोनों में दफ़्तरी शिष्टाचार के विरुद्ध 'तू-तू मैं-मैं' आरंभ हो गई थी। यह ग़लतफ़हमी और भी बढ़ती, लेकिन एक दिन जो हम अफ़सर के कमरे में सहसा चले गए तो देखा कि वह अपना गाल पकड़े बैठा है। हमने पूछा, "क्या आपकी दाढ़ में कुछ हो रहा है?"

वह बोला, "हाँ, बहुत दर्द है!"

इस पर हमने अपना गाल पकड़ते हुए कहा, "इधर भी वही हाल है!"

तब हमने उसे समझाया कि असल में हम दोनों के मतभेदों का असल कारण हम दोनों की दाढ़ें हैं। हम दोनों की दाढ़ों में जब एक साथ दर्द होता है तो इसका अंजाम मतभेदों की शक्ल में प्रकट होता है। यह आसान बात हमारे अफ़सर की समझ में आ गई। यूँ भी उस समय तक उसकी अक्ल दाढ़ गिरने की मंज़िल में पहुँच गई थी।

बाद में हम दोनों ने एकमत होकर एक संधि कर ली। जब हम किसी फ़ाइल में कोई प्रस्ताव पेश करते, तो उस प्रस्ताव के नीचे हस्ताक्षर करने के बाद छोटे अक्षरों में 'दाढ़ का दर्द' भी लिख देते। वह फ़ाइल देखकर समझ जाता कि यह प्रस्ताव दाढ़ के दर्द के अंतराल में लिखा गया है। अगर वह इस प्रस्ताव को रद्द करता तो वह भी हस्ताक्षर करने के बाद नीचे छोटे अक्षरों में 'दाढ़ का दर्द' लिख देता। कुछ दिन बाद उसने यह तरीक़ा भी बना लिया था कि जब भी कोई फ़ाइल उसके सामने पेश होती तो वह उस पर लिख देता, 'दाढ़ के दर्द' के बाद पेश की जाए। इस प्रकार दफ़्तर में दो प्रकार की फ़ाइलें बन गई थीं, अर्थात् दाढ़ के दर्द से पहले की फ़ाइलें और दाढ़ के दर्द के बाद की फ़ाइलें।

फ़ाइलों की बात तो छोड़िए, हमने अपनी पूरी ज़िंदगी को इसी प्रकार दो हिस्सों में बाँट रखा है। एक ज़िंदगी वह, जो दाढ़ के दर्द से पहले थी, और दूसरी ज़िंदगी वह जो दाढ़ के दर्द के बाद पैदा हुई है। अब तो हमारी सारी दाढ़ें उखड़ चुकी हैं, मानो हम भी अब दाँतों के डॉक्टर बन गए हैं, बल्कि यूँ कहिए कि अब तो हमारी बनावटी बत्तीसी के दाँतों के उखड़ने की भी बारी आ गई है। बनावटी बत्तीसी के दाँत न टूटेंगे तो और क्या होगा, क्योंकि जब हम अपनी बनावटी बत्तीसी निकालकर सो जाते हैं, तो बच्चे उस बत्तीसी को खिलौने के तौर पर इस्तेमाल करते हैं। घंटों अपने डैडी के दाँतों से खेलते रहते हैं। हम पोपली शिकायत करते हैं तो बीवी कहती है, "ऐसी भी क्या जल्दी है, खाना तो दस बजे खाते हो। घंटा-डेढ़ घंटा अगर बच्चे आपकी बनावटी बत्तीसी से खेल लेते हैं, तो ऐसी कौन-सी मुसीबत आ जाती है। कभी तुम्हें इतनी तौफ़ीक़ तो नहीं होती कि बच्चों के लिए खिलौने ही ले आओ। अब बच्चों ने तुम्हारी बत्तीसी में से अपने लिए एक खिलौना ईजाद कर लिया है, तो उसमें नाराज़ होने की क्या बात है! यूँ भी तुम घर में सदा मुँह फुलाए रहते हो। हसरत रह गई कि बच्चे तुम्हारे होंठों पर ऐसी मुस्कुराहट देखें, जो दाँतों का दीदार करा दे। अब अगर बच्चे तुम्हारी मुस्कुराहट के बिना दाँत देखकर ख़ुश हो लेते हैं तो उन्हें ख़ुश हो लेने दो कि यह एक मुस्कान भी किसे मिलती है!"

और इधर जब से हमारे बचपन के दोस्त माँगे राम जी हमारे पड़ोसी बनकर आए हैं, हमारी बनावटी बत्तीसी बेघर हो गई। माँगे राम जी को जब भी कुछ खाने की ज़रूरत पेश आती है तो पुकारकर कहते हैं, "भैया, तुम्हारी बत्तीसी अगर ख़ाली हो, तो थोड़ी देर के लिए भेज देना। मैं मूँगफली खाकर और समाज के ख़िलाफ़ ज़रा दाँत पीसकर तुम्हारी बत्तीसी वापस कर दूँगा।" मांगे राम जी हमारे हमप्याला, हमनिवाला तो थे ही, अब हमदाँत भी हो गए हैं।

मगर साहब, कभी-कभी हमें उस ज़िंदगी की याद आती है, जो दाढ़ के दर्द से पहले थी। हमारी कैसी हँसमुख और तरो-ताज़ा ज़िंदगी थी। हमारे गाल कितने सुडौल थे। हमारा चेहरा कितना संतुलित था। न जाने हमारा वह चेहरा कहाँ खो गया। अब तो केवल चेहरे का मुखौटा अपनी गरदन पर उठाए फिरते हैं : *ख़ाक में क्या सूरतें होंगी कि पिन्हां (छिप) हो गईं।*

बीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य

वार्ड नंबर दो

वार्ड नंबर दो में मैं एक मरीज़ के रूप में भर्ती हुआ और उसी वार्ड में वह एक क़ैदी बनकर उसी दिन भर्ती हुआ।

दुनिया में बहुत-सी घटनाएँ घट जाती हैं, लेकिन ये दोनों घटनाएँ एक-दूसरे से जुड़ी हुई थीं। मुझे पेट की बहुत पुरानी बीमारी थी, डॉक्टर ने सदय होकर मेरे पेट की जाँच करने के लिए मुझे यहाँ भर्ती किया था। बदरपुर में मैं रेलवे की नौकरी करता था। मैं चौथी श्रेणी का कर्मचारी था, पगार से पेट नहीं भरता था। बहुत दिनों से पेट में भूत घुसा हुआ था। बीमारी के कारण रेलवे अस्पताल में एक वर्ष तक रहना पड़ा। मरीज़ बहुत थे, ज़्यादा पुराना होने पर मरीज़ के प्रति डॉक्टर की सहानुभूति कम हो जाती है। अंततः एक दिन अस्पताल छोड़ने का आदेश आ गया। अच्छा तो हुआ ही नहीं था। अगले दिन कमज़ोर शरीर और टूटा हुआ मन लेकर दफ़्तर की कुर्सी पर बैठा ही था कि साहब ने बुला लिया, बैठने के लिए कहा, सिगरेट का लंबा कस लेकर ऐस ट्रे में राख झाड़ते हुए कहा, ''डॉक्टर ने आपको नकारा घोषित कर दिया है।...आज से आपके लिए यहाँ कोई काम नहीं है।...'' साहब शरीफ़ आदमी था। उसने मुझे सांत्वना देते हुए बहुत कुछ कहा, जिसे मैं सुन नहीं पाया। जिस नौकरी के सहारे मैं अपनी पत्नी और दो बच्चों को पालता था, जब वही छूट गई तो मैं और मेरा मन कैसे स्थिर रह सकते थे? क्या सांत्वना से पेट भर जाता। मैं वहाँ से चला आया।

ख़बर सुनकर घर पर कृशकाय युवा पत्नी के शरीर से नारी सुलभ हँसी गुम हो गई। शाम का समय था। नवंबर महीने का चाँद आसमान में हँस रहा था। एक क्रूर हँसी। बिना कुछ बोले वह घर के भीतर चली गई, खाना बनाने के लिए। रेलवे से मिले क्वार्टर के बरामदे में बैठे-बैठे अपने भविष्य की कल्पना कर रहा था कि मुझे अपने अतीत की याद आ गई। कितना भयावह था मेरा अतीत।

लोगों को आज़ादी मिली, हमें मिला निर्वासन। जिस पूर्वी बंगाल में एक समय जली आज़ादी की मशाल से सारा देश रोशन हो उठा था, उसी पूर्वी बंगाल के लोग डर से शरणार्थी बन गए, मैंने शरण ली इस रेलवे कॉलोनी में। दूर के रिश्ते के एक मामा की कोशिश से मुझे किराने का काम मिला। आशा, आश्रय, भविष्य जैसे वापस लौट आए। नौकरी मिलने के अगले साल ही मामा ने

स्व. बीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य : (1928-1977) असमिया के विख्यात रचनाकार। ज्ञानपीठ, साहित्य अकादेमी तथा अन्य संस्थाओं से पुरस्कृत। रचनाओं के लिए संपर्क : श्रीमती विनीता भट्टाचार्य, खारगुली, नवग्रह मंदिर के पास, गुवाहाटी-781004 (असम)

अनु. किशोर कुमार जैन का जन्म 1959 में हुआ। असमिया-हिंदी में परस्पर अनुवाद प्रकाशित। संपर्क : महात्मा गांधी पथ, फ़ैंसी बाज़ार, गुवाहाटी-781001 (असम) मो. 9864063790

डिब्रूगढ़ के अमित सेन की लड़की बनिता के साथ मेरी शादी करा दी। बनिता एक समझदार लड़की थी, सुख-दुख समझती थी। इसीलिए मुझे कोई परेशानी नहीं हुई। जो पगार मिलती थी उसी से दिन गुज़रने लगे। कभी-कभी किसी चीज़ की कमी होने पर मैं हिम्मत हार बैठता था, लेकिन वह नहीं हारती थी। बनिता कहती, ''नसीब का लिखा कोई नहीं मिटा सकता। ठाकुर जो करेगा, करे।'' बनिता का ईश्वर के ऊपर जो विश्वास था उसी से मुझे दुख में भी जीने की प्रेरणा मिलती। आठ वर्ष व्यतीत हो गए। नौवें वर्ष में बरसात शुरू हुई, शुरू हुई पेचिश, भूख नहीं लगती और हल्का-हल्का बुखार होने लगा। बनिता के पिता को ख़बर भेजी, वे आए एक महीने बाद। बनिता ने उन्हें ख़बर भेजकर बुलवाया था। उन्होंने यूनियन के सचिव से बात करके अस्पताल में भर्ती कराया फिर ज़रूरी काम से वापस चले गए।

उसके बाद यह हालत हुई।

दुख से मन भीग उठा। लामडिंग से पैसेंजर ट्रेन आकर रुकी थी। अचानक थोड़ी देर के लिए मन संजीदा हो उठा। स्टेशन पर ट्रेन के रुकने के दृश्य ने मेरे मन में एक आशा जगा दी। ट्रेन के आने पर मैं हमेशा स्टेशन जाया करता था, टिकटें इकट्ठी करता था, हरेक रक़म के यात्रियों को आते-जाते देखा करता था। टिकटें जमा कराकर वापस लौट जाता था। इन ट्रेनों के आने से मेरा व्यक्तित्व मुखर हो उठता था। मैं महसूस करता था जैसे मैं भी इस दुनिया में एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हूँ, कहीं पर मेरी ज़रूरत है, जैसे इस दुनिया को चलाने में मैं मदद कर रहा हूँ। दुनिया भर के यात्री मुझे बिना टिकट दिए नहीं जा सकते थे। लेकिन आज...।

दुखी मन से मैं बरामदे से उतरकर रेलवे के प्लेटफ़ॉर्म पर चला गया। बत्तियाँ जल गई थीं। टिकट लेने वाली जगह पर दूसरा आदमी खड़ा था। मैंने उसे देखा, मेरी ही तरह वह टिकटें ले रहा था, एक-एक करके यात्रियों को जाने दे रहा था। मेरे न होने से भी काम बंद नहीं हुआ था। मेरी ज़गह किसी और ने ले ली थी। लेकिन मैं? मैं नकारा...।

अचानक किसी की आवाज़ सुनकर मैं चौंक गया।

''संग्राम बाबू?''

घूमकर देखा मोहन सइकिया था। मोहन को देखकर मेरा मन प्रफुल्लित हो उठा। मज़दूरों की मुसीबतों में काम आनेवाला अगर कोई दोस्त है तो वह है मोहन सइकिया। किसी की नौकरी छूट गई हो, किसी की नौकरी जा रही हो या किसी को काम चाहिए तो मोहन सारे काम कर दिया करता था। कितने ही लोगों को उसने छुट्टी में भी पगार दिलवाई थी और तबादले का मामला सुलझा दिया था। मैंने उसे पैसेंजर ट्रेन से उतरते हुए देखा।

किसी एक आशा से मेरा दिल प्रसन्न हो उठा था। ''अरे, मोहन बाबू हैं।'' नमस्कार करते हुए मैंने अगवानी की।

मोहन ने मेरे नमस्कार का जवाब देते हुए कहा, ''आपके ससुर से मुलाक़ात हुई थी।'' उसके बाद मेरे चेहरे की तरफ़ देखते हुआ पूछा, ''क्या ठीक हो गए हो?''

असहमति में गर्दन हिलाते हुए कहा, ''कहाँ ठीक हुआ हूँ? नकारा हो गया हूँ।''

''नकारा!'' मोहन समझदार था, नकारा का मतलब समझता था, पूछा, ''नौकरी तो है?''

''नौकरी कहाँ रहेगी? आज से छूट गई है।'' कहते-कहते मेरा मन पसीज उठा।

मोहन गंभीर हो गया। कुछ नहीं बोला। थोड़ी देर सोचने के बाद बोला, ''अच्छा, कल सवेरे मिलूँगा।'' मैंने आग्रहपूर्वक पूछा, ''घर पर आएँगे?''

मोहन ने हँसते हुए जवाब दिया, ''हाँ। घर आऊँगा। यूनियन के दफ़्तर में मेरा कुछ काम है।'' कहकर धीरे-धीरे प्लेटफ़ॉर्म के दूसरी तरफ़ चले गए। थोड़ी देर बाद चाँद की धीमी रोशनी में विलीन हो गए। तब तक ट्रेन भी चली गई।

...त्रियों की भीड़ भी नहीं थी। चारों तरफ़ सन्नाटा ... गया।

पेट ज़ोरों से मरोड़ खाने लगा। जल्दी से घर ...। शौचालय से निकलकर बरामदे में आकर ... गया। पेट में आग जल रही थी, दर्द से ...ह रहा था। बनिता पास आकर असहाय नज़रों ... देख रही थी। उसकी नज़रों में करुणा थी। ...त कसमसा गया। क्या होगा, मैं यदि ऐसे रहूँ ... मर जाऊँ। इस निर्दयी दुनिया में सिर छुपाने की जगह भी नहीं बनिता के पास। दोनों बेटे-बेटियों के साथ क्या कर लेगी वह? मन की बात छिपाते हुए एक मात्र उम्मीद की ख़बर उसे दी, "बनिता, कल सवेरे मोहन बाबू आएँगे।"

"मोहन बाबू!" उदासी के बीच भी बनिता के चेहरे पर आशा की किरण दिखाई दी।

मैंने कहा, "हाँ, मोहन बाबू। तुम खाना खा लो बनिता। मैं आज कुछ नहीं खाऊँगा। जाओ।"

"अरे! नहीं खाने से कैसे होगा। जब तक आप नहीं खाएँगे मैं कैसे खाऊँगी?" कहते हुए अपने बीमार पति की बातों पर ध्यान न देते हुए वह रसोई घर में चली गई।

सती-साध्वी बनिता की पति-निष्ठा गुण है या दोष, यह मेरी समझ के बाहर था। अपने नकारा पति को देवता की तरह समझना किसी भी तरह से तर्कसंगत नहीं था। लेकिन सुसंस्कारित नारी अपने संस्कार इतनी आसानी से नहीं छोड़ सकती।

एक बुरे सपने की तरह रात बीत गई। सवेरे उठकर हैंडपंप के पानी से नहा-धोकर बनिता की समेटकर रखी हुई धोती-क़मीज़ पहनकर बरामदे में बैठा मैं मोहन बाबू का इंतज़ार करने लगा। इस समय मोहन बाबू मुझे देवता की तरह लग रहे थे क्योंकि उनके कारण ही मेरे मन में आशा के दीप जल उठे थे। किसी व्यक्ति विशेष पर इस तरह भरोसा करना अच्छा है या बुरा मैं नहीं जानता था, लेकिन इस समय मेरी हालत यह नहीं थी कि किसी दर्शन के बारे में सोच सकूँ।

अंत में जब तक मोहन बाबू घर पहुँचे तब तक दस बज चुके थे। मोहन बाबू ने पाँच मिनट तक मेरी सारी बातें सुनी। सुनकर तुरंत बोले, "डिब्रूगढ़ चलो, यहाँ नहीं होगा और इलाज़ कराना होगा। मेडिकल कॉलेज में सीट लेनी पड़ेगी। उसके बाद ही कोई काम-वाम की बात करेंगे।"

बात दिल को छू गई। लेकिन बनिता के दिल को यह बात नहीं लगी। डिब्रूगढ़ जाने का मतलब हुआ उसके पिताजी के दुर्दशाग्रस्त परिवार के ऊपर बोझ पड़ना और घर की अशांति बढ़ाना। लेकिन और कोई उपाय नहीं था। बदरपुर में रहना भी संभव नहीं था। आज अगर ऊपरवाले की यही मर्जी हो तो क्या करें, जाना ही पड़ेगा।

मोहन ने बनिता की बातें ध्यान से सुनी, बोले, "चलो। वहाँ क्या हो सकता है देखा जाएगा। यहाँ तो उपाय नहीं है। आख़िर डॉक्टरों की बात है।"

डॉक्टर! अगर डॉक्टर नकारा लिख दे तो! फिर स्वयं विधाता भी उसे नहीं बदल सकता। बहुत सोचने के बाद हम लोगों ने डिब्रूगढ़ जाने का फ़ैसला कर लिया।

मोहन बाबू ने अपनी बात का अक्षरशः पालन किया। अस्पताल ले जाकर अपने डॉक्टर दोस्त की मदद से मुझे दो नंबर वार्ड में भर्ती करवा दिया। आज सुबह 9 बजे भर्ती हुआ था। बनिता को अपने ससुर के घर पर छोड़ दिया था।

शाम हो गई। मरीज़ों को देखने का समय हो गया। अभी-अभी ससुर ने आकर ख़बर दी कि मोहन बाबू को पुलिस ने गिरफ़्तार कर लिया है। ससुर जेल में उनसे मिलने गया था। अभी ठीक है।

ज़ोर देकर पूछने पर ससुर ने बताया, "पत्ते के रेट को लेकर चिकाटिंग बागान में हड़ताल हुई थी। उसी सिलसिले में मोहन बाबू को फ़ौजदारी क़ानून की धारा के अनुसार..."

और ज़्यादा जानने की ज़रूरत नहीं हुई। वह एक अलग ही अस्पताल था जहाँ हम मज़दूर लोग मरीज़ थे और मोहन बाबू उसके डॉक्टर थे। वह एक अर्थनैतिक बीमारी थी, जिससे बचने के लिए हमलोगों को मानसिक तौर पर इलाज कराना होता

था। मज़दूरों में ग़ुलामी का डर दूर करने की दवाई होती थी जेलवास। दुनिया में हमारे लिए सौ बंधन थे, उन बंधनों से मुक्ति पाने के लिए एक ही परंपरा थी हँसते हुए शरीर को कष्ट देना और खुले मन से जेल की सज़ा भोगना। इस परंपरा का ईज़ाद सबसे पहले पूर्वी बंग के स्वाधीनता सेनानियों ने किया था। आज इस परंपरा को समाज के हर क़ैदियों को अपनाना होगा।

मेरे पास बैठे हुए ससुर ने मुझसे इधर-उधर की बातें पूछी। एक पड़ोसी मरीज़ नर्स के दिए दूध को पीकर चिल्लाने लगा, "यह दूध नहीं है, केवल पानी है।"

नर्स हँसती हुई मेरी ओर देखते हुए बोली, "वह दूध को भी पानी कह रहा है।"

मरीज़ चिल्लाया, "दूध, पानी!" नर्स को ग़ुस्सा आ गया, "हमें जो मिलेगा वही तो दे सकते हैं!"

इस बार रोगी मान गया।

नर्स फिर कहने लगी, "कुछ रोगी तो केवल शिकायत करने के लिए ही आते हैं—शिकायत, शिकायत!"

इतने में डॉक्टर बरुवा, जिनके ज़रिए मैं इस अस्पताल में भर्ती हुआ था, पास आए, "क्या हुआ सिस्टर?"

नर्स ने हँसते हुए जवाब दिया, "सर, मरीज़ दूध को पानी बता रहा है।"

डॉक्टर ने मरीज़ से पूछा, "आपको क्या हुआ है?"

मरीज़ कुछ नहीं बोला।

उसके बाद बात दब गई। डॉक्टर ने स्टेथोस्कोप गले में डाला और मरीज़ का निरीक्षण करने लगा। नर्स ने उसके सीने पर से कपड़ा उठा दिया था। मैंने देखा वह एक नर-कंकाल था। केवल हड्डियाँ ही हड्डियाँ। मांस भी हड्डियों के भीतर घुस गया। नहीं, मांस के नाम पर केवल सिकुड़ा हुआ चमड़ा था। त्वचा का रंग काला पड़ गया था और वह त्वचा ही मेरे अँधेरे जीवन की यादगार थी। मेरा हृदय काँप उठा।

डॉक्टर बरुवा ने सीना, पेट आदि को जाँचकर पूरे शरीर को कपड़े से ढँकने के लिए कहा। उसके बाद नर्स से पूछा, "शौच की जाँच में क्या मिला?"

नर्स ने जवाब दिया, "जियारडिया, हुकवर्म, एमिबियेसिस।", "हूँ!" कहते हुए डॉक्टर रुका।

"क्या खा रहा है?" उसने फिर से पूछा।

"कुछ नहीं खा सकता। दूध में पानी मिला रहता है। भात में पत्थर, ग्लूकोज़ में ज़हर मिलता है।"

"हूँ!" डॉक्टर बरुवा फिर चुप हो गए।

मरीज़ डॉक्टर की तरफ़ अचरज भरी नज़रों से आतंकित होकर देखने लगा। ससुर ने मेरे चेहरे की तरफ़ देखते हुए चुपचाप इशारा किया। क्षणभर के लिए अस्पताल में मरीज़ों का शोर कम हो गया। मुझे यह सन्नाटा मरघट में छाए वीराना जैसा लगा।

डॉक्टर ने फिर पूछा, "क्या ग्लूकोज़ के इंजेक्शन दिए जा चुके हैं?"

"अब तक छह इंजेक्शन दिए जा चुके हैं।"

"हूँ! किसी का भी निशान नहीं है।" डॉक्टर बरुवा के मुँह पर करुणा भरी व्यंग्य की हँसी फूट पड़ी। शायद मरीज़ के ज़िंदा रहने के कोई लक्षण नहीं हैं।

इतने में कुछ छात्र-छात्राओं का दल इस तरफ़ आया। छात्र-छात्राओं को देखकर डॉक्टर ने बताया, "इस केस को देखने के लिए तुमलोगों को बुलवाया है। कोई भी दवा इसे ठीक नहीं कर सकती। इस केस का इतिहास तुमलोग जानते हो। एक सप्ताह पहले आउटडोर बिल्डिंग के पास पड़ा हुआ था। भिखारी है। खाना न मिलने के कारण शरीर के सारे कलपुर्जे बेकार हो चुके। इसके शरीर में मनुष्य नाम की कोई चीज़ नहीं रह गई है। समाज की अवहेलना के कारण आज इसकी ऐसी हालत हो गई है कि शरीर में तिल मात्र भी ताक़त नहीं है। दवा और पथ्य का जो अतीत है वह या तो किसी योगी का है या किसी अकालग्रस्त भिखारी का।" इतना कहकर डॉक्टर

बरुवा बेवजह हँस पड़ा, उसकी बातों में झलका हल्का व्यंग्य मेरे दिल में प्रतिध्वनि की तरह बजने लगा। क्षणभर रुकने के बाद डॉक्टर बरुवा ने अपनी बात फिर शुरू की, ''तुम लोगों को बहुत दिनों से कहता आया हूँ कि दवा और पथ्य अर्थात् आरोग्य प्रधान चिकित्सा से ही देश के स्वास्थ्य की रक्षा नहीं की जा सकती। इसके लिए ज़रूरी है प्रतिरोधक इलाज की। अन्यथा वह मनुष्य की तरह ज़िंदा नहीं रह सकता। इस तरह के केस ही समाज में ज़्यादा पाए जाते हैं।'' कहते-कहते डॉक्टर की आँखों में एक ऐसे दूरंदेशी सपने की रोशनी दिखाई दी जिसमें मुझे एक कठोर सच के अहसास की चमक दिखाई दी। यह सच्चाई थी आरोग्य प्रधान चिकित्सा के ऊपर की सच्चाई—आदमी को आदमी की तरह रखने के लिए, चिकित्सा योग्य बनाने के लिए की गई व्यवस्था की बात उसमें झलक रही थी।

क्षण भर चुप रहने के बाद डॉक्टर ने कृपा भरी नज़रों से नर्स की ओर देखते हुए कहा, ''मेरे पास कोई उपाय नहीं है—चिकित्सा-शास्त्र बेकार हो गया। समाज ही अगर मनुष्य को चिकित्सा योग्य नहीं रख पाया तो डॉक्टर और दवा से वह कितने दिन ज़िंदा रह पाएगा? और कोई उपाय नहीं है। सिस्टर, उसे भेज दो।''

''भेज दो।''

बेवजह व्यथित होकर मैं चिल्ला पड़ा, ''वह कहाँ जाएगा डॉक्टर! मैं नहीं पहचानता यह दुनिया कैसी है। जो नकारा है, जिसमें ताक़त नहीं है, उसके लिए इस दुनिया में कहीं जगह नहीं है।''

डॉक्टर मेरी तरफ़ रुक गया। पता नहीं क्यों लड़कों ने भी कुछ नहीं कहा।

मेरी बात सुनकर मरीज़ भी अचानक बोल पड़ा, ''मैं नहीं जाऊँगा।''

डॉक्टर ने कहा, ''जाना पड़ेगा। मैं बेड ऐसे नहीं छोड़ सकता सिस्टर।'' कहकर डॉक्टर ने धीरे-धीरे मेरी तरफ़ टेढ़ी नज़रों से देखा। लड़के भी उसके पीछे-पीछे चलने लगे—मूढ़, मूक, म्लान समाज के वे ज्ञानी लोग, जिनका ज्ञान मात्र बेड पर सुलाकर इलाज होने योग्य रोगियों तक ही सीमित है—वे भी अपने ज्ञान के क़ैदी हैं। उनकी चेतना में आदमी नहीं—दवा है, ऑपरेशन के यंत्र और ज्ञान के यांत्रिक प्रयोग के सपने हैं।

दो नर्सों ने उसे पकड़कर धीरे-धीरे बेड से उतार दिया। वह विकट स्वर में चिल्लाते हुए फूट-फूटकर रोने लगा, हाथ जोड़कर नर्सों से अनुरोध करने लगा। लेकिन कोई उपाय नहीं था। इस अस्पताल में इतनी ताक़त नहीं थी कि उसे ठीक कर सके।

उसने जाते समय काँपते स्वर में कहा, ''मुझे भगा रहे हो। मुझे तो भगाओगे ही। अन्यथा तुमलोगों के फेंके हुए भात कौन खाएगा। क्या दुनिया में इतने कुत्ते हैं...''

दरवाज़े तक पहुँचते-पहुँचते हवा में सूखे हुए बाँस के टूटने की तरह अचानक वह नर्सों के हाथों से फिसल कर गिर पड़ा।

उसके बाद एक आर्त्तनाद सुनाई दिया। नर्स की आवाज़ सुनी—''फ़िनिश्ड''। ख़त्म हो गई उसकी ज़िंदगी।

लेकिन उसकी आत्मा भूत बनकर मेरे सीने को जकड़ने लगी। अभी-अभी भूखे मरने वाले इस भिखारी की मौत के लिए जैसे मैं ही दोषी था, मैंने ही जैसे उसे और उसके साथी नर-पशुओं को तिल-तिलकर मौत के मुँह में धकेल दिया हो। मुझे ऐसा महसूस हो रहा था जैसे मैंने ही अस्पताल से उसे मौत के मुँह में धकेल दिया हो—जैसे आज ही इसी क्षण कोई मुझे सज़ा सुनाना चाहता हो। लेकिन कौन?

मेरा सिर चकराने लगा। सिर चकराने के घुमाव में मैंने नरक का नज़ारा देखा। विशाल-विशाल अग्निशिखा लेकर दुनिया के सारे लोगों को क़ैद कर यमराज जैसे न्याय कर रहा हो। इस भिखारी की मौत का ज़िम्मेदार कौन है? कौन उसकी अकाल मृत्यु का हर्जाना भरेगा?

मौत की इस महानगरी में मैंने क़ैदियों को देखा। कौन हैं वे लोग? क्या वे लोग, जिन्होंने
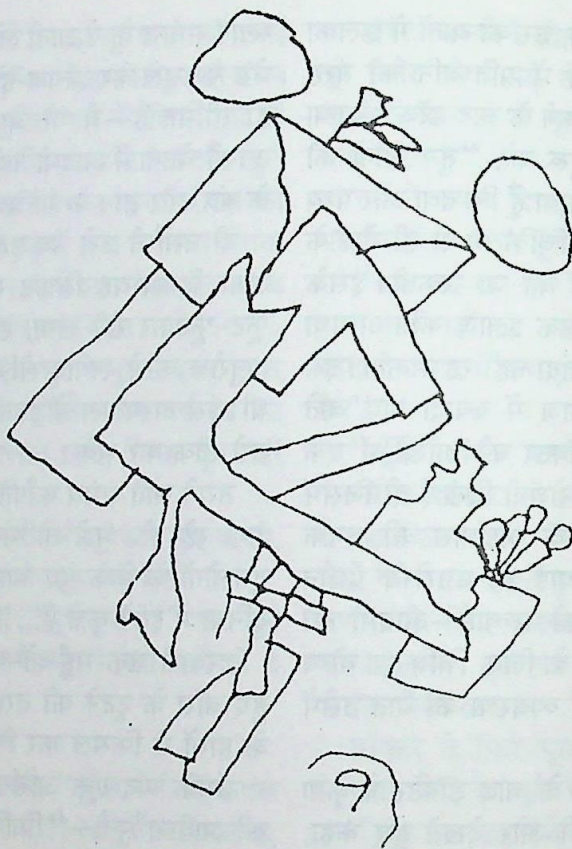
अपने घर के दरवाज़े पर भिक्षा न देकर भिखारी को खदेड़ दिया—उहूँ वे नहीं हैं। वे लोग नहीं थे। ये वो लोग थे जिन्हें मैं कभी भी इस मौत का ज़िम्मेदार मानने की बात नहीं सोच सकता था। मेरी धारणा में ये वे लोग थे जो कभी भी किसी का अपकार नहीं कर सकते थे।

जब मेरी नींद टूटी तब तक सवेरा हो चुका था। डॉक्टर बरुवा ने हँसते हुए मुझसे पूछा, "सेन, तुम कल क्या बक रहे थे?"

"क्या पता, मुझे तो पता नहीं। क्या?"

"आप दुनिया के सुखी लोगों को भिखारी की मौत का दोषी साबित कर रहे थे।"

मुझे याद आया। लेकिन कुछ बोल नहीं पाया।

"आप अधैर्य हो गए थे।"

मैंने अनजान बनते हुए पूछा, "डॉक्टर, भिखारी की मौत के ज़िम्मेदार कौन थे?"

"समाज।" जम्हाई लेते हुए डॉक्टर कुछ देर तक चुप रहा। थोड़ी देर बाद फिर बोला, "नहीं, सामाजिक व्यवस्था। जिस सामाजिक व्यवस्था में काम करने वालों को खाना नहीं मिलता, लेकिन काम नहीं करने वालों को मिलता है।"

"लेकिन भिखारी तो काम नहीं करता था।"

डॉक्टर ने फिर हँसते हुए कहा, "वह काम न करने वाले दल से था। लेकिन मैं जिस सामाजिक व्यवस्था की बात कर रहा हूँ वहाँ काम करने वाले लोगों को भी नकारा कहा गया है।"

"नकारा!"

"अँ-हाँ, दुख, भूख, दरिद्रता उन्हें नकारा बना देती है।"

मुझे अचरज हुआ, डॉक्टर को मेरे जीवन के बारे में कैसे पता चला। मैंने उल्लास से पूछा, "ठीक कह रहे हो डॉक्टर। लेकिन मेरी बात का पता आपको कैसे लगा?"

"आपकी बात!" डॉक्टर को अचरज हुआ।

"हाँ, मुझे भी उन लोगों ने नकारा बताकर खदेड़ दिया है।"

इस बार मौक़ा पाकर मैंने डॉक्टर को अपने मन की बात खुलकर बताई। डॉक्टर ने ध्यान से मेरी बातें सुनी और कहा, "अच्छा तो यह बात है। आप ठीक हो जाइए। मैं आपको कर्मठता का प्रमाण-पत्र दूँगा। मोहन सइकिया को मुझसे मिलने के लिए कहना।"

"मोहन बाबू तो जेल में हैं।"

"जेल में!"

मैंने गौरवांवित होकर संक्षेप में मोहन के जेल जाने की कहानी सुनाई।

डॉक्टर कुछ नहीं बोला, फिर धीरे-से बोला, "मोहन एक अच्छे डॉक्टर का काम कर रहा है।"

"डॉक्टर का काम?"

"हाँ। मुझे हार्जन की कही हुई बात याद आ रही है—वी आर नॉट द डॉक्टर्स, वी आर द डिज़ीज। आप, मैं,, भिखारी और इस दुनिया के सारे लोग रोगी हैं, हमारे रोग को ठीक करने के लिए समाज को बदलना होगा। और मोहन वही काम कर रहा है।"

"आप मोहन बाबू के काम को अच्छा बता रहे हैं—आप!"

इस बार डॉक्टर के मुँह पर हँसी नहीं थी, गंभीर होकर बोले, "मोहन मेरा दोस्त है, सेन। मैं उसे पहचानता हूँ। हम लोग किसी भी काम की सिर्फ़ बातें करके दुख प्रकट करते हैं और करते-धरते कुछ नहीं हैं, वही काम मोहन बाबू करके दिखाते हैं।" पता नहीं क्यों डॉक्टर के मुँह से मोहन की प्रशंसा सुनकर मेरे दिल पर पड़ा भारी बोझ एकाएक हलका होता चला गया। मेरे हृदय में मुक्ति की, अंधकार को दूर करने वाली एक मशाल जलने लगी थी, मुक्ति की उस मशाल का नाम था मोहन। मोहन!

धीरे-धीरे मुझे दुनिया से अपनापन महसूस होने लगा। डॉक्टर की बातों से, स्पर्श से, शरीर में जैसे उम्मीद और भरोसे का उजाला फैल गया, जिसने मेरे शरीर के स्नायुओं को सबल कर दिया। मैंने मन ही मन संकल्प लिया, "इस बार मैं कर्मठ होऊँगा,...इस बार मैं ठीक से काम करूँगा, इस बार मैं भी मोहन बाबू की तरह वह काम करूँगा जिससे सारी दुनिया के रोग ठीक कर सकूँ।"

दो नंबर वार्ड के सारे मरीज़ों को देखने के बाद डॉक्टर फिर मेरे पास आया।

मैंने डॉक्टर की ओर कृतज्ञता भरी नज़रों से देखा। डॉक्टर ने मुझसे पूछा, "आपको बहुत जटिल रोग है। बहुत सारे कीटाणु मिले हैं। फिर भी यदि मनोबल हो तो ठीक हो सकते हैं।"

मैंने उत्साहित होकर कहा, "मुझे अच्छा होना है डॉक्टर। मैं अच्छा होऊँगा।"

मेरी बात सुनकर डॉक्टर मन ही मन हँसा। इतने में एक छात्र उसके पास आकर खड़ा हो गया। डॉक्टर ने उसे बताया, "इस मरीज़ की आधी बीमारी ठीक हो गई है, जानते हो क्यों?"

"क्यों?"

"साइकोथेरापी।" बहुत दिनों बाद चिकित्सा विज्ञान के इस तत्व को मैंने महसूस किया है। अधिकांश लोग अंतर्बाधा से पीड़ित हैं। अगर अंतर्बाधा को दूर कर दिया जाए तो मानसिक या आध्यात्मिक शक्ति पैदा की जा सकती है। जिससे रोग को दूर करने का रास्ता साफ़ हो सकता है। डॉक्टर हँसा, "तुम लोग शायद यह जानकर काफ़ी चकित होओगे कि हम लोगों को मरीज़ों को तंदुरूस्त बनाने के लिए कितनी मानसिक ताक़त की ज़रूरत होती है। ख़ासकर इन ग़रीब लोगों के मन में। इन लोगों के जीवन में एकमात्र समाज परिवर्तन के आंदोलन की आशाएँ-आकांक्षाएँ पलती रहती हैं।"

लड़का चकित हुआ, "सर, आंदोलन में।"

"हाँ, तुम लोग शायद इस सच को नहीं समझ पाओगे। अज्ञानी मन में ये मानसिक शक्तियाँ सोई रहती हैं, जब तक ये शक्तियाँ अचेतन अवस्था में रहती हैं तब तक मनुष्य बीमार रहता है, जब ये शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं तब मनुष्य

नया रूप पाने की शक्ति प्राप्त करता है। चिकित्सा विज्ञान को इस ओर ध्यान देना चाहिए।''

लड़के ने गर्दन हिलाई। समझा या नहीं पता नहीं। उसे अभी डॉक्टर को पहचानने में समय लगेगा। लेकिन मैंने पहचान लिया था।

वार्ड नंबर दो का डॉक्टर ऐसे एक शोधकार्य में रत है जो अगर पूरा हो जाए तो बीमार लोगों के जीवन में प्रेरणा जाग उठेगी। एक बात डॉक्टर ने सच कही थी और किसी डॉक्टर ने नहीं सोची होगी वह थी—मनुष्य को निरोगी रखने के लिए समाज में परिवर्तन लाना ज़रूरी है।

डॉक्टर ने फिर कहा, ''सारी बीमारियाँ शरीर और मन के तनाव से, खिंचाव से पैदा होती हैं। हमने अपने शरीर और मन को दो भागों में बाँट दिया है इसलिए हमारा इलाज पूरा नहीं हो पाता है। हमने अपने इन दोनों हाथों से अनेकों बीमार लोगों को देखा है लेकिन कभी भी हमने बीमार लोगों की मानसिकता पर ध्यान नहीं दिया। इस नज़रिए को मापने के साथ-साथ आज मेरी नज़रों में चिकित्सा की नई प्रणाली झलक उठी।''

अचानक मेरी तरफ़ देखते हुए उन्होंने कहा, ''और जानते हो सेन, मोहन के कारण ही मुझे पहली बार बीमार लोगों की मानसिकता को समझने की प्रेरणा मिली है। वह जिन बीमार लोगों को यहाँ लाता है वे लोग ग़रीब तबके के लोग होते हैं—इस तबके के लोगों में शरीर की बीमारी के साथ लड़ने की ताक़त ख़त्म हो जाती है। अगर उनके मन को नहीं जगा पाए तो कुछ नहीं होगा। जिस दिन उन लोगों का मन जाग उठेगा उस दिन समाज में सही इलाज का नया माहौल तैयार हो जाएगा। इसका मतलब समझ रहे हो न। हरेक आदमी के मन में बीमारी के प्रति जूझने की ताकत पैदा करना।''

इतने में एक नर्स आई और डॉक्टर को बताया कि ऑपरेशन थिएटर में एपेडिंसाईटिस का एक रोगी आया है। कुछ गड़बड़ है, प्रोफ़ेसर आपके साथ बातचीत करना चाहता है।

डॉक्टर चुपचाप स्टेस्थोस्कोप गले में डालकर उठ खड़ा हुआ।

एक महीने के बाद मैं सचमुच ठीक हो गया। डॉक्टर ने मुझे कर्मठता का प्रमाण-पत्र दिया। युवा, सुंदर, जानकार और समाज सचेतन डॉक्टर का स्नेह भरा चेहरा अपने दिल में बसाए मैं बाहर चला आया। मैंने अपने आपको एक आज़ाद पंछी की तरह महसूस किया और मेरे मन में यह ख़याल आया कि मैं अकेला ही दुनिया के सारे ग़रीब लोगों की दरिद्रता के विरुद्ध लड़ पाऊँगा। क्योंकि मैं जानता था कि इस दुनिया में डॉक्टर और मोहन जैसे ही लोग मेरे जैसे लोगों की चिंता में जो कर सकते हैं, करने की कोशिश करते हैं।

अस्पताल के दो नंबर वार्ड से निकलकर जेल के दो नंबर वार्ड में मोहन से मिलने के लिए मैं अपने क़दम बढ़ा रहा था। क्योंकि मैं जानता था मुझे जिस बीमारी से मुक्ति मिली है, उस बीमारी से मुक्ति दिलाने वाला असली विधाता है मोहन, उसकी समाज-चेतना।

मुझे ले जाने के लिए ससुर आया था, बनिता भी साथ में आई थी। बेटे-बेटी भी आए थे। लेकिन मेरा मन था जेल के दो नंबर वार्ड में।

बनिता ने मेरे चरणों की धूल अपने माथे पर लगाई और बोली, ''भगवान ने बचा लिया।''

मैंने प्रतिवाद किया, ''तुम्हारे भगवान ने मेरी रक्षा नहीं की बनिता, मुझे इंसान ने बचाया है—उन इंसानों ने जो मानवता की बात समझते हैं।''

ससुर हँसने लगे, बोले, ''कोई भी क्यों न बचाए, तुम अच्छे हो गए, अब तुम काम कर सकोगे।'' ससुर ने मेरे हाथों से डॉक्टर का लिखा हुआ प्रमाण-पत्र लेकर पढ़ा था।

मैं धीरे-धीरे जेल की तरफ़ चलने लगा। जब तक मोहन से जेल में नहीं मिल लूँगा तब तक मुझे चैन नहीं मिलेगा।

ऊँचे क़द और मज़बूत काठी के मोहन में वह डायनेमो छिपा हुआ है जो समाज को परिवर्तित करने में मदद करता है।

कृष्ण खटवाणी

हाथ की रेखाएँ

दीवारें बिलकुल ख़ामोश थीं, दो-तीन घंटे हम दोनों इन्हीं दीवारों के बीच में अकेले रहे थे, आपस में बतियाते हुए। हमारी बातचीत बेमतलब थी क्योंकि वह हमें किसी सिरे तक नहीं पहुँचा रही थी, हमने जहाँ से शुरुआत की थी अंततः वहीं आकर खड़े थे।

''खाना खाकर जाओ।'' नीलिमा ने जैसे सोते-से जागकर कहा था। उसके स्वर में एकाकीपन और उदासी थी, ज़रा भी उत्साह नहीं था।

मैंने कोई जवाब नहीं दिया, मैं उस उदास चेहरे को निहारने लगा था जो सुबह मिलते समय सुंदर और प्रफुल्लित लग रहा था।

''क्या खाओगे ? नहीं, तुम्हारी पसंद, नापसंद मुझे पता है, मैं मिनटों में कुछ बना लेती हूँ।''

''क्या तुमने अपने लिए कुछ भी नहीं बनाया है ?''

''सुबह बनाया था, मैं अपने लिए दूसरी बार कुछ बनाने का खटराग नहीं करती हूँ, मेरे लिए वही चल जाता है, पर तुम्हारे लिए।''

''मेरे लिए भी चल जाएगा, तुम्हें पता ही है कि मैं कितना खाता हूँ। दोनों जने तुम्हारे लिए रखे खाने से ही भूख मिटा लेंगे, शाम को भूख लगी तो देखा जाएगा।''

वह रसोई में गई और कुछ बर्तन ले आई, मैंने कपड़े से प्लेटें पोंछकर रखीं, अचानक वह बच्चे की तरह मुस्कुराई। उसके सफ़ेद दाँत नज़र आ रहे थे, ''नहीं ऐसे नहीं चलेगा, सिर्फ़ एक ही सब्ज़ी है। मैं दो मिनट में कुछ बना लूँगी तुम भी चलकर मेरी मदद करो।''

नीलिमा रसोई में जाने के लिए मुड़ी तो मैंने उसका हाथ पकड़ लिया, वह अब भी मुस्कुरा रही थी। उसके चेहरे पर कुछ देर पहले छाई उदासी का कहीं नामोनिशान भी नहीं था। मेरे हाथ पकड़ने पर उसने अपना हाथ यों खोल दिया जैसे दिखा रही हो कि, देखो मेरे हाथ में कुछ भी नहीं है।

मैंने उसके हाथ की तरफ़ देखा।

''क्यों क्या हुआ ? ऐसे चुप क्यों हो ?''

''कुछ नहीं, आओ, बैठो और किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं है।''

उसने आश्चर्य से मेरे चेहरे की ओर निहारा। पता नहीं मेरे चेहरे पर ऐसा कौन-सा भाव था जो उसकी हँसी, उसका उत्साह सब ग़ायब हो गया। वह चुपचाप मेरी प्लेट में सब्ज़ी डालने लगी। एक बार उसने मुँह ऊपर करके मेरी ओर देखा।

कहानी, नाटक, उपन्यास, जीवनी, कविता, यात्रा-संस्मरण आदि की 20 पुस्तकों के रचयिता कृष्ण खटवाणी का जन्म 1927 में हुआ। साहित्य अकादेमी पुरस्कार, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, भारतीय भाषा परिषद् तथा साहित्य अकादेमी अनुवाद पुरस्कार से सम्मानित हैं। संपर्क : 5/3, न्यू पलासिया, इंदौर-452001 (म.प्र.) फोन : 0731-2532952

अनु. रश्मि रमानी सिंधी एवं हिंदी की कवयित्री-अनुवादक हैं। इनका जन्म 1960 में हुआ। केंद्रीय हिंदी निदेशालय, मानव संसाधन विकास मंत्रालय एवं अन्य संस्थाओं से पुरस्कृत हैं। संपर्क : 83, सर्वोदय नगर, इंदौर (म.प्र.) फोन : 0731-2477363

हम ख़ामोशी से खाने लगे। मुँह के कौर को चबाते हुए उसने कहा, "तुम अचानक चुप क्यों हो गए? तुम्हें पता है कभी-कभी मेरे साथ भी ऐसे ही हो जाता है।"

"अकारण ही?"

"कारण तो मुझे ख़ुद पता नहीं होता।"

वह कुछ देर चुप रही, मेरी ओर ताड़ा, हमारी आँखों ने आपस में बोलने की कोशिश की।

"कई बार, जैसे कभी कॉलेज में, कभी घर में ही अकेले में मेरे साथ भी ऐसा हो जाता है।"

"क्या हो जाता है?"

"एकाएक स्तब्ध हो जाना, जैसे उस समय तुम हो गए थे।"

"कॉलेज के ख़ाली पीरियड्स में, टीचर्स रूम में बैठकर जब तुम उबासियाँ लेती हो, कुछ सोचती हो और उदास होती हो!"

"मैं क्या सोचती हूँ?"

"हाँ, तुम सोचती हो, सब व्यर्थ और बेकार है। लड़कियों को रोज़ लेक्चर देना, उन्हें कुछ बनाने की कोशिश करना, जबकि तुम ख़ुद को ही कुछ बना नहीं सकी तो दूसरों को क्या बना पाओगी? वे वही बनेंगी जो उन्हें बनना है। जो बीज पहले से ही उनके भीतर है, वही अंकुरित होकर तुमसे भी बड़ा वृक्ष बन जाएगा।"

नीलिमा शांत रही।

"फिर तुम वे सारी किताबें फाड़ना चाहती हो जो तुम अपनी छात्राओं को पढ़ाती हो।"

"किताबें फाड़कर क्या करूँगी, मुझे दूसरी किताबें लेनी पड़ेंगी। वह हँसी।"

मैं भी मुस्कुरा दिया, "दो साल पहले यदि मैं ऐसी बातें तुमसे करता तो तुम रो पड़तीं।"

नीलिमा उठ खड़ी हुई। अपनी जूठी प्लेट लेकर वह रसोई में चली गई। मुझे लगा उस बात को वहीं ख़त्म करने के लिए ही वह रसोई में गई थी। जब मैं अपनी जूठी प्लेट लेकर वहाँ पहुँचा तो वह गैस पर पापड़ सेंक रही थी।

"नीलिमा, आज विनीता का पति गुज़र गया।" मैं उसके पीछे सिन्क के पास खड़ा था।

नीलिमा चौंक पड़ी, मुड़कर मेरी तरफ़ देखा। विस्फारित नेत्रों से वह मुझे देखती रही। उसके एक हाथ में पापड़ था, जो आग के ऊपर रखा था, पापड़ को आग लगी और वह जलने लगा। उसे पापड़ जलने का भान ही नहीं रहा। पापड़ जल गया। मैंने आगे बढ़कर गैस का बटन घुमाकर गैस को बंद किया।

"तुम वहाँ गए थे?"

"हाँ।"

"श्मशान तक भी?"

"श्मशान तक जाने के लिए निकला था, पर आधे में ही पलटकर समंदर किनारे चला गया। वहाँ एक सुनसान जगह पर दो घंटे बैठा रहा। तुमसे सच कह रहा हूँ कि मैं रोया नहीं था। चुपचाप खड़ा रहा था। लहरों ने अचानक जब मेरे पैर भिगोए तो मुझे याद आया कि मैंने आज तुमसे यहाँ आने को कहा था।"

"तुम फिर उसके घर नहीं गए?"

"जाने की कोशिश की थी। गली के मोड़ तक पहुँचा भी था, सामने ही बालकनी थी। वहीं जहाँ वह अकसर बैठा करती थी, वहाँ दो-तीन औरतें खड़ी थीं, पर लगा जैसे वह फ़्लैट ख़ाली है, मैं पाँच-सात मिनट वहाँ खड़ा रहा। पास से गुज़र रही किसी टैक्सी के हॉर्न की आवाज़ से चौंककर मैंने ख़ुद को सँभाला फिर टैक्सी में बैठकर तुम्हारे यहाँ चला आया।"

नीलिमा कुछ देर सोचती रही थी, "जब तुम यहाँ आए तो मुँह पर दुख की कोई रेखा तक नहीं थी!"

"सारे दुख तो विनीता ने सहेज लिए। नीलिमा, वह यह दुख किसी के साथ बाँटना नहीं चाहेगी।"

नीलिमा सोफ़े पर बैठ गई थी। मेरी नज़रें उसके पैरों पर पड़ी, प्रायः मनुष्यों के हाथ पैर एक ही तरह के होते हैं। नीलिमा के हाथों और पैरों को तो मैं सैकड़ों की भीड़ में भी पहचान सकता हूँ, और विनीता से मेरी निकटता भी उसका हाथ देखते हुए ही हुई थी।

एक दिन डाइनिंग टेबल पर चाय पीते समय विनीता की खुली हथेली मेरे पास में थी, कारण कुछ भी नहीं था। ऐसे ही बातें करते-करते कभी-कभी हो जाता है और अनजाने ही मेरी दृष्टि उस पर पड़ी थी।

"विनीता तुम्हारे भाग्य में इतना दुख क्यों है ?''

मैं स्वयं अपने शब्दों को सुनकर चौंक पड़ा था, और वहाँ बैठे सभी लोगों ने भी आश्चर्य से चौंककर मेरी ओर देखा था। विनीता मेरी बात सुनकर सिर्फ़ चौंकी ही नहीं थी बल्कि वह कुछ-कुछ समझ भी गई थी।

परेश ने हँसकर कहा था, ''समर मज़ाक़ कर रहा है। अचानक दूसरों को चौंका देना उसकी पुरानी आदत है।'' फिर मेरी ओर मुँह घुमाकर बोला, ''समर, कॉलेज के दिनों में हाथ देखने का जो अभ्यास किया था, वह कहाँ तक पहुँचा ?''

"आधे में ही रह गया, मेरे दूसरे अभ्यासों की तरह, फिर मैं सब कुछ छोड़कर इधर-उधर घूमता रहा था। थक जाने के बाद इनसान हार क़बूल कर लेता है, सोचता है इस दुनिया में मेहनत और तलाश में क्या रखा है ? सब तो अधूरा ही रहना है।''

पर मेरे शब्दों ने विनीता के मर्म को छुआ था। उसने बेहद सादगी से पूछा था, ''क्या तुम ज्योतिष और हस्तरेखाओं में विश्वास करते हो ?''

"बिलकुल नहीं, मैंने तुरंत जवाब दिया था। ताश के खेल की तरह यह भी एक खेल है, मनोरंजन के लिए।''

विनीता ने मेरी किस बात पर विश्वास किया था, यह मैं उस शाम नहीं जान पाया, पर उसने बात बदल दी। कुछ हफ़्तों के बाद एक रात जब बच्चे अपने कमरे में सो रहे थे परेश अभी तक घर नहीं लौटा था। हम उसी का इंतज़ार कर रहे थे। विनीता ने अपनी खुली हुई हथेली मेरी ओर बढ़ाकर कहा था, ''परेश ने बताया कि तुमने कॉलेज के दिनों में 'पॉमिस्ट्री' पर ख़ूब किताबें पढ़ी थीं, अब बताओ मेरे नसीब में क्या है ?''

मैंने विनीता की उँगलियों को अपने हाथ में पकड़ा था और उसके हाथ को घुमा-फिराकर देखता रहा था, फिर मैंने हाथ को छोड़ दिया था।

''क्या हुआ ?'' विनीता ने उत्सुकता से पूछा।

''कुछ नहीं, मुझे कुछ भी देखना नहीं आता है।''

''छिपाओ मत, बताओ ! तुम सच छिपाने की कोशिश कर रहे हो।''

''क्या बताऊँ ?''

''तुम उस दिन कुछ कह रहे थे, कह दो वह झूठ है।''

''मैं उस दिन मज़ाक़ कर रहा था।''

विनीता ने पलकें ऊपर उठाकर कुछ देर मेरी ओर देखा, फिर कलाई मोड़कर घड़ी देखी, ''परेश शायद देर से आए, तब तक एक पैग चल जाएगा ?''

विनीता उठी, दो पैग बना लाई, एक मुझे दिया एक उसके हाथ में था।

लगभग दस बजे परेश का फ़ोन आया कि उसे लौटने में अभी एक-डेढ़ घंटा और लगेगा।

''मैं जा रहा हूँ।'' उठते हुए मैंने कहा था।

''नहीं ऐसे कैसे जा रहे हो, खाना खाकर जाना।''

''तुम ?''

''मैं परेश का इंतज़ार करूँगी।''

हमने दो-दो पैग पिए थे। विनीता की आँखें कुछ बोझिल हो रही थीं जैसे उनींदी आँखें होती हैं, खुमारी से भरी हुई। वह स्वयं को सँभालने की कोशिश कर रही थी।

मैं खाना खा रहा था, वह मेरे सामने बैठी थी। अचानक जैसे उसने कुछ याद करते हुए कहा, ''समर मैं इस संसार में कोई भी दुख सहन कर सकती हूँ पर, परेश या बच्चों से जुदा होकर नहीं जी सकती। मैं परेश से बेहद प्यार करती हूँ।''

उसके बाद मुझसे और नहीं खाया गया था। कौर मेरे गले से नीचे ही नहीं उतर रहे थे, चलते समय मैंने दोनों हाथ आगे बढ़ाए थे और विनीता ने उन्हें छुआ था।

"परेश से कहना मैंने उसका काफ़ी देर तक इंतज़ार किया।"

"मैं उसे बता दूँगी।"

"कल शाम को मिल सकेगा?"

"कल दोपहर की फ़्लाइट से दिल्ली जा रहे हैं, चार-पाँच दिन वहीं रहेंगे।"

"मुझे बताया नहीं!"

"आज ही प्रोग्राम बना है।"

"तो हफ़्ते भर बाद ही मिलना हो पाएगा।"

"नहीं, शहर से बाहर जाने पर रोज़ रात को फ़ोन करते हैं, तुम रात को आ सको तो बात हो जाएगी।"

मैं कुछ सोच रहा था।

"बताओ, आओगे न?"

"हाँ, आऊँगा।"

नीचे रास्ते पर अँधेरा था। चारों ओर शांति थी। परेश के घर से समंदर ज़्यादा दूर नहीं था। टैक्सियाँ भी वहाँ खड़ी रहती थीं। समंदर के किनारे पहुँचने के बाद टैक्सी स्टैंड की ओर जाने के बजाय मैं वहीं खड़ा रहा था।

नहीं, मैंने झूठ नहीं कहा था। विनीता को जब मैंने कहा था कि मेरा हस्तरेखा विज्ञान में कोई विश्वास नहीं है, और यह भी सत्य ही कहा था कि इसके बारे में मेरा अभ्यास नहीं के बराबर है, फिर मैंने किस आधार पर उस दिन ऐसी विचित्र बात विनीता को कही थी, जिसके लिए मैं सोचता था कि विनीता उसे भूल जाएगी पर वह भूली नहीं थी। कभी-कभी अचानक ऐसा महसूस होता है और ऐसा लगता है कि यह सच है। उस शाम विनीता का हाथ देखकर मैंने अचानक कोई बात कह दी थी, जिसे वास्तव में मैंने अनुभव किया था।

लहरें धीरे-धीरे आ जा रही थीं। उनमें संगीत भी नहीं था, कोई स्वर ज़रूर था पर उसका कोई अर्थ नहीं था। स्वर जो सदियों के रियाज़ के बाद भी पूर्णता नहीं पा सका था।

"तुम क्या सोच रहे हो?"

मैंने नीलिमा की ओर देखा। वह चुप थी। कुछ देर के लिए उसने विनीता के दुख को जाना था, उसकी पीड़ा का भार अपने ऊपर अनुभव किया था। कुछ देर के लिए वह छिन्न-भिन्न हो गई थी, पर फिर उसने स्वयं को सँभाला था। थोड़ी देर के बाद वह ठीक लग रही थी, ताज़गी से भरपूर।

शायद विनीता भी स्वयं को ऐसे ही सँभाल ले, पर इस प्रकार स्वयं को सँभालने में शायद उसे कुछ बरस लग जाएँ। हो सकता है इसके बाद भी वह स्वयं को सँभाल न सके। संभव है इस बीच उसके भीतर बहुत कुछ दरक जाए या नष्ट ही हो जाए राख की तरह, और मुझे भी डर है कि राख का यह तिलक कहीं जीवन भर उसके माथे पर न लगा रहे। हर व्यक्ति स्वयं ही भोगता है, दूसरे तो मात्र दर्शक होते हैं, और घड़ी पल के लिए दूसरों के सुख-दुख के सहभागी होते हैं।

"सुनो नीलिमा, क्या तुम्हारे यहाँ कोई आने वाला है?"

"नहीं।"

"तो चलो किसी रेस्तराँ में चलते हैं।"

"क्यों?"

"चाय पीने।"

"चाय मैं यहीं बना लेती हूँ। मैंने असम की हरी चाय मँगाकर रखी है।"

"मैं स्वयं को कहीं भुलाना चाहता हूँ।"

नीलिमा उठ खड़ी हुई।

"कपड़े बदलोगी क्या?"

"नहीं।"

टैक्सी में नीलिमा ने पूछा, "तुम परेश के पास अस्पताल कितनी बार गए?"

"तीन-चार बार।"

"विनीता का व्यवहार कैसा रहा था?"

"मैं अस्पताल उस समय जाता था जब वह वहाँ पर नहीं होती थी।"

"क्यों?"

"पता नहीं, पर लगता था मैं उसके सामने खड़ा नहीं रह पाऊँगा, आज भी मैं उसके पास नहीं जा पाया।"

नीलिमा काफ़ी देर तक चुप रही।

"तुमने कौन-सा क़सूर किया है?" आख़िरकार उसने पूछा।

"लगता है जैसे मैं उसका दोषी हूँ, दिमाग़ ...कर कहता है, तुम बेकार हठ कर रहे हो, इस दुनिया में तूफ़ान आए, युद्ध हो, भूकंप आए, इनसान की ज़रा भी नहीं चलती है, पर नादान मन समझकर भी नहीं समझता है।"

मैं शांत हो गया, दूसरों के सामने बेचारा बनने में इनसान को शर्म आती है। नीलिमा ने विचित्र दृष्टि से मुझे देखा, फिर अपना हाथ आगे बढ़ाया और मेरे हाथों पर रख दिया।

"नीलिमाऽऽऽ" नहीं, यह कोई वाक्य नहीं था, सिर्फ़ एक शब्द था जो खिंचकर लंबा हो गया था।

उसने फिर मेरी ओर देखा।

मैं बाहर निहारने लगा।

यह महानगर। चारों तरफ़ इनसान ही इनसान।

विनीता उस दिन अस्पताल में मेरे साथ थी। उसने पूछा, "डॉ. ने क्या रिपोर्ट दी है?"

"डरने की कोई बात नहीं है, सब ठीक हो जाएगा।"

मैंने झूठ बोला था, उस पहली जाँच में ही डॉ. को शक हो गया था कि कैंसर का केस है, इसके बाद भी जाँच होती रही थी। मैं बराबर विनीता से झूठ बोलता रहा था पर वह इतनी अबोध तो नहीं थी, जो बात को समझ न सके। उसने एक दिन मेरे सामने ही डॉ. से सीधा सवाल पूछा। लौटते समय वह मुझसे एक शब्द भी नहीं बोली थी। घर पहुँचने पर भी वह मुझसे नाराज़ ही थी। मैं ड्राइंगरूम में अकेला बैठा था, वह अपने कमरे में तथा बच्चे अपने कमरे में थे।

रात काफ़ी गुज़र चुकी थी, हम दोनों एक-दूसरे के सामने आने से डर रहे थे। अंततः मैंने उसके कमरे के दरवाज़े के बाहर खड़े होकर कहा, "विनीता, मैं जा रहा हूँ।"

विनीता ने कोई जवाब नहीं दिया था। कमरे में सिर्फ़ एक लाल बल्ब वाला टेबल लैंप जल रहा था। कुछ क्षणों की चुप्पी के बाद मैंने फिर कहा, "मुझे माफ़ करना विनीता, मैंने किसी स्वार्थ के कारण झूठ नहीं बोला था, सोचा था सब ठीक हो जाएगा, शायद तुम इतना बड़ा सदमा..."

उसने स्वयं को सँभाल लिया था, "चलो तुम्हें दरवाज़े तक छोड़ आऊँ।"

मैंने दरवाज़ा खोला, उससे विदा लेने के लिए मेरी दृष्टि उसकी दृष्टि से मिली।

"नहीं, ऐसा नहीं होगा, ऐसा हो ही नहीं सकता!" विनीता जैसे चीत्कार कर उठी, उसने मेरी बाँहों को पकड़ लिया, उसकी आँखों से आँसू बह रहे थे। मैंने उसके कंधे पर हाथ रखा। दुख के आवेग में वह अपने बस में नहीं थी।

"यह क्या हो गया भैयाऽऽऽ!" उसने अपना मुँह मेरी छाती में छिपा लिया और सुबकने लगी।

दरवाज़ा खुला था। बाहर लिफ़्ट के चढ़ने, उतरने, खुलने और बंद होने का स्वर सुनाई दे रहा था। मैं ख़ामोश खड़ा रहा। मेरे मुँह से एक शब्द भी नहीं फूटा था। इससे पहले उसने कभी मुझे भाई नहीं कहा था। सदैव नाम से समर कहकर ही बुलाती थी। इससे पहले वह मेरे सामने कभी रोई भी नहीं थी।

उसकी सुबकियाँ कम होने लगी थीं। अब वह भयभीत नहीं थी। स्वयं को पाने का, कोई विश्वास दिलाने का प्रयास कर रही थी। मैंने उसे अपने से अलग किया।

"विनीता," मैंने कहा, "हम कौन हैं, हम नहीं जानते हैं। तुम, मैं, परेश सब पता नहीं कौन हैं? पता नहीं कहाँ जाएँगे? कहाँ से आए हैं? हमारा भूत, भविष्य, वर्तमान बदलता रहा है।"

उसने स्वयं को सँभाला था। वह एक पेड़ की तरह खड़ी थी। किसी बड़े तूफ़ान से जद्दोजहद करने जैसा महसूस करने के बाद मैंने उसकी आँखों में देखा था, बिना कुछ कहे दरवाज़े से बाहर चला आया, उसने दरवाज़ा बंद कर लिया।

"समर, कहाँ बैठेंगे?"

"कहीं भी।"

"तुम शोर में गुम होना चाहते थे न?"

"तुम?"

नीलिमा हँसने लगी। वही हँसी जिसमें उदासी भी होती है, और प्रसन्नता भी।

"डांस करोगे?"

"तुम करोगी तो?"

"और किसी लड़की के साथ?"

"नहीं।"

नीलिमा मुस्कुराई। यह मुस्कान ख़ास उसकी अपनी थी, इस संसार में शायद ऐसी मुस्कान और किसी के पास नहीं होगी।

हॉल में दो बड़े-बड़े स्पीकर्स लगे हुए थे, जिनके कारण ड्रम पर बज रही धुन ज़ोर से सुनाई दे रही थी। धीरे-धीरे धुन का स्वर और ऊँचा होता चला गया।

"तुम थक गए हो?"

"नहीं।"

"तुम्हें आज नाचना नहीं आ रहा है।"

"चलो किसी कोने में चलकर बैठते हैं।"

"तुमने ख़ुद को खोना चाहा था।"

"अब मैं ख़ुद को फिर से ढूँढ़ना चाहता हूँ।"

"यह कोना भी अकेला नहीं है, संसार में कोई अकेला इंसान भी अकेला नहीं होता है। विचार, सपने स्मृतियाँ, इनसान को कभी अकेला नहीं रहने देती हैं।"

यह कोना सबसे दूर था। मेज़ पर टेबल लैंप जल रहा था, मोमबत्ती जितनी रोशनी भर थी। नीलिमा ने हाथ बढ़ाकर उसे बुझा दिया।

नीम अँधेरे में हमने एक-दूसरे की ओर निहारा। हल्की-सी उस रोशनी में भी नीलिमा की आँखों की गोल काली लकीरें दिखाई दे रही थीं। वह शांत थी। पर उसकी ओर देखने पर सदैव ऐसा लगता था जैसे समंदर में तूफ़ान के बाद शांति छाई है। सामने से देखने पर उसका चित्र सदैव सुंदर और आकर्षक लगता था। घने काले बालों के झुरमुट में वह एक जीवंत और सुंदर पोर्ट्रेट की तरह लगती थी, पर पास से देखने पर उसकी नाक थोड़ी टेढ़ी लगती थी। उसके हल्के खुले होंठ सदैव प्यासे लगते थे।

"तुम सिगरेट पियोगी?" मैंने जैसे नींद से जागकर पूछा। मैं कभी-कभी सिगरेट पीता हूँ, महीने में दो-चार बार और नीलिमा तो साल में एकाध बार, पर तब भी जब मैं उसके सामने सिगरेट सुलगाता हूँ तो उससे यह सवाल ज़रूर पूछता हूँ।

"हाँ।" आज नीलिमा ने अपेक्षा के विपरीत उत्तर दिया।

मैंने नीलिमा की ओर देखा, उसके होंठों और आँखों पर मेरी दृष्टि अटककर रह गई।

उसने मेरे हाथ से सिगरेट और माचिस छीन लिए और कहा, "तुम्हें न सिगरेट सुलगाना आता है और न ही पीना।"

नीलिमा ने अपने मुँह का सारा धुआँ मेरे चेहरे पर फेंका और खाँसने लगी। उसकी आँखों में आँसू आ गए। मैंने उसकी उँगलियों में से सिगरेट लेकर अपने होंठों में दबा ली।

"ज़िंदगी बहुत छोटी है न?" नीलिमा ने मेरी सिगरेट के धुएँ को पीते हुए कहा, "क्यों?"

तुम्हें याद है वह रात, समंदर के किनारे पिकनिक, हम अकेले रेत पर बैठे थे। मैं उस दिन तुमसे बतियाने के मूड में थी और तुमने कहा था, "ऐसे साथ बैठकर तुम सदियों तक मेरी बातें सुन सकते हो।"

मैंने कहा था, "नहीं, यह ज़िंदगी छोटी-सी है।" तुमने कहा था, "नहीं, ज़िंदगी के कुछ लमहे दिनों की तरह लंबे होते हैं।" और अचानक तुमने गहरी साँस भरकर कहा था, "सच है ज़िंदगी बहुत छोटी होती है, एक बार जीने के लिए भी, और कुछ इनसानों के साथ तो बार-बार जीने का मन करता है। तुम्हें याद है वह रात?"

मैंने कोई जवाब नहीं दिया चुपचाप सिगरेट पीता रहा।

"तुम कभी-कभी ठूँठ की तरह बन जाते हो।"

मैंने बैरे की ओर देखा जो कुछ रखकर चला गया था।

"तुम क्या सोच रहे हो?"

"तुम्हारे बारे में।"

नीलिमा ने कोई जवाब नहीं दिया।

"मेरा सपना जैसे आधे में ही टूट गया, नीलिमा, इस ज़िंदगी में मैं तुम्हें कुछ भी नहीं दे सका हूँ। पर नीलिमा, तब भी तुम्हें पता है मैंने अपनी ज़िंदगी की बेहतरीन घड़ियाँ नीलिमा नाम की लड़की को याद करते बिताई हैं।"

नीलिमा चुपचाप मेज़ पर उँगलियों से कोई चित्र बनाती रही। उसने कोई जवाब नहीं दिया।

"ख़ुद को लाख रोकने के बावजूद मैंने अपनी जागृत और सपनों की ज़िंदगी का आधा वक़्त तुम्हारे बारे में ही सोचते हुए बिताया है। तुम्हारे वजूद का कोई हिस्सा मेरे एकदम क़रीब है तो कोई बहुत दूर। एक नीलिमा को मैं जानता हूँ पर दूसरी नीलिमा सदैव मेरे लिए अबूझ पहेली रही है।"

नीलिमा चुपचाप उँगलियों से मेज़ पर रेखाएँ खींचती रही।

"कभी-कभी ऐसे ही किन्हीं कमज़ोर क्षणों में सोचता हूँ कि तुम मेरी ज़िंदगी में नहीं आतीं तो बेहतर होता और कभी ख़याल आता है कि अगर तुमने इस दुनिया में जन्म नहीं लिया होता तो मैं पता नहीं कैसा होता!"

"कुछ बेहतर ही होते...मेरे पास आने में ख़ुशी भी, दुख भी..."

मैंने अपना हाथ नीलिमा के हाथ पर रख दिया। वह चुप हो गई। मैंने अपनी सिगरेट उसकी ओर बढ़ाई, गर्दन हिलाकर उसने मना कर दिया।

"दूसरी औरतों की तरह सांसारिक चीज़ें तुम्हें ख़ुशी नहीं दे सकती हैं, न ज़ेवर, न कपड़े-लत्ते, न ही तारीफ़। पुराने ज़माने की परियों की तरह तुम्हारी ख़ुशी किसी दूर देश के अज्ञात स्थान पर छुपी हुई है। उस जगह का पता तुम्हें भी नहीं है।"

"हाँ शायद पता नहीं है, पर तुम्हें पता है मैंने कभी भी तुमसे कुछ नहीं माँगा है। न ख़ुशी, न और कुछ। नहीं, कुछ भी नहीं।"

"मैं तुम्हें ख़ुश देखना चाहता हूँ, तुम हँसो, खिलखिलाओ, मुस्कुराओ, ख़ुद को सजाओ-सँवारो। नीलिमा, इसके लिए मैं अपनी ज़िंदगी की तमाम जमा पूँजी, सारे दिन, सब रातें बेचने को तैयार हूँ।"
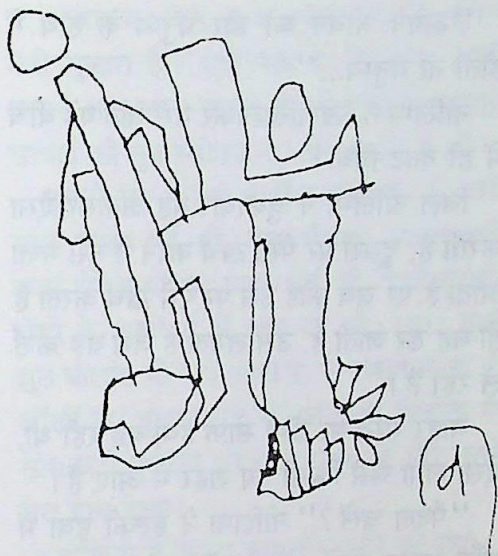
नीलिमा ने हौले-से मेरे दोनों हाथों को पकड़ा जैसे किसी बिफरते बच्चे को मना रही हो, "यह तुम नहीं हो, पर तुममें जो मर्द है उसका ग़ुरूर बोल रहा है, यह तुम नहीं हो समर, तुम मेरे पास आकर मुझे पाकर भी छोड़ देते हो। समर तुम शहंशाह अकबर नहीं हो जो रियाया को ख़ुश करने के लिए शादियाँ करे, तुम इनसान हो, और वह भी सदा कुछ खोजने वाले, रास्ता तलाशने वाले।"

मैंने चुपचाप नीलिमा की ओर देखा। वह दोनों हाथों में गिलास थामकर उसे होंठों से लगाए बैठी थी। वह ह्विस्की भी पी लेती थी पर शराब पीने में उसे मज़ा नहीं आता था। मेरे साथ वह महँगे रेस्तराँ में चलती थी पर वहाँ के स्वादिष्ट खाने से ज़्यादा मज़ा उसे घर के बने ठंडे फुल्के और अचार में आता था। मेरे साथ चलकर वह कभी-कभी बढ़िया साड़ियाँ भी ख़रीदती थी, पर पहनती वही सादी और सूती साड़ियाँ थी। कॉलेज में भी और बाहर जाने पर भी। वह यूनिवर्सिटी के प्रिय और अच्छे प्रोफ़ेसरों में से एक थी। उसके निबंध, आलोचनाएँ पत्रिकाओं में छपते थे। रेडियो और टी.वी. पर भी वह आलेख प्रस्तुत करती थी, पर अपने निजी जीवन में वह बिलकुल बच्ची थी।

''अपने जीवन की डोर मनुष्य के हाथ में होती तो मनुष्य...''

नीलिमा ने खिलखिलाकर मेरी बात को बीच में ही काट दिया।

बिल नीलिमा ने चुकाया। वह अकसर ऐसा करती है, दूसरों पर पैसा ख़र्च करने में उसे मज़ा आता है पर जब कोई उस पर पैसे ख़र्च करता है तो वह डर जाती है, उसे लगता है जैसे वह क़र्ज़ ले रही है।

बाहर रास्ते पर ठंडी साफ़ हवा बह रही थी, ऐसा लगा जैसे किसी नए शहर में आए हैं।

''पैदल चलें?'' नीलिमा ने हल्की हवा में साँस भरकर चारों ओर देखते हुए पूछा।

महानगर का यह इलाक़ा अच्छा है, रास्ते के दोनों ओर सुंदर बँगले बने हुए हैं, जिनमें बग़ीचे लगे हैं, इन रास्तों पर चलते समय ऐसा लगता है, जैसे ये बग़ीचे रास्ते पर ही हैं। यहाँ आवाजाही कम रहती है। शांति कुछ इस तरह छाई रहती है कि हवा के बहने का स्वर भी सुनाई दे सके। कई बार बग़ीचे के फूलों की सुगंध हवा में तैरते, रास्ते पर आ जाती है। छुपे हुए तारे आसमान में बिखरते जाते हैं। दूर आसमान को छूती हुई इमारतें रोशनी और अँधेरे के बीच टँगे किसी चित्र की तरह लगती हैं।

हमारी पदचाप रास्ते की शांति को भंग कर रही है। नीलिमा मुझसे ठिगनी है। उसके बाल उड़कर मेरे चेहरे को छूते हैं। कुछ मेरे होंठों को टकराकर अजीब स्वाद पैदा करते हैं। उसके बाल नरम हैं, उसकी जिस्मानी ख़ूबसूरती का एक अहम् हिस्सा। उसे पता है कि मुझे उसके बाल बहुत अच्छे लगते हैं इसलिए वह हवा में उड़ते इन बालों को सँवारने का कोई प्रयास नहीं करती है।

''तुम विनीता के पास कब जाओगे?''

''पता नहीं।''

''मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी।''

''तुम? तुम तो उससे कभी मिली भी नहीं हो।''

''तुमने कहा था कि तुमने उसे मेरे बारे में बताया था।''

''हाँ, मैंने उसे तुम्हारे बारे में बताया था और उसने भी तुम्हारी तरह पूछा था, ''तुम उसके यहाँ कब जाओगे?'' मैंने कहा था, ''कभी भी।'' वह बोली, ''मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी।''

''पर वह आई नहीं ?''

''शायद भूल गई।''

''देखने में कैसी है?''

''साँवली।''

नीलिमा ने मेरे हाथ पर हाथ रखा, जिसका मतलब था, रुको, रास्ते के दूसरी ओर एक पारसी बेकरी थी। हम जब भी यहाँ से गुज़रते थे तो नीलिमा मुझे यहाँ ठहराकर उस बेकरी पर जाती थी, और वहाँ से कुछ बिस्कुट आदि लेती थी। मैं वहाँ खड़ा हो गया। वह सड़क के उस पार गई और कुछ देर में दो-तीन पैकेट लिए हुए आई। ''आज तुम्हारे नारियल के बिस्कुट मिले हैं।'' उसने प्रसन्नता से कहा। इस बेकरी के नारियल के बिस्कुट मुझे अच्छे लगते हैं, पर ये कभी-कभी ही मिलते हैं।

अब छोटी-सी चढ़ाई थी। मैंने महसूस किया कि नीलिमा थक गई है। इस लड़की की हर बात की ख़बर मुझे पल भर में हो जाती है। उसके चेहरे की ओर देखने भर से मैं जान जाता हूँ कि कॉलेज में उसका आज का दिन कैसा गुज़रा होगा, उसके साँस लेने के तरीक़े से ही पता चल जाता है कि वह थकी हुई है। उसकी आँखों की ओर देखने से पता चल जाता है कि वह बोर हो रही है। उसके ललाट की ओर ताकते ही मालूम पड़ जाता है कि वह शांत चित्त है अथवा उसके मन में विचारों की घटाएँ उमड़ रही हैं।

घर के दरवाज़े के पास पहुँचकर उसने पैकेट मेरे हाथों में थमा दिए। ताला खोलकर बत्ती

...ई और पंखे को 'फ़ुल स्पीड' पर चालू कर ..., फिर अपने बालों को ऊँचा करके हाथ में ...ड़ा और पंखे के नीचे खड़ी हो गई। अचानक ...ने हँसते हुए पूछा, ''उस जापानी फ़िल्म में ...इन के जैसे 'ब्वाय कट' बाल थे, मैं भी वैसे ...वा लूँ तो कैसे लगेंगे ?''

मैंने कोई जवाब नहीं दिया सिर्फ़ उसकी ओर ...खता रहा।

''तुम थक गई हो, मैं चलता हूँ।''

मैंने उठने की कोशिश की।

''कॉफ़ी पीकर जाओ।''

नीलिमा जल्दी ही प्लेट में नारियल के बिस्कुट ले आई और कॉफ़ी के दो कप भी।

मैं कॉफ़ी पी रहा था, वह अपने बेड रूम में चली गई, जब वह वापस आई तो नाइट गाउन पहने थी।

''तुम्हारी कॉफ़ी तो ठंडी हो गई।''

''तुम जानते हो कॉफ़ी मैं सिर्फ़ तुम्हें कंपनी देने के लिए पीती हूँ।''

''संसार में शायद तुम्हारा किसी भी चीज़ से मोह नहीं है।''

''मोह!'' नीलिमा हँस दी। ''मैं बदनसीब हूँ न। मेरी ज़िंदगी में दुख ही दुख लिखे हैं जिस भी चीज़ में मोह डालूँगी, वह मुझसे छिन जाएगी।''

''नीलिमाऽऽऽ''

नीलिमा मेरे पास फ़र्श पर बैठ गई, उसे इस तरह फ़र्श पर बैठना अच्छा लगता है। दोपहर को खाना खाने के बाद जब कभी-कभी मैं सोफ़े पर ऐसे अधलेटा हो जाता हूँ तो वह भी ऐसे ही फ़र्श पर बैठकर कॉलेज की बातें बताती है। उसकी बातों से लगता है कि उसका कॉलेज भी उसे अपना नहीं बना सका है। वह निरासक्त, निरुद्देश्य-सी जैसे कॉलेज जाती है वैसे ही लौट आती है। सारे काम जैसे फ़र्ज़ भर समझकर पूरे कर आती है।

''आज का दिन, समर आज का दिन तुमने कैसे गुज़ारा है? मुझे पता है कि तुम अपने आपसे भाग जाना चाहते थे, जो कुछ है उसकी सच्चाई को तुम स्वीकारना नहीं चाहते थे।''

तुम्हारे मन में क्या है मैं जानती हूँ। मैं उसी वक़्त समझ गई थी, जब दोपहर को तुम्हारी नज़रें मेरे हाथों पर अटक गई थीं, तभी तुम्हारे चेहरे के भावों से मैं जान गई थी। समर तुम्हें झूठ बोलना भी नहीं आता है, न ज़बान से ना ही आँखों से। तुम्हारे मन में उस वक़्त विनीता के साथ घटी दुर्घटना की याद ताज़ा थी और तुमने मेरा हाथ देखा।

नीलिमा ने अपना हाथ मेरे घुटने पर रखा।

''बताओ मेरे हाथ की रेखाओं में कितना दुख लिखा हुआ है? क्या इतना दुख कि मैं सह नहीं पाऊँगी?''

मैं ख़ामोशी से नीलिमा की तरफ़ देखता रहा।

''तुम्हें शायद याद नहीं होगा पर मैं कुछ भी नहीं भूली हूँ। एक दिन तुमने मेरा हाथ देखकर कहा था, 'तुम्हारे हाथ में इतनी टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ क्यों हैं?' फिर मेरी सवालिया नज़रों के जवाब में तुमने कहा था, 'तुम्हारा हाथ देखने में डर-सा लगता है, पता नहीं क्यों कुछ भी सोचे-समझे बिना'।''

नीलिमा ने मेरे दोनों हाथ पकड़ लिए थे, उसकी आवाज़ में दुख नहीं था, दर्द नहीं था, ख़ुशी और निराशा भी नहीं थी, सिर्फ़ एक प्रकार का रीतापन था। उसने कहा, ''मैं जानती हूँ तुम्हारा मुझमें मोह है, तुम मुझे ख़ुश देखना चाहते हो। एक बार तुमने कहा भी था कि तुम अपना सब कुछ देकर भी मेरी ख़ुशी ख़रीदने को तैयार होगे, पर बताओ क्या तुम्हें पता है ख़ुशी क्या होती है?... ''समर!''

''हूँ?''

''तुम्हें पता है ख़ुशी क्या होती है?''

मैंने कोई जवाब नहीं दिया।

"नहीं किसी को भी पता नहीं है। क्या तुम जानते हो कि तुम मेरे पास क्यों आते हो? तुम मुझे ख़ुशी देते हो या ग़म? जब मैं तुम्हें याद आती हूँ तो तुम ख़ुश होते हो या दुखी? मैं कभी-कभी बेहद ख़ुश होती हूँ, और कई बार रोना चाहती हूँ पर रोना क्या दुखी होने पर ही आता है? और हँसने के लिए क्या हमेशा ख़ुश होना ज़रूरी है?"

नीलिमा मेरे पास सरक आई थी, उसके हाथ मेरे हाथों में थे। उसका मुँह हवा में झूलते फूल की तरह हिल रहा था। वह रो भी रही थी और हँस भी। उसके होंठ काँप रहे थे।

"ख़ुशी पता है क्या है समर, दुख मालूम नहीं क्या है? दुनिया में जिसे सुख और दुख कहते हैं मेरे जीवन में उनका कोई अर्थ नहीं है। मैं दुख से डरती नहीं हूँ, समर मैंने जीवन में कभी भी सुख के लिए हाथ-पैर नहीं मारे हैं, मैं जो हूँ, जैसी हूँ, ठीक ही हूँ। हरेक इनसान को एक ही तराजू में नहीं तौला जाता।"

उसने अपना चेहरा मेरे घुटनों के बीच छिपा लिया। पीठ पर उसके काले बाल चारों ओर फैल गए। चिकने केश पंखे की हवा में उड़ने लगे, कितनी ही देर तक वह ऐसे ही बैठी रही। मैं सामने की दीवार पर लगा उसका फ़ोटो देखता रहा। यह फ़ोटो मैंने ही खींचा था। अपने ढेर सारे 'फ़ोटो ग्राफ़्स' में एक यही फ़ोटो उसे बेहद पसंद था, फ़ोटो में वह समंदर किनारे दीवार पर बैठी थी, उसकी लटें हवा में लहरा रही थीं और पृष्ठभूमि में झागदार लहरें दिखाई दे रही थीं।

थोड़ा समय यूँ ही बीत गया। कमरे में सिर्फ़ पंखे के चलने का स्वर सुनाई दे रहा था।

"नीलिमा..." मैंने धीरे से कहा, जैसे सुबह-सुबह किसी को नींद से जगाया जाता हो।

नीलिमा ने सिर उठाकर मेरी ओर देखा। उसकी आँखें चमक रही थीं और होंठ फड़क रहे थे। बहुत कोशिशों के बाद अपनी रुलाई को वह अपने अंदर उतार गई थी, और फिर अचानक वह हँस दी, "देखा, मैं कितनी बहादुर हो गई हूँ न? मैं कोई रो रही हूँ?"

मैं हँस नहीं सका, चुपचाप उसकी ओर देखता रहा।

वह उठ खड़ी हुई, "बालों को दोनों हाथों से सँवारा। तुम्हें काफ़ी देर हो गई है। चलो तुम्हें टैक्सी स्टैंड तक छोड़ आऊँ।"

आधा चंद्रमा संसार में प्रकाश और अंधकार दोनों एक साथ फैलाता है। लगता है जैसे सृष्टि अभी अपने लड़कपन में है। वह युवा नहीं हुई है। पूरे चाँद की रोशनी कभी-कभी मुझे डरा देती है, पर आधे चाँद की रोशनी में मुझे लगता है कि कोई भी मेरे रहस्यों को पूरी तरह जान नहीं सकेगा। नीलिमा को चाँदनी रातें बहुत भाती हैं। शायद उसका पहला प्यार चाँदनी रातों में ही परवान चढ़ा था। कुछ ऐसा ही संबंध उसका चाँदनी रातों से है।

जब पहली बार नीलिमा रात को मुझे टैक्सी स्टैंड तक छोड़ने आई थी तो मैंने कहा था, "अँधेरे में तुम अकेली वापस कैसे जाओगी?"

नीलिमा मुस्कुरा दी थी, "क्यों तुम्हें डर लगता है क्या कि कोई मुझे भगाकर ले जाएगा?"

एक बार मैं किसी दोस्त की कार लेकर आया था। नीलिमा ने पूछा था, "कार क्यों लेकर आए हो?"

"तुम्हें भगाकर ले जाने का विचार है।" हँसते हुए मैंने कहा था।

नीलिमा हँसते-हँसते दोहरी हो गई थी। पेट पर हाथ रखकर कहा था, "इतना साहस है तुममें?"

मैं समझ गया था, लगा था बाहर के सजावटी आवरण को हटाकर जैसे किसी ने भीतर की मलिनता को देख लिया है। नीलिमा ही मेरी मदद को आगे आई थी। "मुझे भगाकर कहाँ ले जाओगे? इस दुनिया में न तुम्हारा कोई घर है न

मेरा, सारा संसार हमारा घर है, कहीं भी भगाकर ले जाना बेकार है।''

पर फिर हमने विदा लेने का दूसरा सरल रास्ता निकाल लिया था। मैं टैक्सी ले लेता था, नीलिमा भी मेरे साथ बैठती थी। टैक्सी पहले उसके घर की तरफ़ चलती थी, जहाँ वह उतर जाती थी और मैं अपने रास्ते चला जाता था।

''आज बहुत सुंदर रात है।'' नीलिमा ने कहा। मैंने नीलिमा की ओर निहारा, नाइट गाउन में से उसकी उभरी हुई छातियाँ उसे आकर्षक बना रही थीं। मुझे लगा मैंने ज़िंदगी में कितना कम पाया है।

''तुम क्या सोच रहे हो?''

''सोच रहा हूँ उस रात में, मैं पैदल ही क्यों न चला जाऊँ, कहीं-न-कहीं अँधेरे में खो जाऊँगा।''
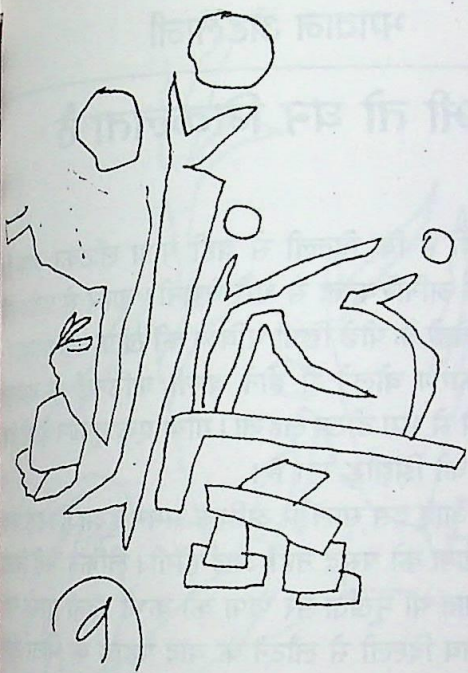
नीलिमा ख़ामोश थी। हम सुनसान रास्ते पर चल रहे थे, चारों ओर विचित्र-सी शांति थी जैसे कोई लंबी-लंबी साँसें ले रहा हो।

''नीलिमा तुम लौट जाओ, आज सचमुच मैं पैदल ही चला जाऊँगा।''

''कहाँ तक?''

''जहाँ तक जा सका।''

''अच्छा ख़ुदा हाफ़िज़!'' नीलिमा ने हाथ हिलाया।

नीलिमा जाने लगी, मैं उसे पीछे से देखता रहा। पहले वह 'गुड नाइट' ही कहती थी। फिर उसी ने बताया था, ''कॉलेज में एक मुस्लिम लेक्चरर के साथ उसकी अच्छी मित्रता थी जब उसकी शादी में नीलिमा गई तो विदाई के समय उसने नीलिमा के कान के पास मुँह लाकर धीरे-से कहा था,'' ख़ुदा हाफ़िज़। मैंने इससे पहले कई बार यह शब्द सुना था पर उस दिन पहली बार मुझे इसका अर्थ पता चला।

मैंने जाती हुई नीलिमा को देखा, नहीं नीलिमा ने कभी भी पीछे मुड़कर नहीं देखा है। वह परछाईं में बदल रही थी, जा रही थी, वह कौन है? क्यों वह मेरे जीवन में आई थी, आकर भी नहीं आई थी। वह सदैव मेरे पास थी सदा मुझसे दूर थी।

चंद्रमा की धीमी रोशनी में मैंने देखा नीलिमा फाटक के भीतर जा चुकी थी। रास्ता ख़ाली था, वीरान, तन्हा उस रास्ते की सारी सुंदरता उदासी में बदल गई थी। मैंने चारों ओर देखा जहाँ मैं खड़ा था वह चौराहा था। चार रास्ते चारों ओर जा रहे थे, सारे रास्तों पर शून्यता थी। सभी नीम अँधेरे में डूबे थे। मेरा मन उदास हो गया। सारा संसार साथ होते हुए भी मैं अकेला था निपट अकेला।

भगवान अटलानी

अभी तो घर निकलता है

लगता ही नहीं है कि दिल्ली से वही पापा लौटकर आए हैं। अशांति और अनिश्चितता से भरी बेचैनी। बाहर से प्रतीत होने वाले निर्विकार चेहरे के पीछे छिपी भविष्य की ख़ौफ़नाक परछाइयाँ। कमज़ोरी के कारण बोलने में होने वाली कठिनाई के बावजूद व्यंग्य और ग़ुस्से से भरा तीखा लहज़ा। गोया एक तूफ़ान है जो तेज़ रफ़्तार से पापा को झिंझोड़ रहा है।

शादी करके आए दस साल से अधिक समय हुआ है। इस बीच मेरी कई बातें पापा को पसंद नहीं आई होंगी। लेकिन मेरी किसी उलटी-सीधी बात या मूर्खता पर पापा को कभी इतना ग़ुस्सा नहीं आया जितना अब दिल्ली से लौटने के बाद पहाड़ के भीतर छिपे गरम लावे की तरह खदबदा कर बाहर आ रहा है। हर समस्या का समाधान ढूँढ़कर उसे अंतिम परिणति पर पहुँचाने में आस्था रखने वाले पापा खुलकर कुछ बताते तो नहीं हैं मगर जैसे दिखाई न देने वाला एक जाल है जिसमें उलझकर वे छटपटा रहे हैं। सामान्य आदमी को महसूस न होने वाली कशमकश ग़ुस्से के यहाँ-वहाँ बिखरे चकतों के अलावा कहीं से मुखर नहीं होती।

दो महीने पहले जब डॉक्टर ने पुष्टि की कि आँख का पर्दा फट गया है तो पापा एक पल के लिए भी मायूस नहीं हुए। दिल्ली में ऑपरेशन किस अस्पताल में होगा, ऑपरेशन कौन-सा डॉक्टर करेगा, कब करेगा, ऑपरेशन पर होने वाले ख़र्च का बंदोबस्त कैसे होगा, यहाँ से उनके साथ कौन जाएगा; जैसी हर छोटी-बड़ी व्यवस्था उन्होंने स्वयं की थी।

ऑपरेशन से पहले होने वाली सभी जाँच वे यहीं से करवाकर गए थे ताकि दिल्ली में समय बरबाद न हो। ऑपरेशन से पहले या बाद में दिल्ली में बातचीत के दौरान पापा में कोई अंतर महसूस नहीं होता था। पहली बार ऑपरेशन करवाकर एक सप्ताह बाद लौटे तो उनके व्यवहार से लगता ही नहीं था कि इतना बड़ा ऑपरेशन करवाकर लौटे हैं। टेलीफ़ोन पर बात कर रहे हों या आमने-सामने; महसूस होता था जैसे अपने अनुभव बयान कर रहे हैं। कभी-कभी तो आगंतुक भी इशारों में उन्हें कम बोलने की हिदायत दे जाते थे।

सिंधी रचनाकार भगवान अटलानी का जन्म 1945 में हुआ। उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध आदि की हिंदी और सिंधी में 16 पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। राजस्थान सिंधी अकादमी, राजस्थान साहित्य अकादमी तथा अन्य संस्थाओं से पुरस्कृत हैं।
संपर्क : डी-183, मालवीय नगर, जयपुर-302017

अनु. स्वयं
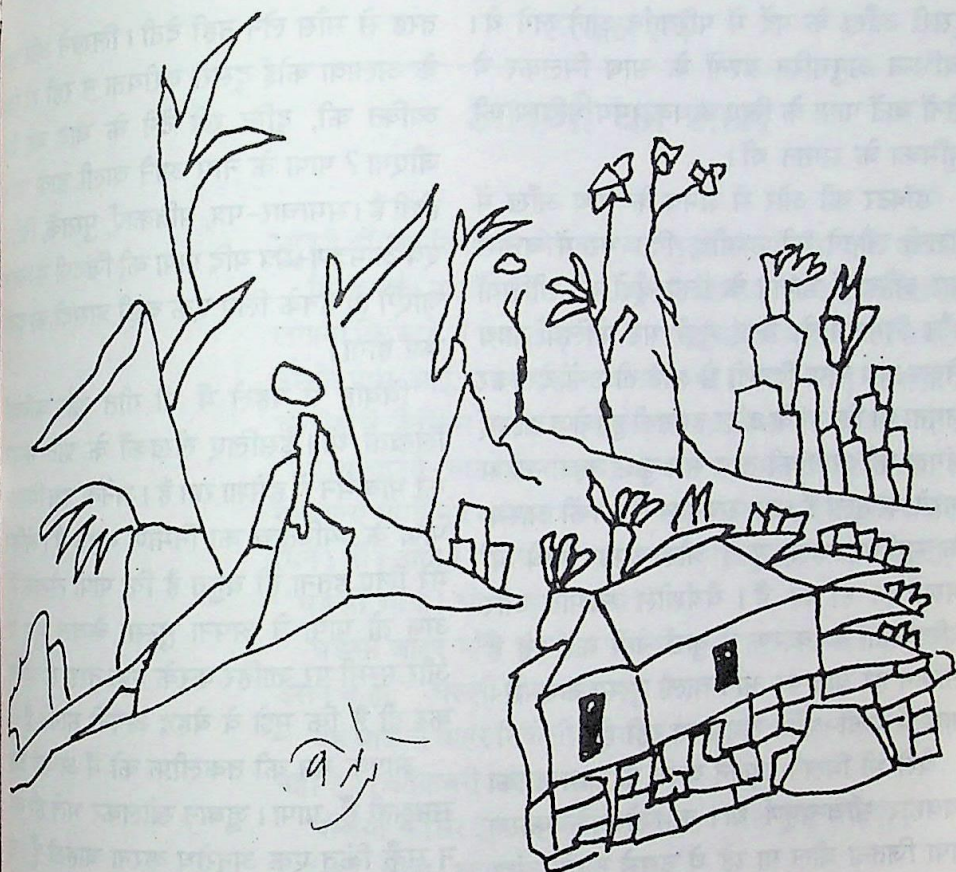
दो कारण थे जो बिना विचलित हुए उनके विश्वास को पुख़्ता करते थे। न जाने कितनी कठिन बीमारियों के झटकों से पापा दो-चार हुए थे। ऐसे दौर कितने भी कष्टदायक क्यों न रहे हों लेकिन एक बार निकल जाने के बाद उनमें से किसी ने पापा पर विपरीत स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ा था। पापा को विश्वास था कि इस बार भी फटे पर्दे के ऑपरेशन के बाद आँख की रोशनी पूर्ववत् रहेगी, अंधकार में विलीन नहीं होगी।

दूसरी आँख की सलामती पापा की बड़ी शक्ति थी। ख़ुदा न ख़ास्ता अगर पर्दा फटी आँख की रोशनी नहीं लौटती तब भी दूसरी आँख की मौजूदगी पापा को किसी का मोहताज बनने नहीं देगी। यही वजह थी कि भविष्य के ख़तरों से आगाह करने वालों को आशा और आश्वस्ति से भरी भीनी-भीनी मुस्कान होंठों पर बिखेरते हुए वे निरुत्तर करते, "अभी क्यों मात कहते हो, अभी तो घर निकलता है।"

पहला ऑपरेशन हुए अभी डेढ़ महीना गुज़रा था कि पापा की उसी आँख का पर्दा दूसरी जगह से फट गया। एक बार फिर दिल्ली। एक बार फिर ऑपरेशन। पिछली बार की तरह इस बार भी सारी व्यवस्था पापा ने ख़ुद की। किंतु उनके हर क़दम पर मँडराती हुई दुश्चिंताओं की घटाएँ थीं। भविष्य की दस्तक जैसे उन्हें सुनाई दे रही थी। पहली बार पर्दा फटने की तुलना में इस बार आँख की स्थिति ज़्यादा ख़राब थी। दूसरी आँख की रोशनी की चमक भी धूमिल होने लगी थी।

इस बार पापा को अस्पताल में सोलह दिन लगे और हर दिन कुछ नए सवाल लेकर आता था। डॉक्टर स्पष्ट रूप से कुछ नहीं बता रहे थे। ऑपरेशन हुई आँख में रोशनी लगभग नहीं थी।

दूसरी आँख के पर्दे में परिवर्तन आने लगे थे। विभिन्न अनुत्तरित प्रश्नों के साथ मिलकर ये दोनों बातें पापा के लिए अंधकारमय भविष्य की भूमिका के समान थीं।

डॉक्टर की ओर से समय के साथ आँख में रोशनी लौटने की उम्मीद, दिन भर में बत्तीस बार आँख में डालने के लिए बूँदों की शीशियाँ और निगलने के लिए मुट्ठी भर गोलियाँ साथ लेकर जब पापा दिल्ली से लौटे तो उन्हें देखकर लगता था कि उनके अंदर हहराती हुई तेज़ झंझाएँ जंगल की आग की तरह सब कुछ तहस-नहस करने पर तुली हैं। इस सर्वनाश में उनकी आस्था के सुगंधित फल, फूल और कोमल पौधे भी भस्मीभूत हो रहे हैं। धैर्यशील स्वभाव और परिपक्वता के कारण वे कुछ नहीं कह रहे हैं लेकिन हर बात पर आने वाला ग़ुस्सा कम-से-कम मैं भली-भाँति समझ पा रही हूँ।

वैसे भी मिलने-जुलने वालों के साथ उनका व्यवहार सौजन्यपूर्ण था। कमज़ोरी के कारण पापा जितना बोल पा रहे थे उससे उनके अंदर मची उथल-पुथल का आभास नहीं मिलता था। घर के अन्य सदस्यों के साथ भी अतिरिक्त मौन के सिवाय उनके व्यवहार में कोई अंतर परिलक्षित नहीं होता था। उनका ग़ुस्सा और व्यंग्य केवल मेरे व मम्मी के सामने मुखर होते थे। घटनाओं और बातचीत के यहाँ वहाँ छितराए टुकड़े ज़रूर हमारे सामने थे वरना उन्होंने अपनी ओर से हमें कुछ नहीं बताया।

लिखना-पढ़ना पापा की ज़िंदगी है। स्पष्ट है, कि संवेदना के तत्त्व सामान्य लोगों की तुलना में पापा में अधिक हैं। पर निर्भर रहकर भविष्य का सामना करने की संभावनाएँ उन्हें दहशत से भर देती हैं। अपनी पसंद के अनुसार पढ़ने और लिखने वाले पापा को जिस अजनबी दुनिया का वासी बनना पड़ेगा, उसकी कल्पना उन्हें ठीक तरह से साँस लेने नहीं देती। लिखने और पढ़ने के अलावा कोई दूसरी वरीयता न रही हो जिस व्यक्ति की, दृष्टि खो देने के बाद वह कैसे जीएगा? पापा के नाम आने वाली डाक पर्याप्त होती है। समाचार-पत्र, पत्रिकाएँ, पुस्तकें, चिट्ठियाँ एवं आमंत्रण-पत्र यदि पापा की ज़िंदगी से निकल जाएँगे तो उनके लिए एक बड़ी त्रासदी का दूसरा रूप होगा।

विवाह से पहले मैं भी गीत और कविताएँ लिखती थी। इसलिए लेखकों के प्रति सम्मान का भाव मन में हमेशा रहा है। अनेक पक्ष मिलकर पापा के व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। लेकिन मेरे लिए इतना ही बहुत है कि पापा लेखक हैं। अब तो पापा ने अपना ग़ुस्सा केवल मुझ पर और मम्मी पर ज़ाहिर करके एक तरह से घोषणा कर दी है कि मुझे वे बेहद अपनी मानते हैं।

आपके मन की तकलीफ़ को मैं अच्छी तरह समझती हूँ, पापा। ज़ुबान खोलकर भले ही कह न सकूँ किंतु एक अनुरोध करना चाहती हूँ। जो अपनत्व मेरे लिए महसूस करते हैं, वह आपको कुछ अधिकार भी प्रदान करता है।

वैसे तो जैसा डॉक्टर का कहना है आप की आँख की रोशनी ज़रूर लौटेगी। दूसरी आँख भी सलामत रहेगी। लेकिन आपको अधिकार है, आप जो पढ़ना चाहते हैं, मुझसे पढ़वाकर सुनिए। आप जो लिखना चाहते हैं, बोलकर मुझसे लिखवाएँ। हो सकता है आज तक मेरा व्यवहार आपकी अपेक्षाओं के अनुरूप न रहा हो। मगर यक़ीन रखें पापा, भविष्य में मैं आपकी हर मुराद पूरी करूँगी। आप क्यों सोचते हैं कि सभी रास्ते बंद हो गए हैं? मैं बार-बार आपकी वाणी से यही सुनना चाहती हूँ, *अभी क्यों मात कहते हो, अभी तो घर निकलता है।*

मैं आपको हारता हुआ नहीं देख सकती, पापा!

हरदान हर्ष

आदमी का नाम

बाड़े में बकरियों को भेजकर वह मुड़ी ही थी कि एक बकरी मिमियाई। उसकी म्हें...अ्...अ् की आवाज़ से उसने अंदाज़ा लगाया कि बाड़े में एक ठोड़ कम है। वह बाड़े में घुसी। चितकबरी उसके पास आई, उसका हाथ चाटने लगी। उसने रेवड़ सँभाला। चालीस में तीन कम। मतलब एक ठोड़ कम। उसका अंदाज़ा सही था।

हाथ चाटते-चाटते चितकबरी बीच में एक बार फिर मिमियाई। वात्सल्य भीगी मंद आवाज़ में—म्हें—अ्अ...म्हें अ्अ। उसने बकरे गिने। नौ। ओह! चितकबंरी का झबरू नहीं। उसने आवाज़ दी, "घड़सी भाया! ओ, घड़सी भाया!"

घड़सी बाहर माँचे पर बैठा पर्चियाँ बना रहा था। वहीं बैठे हुए उसने कहा, "धल्ली बोल क्या बात है?"

वह बाड़े से बाहर निकली घबराई हुई। कहा, "भाया। एक बकरा नहीं है। चितकबरी का झबरू।"

पर्चियों में सिर झुकाए घड़सी ने कहा, "तैंने ठोड़ सँभाले?"

"हाँ, भाया। चालीस में तीन कम।"

"यानी सैंतीस। अड़तीस के रेवड़ में एक कम।"

"वो ही।"

पर्चियों को थैले में रखते हुए घड़सी हँसा, "बीस की हो गई पर अब तक ठीक से अड़तीस तक सीधे-सीधे नहीं गिन पाती।"

"भाया। इस वक़्त गिनती के चक्कर को छोड़ झबरू को ढूँढ़। अँधेरा बढ़ रहा है।"

घड़सी उठा। जूतियाँ पहनी। वह चलने को था कि मिमियाता हुआ झबरू सामने से उछलता-कूदता चला आ रहा था। चितकबरी की आवाज़ अचानक बढ़ी। झबरू रुका और उसने तीव्रतर आवाज़ में उत्तर दिया। धल्ली ख़ुश। मुस्कुराते हुए वह झाँटा उठाने बढ़ी। झबरू दौड़कर अपनी माँ के पास पहुँच गया। दोनों के आत्मीय-मिलन में वह खो गई।

चितकबरी मुँह और गर्दन से झबरू के तन को स्पर्श कर रही थी। आत्मीय स्पर्श से उत्साहित झबरू थनों की ओर मुड़ा। आवेश में उसने एक-दो बार मुँह मारा। पर, व्यर्थ। थनों पर कोथली बँधी थी। धल्ली का मन पसीजा। उसने निश्चय किया कि आज दूध निकालते

हरदान हर्ष की कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही है। संपर्क : ए-306, महेश नगर, जयपुर-302015
चित्र : स्वयं

समय वह झबरू के लिए उसकी माँ के थनों में अध-पाव दूध अवश्य छोड़ेगी।

दूध निकालकर धल्ली ज्यों ही बाड़े से निकली घड़सी ने उसके हाथ से दूध-भरी बाल्टी थाम ली। आँखें उठाकर उसने प्रश्न किया तो वह बोला, ''जानती नहीं? आज मंदिर में गोठ है। खीर-पूड़ी की।''

''मंदिर में गोठ! किस बात की?''

''बावली, परसों वोट हैं। भाई बुधराम सरपंच बन रहा है।''

''यह सब तो मालूम है। फिर गोठ किसलिए? और, वह भी मंदिर में!''

''यह सब तेरे सोचने का सवाल नहीं। झालर बजते ही माँ के साथ आ जाना। और, भर पेट खाना।''

गाँव में एकमात्र मंदिर है देवी माँ का। गाँव में दो ही तो जातियाँ हैं—रबारी और वणकर। वणकर दलित हैं सो उनके लिए मंदिर-प्रवेश निषेध है। यह चलाचली की रीत है। धार्मिक-सामाजिक रूढ़ परंपरा। धल्ली जानती है जब भी कुल्हड़ी में गुड़ फोड़ना होता है, उनकी जातवाले यहीं इकट्ठे होते हैं।

झालर बजी। आरती हुई। और, भाई बुधराम देवी माँ को धोक देकर चौकी पर बैठ गया। सभी भाई-बंधु उसके गले में नोटों की माला पहनाकर गर्मजोशी से मिल रहे थे। धल्ली एक ओर बैठ गई थी। मंदिर के पिछवाड़े से उठती भट्टी का धुआँ उसकी आँखों में जलन पैदा कर रहा था। बुधराम के पास बैठकर धड़सी कानाफ़ूसी करते हुए पर्चियाँ एक क्रम में जमा रहा था। छोटे-बड़े सभी चुपचाप बैठकर दोनों के उपक्रम को देख रहे थे।

देवी को भोग लगाकर पुजारी प्रसाद बाँटने लगा। आज मंदिर में रिद्धि-सिद्धि थी। समृद्धि। परांत लड्डुओं से भरी थी। वह दो-दो लड्डू बाँट रहा था। धल्ली समझी-आज का प्रसाद होने वाले सरपंच की ओर से है।

प्रसाद बाँटकर पुजारी बुधराम के पास आ खड़ा हुआ। लगा एक ऋषि किसी राजकुमार का तिलक-समारोह संपन्न कर रहा है। तिलक, अक्षत आशीर्वाद। और, फिर करबद्ध दो शब्द, ''आप लोग मेरे मिजमान हैं। आश्रयदाता। अन्नदाता। आप लोगों की जय हो। विजय हो। फतह। देवी माँ का आशीर्वाद आप लोगों पर हमेशा बना रहे।''

थाली एक ओर रखकर पुजारी मुख्य मुद्दे पर आ गया था। कहने लगा, ''देवी माँ की कृपा है। अब तक पेट में जो भी दाणा पड़ा—पवितर। कुलीन! खलक माता अब ऐसा न हो'क बुढ़ापे में नीच दाणा खाना पड़े।''

वार्ता के सूत्र का बीज पुजारी ने बो दिया था। गोविंद उठा। बुधराम का काका। कहने लगा, ''पुरखों की रीत। गाँव की इज़्ज़त अर पुजारी बाबा के धर्म की रक्षा करने का वक़्त आ गया है। एकता में बल है। परसों पूरे गाँव के सौ टका वोट एक जगह पड़ने चाहिए। बुधराम के चिणाव चिन्ह कुल्हाड़ी पर।''

घड़सी ने वार्ता का तार आगे खींचा, ''ताऊ! यह कैसे हो सकता है? सामने पड़ोसी गाँव का वणकर है। अपने गाँव के वणकर कुल्हाड़ी पर छाप मारें इसकी क्या गारंटी है? यदि उन्हें मौका दिया गया तो वे पेड़ के चिह्न पर ही छाप मारेंगे।''

गोविंद गंभीर। उसने नाटकीय ढंग से हाँ में सिर हिलाया। गहरा होता सन्नाटा। उस पर टिकी सभी आँखें। कुछ क्षण के बाद उसने सन्नाटे को तोड़ते हुए कहा, ''घड़सी आगम-चेता है। उसका संदेह सोलह आना सही।'' और, फिर अपने स्वर को तेज़ करते हुए उसने फतवा-सा पढ़ा, ''कुछ भी हो पिछले चिणावों की तरह वणकर इस बार भी वोट नहीं डाल पाएँगे।''

''यह कैसे होगा?'' कुशल ने पूछा।

गोविंद का स्वर मधुर हो उठा था। उसने कहा, ''भाई कुशल, यह छोर-छट जाने। यह मामला बड़े-बूढ़ों का नहीं।''

वार्ता को मुकाम पर पहुँचते देखकर बुधराम था। उसने कर-बद्ध आग्रह किया, "रसोई तैयार है। सभी नूं नीचे करें।"

दूसरा दिन। धल्ली कोठे में सोने जा रही थी कि उसने सुना, "धल्ली...धल्ली!"

वह चौक में आई। बुधराम और घड़सी के साथ वाड़ी के लड़के थे। बुधराम ने आगे बढ़कर उसके हाथ में एक पर्ची थमाते हुए कहा, "कल दिन उगते के साथ पोलिंग बूथ पहुँचना है। पहली कतार में वह वोट पड़ेगा।"

लड़कों का हुजूम आगे बढ़ गया था। धल्ली पर्ची थामे चौक में खड़ी थी। वोट! उसका वोट!! पहली बार उससे वोट डालने को कहा गया है। वह खुश हुई और चंचल चपला-सी दौड़कर अपनी भाभी के पास गई। कहा, "भाभी, इसे पढ़ो तो!"

पाँच पास भाभी अक्षर जोड़-जोड़कर पढ़ने लगी। धल्ली, उम्र-बीस बरस। पत्नी बंशीधर वणकर, वार्ड-तीन।

धल्ली बुत बन गई। लगा—उसे साँप सूँघ गया हो। पढ़कर भाभी ने पर्ची उसके हाथ में रख दी थी। धल्ली पसीने से तर-बतर हो रही थी। उसके सिर में बम फूट रहे थे। लगा—वह गिरी। ब-मुश्किल वह अपने बिस्तर तक पहुँची।

रात का सन्नाटा था। भयानक लंबी रात। सूल जैसे बिस्तर पर वह करवटें बदल रही थी। कभी इधर, कभी उधर। बेचैन मानस-पटल पर अतीत के तार उभर रहे थे।

आठ वर्ष की उम्र में उसका विवाह हुआ था। उसे कुछ क्षण याद नहीं। माँ बताती है रात के दूसरे पहर शादी का मुहूर्त था। बड़ी मुश्किल से उसको नींद से उठाकर फेरे दिलवाए थे। खाना खिलाया था। खाने में बूँदी और साग-पूड़ी थी। उसने पहली बार बूँदी खाई थी। तभी ही तो माँ हँस-हँसकर कहती है, उसने पूछा था, "माँ मक्का की बाकली इतनी मीठी और फोसरी क्यों हैं?"

ससुराल वह गई नहीं। कांकड़ से ही उसको लौटा लाए थे। ससुराल उसने आज तक नहीं देखा। अगले माह शादी को ग्यारह वर्ष होंगे। अंदर गुदगुदी-सी हुई। अब गौना होगा। महीना नहीं, वह दिन गिन रही थी। उलटी गिनती। तीस दिन में चार कम।

अपने आदमी का नाम भी वह तीन वर्ष पूर्व ही जान पाई। गिरधर देसाई। कल्पनाओं में डूबी धल्ली अपने मन-मस्तिष्क में अपने आदमी की कोई छवि नहीं बना सकी थी। गत वर्ष भाभी ने गिरधर को देखा था। बता रही थी—लंबा-चौड़ा छह फ़ुटा जवान हो गया है तुम्हारा आदमी। एकदम गबरू जवान। बाँस की भरवाँ गाँठ-सी सुडौल काठी। एक नाम से बँधी वह सपनों में खो गई।

करवट के साथ उसका ध्यान पर्ची पर पड़ा। पर्ची सूल-सी चुभी धल्ली वणकर! पत्नी-बंशीधर वणकर। अनायास बंशीधर वणकर का जाना-पहचाना चेहरा उसके मानस-पटल पर उभर आया। लंबा-चौड़ा छह फ़ुटा गबरू जवान। घायल बाघिन-सी वह उठी। बाहर आई। घड़सी बाहर चौक में सो रहा था—घोड़े बेच। उसने झिंझोड़कर जगाया। कहा, "भाया, यह धल्ली बणकर का वोट मेरे से न पड़ेगा।"

"क्यों? वणकर बस्ती के सभी वोट अपने लोग डाल रहे हैं। फिर, तुझे क्या तकलीफ़ है?"

"भाया! मैं...मैं...।" वह नहीं कह सकी कि धल्ली देसाई पत्नी बंशीधर वणकर उसके लिए वोट डालना मुश्किल है।

घड़सी ने घुड़की दी, "जा, सो जा। सुबह जल्दी पोलिंग बूथ पर पहुँचना है।"

धल्ली की हिम्मत जवाब दे गई। कुछ पल का मौन साधकर उसके पैर वापस लौट गए थे। नींद उससे कोसों दूर थी। धल्ली वणकर की पर्ची उसको सौत बनकर चिढ़ा रही थी। उसके तन-मन में आग लगी थी।

बंशीधर और गिरधर के बीच झूलती वह अपने गिरधर में खो गई। गत वर्ष अम्माजी के मेले में उसने अपने दाएँ हाथ पर अपने नाम के साथ अपने आदमी का नाम भी गुदवा लिया था। धल्ली पत्नी
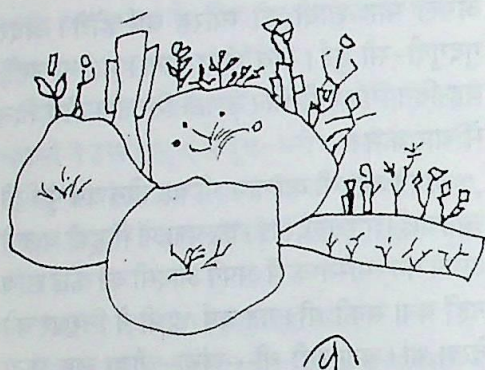
गिरधर देसाई। उसने अपने बाएँ हाथ से गुदाए अंग को छुआ और वह मीरां बन अपने पति को याद करने लगी। वह बड़बड़ा रही थी, "गिरधर। मैंने आपको देखा नहीं। फकत नाम सुना है। नाम। नाम की आसक्ति। जनम से मरण तक। मरण से जन्म-जन्मांतर के लिए। यही मेरा प्यार है। पूजा है। इबादत। मैं तेरी हूँ, मेरे गिरधर। तन से। मन से। वचन से। कल्पना में भी तुम्हारी जगह और कोई नहीं हो सकता।"

गिरधर! दो साल हुए फ़ौज में रंगरूट हो गया। सुना है—वह छुट्टी लेकर आने वाला है। गौना होगा। फिर मिलन। वह लजा गई। पूरे बदन में रोमांच हो आया। मन में मीठी कसक उठी। आँखें बंद कर वह कल्पनाओं के डैनों पर सवार भावी मिलन के मधुरस का आस्वादन कर रही थी। मन का कसैलापन हरा हो गया था। वह नींद के आगोश में थी।

बंशीधर वणकर खेत में काम कर रहा था। मजूरी पर कटाई। ललचाई नज़र वह उसे निहार रहा था। वह आगे बढ़ा। उसकी बलिष्ठ बाँहों में वह। वह चौंककर उठी। पसीना-पसीना। तेज़ी से धड़कता दिल। हाय राम! दुःस्वप्न उसको अधमरा कर रहा था। छिः...छि...।

उसकी बग़ल में वोट की पर्ची फड़फड़ा रही थी। भावावेश में धल्ली ने फाड़कर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिए। पर्ची के टुकड़े फ़र्श पर पड़े थे। उसे सुकून मिला।

सुबह हलचल भरी थी। भाभी नहा-धोकर तैयार थी—अपना वोट डालने। वह कोठे में आई। पूछा, "नणदी! अभी तक तैयार नहीं हुई?"

धल्ली का प्रतिरोध बोल रहा था, "कहाँ की तैयारी?"

"वोटों की।"

धल्ली के तेवर तीखे थे। कहा, "किसका वोट?"

"अपना वोट...वो ही।"

"भाभी, गैर-औरत बनकर वह कोई वोट नहीं डाल सकती। अपनी पिछाण मेटकर वोट। यह उससे नहीं होगा!"

भाभी ने समझाते हुए कहा, "नणदी! छोड़ो इन बातों को। बड़े-बूढ़े सुनेंगे तो तौफान मच जाएगा। बबेला।"

धल्ली डरी। कुछ क्षण का मौन। फिर, सहम कर धल्ली ने कहा, "भाभी जब मुझसे अपने आदमी का नाम पूछेंगे तो...।"

कह देना-पर्ची में लिखा है सो ही। यहाँ की औरतें अपने आदमी का नाम नहीं लेती।

"वह पढ़कर पूछेगा—बंशीधर वणकर, तब?"

"कह देना—हाँ। इतना भर कह देने से क्या जाता है?"

"भाभी, तुम भी भाया और बुधराम की भाषा बोल रही हो। एक औरत होकर औरत की आत्मा नहीं समझती। एक सच्ची औरत सपने में भी किसी पराए मर्द की औरत नहीं हो सकती। फिर मैं होश-हवास में रहते हुए यह सब कैसे करूँ?"

"नणदी, मैं भी एक औरत हूँ। तुम्हारी भावनाओं को समझती हूँ। मैंने तुम्हारे भाई से कहा था कि अपनी बहिन-बेटियों से वणकर बस्ती की बहुओं के वोट इस तरह गिरवाना नायायज है। गाँव में बहुओं खड़ी होगी। क्या इससे अपनी बहिन-बेटियों की आत्मा मलीन नहीं होती?"

"फिर?"

"फिर क्या ? हँसते-हँसते कह दिया—प्रेम और …नीति में सब जायज है।"

"भाभी! प्रेम और राजनीति ही क्यों ? सब …, मर्द जो चाहे वह सब जायज है। वह चाहे …क्री हमें औरत बना दे, वह चाहे तो हमें कहीं दाँव पर लगा दे। धर्मराज जुधिष्ठर की तरां।"

भाभी चुप थी। धल्ली से नज़रें मिलाने का …स उसमें नहीं था। देखा, फ़र्श पर पर्ची के टुकड़े इधर-उधर फैले हैं। वह घबराई। पति की परछाईं …ने लगी, "नणदी, तुमने यह क्या किया ? पर्ची फाड़ दी। एक वोट की कीमत नहीं जानती।…यदि …राम जेठ जी एक वोट से हार गए तो अपनी …नहीं। घर में बबाल खड़ा हो जाएगा।"

ऊहापोह के भँवर में फँसी धल्ली कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं थी। वह असहाय-सी बिस्तर …निढाल हो गई। भाभी ने बाजी मारते हुए कहा, "नणदी, जल्दी तैयार हो जाओ। हाँ, यह पूरी बाँह …कमीज पहन लो। आपके हाथ पर गुदे नाम …नहीं आने चाहिए। मैं तुम्हारे भाई से पर्ची …बनवा कर ला रही हूँ।"

पथराई आँखों से धल्ली बरबस भाभी को देखती …ी।

गीत गाती औरतों का झुंड पोलिंग बूथ की ओर …ढ़ रहा था। रास्ते में वणकर औरतें उन्हें अजूबे की तरह देख रही थीं। उन्हें मालूम था—ये वोट डालने जा रही हैं। वे वोट नहीं डाल सकती। उनके …भी वोट सफाई से डाल दिए जाएँगे। इन्हीं में उनकी सौतन है। मैल की गुड़ियाएँ, उनके ही रूप में। ये नकचढ़ी वणकर बनकर जा रही हैं। उनके आदमियों की लुगाइयाँ…वे बेबस हैं। विगत रात उनको धमकी मिल चुकी थी कि यदि वणकर बस्ती से कोई भी वोट डालने पहुँचा तो उसकी खैर नहीं। उनको, उनके जायों को खेत-खलिहान में पैर भी नहीं रखने दिया जाएगा। हगना-मूतना …क मुश्किल हो जाएगा। जीना हराम। ख़बरदार।

धल्ली ने देखा धल्ली वणकर एक ओर खड़ी है। उसकी हमउम्र। शुभ्र उज्ज्वल। निश्छल। दिन-दुनिया की राजनीति से बेख़बर। उसको देखकर मुस्कुरा उठी। प्रत्युत्तर में धल्ली भी मुस्कुराई। पर, अंदर का चोर उसको ठीक से मुस्कुराने भी नहीं दे रहा था।

धल्ली वणकर दो क़दम आगे आई। पूछा, "नणदी, क्या आज आप भी वोट डालेंगी ?"

धल्ली की ज़ुबान साथ नहीं दे रही थी। बस थूक गिटकते हुए उसने सिर हिला दिया हाँ में।

"नणदी, बताना। वोट कैसे पड़ते हैं ? सुना है—आजकल वोट मशीन में पड़ते हैं।"

धल्ली का दिल भर आया। मुट्ठी में दबी वोट की पर्ची आग का पतंगा हो गई। दग्ध हृदय लहूलुहान। उसने बड़ी मुश्किल से कहा, "हाँ…भाभी।"

पहली कतार बहिन-बेटियों की लगी। सधा-सधाया नाटक जारी था। एक-एककर वणकर दलित बस्ती की औरतों के वोट पड़ने लगे। दूसरी कतार नवयुवकों और भाड़े पर आए आदमियों की। वे वणकर पुरुषों के वोट डालने लगे थे। उनके अंश-वंश बनकर।

धल्ली का नंबर आया। पर्ची दी। सूची में नाम देखा। अधिकारी ने पूछा, "नाम ?"

"धल्ली।"

"उम्र ?"

"बीस बरस।"

"पति यानी आदमी का नाम ?"

"जी…पर्ची में…लिखा…जो ही।" डरते-डरते बड़ी मुश्किल से धल्ली कह पाई।

अधिकारी को शक हुआ। कड़कते स्वर उसने पूछा, "बंशीधर वणकर ?"

धल्ली हाँ नहीं कह सकी। उसकी पावन संवेदनाओं ने अँगड़ाई ली। साहस जुटाकर वह उलटे पाँव दौड़ी। विद्युत गति से घूँघट उघड़ा। वह बड़बड़ाती हुई दौड़े जा रही थी, "उसका वोट तो गिरधर के गाँव है।"

जितेन ठाकुर

नींद टूटती है

उसकी पूरी देह तप रही है। पोर-पोर से आँच निकलती है।

उफ़! कैसा तेज़ झटका है। जैसे बस ने कोई तीखा मोड़ काटा है। वह सँभलकर चारपाई के बान को पकड़ लेता है। नहीं, वह नहीं गिरेगा...नहीं गिरेगा।

पौंओंऽऽ...पीईऽऽ...। बाबा, कितनी तेज़ चलती है रे लारी! दोनों तरफ़ पहाड़ हैं—सीढ़ीनुमा कटे हुए पहाड़। पहाड़ों पर चरते हुए डांगरों के डार। साँप की चाल-सी बलखाती सड़क। वह लौट आया है अपने मुल्क में। हरी-हरी ज़मीन पर थिरकते झरनों के मुहानों पर। चीड़ और देवदार से लदे हुए, हरियाए पहाड़ों पर। अब वह शहर नहीं आएगा—कभी नहीं।

उसके होंठ भिंच गए।

कोई गा रहा है। हाँ-हाँ! सुनो-सुनो, सचमुच कोई गा रहा है! उसके कान सतर्क हो जाते हैं। प्रेम और प्रतीक्षा का गीत। विरह और मिलन का गीत : *चनन म्हाड़ा चढ़या ते, चढ़या उप्पर बाहवे/ रवारें पारें कियां लंगना तवी ठाठां मारे/ मिलना ज़रूर मेरी जान ओ...*

कोई सुर माँज रहा है। एक...दो, नहीं, अब तो कई सुर इकट्ठे हैं। गाँव की कुँआरी लड़कियों के स्वर। गीली माटी की गंध समेटकर ढाल पर फिसलते हुए स्वर। उसके नथुने फड़कने लगे हैं।

''दादू! दादू, ले दवाई पी ले।''

आवाज़ से तंद्रा टूटती है। वह आँखें खोलकर देखता है। सामने रामे खड़ा है, उसके पीछे सिर्फ़ दीवार है। खोली की दीवार। न कोई पेड़ न पर्वत। न चीड़ न चनार।

सीलन भरी खोली में नमी की ठंडक फैली हुई है। देह तप रही है। पोर-पोर से आँच निकली है। आँखों में तपिश की चिल्ल-चिल्लाहट होती है।

ज्वर तेज़ है शायद! सिरहाने खड़ा रामे उसे बाँह के सहारे उठाकर दवा पिलाता है।

''रामे !'' अचेतन टूटा है पल भर को।

''हाँ दादू।''

हिंदी और डोगरी के रचनाकार जितेन ठाकुर का जन्म 1955 में हुआ। कविता, कहानी एवं उपन्यास की कई पुस्तकें प्रकाशित। संपर्क : 4, ओल्ड सर्वे रोड, देहरादून-248001

अनु. स्वयं

"मुझे मेरे घर पहुँचा दे रामे। मेरी माँ के पास।"

"पहुँचा दूँगा-पहुँचा दूँगा।" रामे हौसला देता है।

"मेरे घर रामे। मेरे गाँव, मेरे मुल्क, मेरी मिट्टी के पास। मेरी माँ मेरा इंतज़ार कर रही होगी।"

दर्द से ज्वर भी तीव्र हो गया है, उस पर मॉर्फिया के इंजेक्शन का प्रभाव। दादू फिर बड़बड़ाने लगा है। रामे ने उसे लिटाकर कंबल ओढ़ा दिया।

लकड़ी का चीरान करते समय हाथ आरे में फँस गया था। बाहर निकला तो केवल लोथड़ा था। मांस का लोथड़ा।
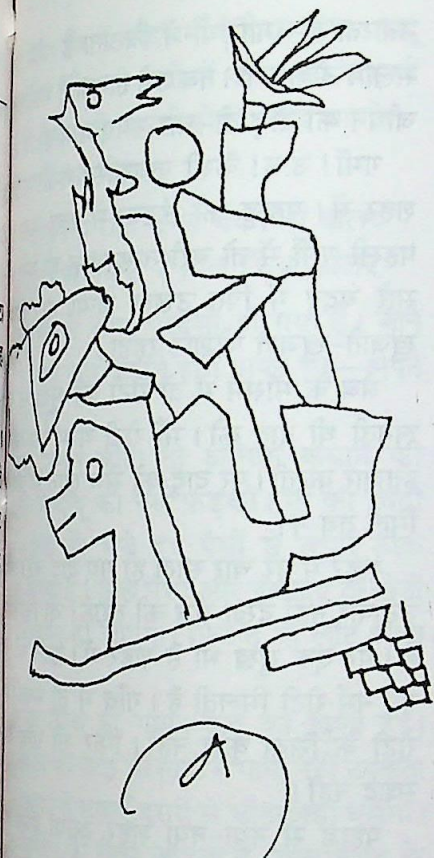
दादू फिर देखने लगा है। हाँ, देख रहा है दादू! पहाड़ की ढलान पर उतरता दादू घूम-घूमकर देखता है। माँ खुबानी के पेड़ की लचीली टहनी पकड़कर खड़ी है। गीली आँखें—रूँधा हुआ गला।

दादू जा रहा है शहर-नौकरी करने। हाल ही में जवान हुए गाँव के दूसरे लड़के भी साथ हैं। दादू इनमें सबसे छोटा है। क़ाफ़िला पहाड़ की पगडंडी पर धीरे-धीरे बढ़ता हुआ गाँव से दूर होता जा रहा है।

साल-दर-साल क़ाफ़िले यूँ ही गाँव छोड़ते रहते हैं। शहर में काम करने वाला कोई जब गाँव आता है, तो उसके साथ डंगरों की तरह हाँक दिए जाते हैं लड़के। पके-अधपके लड़के। सुनहरे कल की मृगतृष्णा होती है सबको। बेटा शहर जाएगा तो धन कमाएगा। नया देखेगा—नया सीखेगा। गाँव में रहा तो निरा पशु बना रह जाएगा। यही सोचकर हाँका लगाते हैं माँ-बाप। दादू के चेहरे पर तो बालों के नर्म रोएँ भी शहर आकर ही फूटे थे।

....क़ाफ़िला पहाड़ी से उतर रहा है। ढलान-ढलान। गाँव की पहाड़ी सरहद पर पूरा गाँव खड़ा है। बच्चों, बूढ़ों और रोती औरतों की भीड़। माँ भी एक किनारे खड़ी है। दादू ने कई बार रुक-रुककर देखा है। माँ रो रही है। रो रही है माँ। दादू के गले में भी कुछ फँस गया है। रोने लगा है दादू। साथ चल रहा बड़ा लड़का दादू को प्यार से थपथपाता है।

....माँ अब अकेली सोएगी। अकेली जाएगी लकड़ी बीनने। चक्की भी अकेले ही चलाएगी माँ।...और अब खाना भी अकेले ही बैठकर खाएगी। दादू के सामने कुछ भी स्थिर नहीं रह जाता है—सब गडमड है।

दो दिन लगते हैं शहर पहुँचने में। रात का पड़ाव और सुबह फिर लारी की पौंओं-पौंओं... ! ठस्स! आ गया जम्मू! माँ की कहानियों का शहर। राजा-रजवाड़ों का शहर। कुँआरे गीतों का शहर!

ढलान उतरते-उतरते क़ाफ़िले ने मोड़ काट लिया है। अब माँ नहीं दिखाई देती। पीछे पहाड़ है। सख़्त और पथरीले पहाड़। नहीं, पथरीले नहीं। चनारों से लदे हुए लहलहाते पहाड़। दादू का मन ललकता है माँ के लिए।

माँ का वचन याद है दादू को। पलटन में नहीं जाना। चाहे कोई सोने-चाँदी से ही क्यों न तोल दे। बापू भी पलटन में गए थे—फिर कभी नहीं लौटे।

"तुझे मेरी क़सम दादू। कभी पलटन में जाने की मत सोचना।" चलते समय माँ ने क़सम दी थी। दादू भला माँ की क़सम कैसे भूल जाएगा। कैसे जाएगा पलटन में। साथ के बाक़ी लड़कों ने दादू को चिढ़ाया था, "गाँव में रहता और लड़कियों के साथ उपले पाथता।" नसें फड़की थीं दादू की। मन हुआ था कि पलटन में चला जाए। पर फिर माँ का चेहरा सामने आते ही नसें ढीली पड़ गई थीं। भीतर जैसे एक पूरा संसार रीत गया था...माँ।

चीड़ों और चनारों के पेड़ों से उलझता हुआ क़ाफ़िला ढलान उतर रहा है। पत्तों की सरसराहट के बीच कोई गा रहा है—विरह का गीत। विछोह का गीत :

ना कर गोरिए मैलियां अक्खियां
कल परदेसिएं टुरी ओ जाना!

(गोरी तू क्यों आँखें फेरती है। परदेसी तो मेहमान है दिन-दो-दिन के। कल चले जाएँगे।)

सचमुच सभी चले गए। पता नहीं कहाँ-कहाँ। उस क़ाफ़िले से अब दो ही बचे हैं। दादू और रामे।

हत्तो...हत्तो! पहाड़ से उतरा मुलायम हड्डियों वाला दादू हत्तो बन गया। दादू बसों के पीछे-पीछे भागता है। बिस्तरबंद और बक्से सिर पर लादता है, सूटकेस हाथ में उठाता है और टोकरी बाँह में फँसाता है। साहब लोगों को गाड़ियों से उतारता है—गाड़ियों में बिठाता है। पैसे लेकर सलाम ठोकता है। तब उसे लगता है मानो उसके जीवन की दौड़ दो-चार रुपए कम हो गई है।

गर्मी! उफ़! कैसी ज़बरदस्त गर्मी पड़ती है शहर में। पहाड़ की ठंडक में रचा-बसा दादू पहली गर्मी में तो बुरी तरह पस्त हो गया था। सारे बदन में पित उछल आया था। दिनभर खुजाते-खुजाते परेशान रहता।

सेब के मौसम में तो रोटी की भूख भी नहीं लगती थी दादू को। माँ रोटी गरम कर-करके इंतज़ार करती। पर दादू को सेब खाने से फ़ुरसत मिले तब न!

शहर में पूरे चार साल हो गए दादू को। आँख उठाकर नहीं देखा सेब की तरफ़! जी किलसता है। पर एक सुख भी है शहर में। खाने को गेहूँ की नर्म रोटी मिलती है। गाँव में तो मक्की की रोटी के सिवा कुछ नहीं। फिर भी गाँव जैसा स्वाद नहीं।

पहाड़ से नया-नया शहर आया हुआ दादू पहले मोटर कारों से बहुत डरता था। बारह वर्ष का नन्हा पहाड़ी मोटरकारों की रेल-पेल से घबरा उठता और रोने लगता। फिर धीरे-धीरे इन सबका अभ्यस्त हो गया। हॉर्न की आवाज निकालता जाती हुई मोटर गाड़ियों के पीछे भागता।

नौकरी मिली थी एक बेकरी में। पचहत्तर रुपए महीना, रहना-खाना मुफ़्त! दादू ने सौ रुपए बचाकर माँ को भेज दिए। माँ को पत्र लिखवाया—माँ का पत्र आया। दादू पत्र बँचवाकर रोया था। माँ भी रोई होगी पत्र लिखवाते समय। महीने भर काम में जुटा हुआ दादू फिर गाँव में जी जुड़ा बैठा।

उस रात देर तक भट्ठी के पास बैठा हुआ दादू खुले दरवाज़े से चाँद को देखता रहा।...एक चाँद गाँव में भी आता है। ठीक ऐसा ही गोल-गोल, पीला-पीला। दादू के छप्पर के दाएँ कोने से लगकर निकलता है—धीरे-धीरे। आज भी तो

होगा गाँव में चाँद! माँ ने देखा होगा...दादू देखे! चाँद की रातों में लंबर की लड़की है...आज भी गा रही होगी। चाँद का गीत– नी रातों का गीत :

चाननियां रातां चन्ना चकरे नी बोलदे
सुनी परदेसियां दे दिल कियां डोलदे

दू भी तो आज परदेसी हो गया है। जाने बरस और काटने होंगे अपने घर—अपने से दूर।

कुछ समय बीता तो अधिक कमाने की लसा में दादू की नसें फड़कीं। माँ की चिट्ठी –बेटा तेरे भेजे हुए पैसों से छप्पर ठीक वा लिया है। कुछ पैसा और हो जाए तो खेती बंदोबस्त हो जाएगा। फिर तू भी लौट आना ।

छप्पर ठीक हो गया। दादू को ख़ुशी हुई। पहले की तरह बरसातों में पानी नहीं टपकता । बर्फ़ानी हवाएँ दरारों से भीतर नहीं घुसेंगी। कुछ ज़मीन के लिए जोड़ना है, कुछ ब्याह के । कुछ तो माँ ने जोड़ा हुआ भी है। बस! कभी नहीं आएगा शहर।

सर्दियों में सैलानी कम हो जाते हैं तो दादू आरा मशीन पर काम करने लगता है। मशीन के शोर में बुरादा उड़ता है और बड़े-बड़े लट्ठ चले जाते हैं—चिरते चले जाते हैं। जैसे मक्खन के बीचों-बीच से छुरी निकल रही हो। भी कोमल गात था—एकदम मक्खन जैसा—नरम। पता ही नहीं चला।

हफ़्ता हो गया काम पर गए। गाँठ का पैसा घुला सो अलग। दादू समय को जितना काटने की कोशिश करता है समय उतना ही बढ़ता जाता है। पर अब...अब कैसे पूरी होगी यह दौड़। एक हाथ से कैसे ख़रीद पाएगा खेत! कैसे लौट पाएगा अपनी माँ के चूल्हे की मद्धम-मद्धम आँच के पास। कैसे दौड़ता हुआ फलाँग पाएगा हरियाए पहाड़ के हरियाए वनों को। सेब और खुबानी के बग़ीचों को। सब टूट गया।

बहुत शोर है बाहर? खोली के बाहर अचानक शोर बढ़ गया है। लोग लौट रहे हैं। अपने-अपने काम से वापिस। गाते हुए, खिलखिलाते हुए, दिनभर की थकान को मुँह चिढ़ाते हुए। सबने मिलकर ढल रहे दिन को ठग लिया है। सभी ख़ुश हैं। दादू क्षणभर को आँखें खोलता है—फिर बंदकर लेता है। अब एक ही हाथ से सामान उठाना होगा, लादना होगा। दादू करेगा। सब करेगा। ज़्यादा नहीं तो थोड़ा कमाएगा। अपने लिए नहीं, माँ के लिए ही सही। लौटकर गाँव कैसे जाए? माँ कटा हुआ ठूँठ देखकर पछाड़ खा जाएगी। कौन सँभालेगा उसे!

दादू को लगा कहीं दूर घाटियों में घंटियाँ टनटना रही हैं। हरियाली-हरियाली! नहीं, अब यह स्वप्न नहीं है। वो देखो पहाड़ सूखने लगे हैं। बंजर हो रहे हैं पहाड़। माँ खड़ी है किसी सूखे पेड़ का ठूँठ पकड़ कर। कोई नहीं गा रहा गीत। माटी की ख़ुश्क गंध उड़ रही है—उकताहट भरी।

दादू डूबने लगा है...डूब रहा है दादू! रेत की नदी में। रेत! रेत! सब तरफ़ रेत ही रेत है। और कुछ भी नहीं।

घबराकर उठ बैठता है दादू। फिर देर तक नींद नहीं आती।

अनिल विश्वास

ग़ज़लेर रंग की भूमिका

[हिंदी फ़िल्म संगीत के पुरोधा अनिल विश्वास बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उच्चकोटि के संगीतकार, गायक तथा अभिनेता होने के साथ-साथ उन्होंने संगीत पर गंभीर चिंतन भी किया था और काव्य-सृजन में भी उनकी गति थी। वे सत्रह-अठारह वर्ष की उम्र में ही कलकत्ता की मेगाफ़ोन कंपनी के संगीत-निर्देशक क़ाजी नज़रुल इस्लाम और संगीतकार मंजू खां के संपर्क में आए, जिनसे उन्होंने ग़ज़ल का पहला पाठ पढ़ा। फिर बंबई पहुँचे, तो वहाँ सफ़दर आह सीतापुरी, ज़िया सरहदी, वजाहत मिर्ज़ा, क़मर जलालाबादी, मजरूह सुल्तानपुरी, प्रेम धवन, साहिर लुधियानवी, आरजू लखनवी, बहजाद लखनवी आदि से नज़दीकी रिश्ता क़ायम हुआ और आगे चलकर फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़' के साथ भी दोस्ताना ताल्लुक़ात बने। इन सब शायर-दोस्तों की संगत में वे ग़ज़ल को गहराई से समझने की कोशिश करते रहे और धीरे-धीरे उनकी यह कोशिश जुनून की शक्ल अख़्तियार करती गई। आख़िरकार उन्होंने ग़ज़ल पर व्यवस्थित काम शुरू किया और पाँच-छह साल की मेहनत के बाद ग़ज़लेर रंग शीर्षक से एक पुस्तक तैयार की, जिसका प्रकाशन कलकत्ता से जनवरी 1990 में हुआ था। इस पुस्तक में अमीर खुसरो से लेकर हबीब जालिब और तारीफ़ बदायूनी तक उर्दू के 68 प्रमुख ग़ज़लकारों की 100 चुनिंदा ग़ज़लों का बाङ्ला में छंदोबद्ध भावानुवाद प्रस्तुत किया गया है। ग़ज़ल का छंदोबद्ध अनुवाद करना और वह भी ऐसा कि जिसे संगीत में ढाला जा सके, कोई आसान काम नहीं था। शुरू में कई लोगों ने उन्हें निरुत्साहित किया और कहा कि बाङ्ला में रदीफ़-क़ाफ़ियों का निर्वाह नहीं किया जा सकता। मगर अनिल विश्वास ने वह कर दिखाया। उनका यह भावानुवाद उनकी कवि-प्रतिभा का ज्वलंत साक्ष्य होने के साथ-साथ इस बात का भी परिचायक है कि उन्होंने ग़ज़लों के मर्म को कितनी गहराई से आत्मसात किया है।

पुस्तक का एक महत्त्वपूर्ण भाग उसकी शोधपरक लंबी भूमिका है, जिसमें ग़ज़ल के उद्भव और विकास को रेखांकित करते हुए अनिल विश्वास ने ग़ज़ल में निबद्ध सांगीतिक और साहित्यिक तत्त्वों का विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है।

यह भूमिका न केवल बंगाली पाठकों के लिए बल्कि हिंदी पाठकों के लिए भी बहुत उपयोगी है, अतः इसे कुछ संक्षिप्त करके इसका हिंदी अनुवाद प्रस्तुत है।]

उर्दू साहित्य एवं काव्य की एक विशिष्ट विधा है ग़ज़ल। इसे संगीत के माध्यम से भी प्रस्तुत किया जाता है और इसका पाठ भी किया जाता है। इसीलिए जब ग़ज़ल का गायन किया जाता है तो उसमें साहित्य प्रमुख और संगीत गौण रहता है, ठीक उसी प्रकार जैसे रवींद्र संगीत में साहित्य देह है तो संगीत उस देह पर धारण किया गया आभरण। यहाँ मेरा उद्देश्य ग़ज़ल पर इसी दृष्टि से विचार करना है।

ग़ज़ल से मेरा लगाव साल-दर-साल बढ़ता रहा, जिसने मुझे बाध्य किया कि मैं इस गीत-विधा की विशेषताओं को गहराई से समझूँ और उसके सौंदर्य को आत्मसात करूँ। जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ

अनु. मोहन गुप्त का जन्म 1936 में हुआ। बच्चों की तथा अनुवाद की पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : 75 ए, पॉकेट-4, मयूर विहार फ़ेज़-1, दिल्ली-91.
फोन : 22713253

उससे यह लगता है कि इसमें अनंत संभावनाएँ हैं, लेकिन अभी जो है वह भी किसी से कम नहीं है।

ग़ज़ल शब्द से ही मैं अपनी बात शुरू करता हूँ। यह अरबी शब्द है। अरबी भाषा में दो शब्द मिलते हैं—'ग़ज़लाह्' और 'ग़ज़ल'। पहले शब्द का अर्थ है रूई से सूत कातना और दूसरे का शृंगारात्मक कविता। ये दोनों शब्द एक-दूसरे के पूरक हैं या नहीं, इसका कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है।

ग़ज़ल लिखनेवालों को लेखक नहीं कहा जाता था बल्कि उन्हें कहा जाता था कथक अर्थात् सूत कातने में अपेक्षित निपुणता के साथ शब्दों की काट-तराश करके ग़ज़ल की रचना करने वाला। फ़ारस में इस विधा का विशेष उत्कर्ष हुआ। वहाँ के कवियों ने शुरू में हल्की-फुल्की भावनात्मक ग़ज़लों की रचना की और उस समय फ़ारसी में इसकी परिभाषा थी—अर्थहीन शब्द जुटाकर प्रेम प्रदर्शित करने के लिए प्रिया के कानों में फुसफुसाना (बाज़नान गुफ़्तगू कर्दन)। दो लाइनों की इन छोटी-छोटी कविताओं में होता था प्रेम का आवेग और मिलन का उच्छ्‌वास—इनमें मिलन के वादे, विच्छेद, शंका, विरह, हताशा इत्यादि सब मूर्त हो उठता था।

ग़ज़ल का कोई शीर्षक नहीं होता, उसे सिर्फ़ ग़ज़ल ही कहा जाता है। दो पंक्तियों की जिस स्वतंत्र कविता में एक-एक भावना स्फटिक के समान प्रस्फुटित होती है उसे शेर कहा जाता है।

शेर का स्वरूप एक विशेष प्रकार से छंदायित होता है, जिसकी तुलना कई बार हिंदी के दोहे से की जाती है। सौंदर्यानुभूति के एकांत पलों को इस दो पंक्तियों के शेर में गूँथा जाता है, बड़ी कविता के रूप में उसका विस्तार नहीं किया जाता। इस प्रकार वर्ण, गंध, रूप और सुंदरता में भिन्न-भिन्न रंगों के फूलों के समान प्रत्येक शेर को एक-के-बाद-एक रदीफ़ और क़ाफ़िए के सूत में गूँथकर जो माला तैयार की जाती है उसी का नाम ग़ज़ल है। इस संदर्भ में ग़ज़लाह् शब्द बहुत सार्थक है। रूई एक ही होती है, किंतु हाथ के कौशल से सूत की गुणवत्ता अलग हो जाती है—कोई हाथ मोटा सूत कातता है तो कोई महीन। इसी प्रकार शब्द वही होते हैं, भाव भी एक-जैसे हो सकते हैं, किंतु उनसे जिस ग़ज़ल की सृष्टि होती है उस पर रचनाकार के व्यक्तित्व और सृजनशीलता की छाप रहती है। यह छाप कई बार इतनी विशिष्ट होती है कि बड़े-बड़े ग़ज़लकारों की रचनाओं में उनके व्यक्तित्व की झलक सीलमोहर के समान अलग से पहचानी जा सकती है।

काल के संदर्भ में ग़ज़ल का इतिहास बहुत प्राचीन तो नहीं है, पर इसकी उत्पत्ति का इतिहास 813 ई. के आसपास अरब के अब्बासी दरबार में आबू नुबास की कविता के साथ जुड़ता है। कुछ लोगों का मानना है कि अरबी में किसी क़सीदे की प्रस्तावना को ग़ज़ल कहा जाता था। किंतु ग़ज़ल का उत्थान फ़ारस पहुँचकर हुआ। आज भी जिस शैली में ग़ज़ल की रचना होती है वह फ़ारस का ही अवदान है। फ़ारसी ग़ज़ल के उद्‌भव का हालाँकि ठीक समय ज्ञात नहीं है, पर एक बात ज़ोर देकर कही जा सकती है कि फ़ारस में ग़ज़ल शेख सादी के समय में (1291 ई. के आसपास) समृद्धि के शिखर पर थी।

अरब से जब यह विधा फ़ारस पहुँची, तो वहाँ के कवियों, ख़ासकर सूफ़ियों की प्रतिभा का स्पर्श पाकर अलग-अलग धाराओं में अलग-अलग विशेषताओं के साथ प्रस्फुटित होने लगी। क्रमशः फ़ारसी की प्रारंभिक परिभाषा—'प्रिया के कानों में प्रेम की फुसफुसाहट' से ऊपर उठकर ग़ज़ल बनी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान की अधिकारिणी बनी और उसका विस्तार हुआ। वह अनेक आवेगों को प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त करने में सक्षम हुई। स्त्री-पुरुष के भौतिक प्रेम के अलावा ग़ज़ल की विषयवस्तु में उदात्त प्रेम की विशालता का समावेश भी हुआ। हर प्रकार का प्रेम, यथा—ऐंद्रिय प्रेम, रूपासक्ति का प्रेम, ईश्वरीय प्रेम, देशप्रेम आदि

तब ग़ज़ल के विषय हो गए। फ़ारसी और उसके पश्चात् उर्दू के अनेक महाकवियों ने ग़ज़लें लिखीं। मुख्यतया छोटी ग़ज़लों में ईश्वरीय प्रेम के वर्णन के बाद ग़ज़ल के माधुर्य में ईश्वर का गुणगान होने लगा। फ़ारस के सूफ़ी और कविगण ईश्वर को प्रियतम की मूर्ति में देखते थे, फलतः अपनी प्रेमाभिव्यक्ति के विशिष्ट माध्यम के रूप में इस नवीनतम काव्य-विधा ने उन्हें हठात् आकृष्ट किया। फ़ारसी और उर्दू कवियों की इस विशिष्ट भावधारा से भारत के भक्त-साधकों तथा सुदूर बंगाल के बाउलों का बहुत सामीप्य एवं सादृश्य दृष्टिगोचर होता है। कृष्ण जिस प्रकार समस्त गोपियों के प्रिय हैं, उसी प्रकार अल्लाह सब सूफ़ियों के प्राणाधार हैं और गुरु सब बाउलों के आदर्श पुरुष। पाठक अपनी भावना के अनुरूप ग़ज़ल के माधुर्य में इश्क़े-हक़ीक़ी का अनुभव कर सकता है और इश्क़े-मज़ाजी को भी इंद्रियानुभूति का विषय बना सकता है। इस प्रसंग में एक शेर याद आ रहा है : *वो अजब घड़ी थी कि जिस घड़ी लिया दर्स नुस्ख़ए-इश्क़ का, / कि किताब अक़्ल की ताक़ पर जो धरी रही सो धरी रही।*

—सिराज

इसका इंद्रियग्राह्य अर्थ है, 'जिस दिन से मैंने प्रेम किया, उस दिन से युक्ति, तर्क और उपदेश को नकार दिया।' इसकी इस रूप में भी व्याख्या हो सकती है कि भगवत प्रेम में युक्ति एवं तर्क का कोई स्थान नहीं है, 'विश्वास में ही कृष्ण मिलेंगे, तर्क में नहीं।'

भारत में ग़ज़ल तेरहवीं सदी में आई—मुसलमानों के शासन के साथ। कवि अमीर खुसरो ने उसे अपने अंतर में बसा लिया। खुसरो के पिता तुर्की थे और माँ भारतीय थीं। उनका जन्म उत्तर प्रदेश के एक गाँव पटियाली में हुआ था और वे जलालुद्दीन ख़िलज़ी के दरबारी कवि थे। उन दिनों दरबार की भाषा फ़ारसी थी। क़ानून और अदालत का सारा काम राजभाषा फ़ारसी में होने के कारण अनेक हिंदुओं ने भी इस भाषा की अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी। खुसरो की श्रेष्ठ रचनाएँ भी फ़ारसी भाषा में ही हैं। भारत में ग़ज़ल का प्रचलन करने के लिए उन्होंने जो प्रयत्न किया, वह उनकी निम्नांकित कविता में स्पष्ट परिलक्षित होता है। मैं उनकी पूरी ग़ज़ल से दो पंक्तियाँ उद्धृत कर रहा हूँ। यहाँ उन्होंने फ़ारसी भाषा के साथ आंचलिक भाषा को मिला दिया है। इसके बाद स्थानीय भाषामिश्रित पूरी ग़ज़ल का कोई और उदाहरण देखने में नहीं आता :

ज़े हाले मिस्कीं मकुन तग़ाफ़ुल (फ़ारसी)
दुराय नैना बनाए बतियाँ (स्थानीय)
के ताबे-हिजराँ न दारम ऐ जाँ (फ़ारसी)
न लेहो काहे लगाय छतियाँ (स्थानीय)

ग़ज़ल भारतीय भाषा में किस प्रकार घुलमिल गई थी, यह जानने के लिए कालक्रमानुसार कवियों और उनके काव्यकृतित्व को जानना ज़रूरी है। पहले चरण की कविता का हिंदी (उस समय जिसे हिंदवी कहा जाता था), अवधी एवं ब्रज आदि भाषाओं के प्रति काफ़ी झुकाव था। कारण यह कि उर्दू भाषा का उस समय तक स्वरूप निश्चित नहीं हुआ था। इसीलिए पहले चरण के ग़ज़ल की भाषा में भारतीय मिट्टी की गंध रची-बसी थी—वह वास्तविकता के अनुरूप थी। यही भाषा क्रमशः परिमार्जित होते-होते अंततः उर्दू के रूप में विकसित हुई। इस संकलन की ग़ज़लों को सिलसिलेवार पढ़ने से इसका कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

ग़ज़ल किस प्रकार भारतीय मानस में बद्धमूल हो गई थी, इसका प्रमाण दक्षिण के अबुल हसन तानाशाह की निम्नांकित कविता है :

जोबन को तुझ कोई गज कते,
या दो सीनिया सज कते,
या मदभरे पंकज कते,
कोई कुछ कते, कोई कुछ कते।

इस रचना में संस्कृत के दो सुंदर शब्दों का समावेश एवं व्यवहार दिखाई देता है—गज

(हाथी) और पंकज (कमल)। 'कते' 'कहते' का अपभ्रंश है, जिसका हैदराबाद अंचल में आज भी इस्तेमाल होता है। 'जोबन' संस्कृत शब्द 'यौवन' का अपभ्रंश है। इस तरह की और भी अनेक सुंदर रचनाएँ हैं। यह एक उदाहरण मात्र है।

अमीर खुसरों की रचना के बाद हमें ग़ज़ल का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण मिलता है संत कवि कबीर की रचना में। उन्होंने ग़ज़ल विधा को किस आदर के साथ ग्रहण किया था, यह उनकी निम्नांकित रचना से जाना जा सकता है :

हमन हैं इश्क़े-मस्ताना, हमन को होशियारी क्या,
रहे आज़ाद या जग में, हमन दुनिया से यारी क्या!
कबीरा इश्क़ का माता, दुई को दूर कर दिल से,
जो चलना राह नाजुक है, हमन सर बोझ भारी क्या!

कबीर के बाद ग़ज़ल की यथावत परंपरा के दर्शन होते हैं गोलकुंडा के राजा, क़ुतुबशाही वंश के क़ुली क़ुतुबशाह के दरबार (1659 ई.) में। ग़ज़ल का मार्ग प्रशस्त करनेवाले ग़ज़लकारों की सूची में उन्हें पहला स्थान देना होगा, क्योंकि ग़ज़ल की पहली कुल्लियात उन्हीं की उपलब्ध होती है। उनकी रचना में भाषा के विकासमान रूप का भी उत्कृष्ट साक्ष्य मिलता है। उदाहरणार्थ : *पिया बिन मैं कैसे सबूरी करूँ, कहा जाए अम्मा किया जाए ना!*

इस पंक्ति में देखिए—'पिया बिन' अवधी है, 'सबूरी' फ़ारसी शब्द 'सब्र' का आंचलिक रूप है और 'अम्मा' फ़ारसी शब्द है जिसका अर्थ है 'किंतु'।

इसी ग़ज़ल के और दो शेर देखिए :

पिया तुझ आशना हूँ मैं, तू बेगाना न कर मुझको,
टले ना इक घड़ी तुझ याद बिन, तू ना बिसर मुझको।
नबी सदक़े क़ुतुबशा को, नहीं आधार की हाजत,
कि दोनों जग मने आधार है ख़ैरुल बशर मुझको।

इस रचना में विभिन्न जातियों के विभिन्न शब्दों का विन्यास देखिए, यथा—पिया = अवधी, आशना = फ़ारसी, बिसर = अवधी, नबी सदक़े = फ़ारसी, आधार = संस्कृत, ख़ैरुल बशर = अरबी। यह सम्मिश्रण और प्रयोग ध्यान देने योग्य है। इस ग़ज़ल की भावधारा पूरी तरह सूफ़ी है। इसमें भाव का क्रमबद्ध विकास दिखाई देता है, जो साधारणतः ग़ज़ल में नहीं होता। ऐसी ग़ज़ल को 'मुसलसल' या धारावाहिक भावधारा की ग़ज़ल कहा जाता है। कविता की भाँति इसकी विषयवस्तु एक होती है।

इसके बाद आता है वली दक्नी का युग (1668-1741)। इस कवि को भारतीय ग़ज़ल का सर्वश्रेष्ठ अग्रदूत कहा जाता है। इनकी निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

जिसे इश्क़ का तीर कारी लगे,
उसे ज़िंदगी क्यूँ न भारी लगे
वली कूँ कहे तू अगर यक वचन,
रक़ीबाँ के दिल में कटारी लगे

यहाँ भी विभिन्न व्युत्पत्तियों के शब्दों का विन्यास और समन्वय देखने को मिलता है। इनमें 'कूँ' आंचलिक, 'वचन' संस्कृत और 'रक़ीबाँ' फ़ारसी का अपभ्रंश है।

वली दक्नी के समसामयिक तथा परवर्ती कवियों में नाज़ी, मज़मून, यकरंग, मज़हर जाने-जानाँ, मिर्ज़ा रफ़ी सौदा तथा मीर के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने ग़ज़ल को गंभीर स्वर में गंभीर भावों की अभिव्यक्ति करने योग्य बनाया। उन दिनों ग़ज़ल की भाषा को सामान्यतः 'रेख़्ता' कहा जाता था, जिसका व्याकरण पहले मुख्य रूप से मज़हर जाने-जानाँ ने और फिर नासिख़ लखनवी ने लिखा। फलतः नई भंगिमा और नए विन्यास में शब्दों के व्यवहार और परिशीलन तथा परिमार्जन की तैयारी होने लगी और इसी दौर में आए मीर तक़ी 'मीर'। उन्होंने लगभग पचास वर्ष तक अपनी रचना से भाषा को समृद्ध करने का काम किया। उनकी शायरी में नई गंध थी, एक ऐसी गंध जो इस देश की मिट्टी की गंध के अनुकूल थी और

जिसे यहाँ की मिट्टी से जनमे लोग समझते थे। उनके सहज किंतु गंभीर भावों को अभिव्यक्ति की एक नई दिशा मिल गई। उन्होंने लिखा :

'मीर' के दीनो-मज़हब को अब,
पूछते क्या हो उनने तो,
क़श्क़ा खैंचा दैर में बैठा,
कब का तर्क इस्लाम किया।

इस प्रकार एक अत्यंत ऐंद्रिय कविता के रूप में जन्म लेकर यह गंभीरतम दर्शन की सहजतम अभिव्यक्ति में सक्षम हुई और अभिव्यक्ति के इसी अंदाज़ ने मीर को ग़ज़ल का उस्ताद बनाकर सम्मान के उच्चतम आसन पर बैठा दिया। परवर्ती प्रसिद्ध कवि ग़ालिब ने कहा है, ''न हुआ पर न हुआ मीर का अंदाज़ नसीब।'' उपर्युक्त कविता से यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि मीर स्वयं को धर्म की रीति-नीति एवं बाह्य आचार-अनुष्ठान से पूरी तरह मुक्त करके व्यापक मानवीयता तथा सौंदर्योपासना के उच्च स्तर पर पहुँच गए थे, जहाँ से उन्होंने लिखा :

नाहक हम मजबूरों पर
ये तोहमत है मुख़्तारी की,
चाहे हैं सो आप करे हैं,
हमको अबस बदनाम किया।

मीर के इस शेर के समतुल्य संस्कृत का यह श्लोक अनायास याद हो आता है : *त्वया हृषिकेश हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि।*

मीर के बाद का समय भी भाषा में परिवर्तन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस काल से ग़ज़ल को राजदरबारों में संरक्षण प्राप्त होना शुरू हुआ और यह समाज के उच्च वर्गों तक सीमित हो गई।

कहा जाता है कि उर्दू ज़बान छावनी की देन है। छावनी के बाज़ार में मुसलमान सैनिकों और उत्तरी भारत के विभिन्न अंचलों से आए दुकानदारों के बीच एक-दूसरे की बात समझने-समझाने के लिए जिस खिचड़ी भाषा का इस्तेमाल होता था, वही उर्दू के उद्‌भव और विकास का मूल है। शुरू में इसी खिचड़ी भाषा को हिंदवी हिंदी कहा गया, लेकिन इस सिलसिले की ठीक-ठीक जानकारी उपलब्ध नहीं है कि हिंदवी/हिंदी कब रेख़्ता हो गई और रेख़्ता ने कब उर्दू का रूप ले लिया।

ग़ज़ल को सर्वाधिक राजकीय संरक्षण भारत के अंतिम सम्राट बहादुरशाह ज़फ़र के शासनकाल में प्राप्त हुआ। वे स्वयं भी एक श्रेष्ठ कवि और साहित्यानुरागी व साहित्यकारों का सम्मान करनेवाले थे। उन्हीं के समय में उर्दू ने एक स्वत:संपूर्ण अलग भाषा का रूप ग्रहण किया। भारत की आंचलिक भाषाओं के साथ-साथ अरबी-फ़ारसी के समवेत सौंदर्य, गुणों और विशिष्टताओं से युक्त होकर यह भाषा और अधिक संपन्न तथा संसार की किसी भी साहित्यिक भाषा की बराबरी करने में सक्षम हो गई।

मीर और उनके समकालीन कवियों के बाद का समय उर्दू कविता में गत्यवरोध का काल रहा, जिसमें साधारण कोटि के कवि ही पैदा हुए। वे ग़ज़ल को कोई नया रूप नहीं दे सके और मीर की सहज-गंभीर कविता का असमर्थ अनुकरण-भर करते रहे। उनके पास नया कुछ कहने के लिए नहीं था। उन्होंने अपनी कविता में रोज़मर्रा की भाषा और मुहावरों का प्रयोग करके चमत्कार पैदा करने की कोशिश की। उदाहरणार्थ—'फट चुका जब से गिरेबाँ अपना, हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं।' यहाँ कवि कहना चाहता है कि प्रिय के विरह में जब आशा की कोई किरण बाक़ी नहीं रही तो मैं हाथ पर हाथ रखकर बैठ गया। 'हाथ पर हाथ रखकर बैठना' एक मुहावरा है, जिसका अर्थ है निष्क्रिय हो जाना। यह एकदम साधारण कोटि की कविता है, किंतु इस तरह की कविता का आधिक्य होने के बावजूद इस काल में मुसहफ़ी, इंशा, असर तथा जुर्रत सरीखे कुछ विशिष्ट कवि भी हुए, जिनका नाम आदर से साथ लिया जाता है।

उर्दू भाषा और ग़ज़ल का विशेष उत्कर्ष उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में, सिपाही विद्रोह से कुछ पहले हुआ जब ग़ालिब की प्रतिभा के

स्फुलिंग ने उसे स्पर्श किया। इस काल के अन्य कवियों में ज़ौक़, मोमिन, आतिश, अमीर मिनाई, दाग़, हाली इत्यादि उल्लेखनीय हैं और ये सभी आचार्य कोटि के कवि हैं। इन्होंने ग़ज़ल को मुक्त करके धीरे-धीरे गतिहीनता से उद्दाम गतिशीलता की ओर अग्रसर किया। इनमें से प्रत्येक के विषय में विस्तारपूर्वक लिखा जा सकता है, किंतु यहाँ हमारा वह अभिप्रेत नहीं है। हाँ, इस संकलन में इनकी रचनाएँ अवश्य प्रस्तुत की गई हैं।

बीसवीं सदी में ग़ज़ल की रूप-कल्पना में जो क्रांतिकारी परिवर्तन घटित हुआ, उसका श्रेय मोहम्मद इक़बाल और मौलाना हसरत मोहानी को जाता है। इन दोनों शायरों ने ग़ज़ल को पहली बार आधुनिकता तथा विवेकसम्मत राजनीतिक चेतना से युक्त बनाया, जिसके फलस्वरूप उसमें आम आदमी की आशा-आकांक्षाएँ प्रतिबिंबित होने लगीं। अब ग़ज़ल के पुराने शब्द और भाव नए अर्थ और मूल्य ग्रहण करने लगे। प्रेम की मधुर वाणी से भरे छंदों में राजनीतिक चेतना झंकृत होने लगी। चमन और आशियाना अपने शब्दकोशीय अर्थों को छोड़कर देश और समाज के प्रतीक बन गए। मोहम्मद इक़बाल की असामान्य प्रतिभा से उर्दू काव्य और ग़ज़ल के क्षेत्र में नवयुग का आगमन हुआ—वह नवीन शैली, नवीन भावबोध और व्यापक जीवन तथा युगीन संदर्भों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन गई, जिसकी मशाल आगे चलकर फ़िराक़ तथा फ़ैज़ जैसे कवियों ने थामी।

आज की ग़ज़ल की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी तीखी राजनीतिक व सामाजिक चेतना—मानव जाति का वर्तमान और भविष्य, भूख, युद्ध, ग़रीबी और शांति उसकी चिंता के केंद्रीय विषय हैं। इस अत्यंत शक्तिशाली काव्य-विधा में उच्च वर्ग से लेकर निम्न वर्ग तक हर किसी के मन को आंदोलित करने की क्षमता है। स्थानाभाव के कारण यहाँ ज़्यादा उदाहरण देना संभव नहीं है, किंतु फ़ैज़ की एक कविता का उल्लेख किए बिना मेरी बात अधूरी रहेगी। फ़ैज़ इस युग के सर्वाधिक प्रतिष्ठित और आधुनिक चेतना से संपन्न कवि हैं। अपनी एक चतुष्पदी में वे कहते हैं :

मताए-लौहो-क़लम छिन गई तो क्या ग़म है
कि ख़ूने-दिल में डुबो ली हैं उँगलियाँ मैंने।
ज़बाँ पे मोहर लगी है तो क्या कि रख दी है
हरेक हलक़ए-ज़ंजीर में ज़बाँ मैंने।

इसी के समानांतर चेतना अली सरदार जाफ़री की निम्नांकित पंक्तियों में दिखाई देती है :

तेग़ मुंसिफ़ हो जहाँ, दारो-रसन हो शाहिद
बेगुनाह कौन है उस शह्र में क़ातिल के सिवा

विद्रोही कवि शहीद रामप्रसाद बिस्मिल की फाँसी के तख़्ते पर जाते समय गाई गई ग़ज़ल—'सरफ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है'—आज राष्ट्रगीत का पर्याय बन चुकी है और इक़बाल की 'सारे जहाँ से अच्छा हिंदोस्ताँ हमारा' हर ज़बान पर चढ़ी हुई है।

ग़ज़ल में संगीत

भारतीय संगीत और ग़ज़ल एक-दूसरे के परिपूरक हैं। आज हमारे जीवन में ग़ज़ल मानो संगीत का ही एक रूप हो गई है, जो शास्त्रीय संगीत, ख़ासकर ठुमरी-दादरा और यहाँ तक कि लोकसंगीत की धारा के साथ-साथ प्रवाहित हो रही है। कट्टर शास्त्रीय संगीतकार भी ग़ज़ल की इस लोकप्रियता को अस्वीकार नहीं कर सकते बल्कि वे इसका समर्थन ही करते हैं।

ग़ज़ल अब अपने बलबूते पर भारत की एक विशिष्ट संगीत-विधा बन गई है।

ग़ज़ल को जब शुरू-शुरू में सिर्फ़ पढ़ा जाता था उस समय भी इसके दो रूप थे—एक गाने का और दूसरा पढ़ने का। उर्दू में पहले रूप में 'तरन्नुम' और दूसरे को 'तहतुल लफ़्ज़' कहा जाता है। कवि जब ग़ज़ल का सस्वर पाठ करता है तो वह तरन्नुम है और जब सिर्फ़ पढ़ता है तो वह तहतुल लफ़्ज़ है। गेय परंपरा में ग़ज़ल के बाद क़व्वाली आती है, जिसे ग़ज़ल का समवेत गायन कहा जाता है।

शुरू में इस गीत-शैली का प्रयोग मुख्यत: धार्मिक विषयों में किया जाता था, ठीक वैसे ही जैसे हमारे यहाँ भजन अथवा कीर्तन होता है। लेकिन आजकल हर प्रकार की ग़ज़ल को क़व्वाली के रूप में गाया जाने लगा है, ख़ासकर साधारण और सस्ती शृंगारात्मक ग़ज़ल को, जिसकी विषयवस्तु आमतौर पर साक़ी, शराब और माशूक़ होती है। इसके अलावा एक और धारा थी, पारंपरिक धारा, जिसे 'खुली ग़ज़ल' कहा जाता था। इसका आरंभ संभवत: बहादुरशाह ज़फ़र के समय से व्यावसायिक गायकों ने किया था। गायकी का यह रूप अकसर ग़ज़ल की काव्यात्मकता को खंडित करता है और कभी-कभी तो उसे पूरी तरह अर्थहीन ही बना देता है। आजकल ग़ज़ल की जो धारा समादृत है, वह संवेदनशील गीतिमय पाठ की धारा है, जिसमें ग़ज़ल की काव्यात्मकता और उसके अर्थवैभव को अलंकारों से सजाकर श्रोता के मर्मस्थल तक पहुँचाया जाता है। ग़ज़ल-गायकी की इस शैली में संगीत और साहित्य के उपयुक्त मिश्रण से एक तीसरे स्तर का निर्माण होता है, जहाँ साधारण बात भी गंभीर अर्थमय रूप धारण कर लेती है। यह अंतिम शैली ही हमारे लिए ग्रहण करने योग्य है और इसी की व्याख्या तथा विश्लेषण करना अपेक्षित है।

ग़ज़ल के वास्तविक संप्रेषण के लिए निम्नांकित कुछ बातें ख़ासतौर पर ध्यान देने योग्य हैं—

1. ग़ज़ल में सबसे ज़रूरी है उपयुक्त स्थान पर निर्दिष्ट यति और विरति (यानी कहाँ रुकना है और कहाँ नहीं रुकना है) का व्यवहार, क्योंकि एक पंक्ति में कई शब्द होते हैं, जिन्हें छंद की सूक्ष्म संरचना में इस कौशल के साथ पिरोया जाता है कि यति और विरति के अशुद्ध व्यवहार से उसका वास्तविक अर्थ विकृत हो सकता है। आमतौर पर ग़ज़ल गानेवाले ग़ज़ल के छंद को केवल मात्रिक आधार पर तोड़कर गाने की कोशिश करते हैं, किंतु इस प्रकार गाने से ग़ज़ल के विकृत होने की संभावना रहती है। मात्रिक छंद-विभाजन के उदाहरण के लिए निम्नांकित शेर देखिए :

किनारों से मुझे ऐ नाख़ुदाओं दूर रहने दो
वहाँ लेकर चलो तूफ़ाँ जहाँ से उठने वाला है

इसका मात्रिक-विभाजन इस प्रकार होगा :

किनारों से मुझे ऐ ना ख़ुदाओ दूर रहने दो।
वहाँ लेकर चलो तूफ़ाँ जहाँ से उठने वाला है।

यहाँ दोनों पंक्तियों का कर्ता है—'नाख़ुदाओ', जिसका अर्थ है माँझी अथवा मल्लाह। अब इन पंक्तियों का अर्थ होगा : 'हे माँझियो, मुझे नदी-तट से दूर उस जगह ले चलो, जहाँ तूफ़ान उठनेवाला है।' इसे अगर उपर्युक्त छंद-विभाजन के आधार पर गाया जाए तो इसका अर्थ पूरी तरह विकृत हो जाएगा। अत: इसका यति-निर्देश इस प्रकार करना उचित होगा :

किनारों से मुझे ऐ नाख़ुदाओं दूर रहने दो।
वहाँ लेकर चलो तूफ़ाँ जहाँ से उठनेवाला है।

इस तरह गाने से दोनों पंक्तियों का अर्थ यथावत रहेगा।

2. बहर अर्थात् ग़ज़ल के छंदविन्यास की समझ होनी बहुत ज़रूरी है। ग़ज़ल गानेवाले को कई बार छंद के सुंदर समन्वय के लिए अपनी समझ से काम लेना पड़ता है। इसलिए अगर वह छंदविन्यास का ज्ञानकार नहीं है अथवा भावार्थ को यथोचित महत्त्व नहीं देता है तो उसके द्वारा ग़ज़ल का सुंदर प्रस्तुतीकरण संभव नहीं है। उसकी अभिव्यक्ति में झोल पड़ जाएगा और काव्यांश अर्थहीन हो जाएगा। इस मामले में साँस लेना और छोड़ना ख़ासतौर पर महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए गानेवाले को छंद का ज्ञान होना ज़रूरी है ताकि वह संगीत के सुंदर संप्रेषण के लिए ग़ज़ल में अभिव्यक्त भावनाओं को सही ढंग से समझ सके। प्रसंगत: इस बात को भी ध्यान में रखना ज़रूरी है कि उर्दू तथा हिंदी में 'आ'-कार, 'ई'-कार, 'ऊ'-कार, 'ए'-कार तथा 'ओ'-कार द्विमात्रिक हैं। लेकिन कभी-कभी छंद के वज़न को साधने के लिए कविगण अपने विशेषाधिकार (poetic license)

का इस्तेमाल करते हुए द्विमात्रिक को एकमात्रिक बना देते हैं। इसी प्रकार एकमात्रिक को द्विमात्रिक की तरह भी प्रयोग में लाया जाता है। ख़ास तौर पर उर्दू में अनेक शब्द ऐसे हैं, जो इस poetic license के कारण छोटे या बड़े हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, 'तेरी' पद में 'ते' अक्षर में 'ए'-कार संयुक्त होने से यह द्विमात्रिक है। किंतु कभी-कभी कवि छंद का वज़न ठीक रखने के लिए poetic license का इस्तेमाल करते हुए ऐसे अक्षर को द्विमात्रिक से एकमात्रिक बना देते हैं यानी 'तेरी' को 'तिरी' पढ़ा जाएगा।

3. ग़ज़ल के शब्द-संयोजन और विषय को ध्यान में रखते हुए काव्यात्मकता के अनुरूप स्वर का संधान करना भी ज़रूरी है। देखने में आया है कि एक ग़ज़ल का स्वर समान छंदवाली दूसरी ग़ज़ल के साथ अनुकूल नहीं रहता, जिसके फलस्वरूप ग़ज़ल फीकी तथा खंडित हो जाती है और शब्द-संयोजन व स्वर में कोई समन्वय नहीं रहता।

4. भारतीय संगीत की विभिन्न धाराओं का ज्ञान कलाकार के लिए ग़ज़ल के अंतर्निहित भावों को उद्घाटित करने में सहायक होगा और स्वर-रचना के क्षेत्र में शब्द-संयोजन के साथ स्वर की पूर्ण एकात्मता स्थापित करनी होगी। किंतु ग़ज़ल के शब्दों का उच्चारण यदि शुद्ध नहीं होता है, तो ग़ज़ल की मृत्यु ही समझो। इस दृष्टि से कलाकार के लिए ग़ज़ल-गायकी में ख़याल, ठुमरी, दादरा एवं लोकसंगीत का ज्ञान होना भी निहायत ज़रूरी है।

5. इज़ाफ़त अथवा समास, यथा—'इन दिनों रस्मो-रहे-शह्रे-निगाराँ क्या है।' यहाँ 'रस्मो-रहे-शह्रे-निगाराँ' एक ही समस्त पद है, जिसे विभक्त करके बोलने से अर्थ गड़बड़ा जाएगा।

अंत में यह कि सब ग़ज़लें गाने योग्य नहीं होतीं। जिस ग़ज़ल के शब्द-विन्यास में गीतिमयता होती है, उसे ही गाया जा सकता है। गीतिमयता की उपेक्षा किसी भी तरह नहीं की जा सकती। मेरे मित्र-कवि सिकंदर अली वज्द ने एक दिन मज़ाक़-मज़ाक़ में मुझे अपनी निम्नांकित रुबाई दी, जो न-गाई-जा-सकनेवाली ग़ज़ल का नमूना थी :

वक़्त के हर पल से अमृत रस निचोड़
ज़िंदगी का क़ब्र तक पीछा न छोड़
हो रहे हैं साफ़ सदियों के खंडहर
मुद्दतों जारी रहेगी तोड़-फोड़

गंभीर अर्थयुक्त इस रचना में गीतिमयता कम होने से, इसका गायन अच्छा नहीं हो सकेगा। यही कारण है कि अदबी या साहित्यिक रचना का आनंद केवल साहित्य-रसिक ही ले सकते हैं। किंतु गीतधर्मी ग़ज़ल शिक्षित-अशिक्षित सबके लिए समान रूप से आनंददायिनी होती है। एक उदाहरण देखिए :

सरश्के-सर्बा सहरा दादा नूरुल ऐने-दामन है
दिले-बेदस्तो-पा उफ़्तादा बरख़ुरदारे-बिस्तर है

और :

कोई उम्मद बर नहीं आती
कोई सूरत नज़र नहीं आती।

ये दोनों रचनाएँ ग़ालिब की हैं। पहली रचना की दोनों पंक्तियों के अंत में प्रयुक्त 'है' को छोड़ दें तो बाक़ी सारे शब्द फ़ारसी के हैं, जिन्हें आम पाठक, जो फ़ारसी से अनभिज्ञ है, नहीं समझ सकता। किंतु दूसरी रचना गंभीर भावपूर्ण होते हुए भी सहज, सरल और गीतात्मक है।

जिस तरह सब ग़ज़लें गाई नहीं जा सकतीं, उसी तरह संगीत के हर वर्ण और अलंकार का ग़ज़ल में प्रयोग नहीं किया जा सकता। ग़ज़ल तो स्वयं सुंदरी है, उसे संगीत के गुरु गंभीर आभरण पहनाने से उसका प्रकृत सौंदर्य नष्ट हो सकता है।

ग़ज़ल के तत्त्व

ग़ज़ल दो-दो पंक्तियों की कई कविताओं से मिलकर बनती है। दो पंक्तियों की एक कविता को शेर कहते हैं। जैसे :

अपना अहवाले-दिलेज़ार—कहूँ या न कहूँ
है हया मानए-इज़हार—कहूँ या न कहूँ
—ग़ालिब

इसके पहले चरण को 'मिस्रए-अव्वल' और दूसरे को 'मिस्रा-सानी' कहते हैं। ग़ज़ल का पहला शेर 'मत्ला' कहलाता है, जिसकी व्युत्पत्ति अरबी शब्द तुलू (अर्थात् उदय) से हुई है और अंतिम शेर में अगर कवि ने अपने तख़ल्लुस (उपनाम) का प्रयोग किया है तो उसे 'मक़्ता' कहा जाता है। उदाहरण के लिए :

आपसे वो मेरा अहवाल न पूछें तो 'असद'
हस्बे-हाल अपने फिर अशआर—कहूँ या न कहूँ

यहाँ 'असद' कवि का तख़ल्लुस है। ग़ालिब, जिनका पूरा नाम असदुल्ला ख़ाँ था, अपने नाम के पहले शब्द 'असद' को तख़ल्लुस की तरह इस्तेमाल करते थे। आजकल कई कवि ग़ज़ल के अंतिम शेर में तख़ल्लुस का इस्तेमाल नहीं करते हैं, इसलिए उसे मक़्ता नहीं कहा जा सकता। मक़्ता न रहने से ग़ज़ल हालाँकि अधूरी नहीं मानी जाती, किंतु यह भी निश्चित है कि उसके अभाव में ग़ज़ल का रूप संपूर्णता को प्राप्त नहीं होता।

किसी-किसी ग़ज़ल में दो मत्ले एक साथ रहते हैं, जैसे :

शबे-ग़म की दराज़ी ज़ुल्फ़े-जानाँ कौन देखेगा
लगाकर तुमसे दिल ख़्वाबे-परीशाँ कौन देखेगा
तेरी मासूम नज़रों को पशेमाँ कौन देखेगा
शबे-महशर तेरी वहशत का सामाँ कौन देखेगा

यहाँ पहला शेर मत्ला है और दूसरे शेर को कहा जाएगा 'हुस्ने-मत्ला'। मत्ले की यह विशेषता है कि इसके दोनों चरणों में क़ाफ़िए और रदीफ़ दोनों का प्रयोग होता है। क़ाफ़िया कहते हैं छंद की तुक मिलाने को, जैसे 'जाने ना' और 'माने ना' की तुक। इसके विपरीत रदीफ़ उस पद अथवा वाक्यांश को कहते हैं, जो हर शेर के अंत में बार-बार दुहराया जाता है और उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। उदाहरण के लिए :

अपना अहवाले-दिलेज़ार — क़ाफ़िया
कहूँ या न कहूँ — रदीफ़
है हया मानए-इज़हार — क़ाफ़िया
कहूँ या न कहूँ — रदीफ़

यहाँ 'दिलेज़ार' से 'इज़हार' की तुक मिलती है, इसलिए यह क़ाफ़िया है और दोनों पंक्तियों के अंत में 'कहूँ या ना कहूँ' ज्यों-का-त्यों दुहराया जाता है, यह रदीफ़ है। इसके बाद ग़ज़ल के बाक़ी अशआर में यह बंधन नहीं रहता कि एक शेर के दोनों मिस्रों में क़ाफ़िया व रदीफ़ हों। उनमें पहला मिस्रा स्वतंत्र हो जाता है और दूसरे मिस्रे में क़ाफ़िया तथा रदीफ़ दोनों रहते हैं, जैसे :

आपसे वो मेरा अहवाल,
न पूछें तो 'असद' — स्वतंत्र
हस्बेहाल अपने फिर अशआर — क़ाफ़िया
कहूँ या न कहूँ — रदीफ़

यहाँ पहली पंक्ति में न कोई क़ाफ़िया है, न रदीफ़। लेकिन दूसरी पंक्ति में 'अशआर' क़ाफ़िया है (जिसकी तुक पहले शेरों के 'दिलेज़ार' और

'इज़हार' से मिलती है) और 'कहूँ या न कहूँ' रदीफ़ है। किंतु आजकल कई बड़े कवि भी रदीफ़ के बिना ही ग़ज़ल लिखते हैं, जिनमें सिर्फ़ शेर के मिस्रे तुकांत होते हैं, जैसे :

यक नज़र देख सकें तुझको यही लाग है आज
बैठे हैं दर पे ढई देके न कुछ काम न काज

—फ़िराक़

रहा न कुछ भी ज़माने में जब नज़र को पसंद
तिरी नज़र से किया रिश्तए-नज़र पैबंद

—फ़ैज़

उपर्युक्त दोनों अशआर में सिर्फ़ क़ाफ़िए का इस्तेमाल किया गया है, रदीफ़ का नहीं, हालाँकि रदीफ़ और क़ाफ़िए का सम्मिलित प्रयोग ग़ज़ल की निजी विशेषता है। अन्य किसी भी भाषा की कविता में यह तत्त्व नहीं पाया जाता। बाङ्ला कविता में भी इसका प्रयोग बहुत कम हुआ है, यहाँ तक कि ग़ज़लों के कवि नज़रुल इस्लाम ने भी इस टेक्नीक का ज़्यादा इस्तेमाल नहीं किया। फिर भी ऐसा नहीं है कि खोजने पर इसके दृष्टांत न मिलें। उदाहरणार्थ, रवींद्रनाथ ठाकुर की इन पंक्तियों में :

कॅबे आमि बाहिर हॅलेन तोमारि गान गेये
से तो आज के नॅय, से आज के नॅय
भूले गेछि कॅबे थेके आसछि तोमाय चेय

—क़ाफ़िया

से तो आज के नॅय, से आज के नॅय

—रदीफ़

ग़ज़ल के भिन्न-भिन्न भावों को अभिव्यक्त करनेवाले भिन्न-भिन्न अशआर में रदीफ़ की बार-बार पुनरावृत्ति से अद्भुत प्रभाव की सृष्टि होती है।

छंदविन्यास की दृष्टि से ग़ज़ल नियमों के अत्यंत कठोर बंधनों में बँधी हुई है। आधुनिक गीत और कविता में जैसी स्वतंत्रता बरती जाती है, वह ग़ज़ल में संभव नहीं है। उर्दू ग़ज़ल भले ही अरबी-फ़ारसी को छोड़कर भारतीय भावों, किंवदंतियों, प्रतीकों तथा रूपकों का इस्तेमाल करे, पर चूँकि उसका जन्म अरब तथा फ़ारस में हुआ है इसलिए वह छंद एवं शिल्प के मामले में उन्हीं देशों के छंदशास्त्र का अनुसरण करती है। फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि भारतीय छंदशास्त्र के कई छंदों में उसकी समानता दृष्टिगोचर होती है। उदाहरण के लिए :

।। ।। । ।।। । ।।। ।।
कभि हम में तुम में भि प्यार था,
।।। ॥। । । । ॥। ।
तुम्हें याद हो कि न याद हो —मोमिन

इसी के समान भारतीय छंद—

॥ ॥।।। । । ॥ । । । ॥ ।।। ।। ।।॥।।
श्री रामचंद्र कृपालु भज मन हरण भव भय दारुणम्

—तुलसीदास

हालाँकि मात्राओं का वज़न ठीक रखने के लिए कई ग़ज़लों का छंदरूप बदल जाता है, फिर भी यहाँ उसके छांदिक वज़न का कुछ विश्लेषण करना आवश्यक है, जिससे पाठकों, गायकों तथा संगीतकारों को उसका छंद समझने में कुछ सहायता मिले।

ग़ज़ल के छंद और कुछ भारतीय तालों का तुलनात्मक अध्ययन बहुत आश्चर्य में डाल देनेवाला है। मूलतः चार भारतीय मात्रिक छंदों की जानकारी प्राप्त करने के बाद ग़ज़ल का छंद समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी। ये हैं—तीन, चार, पाँच और सात मात्राओं के छंद, जिन्हें ताल भी कह सकते हैं अर्थात् दादरा (तीन मात्रा), कहरवा (चार मात्रा), झपताल (पाँच मात्रा) और दीपचंदी (सात मात्रा)। इन चारों के उदाहरण देखिए :

। । । ।।
तीन मात्रिक दादरा के बोल— धा धी ना धा तू ना

।। । ।। । ।। । ।
नर्म फ़ि ज़ाँ कि कर व टें
। । । ॥ । ॥ । ।
दिल् को दु खा के रह ग ईं

—फ़िराक़

| | | |

मात्रिक कहरवा के बोल—धा गि ते ते

| | | |

ना गि धि न

|.|| | | | | | | | | || ||

उलटी हो गई सब तद बीरें

|| | | || || || | | ||

कुछ न द वा ने काम कि या

—मीर

| | | | |

मात्रिक झपताल के बोल—धी ना धी धी ना

| | | | |

ति ना धी धी ना

|| ||| | | || || ||| | | ||

हर क़दम रहमतें हर नफ़स उलझनें

|||| | | | || ||| | | || | ||

ज़िंदगी वक़्फ़ है दर्दे सर के लिए।

—शकील

मात्रिक दीपचंदी के बोल—

| | | | | | | | | | | | | |

धा धीन धा धा ति न न ति न धा धा धी न

| | | | | | | |

तिन नित तेते धिन धिन धागितेते

| | | | | | | | | | | | | |

वो जो हम में तुम में क़रार था

||| |||| | | | ||| |

तुम्हें याद हो कि न याद हो।

—मोमिन

इससे समझा जा सकता है कि ग़ज़ल के छंद का ढाँचा कितने सहज भाव से भारतीय ताल के ढाँचे में मिल जाता है और यह तथ्य इस देश के ग़ज़ल-गायक तथा संगीतकार के लिए ग़ज़ल पर चिंतन करने में बहुत सहायक हो सकता है। यहाँ एक बात कह देना ज़रूरी है। उपर्युक्त शेर के विभाजन पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाएगा कि आ-कार, ई-कार, ऊ-कार, ए-कार तथा ओ-कार इत्यादि मूलतः द्विमात्रिक हैं, किंतु छंद अथवा ताल की ज़रूरत के मुताबिक़ इनकी मात्राओं में कमी-बेशी हो जाती है। हिंदी गीत का छंद भी साधारणतः इसी पद्धति का अनुसरण करता है।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि ग़ज़ल में साहित्य का अंश ही प्रधान होता है। सब जगह देखा गया है कि ग़ज़ल की महफ़िल में शेर को ही महत्त्व दिया जाता है और उसी की तारीफ़ की जाती है। ग़ज़ल में निबद्ध हमारे दैनंदिन जीवन की बातें मानों जीवन से भी बड़ी होकर सामने आती हैं। उसके विन्यास में शब्दों के कोशगत और वस्तुगत अर्थ बदल जाते हैं और वह श्रोता के मन को उद्वेलित करके उसे उच्चतर भावभूमि की ओर अग्रसर करती है।

अंत में एक बात यह कहनी है कि ग़ज़ल का बाह्य रूप तो शायद ख़ास नहीं बदला है, लेकिन उसके अंतरंग में अद्‌भुत बदलाव आए हैं। अपने उद्‌भव से लेकर नए सृजन तक इसने शताब्दी-दर-शताब्दी यात्रा की है और यह बात निस्संकोच कही जा सकती है कि उर्दू कविता की इस विधा में, विकास की अनेक मंज़िलें पार कर लेने के बावजूद, आज भी अनंत संभावनाएँ निहित हैं क्योंकि इसके वाचन की भंगिमा सहज, सुंदर, मनोहारिणी, अनोखी और सर्वोपरि गीतिमय है। यह गीतिमयता आधुनिक संगीत के लिए अत्यंत उपयोगी है। ग़ज़ल का सबसे बड़ा गुण इसमें निहित सौंदर्य तथा प्रेमतत्त्व का अनन्य आवेदन है, जो श्रोता के अंतर को स्पर्श करके उसे पूर्ण संतुष्टि देता है। शेर के पहले मिस्रे में एक प्रतिज्ञा होती है, एक संभावना का संकेत होता है और उसका दूसरा मिस्रा उस प्रतिज्ञा को, उस संकेत को, पूर्णता तक पहुँचाता है। ग़ज़ल की यह रीति, यह शैली, उसका यह गुण श्रोता के मर्मस्थल को विद्ध कर देता है, जिसकी वेदना में भी आनंद है और इस आनंद को किसी अन्य उपलब्धि की अपेक्षा नहीं रहती।

जयंत पवार

मराठी रंगमंच और नया नाटक

नए मराठी नाटक के तथा नए नाट्य-लेखन के बारे में लिखने की शुरुआत करने से पहले मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि जिसे मैं 'पुराना' कहता हूँ, वह अब भी पर्याप्त पुराना नहीं हुआ है, बल्कि मराठी नाटक के संदर्भ में 'पुराना' और 'नया' जैसा वर्गीकरण करके टिप्पणी करना नामुमकिन है, क्योंकि मराठी नाटक विगत डेढ़ सौ से अधिक वर्षों से किसी नदी जैसा प्रवाहमान, बहता हुआ है। मराठी नाटक महाराष्ट्र का जीवंत सांस्कृतिक स्रोत है। किसी झरने का पानी जैसे केवल उद्‌गम के पास ही नहीं, नदी के प्रवाह में और आगे चलकर लहरों के सागर में भी जीवंत ही रहता है, वैसी ही मराठी नाट्य-परंपरा है और इस परंपरा का उसके उद्‌गम से ही नूतनता महात्मा जोतिबा फुले का नाटक 'तृतीय रत्न' मुझे आज भी नया और प्रासंगिक लगता है। विष्णुदास भावे, अण्णासाहेब किर्लोस्कर, गोविंद बल्लाळ देवल, राम गणेश गडकरी, कृष्णा जी प्रभाकर खाडिलकर-मराठी के इन सभी आद्य नाटककारों में एक गुण समान था—वह था प्रयोगधर्मिता।

इसी कारण मराठी में कथा और कविता के क्षेत्र में साठ के दशक में जैसी बग़ावत हुई, विद्रोह हुआ, वैसा विद्रोह 1970 के दशक में मराठी रंगमंच के क्षेत्र में छबिलदास आंदोलन के स्वरूप में हुआ, लेकिन आख़िर उसने भी परंपरा से आई नूतनता को ही स्वीकार किया। आज भी मराठी में प्रयोगधर्मी रंगमंच है ही, लेकिन उसका रंगमंच के मुख्य गवाह से कोई विवाद या विरोध नहीं है। इसीलिए आज प्रयोगधर्मी रंगमंच के अनेक रंगकर्मी और लेखक व्यावसायिक मराठी रंगमंच के लिए अभिनय तथा लेखन करते हुए दिखाई देते हैं।

मराठी में साठोत्तरी कालखंड में लघु-पत्रिका आंदोलन शुरू हुआ और इन लघु-पत्रिकाओं ने प्रस्थापित कविता-कथा के विरोध में की बग़ावत, भालचंद्र नेमाडे ने *कोसला* उपन्यास लिखकर प्रस्थापित उपन्यास के ख़िलाफ़ की बग़ावत; और 1970 के दशक में प्रयोगधर्मी नाट्य आंदोलन के स्वरूप में प्रस्थापित नाटक के ख़िलाफ़ हुई बग़ावत, इनमें फ़र्क़ है। कथा, कविता और उपन्यास के क्षेत्र में नए लेखक देसीपन लाए। यूरोपीय समीक्षा के मापदंडों पर आधारित और साहित्य में रूढ़ हुआ सौंदर्यवाद, रोमांचवाद को नकारा। लेकिन

मराठी नाटककार तथा समीक्षक जयंत पवार का जन्म 1960 में हुआ। चार नाटक और 15 एकांकी प्रकाशित हुए हैं। महाराष्ट्र सरकार से पुरस्कृत हुए हैं। संपर्क : सी/811, भूमिग्रीन, रहेजा एस्टेट, कुलूपवाडी, बोरिवली (पूर्व) मुंबई-400066

अनु. विलास गिते का जन्म 1952 में हुआ। मराठी, हिंदी, अंग्रेज़ी, बाङ्ला में परस्पर अनुवाद। साहित्य अकादेमी के अनुवाद पुरस्कार से सम्मानित। संपर्क : 9, 'तेजस', गणेश कॉलोनी, सावेडी नाका, अहमदनगर- 414003 (महाराष्ट्र)

क के क्षेत्र में हुई बग़ावत में इससे उलटा हुआ। लेखन में इब्सेनिक तकनीक पहले से ही पित थी और यूरोपीय रंगमंच की कुछ ताएँ मराठी नाटककारों ने अपनाई थी, फिर उनका अनुभव और आशय एतद्देशीय था। नाटक ने आधुनिक यूरोपीय रंगमंच के रूपबंध र्म) अपनाए लेकिन आशय की ओर भी वे य दृष्टिकोण से ही देखने लगे। दूसरे विश्व-द्ध के बाद सभी श्रद्धाएँ ध्वस्त होने पर यूरोप लोगों को आया 'नथिंगनेस' का अनुभव उसका य लिए बिना ही मराठी लेखकों ने प्रस्तुत करने शुरुआत की। मुझे हमेशा यह सवाल सताता कि क्या भारतीय परंपरा में, भारतीय दर्शन में र्थकता का कोई स्थान है? जिस हिंदू धर्म में विपाक का सिद्धांत हज़ारों वर्षों से है और दू मन में (चाहे वह कर्मकांड करें या न) जड़ जमाए हुए है, जहाँ 'पुनरपि जननं पुनरपि नं' तत्त्व पर लोग पीढ़ियों से विश्वास करते र हैं, वहाँ उद्ध्वस्तता का चरम अनुभव हुए ना ही कोई लेखक असंगतता का प्रत्यय कैसे ? इसीलिए मराठी में 'थिएटर ऑफ़ एब्सर्ड' र्मित हुआ ही नहीं। जो हुआ, वह सिर्फ़ नुकरण था, नक़ल थी। मराठी में जो एब्सर्ड टक हुए, वे उसके रूपबंध के आकर्षण के रण हुए। उनके नाटकों के रूपबंध अलग थे किन उनमें आशय नदारद था। इस कारण बालदास आंदोलन' दस सालों में ही मृतप्राय गया। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि ठी प्रयोगधर्मी नाटक में कोई दम नहीं था। नाटकों में से भी कुछ नाटक ज़रूर टिके रहे। कौन-से नाटक थे? इन नाटकों में विजय डुलकर का नाटक 'घासीराम कोतवाल' था, तीश आलेकर के 'बेग़म बर्वे' और 'महानिर्वाण' टक थे, गो.पु. देशपांडे का 'उद्ध्वस्त धर्मशाला' महेश एलकुंचवार के 'पार्टी' और 'वाडा चिरेबंदी' नाटक थे। रत्नाकर मतकरी का 'आरण्यक' था। मोहन राकेश, गिरीश कर्नाड, चंद्रशेखर कंबार, शंकर शेष, आद्य रंगाचार्य और बादल सरकार के नाटकों के अनुवाद टिके। ये सारे नाटक टिके रहे, क्योंकि इनमें देसीपन का पूरा मान था। सतीश आलेकर के भी नाटकों में एब्सर्डिटी थी, लेकिन उसका आशय और अनुभव पूर्णतः एतद्देशीय था और उसमें परंपरा और नवीनता का संगम तो अपूर्व ही था।

सारांश यही कि मराठी प्रयोगधर्मी नाटकों ने भी परंपरा का दामन नहीं छोड़ा और परंपरा से आए अनेक नाटकों में तो प्रयोगधर्मिता थी ही।

नाटक नया होता है अपने संवादों की भाषा, रंगभाषा, तथा पुरानी कथाओं के नए अन्वयार्थ लगाने की उसकी क्षमता के कारण। इस अर्थ से स्वातंत्र्योत्तर कालखंड में मराठी नाटक में तीन चरणों में बदलाव आए। उसने नए मोड़ लिए। पहला मोड़ था विजय तेंडुलकर के नाटकों का। तेंडुलकर ने पुराने नाटकों की साहित्यिक, लंबे-लंबे वाक्यों वाली, आलंकारिक संवाद-भाषा नकारकर छोटे-छोटे वाक्यों के, आम बोल-चाल की भाषा में संवाद लिखे। मध्यवर्गीय पराभूत नायक-नायिका को उन्होंने ने नाटक के केंद्र स्थान में रखा और तथाकथित मध्यवर्गीय नैतिकता को धक्के दिए। ख़ुद तेंडुलकर के अपने लेखन में ही तीन अलग-अलग मोड़ दिखाई देते हैं। लेकिन हर मोड़ पर उन्होंने नैतिकता को झकझोरने का काम किया है। चाहे वह उनके प्रारंभिक कालखंड का नाटक 'श्रीमंत' हो, मध्य कालखंड के 'गिछाडे' (गिद्ध), 'शांतता! कोर्ट चालू आहे!' (ख़ामोश! अदालत ज़ारी है!), 'सखाराम बाइंडर' ये नाटक हों या तीसरे चरण के 'कन्यादान' और 'कमला' नाटक हों। उनके नाटकों की संरचना पक्की होती है—ढीली नहीं होती। वह अलग ही अध्ययन का विषय है। लेकिन तेंडुलकर के बारे में कुतूहल और आदर का और एक कारण है। उन्होंने 'नाटक' माध्यम के साथ सतही रचाया हुआ है थर्रानेवाला खेल। नाटक साहित्य नहीं,

वह एक 'खेल' है, यह पहली बार तेंडुलकर ने कहा। लेकिन इस क्रीड़ास्वरूप माध्यम के साथ उन्होंने सदा क्रीड़ा की। उन्होंने जितने प्रकार के, जितने रूपबंधों के नाटक लिखे हैं, उतने अन्य किसी भी मराठी नाटककार ने नहीं लिखे। 'माणूस नावाचे बेट', 'गिधाडे', 'शांतता! कोर्ट चालू आहे!' 'अशी पाखरे येती, घासीराम कोतवाल', 'सखाराम बाइंडर', 'कन्यादान', 'सफ़र', 'मसाज'—हर रचना की संरचना और बुनावट अन्य नाटकों से बिलकुल भिन्न है। उन्होंने लोकनाट्य और बाल-नाटक भी लिखे हैं, सो अलग ही।

तेंडुलकर जैसा, कोई भी घराना न माननेवाला, अच्छे अर्थ से आवारा नाटककार आनेवाली पीढ़ियों के लिए लाभदायक होता है। अपनी पसंद के अनुसार काम करने का और असफलता पचाने का आत्मविश्वास इसमें से आता है। तेंडुलकर के ही कालखंड में उनके समकालीन नाटककार वसंत कानेटकर व्यावसायिक रंगमंच के लिए नाटक लिखते थे। आरंभिक कालखंड में उन्होंने भी अनेक प्रयोग किए, लेकिन बाद में जनप्रियता प्राप्त होने पर उनकी प्रयोगधर्मिता बुझ गई। फिर भी उन्होंने 'रायगडाला जेव्हा जाग येते' (जाग उठा है रायगढ़), 'हिमालयाची सावली' जैसे अच्छे मेलोड्रामा और 'मीरा मधुरा', 'लेकुरे उदंड झाली' जैसे अच्छे संगीत-नाटक लिखे।

तेंडुलकर के बाद का नया मोड़ सत्तर के दशक में दिखाई देता है। ज्येष्ठ निर्देशक पं. सत्यदेव दुबे द्वारा आयोजित नाट्यलेखन-शिविर से छह नाटककार सामने आए और उनमें से तीन नाटककारों का प्रभाव अगले तीन दशकों तक मराठी रंगमंच पर रहा। ये तीन नाटककार थे महेश एलकुंचवार, गो.पु. देशपांडे और सतीश आलेकर। सत्तर के दशक में देशभर में उथल-पुथल चल रही थी। इंदिरा गांधी की सत्ता, 1971 का भारत-पाक युद्ध, 1972 का अकाल और उसके बाद हुए युवक तथा जन-आंदोलन। इस उथल-पुथल में मराठी साहित्य में भी कथा, कविता, दलि[त] आत्मकथाओं का नया ज्वार आया और उसी [मे] मराठी रंगमंच पर नई संवेदनशीलता लेक[र] आनेवाले नाटककारों की पीढ़ी अवतीर्ण हुई। इन[में] से एलकुंचवार पर तो तेंडुलकर का ही प्रभा[व] था। फिर भी, मानवीय रिश्तों की उलझन के सूक्ष्म स्तर दिखानेवाली तरल संवेदनशीलता ख़ास तौ[र] से एलकुंचवार की ही थी। उनकी भाषा का लालित्य तो और भी अलग है। गो.पु. देशपांडे ने 'उद्ध्वस्त धर्मशाला' लिखकर मराठी में राजनैतिक नाटक की शुरुआत की। सतीश आलेकर ने 'महापूर', 'महानिर्वाण' में पूर्ण[तः] अपनी पीढ़ी की संवेदनशीलता प्रकट की। पूर्वसूरियों के प्रभाव से अलिप्त अपनी शैली का एक स्वतंत्र प्रवाह का आलेकर ने निर्माण किया। तेंडुलकर के बाद अलग 'स्कूल' शुरू हुआ आलेकर का ही। उनसे रिश्ता दिखानेवाले नाटककार अगली दो पीढ़ियों में दिखाई देते हैं।

मराठी नाटक में तीसरा मोड़ दिखाई देता है 1990 के बाद के नाटककारों की पीढ़ी में। 198[0] का दशक फलहीन, व्यर्थ ही गया। इन दस वर्षों के कालखंड में सभी स्तरों पर हताशा दिखाई देती है। जनता पक्ष की असफलता, मध्यवर्ग का स्वप्नभंग, जन-आंदोलन का ह्रास, मुंबई में देश के इतिहास में हुई मिल-मज़दूरों की सबसे बड़ी हड़ताल, उसमें हुई लाखों मज़दूरों की बरबादी, इंदिरा गांधी की हत्या, खालिस्तानवादियों का अलगाववादी आंदोलन जैसी नकारात्मक घटनाओं की शृंखला ही इस कालखंड में दिखाई देती है। इस कालखंड में मराठी में एकमात्र नाटककार उदित हुआ। वह था श्याम मनोहर। वर्तमान संवेदनशीलता, टिप्पणी करने की शैली, वर्तमान की विसंगतियाँ दिखाने का कौशल, उसमें [से] खिलनेवाला 'ब्लैक ह्यूमर' ये सारी विशेषताएँ आलेकर से रिश्ता दिखानेवाली, फिर भी आलेकर से अलग थी। लेकिन इस एक नाटककार का उदय और एलकुंचवार का 'वाडा चिरेबंदी'
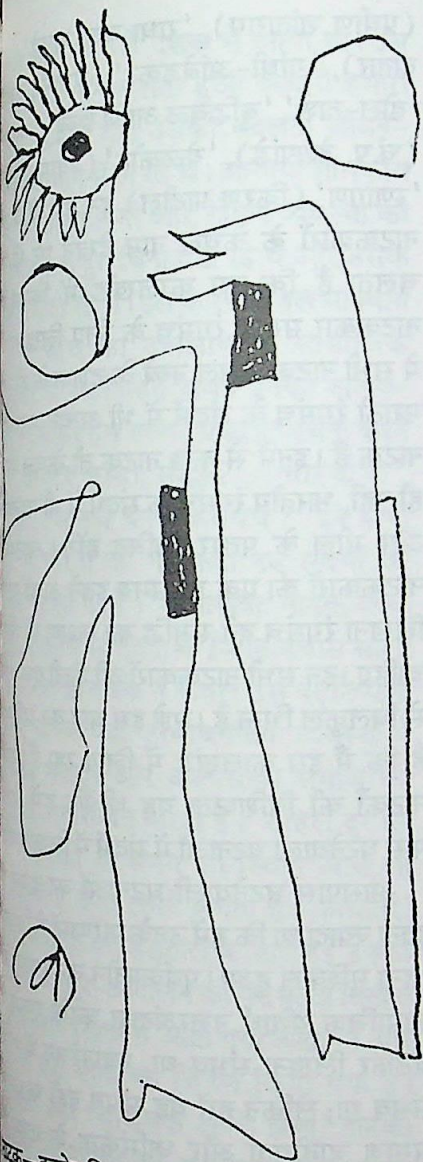
टक—इनके सिवा अस्सी के दशक में मराठी मंच के क्षेत्र में कुछ भी लक्षणीय नहीं घटा। लेकिन नब्बे के दशक में फिर से नाटककारों का एक बड़ा प्रवाह मराठी रंगमंच पर आया। फल था 1986-87 में थिएटर एकेडेमी द्वारा में आयोजित नाट्यलेखन वर्कशॉप का। देव दुबे का वर्कशॉप और थिएटर एकेडेमी के वर्कशॉप ने मराठी रंगमंच को बहुत कुछ दिया। ये दो वर्कशॉप्स मराठी रंगमंच के इतिहास में त्वपूर्ण माने जाएँगे। इन शिविरों में जिन नाटककारों ने सहभाग लिया, उनमें से सात नाटककार आगे लिखते रहे। वे सात नाटककार हैं अजित दलवी, दत्ता भगत, शफाअत खान, प्रेमानंद गज्वी, प्रशांत दलवी, जयंत पवार और मकरंद साठे। इनके अलावा राजीव नाईक, संजय पवार, चेतन दातार, परेश मोकाशी, किरण पोत्रेकर—इन नाटककारों का बाद में आगमन हुआ। मराठी रंगमंच के क्षेत्र में एक ही समय लिखनेवाले नाटककार इतनी बड़ी संख्या में कभी नहीं थे। इनमें से कुछ नाटककार सत्तर के दशक से लिख रहे थे, लेकिन वे अपना सुर खोज पाए नब्बे के दशक में। उन सभी का एक ही कालखंड में सक्रिय होना केवल संयोग नहीं था। परिस्थिति का दबाव और मन की बेचैनी इतनी थी कि उनके सामने लिखने के अलावा दूसरा कोई मार्ग ही नहीं था।

1980 का दशक ख़त्म होते समय देशभर में नए संघर्ष की शुरुआत हुई थी। आडवाणी की रथयात्रा निकली। उसका प्रभाव रोकने के लिए वी.पी. सिंह ने मंडल आयोग का ब्रह्मास्त्र निकाला। हिंदुत्व का ज्वर फैलने लगा। बाबरी मस्जिद गिरी और देश के लोगों का मन दुभंग हुआ। उसके बाद मुंबई में हुए दंगों और बम-विस्फोटों ने भयानक हिंसा का दर्शन कराया। वह कम होते-होते ही जागतिकीकरण (ग्लोबलाइज़ेशन) की आहट आने लगी। गैट क़रार, डंकेल प्रस्ताव, बहुराष्ट्रीय कंपनियों का आक्रमण, बेरोज़गारी, स्वेच्छा अवकाश योजना, रूपर्ट मर्डाक और बिल गेट्स द्वारा की गई माध्यम-क्रांति, इंटरनेट का महाजाल, मध्यवर्ग के जीवनमान में हुआ सुधार—इन सारी बातों का पट इतना विशाल और गतिमान था कि उसके धक्के हर व्यक्ति ने महसूस किए। और नाटककार भी आख़िर एक आदमी ही होता है न? वह भी हड़बड़ा गया। उसे भी लगा कि अब लिखे बिना गत्यंतर नहीं है।

वह लिखने लगा, और वह लेखन पहले

नाटककारों के लेखन से अलग था। उसके पहले के पच्चीस सालों में आशय और विषय के संदर्भ में जितने अलग नाटक मराठी रंगमंच पर आए थे, उतने नाटक केवल इन दस वर्षों में आए। क्या था इन नाटकों का अलगपन ?

नब्बे का दशक शुरू होते ही थिएटर एकेडेमी के शिविर में सहभागी लेखक दत्ता भगत का 'वाटा पलवाटा', मकरंद साठे का 'चारशे कोटी विसरभोले' और शफाअत अली खान का 'भूमितीचा फार्स' ये नाटक आए थे। इन नाटकों का स्वागत गर्मजोशी से नहीं हुआ, फिर भी रंगमंच पर आनेवाले नए दौर की झलक इन नाटकों में दिखाई दी। इन नाटकों के साथ-साथ ही चेतन दातार का 'सावल्या' और राजीव नाईक का 'अखेरचं पर्व' ये और दो महत्त्वपूर्ण नाटक आए। उनका अच्छा स्वागत हुआ। उनके बाद का महत्त्वपूर्ण नाटक था संजय पवार का 'कोण म्हणतं टक्का दिला ?' मंडल आयोग पर तथा पूरी जाति व्यवस्था पर प्रखर औपरोधिक भाष्य करनेवाला इतना प्रभावशाली नाटक इसके पहले कालखंड में दिखाई नहीं देता। राजीव नाईक के 'अखेरचं पर्व' में मिथक का अलग अन्वयार्थ लगाया गया था, तो 'कोण म्हणतं टक्का दिला ?' में कच-देवयानी की पौराणिक कथा ही आधुनिक संदर्भों में उलटी-पुलटी की गई थी। इन नाटकों के बाद श्मशान में अंतिम संस्कार करनेवाले ब्राह्मण का दलितत्व अधोरेखित करनेवाली प्रेमानंद गज्वी की 'किरवंत' नामक डार्क ट्रैजिडी आई।

यहाँ से जो प्रवाह शुरू हुआ उसमें आए 'गांधी विरुद्ध गांधी', 'डॉक्टर तुम्हीसुद्धा', 'राहिले दूर घर माझे', 'शोभायात्रा' (शफाअत खान), 'चाहूल' (प्रशांत दलवी), 'अधांतर', 'माझं घर' (जयंत पवार), 'आपसातल्या गोष्टी', 'साठेचं काय करायचं' (राजीव नाईक) 'ठोंब्या', 'सूर्य पाहिलेला माणूस' (मकरंद साठे), 'ज्याचा त्याचा प्रश्न' (अभिराम भडकमकर), 'आमच्या घरात' (प्रवीण शांताराम), 'राधा वजा रानडे' (चेतन दातार), 'गांधी-आंबेडकर' (प्रेमानंद गज्वी), 'ढोल-ताशे', 'बुद्धिबळ आणि झब्बू', 'समतोल' (चं.प्र. देशपांडे), 'येळकोट' (श्याम मनोहर), 'रणांगण' (किरण पाटील) इन नाटकों के तथा नाटककारों के केवल नाम देखने पर भी पता चलता है कि इस कालखंड में कितने नए नाटककार मराठी रंगमंच के लिए लिख रहे थे। ये सभी नाटक केवल नब्बे के दशक के ही नहीं, मराठी रंगमंच के संदर्भ में भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण नाटक हैं। इनमें से कुछ नाटक तो केवल मराठी ही नहीं, भारतीय रंगमंच के संदर्भ में भी महत्त्वपूर्ण और मील के पत्थर साबित होंगे। आठ-दस नाटककारों का एक ही समय इतने अच्छे नाटक लिखना रंगमंच की समृद्धि का लक्षण ही मानना चाहिए। इन सभी नाटककारों की शैली एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न है। मुझे इस बात का अभिमान है कि मैं इस कालखंड में लिख रहा हूँ। हमारे नाटकों की विशिष्टता यह थी कि हमें आस-पास घटनेवाली घटनाओं में संदर्भ में लिखना पड़ा।

आसपास घटनेवाली घटनाओं का दबाव ही इतना ज़्यादा था कि हमें उनके परिणामों से छिपकर रहना मुश्किल हुआ। पूर्वकालीन नाटककारों को सामाजिक यथार्थ नज़रअंदाज़ करके एकांत में बैठकर लिखना संभव था, स्वप्नरंजन में रमना संभव था; लेकिन हमें वह संभव नहीं था। सारा समाज जातीयता और धार्मिकता के ज़हर से कलुषित हुआ है। आर्थिक उदारीकरण ने आम आदमी के माथे पर का छप्पर और पाँव के नीचे की ज़मीन निकाल ली है। आतंकवाद की तलवार उसके माथे पर लटक रही है। अचानक हाथ में आए पैसे से मध्यवर्ग दिशाहीन हो गया है—ऐसी स्थिति में कल्पना की दुनिया में रमने की ऐयाशी हम नहीं कर सकते थे। जो कहना था, वह कहने के सिवा हमारे सामने दूसरा विकल्प ही नहीं था।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि हमने समस्या दिखते ही उसपर नाटक लिखने की जल्दबाज़ी

वह चरण पिछले दशक में आया था। इस ...-काल में बदलता हुआ आदमी हमारी ... में आ रहा था। उसकी बदलती जीवन- ...हम ध्यान में ले रहे थे। अन्यायी शासकीय ... प्रस्थापित श्रेणी और शोषण व्यवस्था की ...हम कर्कश हुए बिना देख रहे थे और उसके ...ध्यान में ले रहे थे। इस कारण केवल मानवीय ...ों के बीच का उलझाव या सामाजिक ...स्थाओं में अंतर्निहित संघर्ष इनको अलग-...लग न देखकर हम उनकी एकत्रित रचना करने ...। 'डॉक्टर तुम्ही सुद्धा ?', 'चारचौघी', ...अधांतर', 'साठेचं काय करायचं ?' इन सभी ...टकों में चरित्रों की नैतिकता नए संदर्भों की ...भूमि पर ली गई है। 'शोभायात्रा' नामक ब्लैक ...डी भारतीय स्वतंत्रता के विगत पचास सालों ...लेखा-जोखा करके न केवल उस पर टिप्पणी ...ती है, बल्कि यहाँ की राजनैतिक व्यवस्था में ...वासी, मज़दूर और अल्पसंख्य समाज की ...री भी अधोरेखित करती है। 'राहिले दूर घर ...' में बँटवारे के समय की स्थिति आज भी ...ों का त्यों है ऐसा लगने लगता है। 'अधांतर' ...मिल-मज़दूरों की हड़ताल के बाद हुई उनकी ...दशा और मज़दूर-आंदोलन की पराभूतता दिखाते ...थ मानवीय रिश्तों में आता गया रूखापन और ...के रुद्ध मार्गों का चित्रण किया गया है। ...स्कोट' और 'बुद्धिबक आणि झब्बू' नाटकों ...मध्यवर्गीय जीवन की असंगतता और उसका ...'स पॉलिटिक्स' दर्शाया है। मराठी नाटक ...र्थवाद में ही अटका हुआ है, यह अन्यभाषी ...र्मियों की धारणा को झुठलानेवाले नाटक ...म मनोहर, शफ़ाअत खान, चं.प्र. देशपांडे, ...द साठे और संजय पवार ने इस कालखंड ...लिखे। अजित दलवी, प्रशांत दलवी, जयंत ...र और चेतन दातार के यथार्थवादी नाटक ...कालीन यथार्थवादी नाटकों से अलग थे। वे ...क रचना, भाषा और चरित्र-चित्रण के संदर्भ ... आधुनिक थे। विष्टोक्तियाँ (Cliches) टालनेवाले तथा आधुनिक आदिरूप (Archetype) को जन्म देनेवाले थे।

मुझे दुख इसी बात का है कि मराठी रंगमंच पर इतनी बड़ी उथल-पुथल होने पर भी मराठी रंगमंच की ओर भारतीय रंगमंच ने पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। मराठी नाटक का दर्शक भी अब बदलने लगा है। पुराना पारंपरिक दर्शक नई संवेदना के साथ ख़ुद को बदल न सकने के कारण नए नाटक से दूर होता गया तो नया, कॉलेज में पढ़नेवाला युवा दर्शक दृष्टि और भान ठीक से विकसित न होने के कारण 'इंस्टंट मनोरंजन' ढूँढ़ रहा है। इस कारण जो न पूर्णत: नया है और न पूर्णत: पुराना है, ऐसे बीच ही की अवस्था के दर्शक के सामने हमारे नाटक प्रस्तुत हो रहे हैं। अब भी प्रगल्भ दर्शक हैं और नए तैयार हो रहे हैं, लेकिन संख्या में वे कम हैं। इसलिए रंगमंच के उत्कर्ष का लक्षण माना जानेवाला दर्शक थिएटरों में बड़ी संख्या में न दिखाई देने के कारण हमारे नाटकों का स्वागत उत्साह के साथ नहीं हुआ है। आशा है, आनेवाले कुछ वर्षों में यह गतिरोध ख़त्म होगा।

हाल ही में मराठी के एक ज्येष्ठ कथालेखक के.ज. पुरोहित ने वक्तव्य दिया कि नए कथाकार जल्दी ख़त्म हो जाते हैं। उसी तर्ज पर यह आरोप भी किया जाता है कि नए नाटककार ज़्यादा नहीं लिखते, उनके लेखन की गति बहुत धीमी होती है। यह आरोप सच भी है। हम तेज़ गति से नहीं लिख सके। चार सालों में एकाध नाटक यह गति कम से कम मराठी में तो अच्छी नहीं मानी जाती। यहाँ एक बात ध्यान में लेनी चाहिए कि नाटक और गति का संबंध जोड़ना निरर्थक है। लेकिन जब हम कहते हैं कि हम आसपास के सामाजिक यथार्थ से बेचैन होकर लिखते हैं, तब उलटा सवाल पूछा जा सकता है कि सामने इतनी तेज़ रफ़्तार से घटनाएँ घटने पर भी तुम चुप कैसे बैठते हो?

मैं नए लेखकों को सतानेवाली एक समस्या

बताता हूँ। कोई ऐसा भी कह सकता है कि वह हमारी मर्यादा है। बात ऐसी है कि पूरे जीवन को ही एक तेज़ रफ़्तार आ गई है। बदलाव तो इतनी तेज़ी से आ रहे हैं कि पिछले सौ सालों में दुनिया जितनी बदली न होगी, उतनी पिछले केवल दस वर्षों में बदली है। कोई कहानी लिखने की सोची, तो उसे मन में तैयार करके काग़ज़ पर पेन रखने तक वह पुरानी लगने लगती है। उसके संदर्भ ख़ुद को ही बासी और पुराने लगने लगते हैं। नाटक का कोई कथा बीज मन में पड़ा, तो उसे अंकुरित होने में और बाद में उसे बड़ा करने में लेखक को कुछ समय देना पड़ता है। लेकिन उतना समय देने के लिए भी जैसे आज का वर्तमान राज़ी नहीं है।

दूसरी मुश्किल यह है कि टी.वी. के न्यूज़ चैनलों ने यथार्थ को इतने नंगे स्वरूप में दिखाना शुरू किया है कि हमारे सामने सवाल खड़ा होता है कि अब नाटक में इससे अलग यथार्थ क्या दिखाएँ? किसी एक देश द्वारा दूसरे देश पर किया जा रहा बमवर्षाव, अफ़ग़ानिस्तान के लोगों की दशा, इतना ही नहीं, अपने ही शहर में हो रहे दंगे, अपराध और राजनैतिक उथल-पुथल—ये सारी बातें, इतने नाट्यपूर्ण ढंग से दिखाई जाती हैं कि लगता है, अब इससे ज़्यादा कोई नाटककार क्या कह सकता है? अलग-अलग 'ईवेंट्स', 'रियालिटी शोज़' ने घर बैठे मनोरंजन का ख़ज़ाना लोगों के सामने रखा है। हवाई जहाज़ों की दिन-रात होनेवाली घर्र-घर्र से नींद से वंचित लोग छोटे पर्दे पर दिखाई देते हैं। इसी नाट्यमयता को पार करके हमें रंगमंच तक पहुँचना है। ऐसे समय स्वयं मुझे यथार्थवादी नाटकों की मर्यादा महसूस होती है। वह अनेकों को महसूस होती होगी। इससे पहले भी नाटक की ओर 'खेल' की दृष्टि से देखने वालों ने उसका यथार्थवादी कवच तोड़कर अपनी दुनिया खड़ी की। लेकिन मुझे इर्द-गिर्द का यथार्थ दिखाने में यथार्थवादी रचना की चौखट अब अपर्याप्त लगती है। यथार्थवादी नाटक की आवश्यकता अब भी ख़त्म नहीं हुई है, फिर भी इस रचना की तोड़-मरोड़ करनी पड़ेगी। रियलिज़्म (Realism) से मैजिक रियलिज़्म (Magic Realism) की ओर जानेवाला मार्ग गेब्रिएल गार्सिया मार्ख़ेज और मासियो व्हर्गस योसा इन लैटिन अमेरिकी उपन्यासकारों ने दिखाया है। नाटककारों को भी वही मार्ग अपनाना पड़ेगा। आज टेनिसी विलियम्स और ऑर्थर मिलर की अपेक्षा हमें बर्टोल्ट ब्रेख़्त और दारियो फ़ो क़रीबी लगते हैं।

तीसरी मुश्किल है आधुनिकोत्तर (Post-modern) होते चले सामाजिक संदर्भों की। किसी भी एक बात पर न टिकने वाली, किसी भी एक बात के प्रति लगाव न होनेवाली, हर चीज़ में सिर्फ़ 'एंजॉयमेंट' खोजनेवाली, हर बात का 'सेलिब्रेशन' करनेवाली और नैतिक मूल्यों के प्रति आग्रह न रखनेवाली कृतक 'ग्लोबल' और आधुनिकोत्तर कहलानेवाली प्रवृत्ति सभी प्रसार-माध्यमों में, मनोरंजन-माध्यमों में और हमारे रोज़मर्रा के जीवन में घुसी हुई दिखाई देती है। लेकिन एक ओर आधुनिकोत्तर लक्षण जतानेवाले ये संदर्भ और दूसरी ओर अब तक पूरी तरह आधुनिक भी न बना भारतीय मन-इन दोनों के बीच का द्वैत कैसे पकड़ें और उसका स्वर्णमध्य (Golden mean) या मध्यमान कैसे निकालें, यह सवाल भी गंभीर लेखकों को सता रहा है।

अपनी समस्याओं का समाधान हरएक को ख़ुद ही करना पड़ता है और अपना मार्ग खोजना पड़ता है। मेरे और मेरी पीढ़ी के सामने जो समस्याएँ हैं, उनके समाधान ख़ुद हमें ही खोजने हैं। वे खोजने के हमारे प्रयास जारी हैं। पहले की तुलना में अब लेखन के अवसर अधिक हैं, लेकिन संघर्ष भी उतना ही तीव्र हुआ है। इन नए आह्वानों का मुक़ाबला करके हमने विगत दशक में जिस नए नाटक की शुरुआत की है, उसे आनेवाले समय में और सामर्थ्यवान बनाएँगे और भारतीय रंगमंच को अपनी ओर ध्यान देने पर बाध्य करेंगे।

शशिकला त्रिपाठी

वृद्धों का औपन्यासिक यथार्थ

वृद्धावस्था मानव-विकास का वह पड़ाव है जहाँ व्यक्ति के शारीरिक-सामर्थ्य का तो क्षरण होता है लेकिन बौद्धिक रूप से पूर्ण परिपक्वता आती है। वह अपने जीवन-संघर्षों से सबक लेता हुआ 'पूर्ण अनुभवी' में वृद्धों की उपस्थिति न हो, उन्हें 'संस्कारहीन' माना जाता रहा है। सक्रिय पीढ़ी उनसे राय-मशविरा करती थी। उनके सुझावों, आदर्शों का पालन करती थी और परिवार के भविष्य (बच्चे) उनसे आचार-विचार व संस्कार सीखते थे। महाभारत के विदुर ने तो यहाँ तक कहा, 'न सा सभा यत्र न संति वृद्धा।' आज की तारीख़ में भी भारतीय लोकतंत्र में वृद्धों का वर्चस्व बना हुआ है। किंतु, परिवारों में वे विडंबनाग्रस्त हैं। उन्हें हाशिए पर ढकेल दिया गया है। उनकी प्रदायिनी शक्ति, अनुभव और धैर्य को महत्त्वहीन ठहराया जा रहा है। यह शोचनीय विषय है कि परिवार, समाज और देश के लिए महत्त्वपूर्ण हैं, उन्हें ही उपेक्षा, तिरस्कार और घृणा के तीरों से बेधा जा रहा है। वृद्धों का यह दुखद-यथार्थ भारतीय समाज की ही सच्चाई नहीं, विश्व समाज की त्रासद वास्तविकता है।

वृद्धों की समस्याओं और उनकी बढ़ती जनसंख्या के मद्देनज़र ही संयुक्त राष्ट्र ने अक्तूबर 1991 को 'वृद्ध-दिवस' के रूप में यादगार बनाया। पुनः सन् 1999 को 'अंतर्राष्ट्रीय वृद्धा वर्ष' घोषित किया। दुनियावी-समाज के विभिन्न अनुशासनों से संबद्ध लोग वृद्धावस्था पर अपने-अपने ढंग से विचार करते रहे हैं। ग्रीन तथा रोम के वैज्ञानिकों एवं दार्शनिकों ने वृद्धावस्था का अध्ययन 'जैव विज्ञान' तथा 'मनोविज्ञान' के अंतर्गत किया है। प्लेटो, एरिस्टाटल, गैलन, सिसेरोस आदि ने वृद्धावस्था पर विमर्श किया है। कहा जाता है कि स्वीडेनवासी की उम्र सबसे अधिक लंबी होती है। अतएव, वृद्धावस्था वहाँ एक बड़ी समस्या है। स्वीडेन के अल्कर स्वानबर्ग द्वारा किया गया अध्ययन-लेखन महत्त्वपूर्ण है। द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत अमेरिकी-विद्वान भी इस मामले पर गंभीर हुए। अन्य औद्योगिक देशों के लिए भी यह समस्या भयंकर थी और लोग निदान के लिए सचेष्ट थे। कालांतर में 'जेरेंटोलॉजी' का अस्तित्व प्रयत्न की ही सफलता थी। वृद्धों की समस्याओं के समाधान हेतु निरंतर शोध हो रहे हैं। भारत में भी मनोवैज्ञानिकों, जैव वैज्ञानिकों, मानवशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों द्वारा इस दिशा में प्रयास हुए हैं ज़रूर मगर, व्यापक स्तर पर नहीं।

शशिकला त्रिपाठी की रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : बी-2/201-ए, भदैनी, पो. शिवाला, वाराणसी-221001

भारतीय समाज की अगर आलोचनात्मक पड़ताल की जाए तो एक यह तथ्य स्पष्ट रूप से चिन्हित होता है कि भारत में वृद्धों के प्रति उपेक्षात्मक रवैया कोई नवीन प्रवृत्ति नहीं है। उन्हें धर्म नगरियों में 'वानप्रस्थ-जीवन' जीने के लिए विवश किया जाता रहा है। उनके पास यही विकल्प शेष रह जाता था कि वे मंदिरों में घंटा बजाएँ और भजन-कीर्तन करें। उनकी आवश्यकताओं और इच्छाओं को धर्म के हथौड़े से दबा दिया जाता था। यह नियति निम्न मध्यवर्गीय परिवारों के वृद्ध और वृद्धाओं की रही है। उच्चवर्गीय या उच्च मध्यवर्गीय वृद्धों की जनसंख्या-वृद्धि का कारण आर्थिक संपन्नता एवं स्वास्थ्य सजगता रही है। परंतु, उनका दीर्घ-जीवन, दीर्घ-अभिशाप बनता है 'भावनात्मक-उपेक्षा' और 'अकेलेपन' के भावबोध से। सामाजिक-सच्चाई का एक तीसरा पहलू भी है—ग्रामीण-वृद्धों की जनसंख्या के ग्राफ़ का नीचे गिरना। आर्थिकता के लिए उन्हें जीवन-पर्यंत खटना है। वे गाँव में रहें या शहर में; उन्हें अपनी रोटी कमाने के लिए असह्य-श्रम करना पड़ता है। वे अशिक्षित और असहाय हैं। ऐसे श्रमजीवी वृद्ध व्याधि के कारण ही नहीं, भूख और जीतोड़ परिश्रम के कारण भी मृत्यु को प्राप्त होते हैं। अब देखना यह है कि साहित्यिक-संवेदना के वृत्त में किस वर्ग के वृद्धों की उपस्थिति हुई है।

'साहित्य' संवेदना ही नहीं विचार का भी क्षेत्र है। देश, समाज की समस्याओं पर जो चिंतन विभिन्न अनुशासनों के लोग करते हैं, अपनी वैचारिकता से समस्याओं का निदान ढूँढ़ते हैं, वही प्रयत्न साहित्यकार भी करता है। इसी बाबत वृद्धों के विभिन्न-यथार्थ को रचनाकारों ने विभिन्न विधाओं में अभिव्यक्त किया है। जीवन के उत्तरवर्ती काल में साठ, सत्तर या अस्सी के अलग-अलग पड़ावों पर व्यक्ति को अनेक मानसिक और शारीरिक परिवर्तनों का सामना करना पड़ा है। उसके सामने चुनौतियाँ तो होती हैं मगर, स्वीकार का सामर्थ्य नहीं होता। परिणामस्वरूप, उसे 'पराजय' और 'पराधीनता' में जीवन के एक-एक दिन भारी पड़ने लगते हैं। इन दुखद स्थितियों का चित्रांकन रचनाकर्मियों ने बड़ी करुणा, संवेदनशीलता और सहानुभूतिपूर्वक किया है। कभी-कभी यह बुढ़ापा मन-तन का नहीं, दृष्टि और मानसिकता का भी होता है। विश्व-साहित्य में अर्नेस्ट हेमिंग्वे का उपन्यास *ओल्ड मैन इन द सी*, मार्ख़ेज का *लव इन द टाइम ऑफ़ कॉलरा*, सिमॉन द बोउवार का *द ब्लड ऑफ़ अदर्स*, शेक्सपीयर का *किंग लेयर*, टेमसिन की *यूलीसस* आदि रचनाओं में अभिव्यक्त वृद्धों की व्यथा-कथा मार्मिक एवं प्रभावी है। भारतीय अंग्रेज़ी उपन्यासकार राजा राव का *कांतापुरा* और रोहिंग्टन मिस्त्री का *फ़ैमिली मैटर्स* ये उपन्यास भी वृद्धों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। हिंदी में कई ऐसी बहुचर्चित कहानियाँ हैं जिनमें वृद्ध या वृद्धा के प्रति पूर्ण संवेदना व्यक्त की गई है। प्रेमचंद की *ईदगाह* और *बूढ़ी काकी*, भीष्म साहनी की *चीफ़ की दावत*, राजेंद्र यादव की *बिरादरी बाहर*, *प्रश्नवाचक पेड़*, उषा प्रियंवदा की 'वापसी' तथा ज्ञानरंजन की 'पिता' आदि कहानियों में बदलते जीवन-मूल्यों की पूरी हनक है। हिंदी उपन्यासों में वृद्धों की आमद एक-डेढ़ दशक में अधिक तादाद में हुई। कारण, संयुक्त राष्ट्र संघ का वृद्धों के प्रति चिंतातुर होना हो या 'अनुभव की प्रामाणिकता' का नारा देने वाले लेखकों का वृद्धावस्था में पहुँचना, जो भी हो, ऐसे उपन्यास बहुपठित और बहुचर्चित हुए। निर्मल वर्मा का *अंतिम अरण्य*, कृष्णा सोबती का *समय सरगम*, श्रीलाल शुक्ल का *विश्रामपुर का संत*, चित्रा मुद्गल का *गिलिगडु* , अलका सरावगी के उपन्यास *कलिकथा वाया बाईपास* और *शेष कादंबरी*, गीतांजलि श्री का *माई*, ममता कालिया का *दौड़*, भगवान दास मोरवाल का *काला पहाड़*, असगर वज़ाहत का *सात आसमान*, नाग बोडस का *मैनि.फ़ैस्टो* में वरिष्ठ नागरिकों को ही संवेदना के केंद्र में रखा गया है। दो उपन्यास— *सात आसमान* और *कालापहाड़* की कथावस्तु ग्रामीण परिवेश की है और उसी पृष्ठभूमि में वृद्ध अपने होने का अर्थ

...लाशने की कोशिश करते हैं। बाक़ी उपन्यासों के वृद्ध शहरी हैं और उनकी विडंबनाएँ भी शहरी जीवन के यथार्थ को ही अंकित करती हैं। प्रस्तुत इस आलेख में मैंने उन्हीं उपन्यासों की अधिक चर्चा की है जो येन-केन-प्रकारेण अधिक पढ़े गए।

भारतीय समाज में 'परिवार' महत्त्वपूर्ण दर्जा प्राप्त किए हुए हैं। परिवार हर उम्र के लिए सुरक्षित आश्रम है। क्रांतिकारियों के लिए 'जड़ता का गढ़' हो सकता है मगर, कमज़ोर उसी में अपने को निरापद समझते हैं। वृद्धावस्था शारीरिक सामर्थ्य का क्षरण ही है। संभवतः इसीलिए चित्रा मुद्गल *गिलिगडु* में वृद्धों की समस्याएँ पारिवारिक संदर्भ में ही ठोस ढंग से उठाती है। या तो वृद्ध परिवार के संग हैं या परिवार द्वारा त्यागे गए हैं। परिवार है तो रिश्ते हैं। रिश्ते हैं तो आशा-आकांक्षाएँ हैं। अपेक्षा—उपेक्षा की द्वंद्वात्मकता है और है मन-मस्तिष्क में फैलता हुआ तनाव और अवसाद। परिवार में उन्हीं की क़द्र होती है जो अनिवार्य रूप से उपयोगी होते हैं। अनुपयोगिता की स्थिति में व्यक्ति अवांछित, फ़ालतू और बोझ सदृश हो जाता है फिर, 'व्यर्थताबोध' उसे सालने लगती है।

गिलिगडु भी औपन्यासिक संरचना में सेवा निवृत्त हुए दो बूढ़ों का जीवन-संदर्भ है। दोनों विधुर हैं। एक हैं कर्नल स्वामी, कई बहू-बेटों के होते हुए भी नोएडा में अकेले जीवन-यापन करते हैं तो दूसरे हैं बाबू जसवंत सिंह जो कानपुर से दिल्ली आते हैं अपने बेटे के घर-परिवार में रहने के लिए। दोनों की भेंट 'सुबह की सैर' होती है। उनमें आत्मीयता का आदान-प्रदान होता है और वे परस्पर अच्छे दोस्त हो जाते हैं। इस दोस्ती से बुझे-बुझे जसवंत सिंह को नई ऊर्जा मिलती है। उनमें उत्साह का संचार होता है। औपन्यासिक-कथा के केंद्र में बाबू जसवंत सिंह ही हैं जो सेवानिवृत्त सिविल इंजीनियर हैं। वे ऐसे व्यक्ति हैं जो परिस्थितियों के साथ सामंजस्य नहीं बना पाते और दुखी रहते हैं। बेटे का घर उन्हें 'अवसाद', 'अनुत्साह' और 'अकेलापन' देता है। लेकिन, कर्नल स्वामी जीवन के आस्वाद को निचोड़कर पीना चाहते हैं। इसीलिए कठिनतर स्थितियों में भी प्रसन्नता का बोध करते हैं और दूसरों के सामने भी नज़ीर पेश करते हैं—'लिव लाइक शेर...'

मलयालम शब्द 'किलिकलु' का हिंदीकरण 'गिलिगडु ' है। गिलि माने चिड़िया। इसका बहुवचन है 'गिलिगडु'। चिड़ियों की चहचहाहट सुखद सवेरा का अहसास कराती है। इसी अहसास से कर्नल स्वामी अपनी पोतियों के संग रहने-खेलने की चर्चा करते हैं जो पोतियाँ घर में नहीं हॉस्टेल में रहती हैं। साथ न रहने वाले बेटे-बहुओं की चर्चा भी वे इसी अंदाज़ में करते हैं। इस प्रकार, अनुपस्थिति की तलख़ी उपस्थिति के बोध में बदल जाती है। अपनों की आत्मीयता-सृजन वे जीवन में गीत और उत्साह लाने के लिए करते हैं मगर, यह कोशिश तो आवरण है। भीतरी वेदना तो उन्हें तोड़ती है, हार्ट अटैक होता है और वे दिवंगत हो जाते हैं। मिसेज़ श्रीवास्तव कर्नल स्वामी के सुखद पारिवारिक मंच का जब पटाक्षेप करती हैं, वह बेहद त्रासद क्षण होता है। उच्च मध्यवर्गीय ख़ासतौर से विधुर-वृद्धों की यही पीड़ादायी स्थिति होती है। 'अकेलापन' उनकी नियति हो जाती है। त्रासदी यह कि वृद्ध परिवार के साथ हैं तो प्रताड़ित हैं और अकेले रहने पर परिवार को बिसूरते रहते हैं।

'अकेलापन' वृद्धों के लिए कष्टकर है। सामर्थ्य हीनता की स्थिति में 'सहयोगी' की ज़रूरत होती है और स्वस्थ रहने पर मानसिक-साझेदारी के लिए 'साथी' की। वह कोई भी हो। कृष्णा सोबती के उपन्यास *समय सरगम* के वृद्ध ईशान भी विधुर हैं। अकेले फ़्लैट में रहते हैं। परिवार के नाम पर कालकवलित बेटे की स्मृतियाँ ही शेष हैं। दो पालिता पुत्रियाँ भी हैं जो हॉस्टेल में रहती हैं। अतः पारिवारिक अपेक्षा—उपेक्षा का कोई मकड़जाल उन्हें व्यथित नहीं करता। वे भारतीय दर्शन के आत्मा-परमात्मा के चिंतन में डूबे दिखते ज़रूर हैं। लेकिन, अकेलापन उन्हें भी काटता है। इसी बाबत आरण्य को अपने फ़्लैट में रहने का प्रस्ताव देते हैं।

रूबी दी अपने अकेलेपन को परे ढकेलने और

चुस्त-दुरुस्त होने के प्रयत्न में सोशलवर्क करती हैं। अपने को सक्रिय बनाने के लिए घुटनों के दर्द से पीड़ित होते हुए भी 'परामर्श' नामक संस्था में बिला नागा जाती हैं। जीवन के निजी दुखों से उबरने के लिए उन्हें कभी मृत्यु की आकांक्षा हुई थी। परंतु दूसरों का दुख उन्हें सक्रिय बनाता है। सामाजिक कार्यों में उन्हें जीवन का एक नया अर्थ मिल जाता है। वे पारिवारिक और सामाजिक उत्पीड़न की शिकार युवतियों के हित में सनद्ध होती हैं। उन्हें जीवन जीने का मक़सद मिल जाता है। इस सकारात्मक-दृष्टिकोण से उनका भी हित सधता है। वे व्यस्त रहती हैं। नई पीढ़ी (नतिनी) से सलाह-मशविरा करती रहती हैं। एकाकी और फ़ुर्सती जीवन तो व्याधियों से अधिक आक्रांत होता है।

अकेले जीने वाले बुज़ुर्ग 'असुरक्षा बोध' के भी शिकार होते हैं। भौतिकतावाद, उपभोक्तावाद, बेरोज़गार, बेरोज़गारी और अपराधीकरण की प्रवृत्तियों का ग्राफ़ तेज़ी से बढ़ा है जिससे वृद्धों की असुरक्षा का ख़तरा भी बढ़ा है। संपन्न वृद्ध-वृद्धा जो अकेले रह रहे हैं; उनकी आए दिन हत्या हो रही है। समाज इनके प्रति सहृदय नहीं है और न ही परिवार। नज़दीकी रिश्तेदार तो धन हड़पने के लिए घात ही लगाए रहते हैं। 'समय सरगम' की बीमार कामिनी अपने बँगले में अकेली ही रहती हैं। मगर उन्हें मरणासन्न बनाता है उनका अपना ही भाई। षड्यंत्र को लक्षित कर नौकरानी भी बहती गंगा में हाथ धोना चाहती है। असुरक्षा का भय ही 'अंतिम अरण्य' की अन्ना को इतना सताता है कि वे रातभर सो नहीं पातीं। निडर होकर जीवन-यापन करने की कोशिश उनका व्यर्थ जाता है। अकेलेपन के बोध से ही डर का वितान चारों ओर लग जाता है। ज़ाहिर है, यह डर समाज की ही देन है। बंदूक़ लेकर वह जानवरों को भगा देती थीं लेकिन, भीतर के डर से हमेशा सहमी रहतीं। अतः यह सवाल धारदार हो जाता है कि वृद्धों की सुरक्षा कैसे हो?

वृद्धों की मानसिक-समस्याएँ कम नहीं होतीं। एकाधिकार या वर्चस्वता-बोध का अभाव भी उन्हें दुखी करता है। 'व्यक्ति' परिवार में मुखिया तभी तक होता है जब उसका अपना परिवार हो और वे लोग आश्रित हों। उसका अपना घर हो। अपनी पत्नी, बच्चे हों। लेकिन, बेटे के घर में वृद्ध पारिवारिक सत्ता से अपदस्थ हो जाता है। परंतु उसका मन सहज रूप से यह स्वीकार नहीं कर पाता कि अब उसकी क़द्र पहले जैसी नहीं रह गई है। व्यावहारिकता में वह कई पायदान नीचे उतर आया है। तब उसे अपनी आदतें और अहंकार तिल-तिल जलाते हैं। उसे महसूस होता है कि बेटे के घर में उसकी स्थिति कुत्ते से भी गई-बीती है। 'गिलीगडु' के जसवंत सिंह इस अवमानना से भी पीड़ित हैं। प्रभाव में कमी और स्वतंत्रता की हानि उन्हें पीड़ा देती है। "इच्छा-अनिच्छा घरवालों की होती है। घर में आकर रहने वालों की नहीं। वे अनिच्छा प्रकट करने की औक़ात नहीं रखते।" (पृ. 39)

बच्चों की परवरिश में दादा-दादी की उपयोगिता होती है। औरों की दृष्टि में वे समादृत सदस्य हैं, यह बोध उन्हें सुख देता है। अस्तित्व-संपन्न होने का अहसास भी होता है। दरअसल, वृद्ध परिवार से जुड़कर ही गौरवांवित होते हैं। जब पोते-पोतियाँ उनके आसपास होते हैं। किंतु, जसवंत सिंह के तरुण पोतों को दादा के सान्निध्य की कोई ख़्वाहिश नहीं।

वृद्ध तरुणाई के 'मार्गदर्शक' माने जाते रहे हैं। वृद्ध संस्कृति, संस्कार अनुभव और स्मृतियों के संवाहक होते हैं। मगर वैश्वीकरण की तब्दीलियों ने लोगों को इतना बदल दिया है कि घर-परिवार हो या सेवा का दायरा, व्यावसायिक क्षेत्र : बूढ़ों से लाभ उठाने को कोई तैयार नहीं है। मूल्यगत परिवर्तनों में पारिवारिकता का अर्थ ही बदल दिया है। बाबू जसवंत सिंह के पोते कंप्यूटर में व्यस्त रहते हैं। दादा का अनुभव और ज्ञान उनके लिए पर्याप्त नहीं। इसीलिए जसवंत को आगामी वर्षों में परिवार ही ख़तरे में दिखाई देता है, "बुद्धि-विकास की आड़ में बड़ी ख़ूबसूरती से बच्चों को संवेदनाच्युत किया जा रहा है—इतना कि बच्चे कभी परिवार में न लौट सकें, न कभी अपना कोई परिवार गढ़ सकें।" पारिवारिक विघटन के कारण

...गिलिगडु जैसी बच्चियाँ हॉस्टेलों में रहती हैं। ...उन्हें अपने माँ-बाप के सान्निध्य का सुख ही ...हीं तो कर्नल स्वामी जैसे दादाओं को यह सुख ...हाँ कि वे पोते-पोतियों को सीने से चिपकाकर 'परंपरा और नीति' की शिक्षा दे सकें।

आर्थिकता की आवश्यकता हर उम्र में होती है। वृद्धावस्था में कुछ ज़्यादा ही। नाना प्रकार की व्याधियों से शरीर और भी ज़र्जर हो जाता है। उच्च मध्यवर्गीय लेखकों द्वारा विरचित उपन्यासों में वैसे तो ऐसे वृद्धों के पात्र प्राप्त नहीं हैं जो आर्थिक-तंगी और बदहाली में जीवन घिसट रहे हों। उनके सभी पात्र उच्चवर्गीय या उच्च मध्यवर्गीय वृद्ध या वृद्धाएँ हैं। ये अच्छे घरानों से हैं या ऊँची नौकरियों से सेवानिवृत्त हुए हैं। किंतु, प्रेमचंद ने—'बूढ़ी काकी' कहानी में 'संपत्ति हस्तांतरण' और 'अधिकारहीनता' का जो अमानवीय और त्रासद वर्णन किया है, उस त्रासदी की आशंका आज के बूढ़ों को भी बनी हुई है। उनकी संतान उनकी देखभाल करने में तो असमर्थ हैं लेकिन, उन्हें उनकी संपत्तियों के देखभाल की चिंता अधिक सताती है। वृद्ध पिता के धन पर वे जीवितावस्था में ही अपना अधिकार बना लेना चाहते हैं। 'गिलिगडु' में नरेंद्र और बहू सुनयना फ़िज़ूलख़र्ची का बहाना कर कानपुर के लॉकर को बंद करने का दबाव बनाते हैं बाबू जसवंत सिंह पर; वे चाहते हैं कि वे कानपुर का घर बेच डालें। तथा कर्नल स्वामी का बेटा श्रीनारायण तो फ़्लैट न बेचने पर बाप को कमरा बंद करके लहूलुहान भी करता है। परंतु, वृद्ध भी अब चतुर हो गए हैं। उन्हें संबंधों की स्वार्थपरता का ज्ञान है। इसलिए वे किसी दबाव के आगे झुकने को तैयार नहीं हैं। वे बूढ़ी काकी की भाँति अशिक्षित नहीं हैं।

एक तरफ़ विश्वग्राम की परिकल्पना का आदर्श है तो दूसरी तरफ़ वृद्ध घर से बाहर किए जा रहे हैं। पहले लोगों को समाज का डर होता था। जो लोग अपने माता-पिता की देखभाल भली-भाँति नहीं करते थे, उनकी निंदा की जाती थी। लेकिन वर्तमान समाज ऐसी अनीतियों पर ध्यान नहीं देता। पिता-पीड़क पुत्र को बहिष्कार नहीं करता। नतीजतन, ऐसी निरंकुशता का समाज में अधिक विस्तार हुआ है। सक्रिय पीढ़ी कभी व्यस्ततावश भी वृद्धों की ज़िम्मेदारियाँ नहीं निभा पाती। तब उन्हें 'वृद्ध-गृह' में रखा जाता है। पश्चिम के तर्ज पर भारत में भी, प्रायः महानगरों और धार्मिक-नगरियों में 'वृद्ध-गृह' बन गए हैं। लेकिन, वहाँ वही वृद्ध रह पाते हैं; जिनकी आर्थिक-स्थिति दुरुस्त होती है। जिनके बेटे माहवार शुल्क भेजते हैं। वृद्ध अपने समुदाय में जीवन-व्यतीत तो कर सकते हैं, करते हैं। पर अपनों की हौंस उनमें बनी ही रहती है। बाबू जसवंत सिंह की बेटी भी चाहती है कि पिता हरिद्वार के 'आनंद निकेतन वृद्धाश्रम' में रहें। वैसे वृद्धों के प्रति 'वानप्रस्थ' के नाम पर शुरू से ही उपेक्षात्मक रवैया अपनाया जाता रहा है। काशी जैसे नगरों में बुज़ुर्ग-जन गंगा स्नान और मंदिरों में भजन-कीर्तन करते हुए जीवन-यापन करते रहे हैं। बेटों की उपेक्षा और परिवार-निष्कासन को 'रामधुन' में भुलाने का यत्न ही उनके पास विकल्प होता है।

कृष्णा सोबती और चित्रा मुद्गल जैसी उपन्यासकार इस वैचारिक तथ्य को प्रमुखता से रेखांकित करते हैं कि मरने के पहले जीना नहीं छोड़ना चाहिए। वरिष्ठ नागरिक स्त्री हों या पुरुष, उसे संगी-संगिनी की अधिक ज़रूरत होती है। तरुणाई में तो कार्यों का आधिक्य होता है, उसमें व्यक्ति का समय व्यतीत हो जाता है। लेकिन, समय जब ठहर जाए, अकेलापन आक्रमण कर दे तो उससे निजात पाने के लिए वानप्रस्थ-जीवन में भी नई पारी की शुरुआत की जानी चाहिए। अनुराग, आत्मीयता के दो बोल भी जीवन में नए उत्साह का संचार करते हैं। *समय सरगम* के ईशान और आरण्या का एक फ़्लैट में रहना उनकी मैत्री और प्रेम का ही द्योतक है। वे एक-दूसरे की आदतों और रुचियों का ध्यान रखते हुए ही 'साहचर्य-सरगम' गाते हैं। नितांत अकेले होने के कारण उनके संबंधों में कोई बाधक भी नहीं होता। वरना संपत्ति से बेदख़ल होने के ख़तरे संतान महसूस करते हैं।

वे आक्रामक होकर ऐसे संबंधों को प्रायः स्वीकार नहीं करते। इसी उपन्यास में प्रभु दयाल की हत्या हो जाती है। गिलिगडु के कर्नल स्वामी का पत्राचार डॉ. अणिमा दास से होता है। अणिमा दास की लंबी कविताएँ उन्हें नई स्फूर्ति देती हैं। उनके प्रसंग से ही बाबू जसवंत सिंह भी निर्णय लेते हैं कि वे कानपुर लौट जाएँगे। सुनगुनिया (नौकरानी) उनका ध्यान रखती है। उसके प्रति उनमें प्रेम का ज्वार उठता है और उसे अपनी संपत्ति देने तक की सोच लेते हैं। वृद्धों की देखभाल प्रायः नौकर-नौकरानियाँ ही करते हैं। ज़ाहिर है, वृद्धों को संतान से अधिक प्रिय वही होंगे। उनमें वे मानवीयता और लगाव अधिक महसूस करते हैं। वृद्ध का मन भी युवा होता है। प्रेमहीन जीवन उनके लिए अभिशाप हो जाता है। अतः 'प्रेम-कस्तूरी' पाने की विकलता अंत तक बनी रहती है। यह विकलता निश्चित ही मानवीय तक़ाज़ा है।

अंतिम अरण्य को समझना 'अरण्य' जैसा ही सहज और दुष्कर है। 'सहज' इसलिए कि विषयवस्तु जानी-पहचानी वृद्धों की दुनिया है और 'दुष्कर' इसलिए कि औपन्यासिक पात्र साधारण नहीं विशिष्ट हैं। साधारणजन की जीवन-शैली या जीवन-यथार्थ लगभग शून्य है। प्रचलित रूप में निर्मल वर्मा यथार्थवादी लेखक नहीं हैं। वे प्रेमचंद या रेणु की विरासत को नहीं सहेजते और न ही समाज के गहरे अंतर्विरोधों को रेखांकित करते हैं। उनकी दृष्टि में यथार्थ वस्तुगत नहीं मानसिक और मूल्यगत अधिक है। चिंतनशील लेखक होने के कारण उनकी चिंताएँ जीवन-स्थितियों में ढलकर प्रकट होती हैं। वे 'कालबोध' के रचनाकार हैं। अनुभव की प्रामाणिकता का तक़ाज़ा ही है कि उन्होंने अपने वानप्रस्थ-उम्र में *अंतिम अरण्य* लिखा। प्रस्तुत रचना की भूमि पहाड़ी शहर है। पहाड़ी शहर में बसने वाले लोगों में प्रमुख पात्र मेहरा साहब आई.ए.एस. अधिकारी रहे हैं। रिटायरमेंट के बाद डॉक्टरी करने वाले डॉक्टर सिंह हैं, विश्वविद्यालयी प्राध्यापन छोड़कर पहाड़ी उपांत में सेब का बाग़ लगाने वाले निरंजन बाबू हैं। जो छह महीने परिवार के साथ रहते हैं और छह महीने इस पहाड़ी शहर में वानप्रस्थ के उपक्रम में। जर्मन महिला अन्ना हैं, जिनके लिए हिंदुस्तान-जर्मन का कोई मायने नहीं। उनका व्यामोह सिर्फ़ 'घर' के प्रति है, वह जहाँ बन जाए, वही अपना देश है। मेहरा साहब की बेटी तिया है, मृत पत्नी दीवा की स्मृतियाँ हैं और है नैरेटर जो पहले उत्तमपुरुष होता है, बाद में गवर्नर बाबू हो जाता है। उम्र के सैंतीस वर्ष में ही वह ऐसी दुनिया में सम्मिलित हो जाता है जहाँ जीवन की सांध्य बेला है। दुख है, अवसाद है, अकेलापन है, उदासी है और है मृत्यु का ख़ौफ़। जीवन की रागिनियाँ नहीं बजतीं। राग-रंग, उत्साह-उमंग का नामोनिशां नहीं है। भविष्यहीनता में ठहरा हुआ वर्तमान है। बस, जीए हुए को जीते जाना या दोहराना।

फिलहाल, *अंतिम अरण्य* का केंद्रीय-संवेदन बिंदु 'मृत्यु' है। आद्योपांत उपन्यास में मृत्यु सिमिट्री की छाया बनी रहती है। बकौल निर्मल वर्मा, "इतिहास की अभी ऐसी कोई दीवार नहीं बनी है जो शहर को क़ब्रगाह से अलग कर सके। जिन मुर्दों को हम दफ़नाकर घर लौटते हैं...तो पाते हैं, वे पहले से ही हमारी प्रतीक्षा में बैठे हैं। घटना तब तक स्मृति नहीं बनती, जब तक हमसे बिलकुल अलग नहीं हो जाती। बिना स्मृति के कोई घटना सिर्फ़ एक हादसा बन जाती है। हादसे में मनुष्य सिर्फ़ बदहवास हो जाता है—स्मृति का वह अवकाश नहीं होता, जिसके रहते ही हम घटनाओं को एक सिलसिलेवार श्रृंखला में बाँधते हैं, जिसे हम इतिहास कहते हैं।" (इतिहास, स्मृति, आकांक्षा, पृ. 9)

मेहरा साहब के लिए दीवा की 'मृत्यु' स्मृति का अंश नहीं बनी है, अपितु 'हादसा' है जिससे पलभर के लिए भी वे उबर नहीं पाते। पूरे घर की लाइट हर समय जलाए रखना, रह-रहकर अंतः दुनिया में खो जाना, दूसरे की अनुपस्थिति को भूल जाना आदि क्रियाएँ हादसा की ही प्रतिक्रियाएँ हैं। मुरलीधर कहता है, "बाबू मैं उन्हें बचपन से जानता हूँ। लेकिन, जैसे वे अब हैं, वैसा कभी नहीं देखा

था। मेम साहब के मरने के बाद भी वह ऐसे नहीं थे। आधी रात को उठकर मुझे बुलाते हैं...कहते हैं, बाहर जाकर देखूँ, कौन दरवाज़ा खटखटा रहा है। मैं सारे अहाते का चक्कर लगाकर आता हूँ तो देखता हूँ कि वह बरामदे की कुर्सी में बैठे हैं। मुझे देखकर हैरान हैं कि मैं इतनी रात में उनके पास क्यों आया हूँ?'' (पृ.109)

मृत्यु से संबंधित कुछ संवाद ग़ौरतलब हैं। "मृत्यु एक घटना है। वह सिर्फ़ बर्फ़ की तरह सुन्न कर देती है। पीड़ा बाद में आती है। काल की तपन में बूँद-बूँद निकलती हुई।'' (पृ. 264)...''मृत्यु एकमात्र चीज़ है जिसके बारे में हम निश्चिंत होते हैं...क्या वह भी आदमी को आख़िरी मौक़े पर धोखा दे सकती है? हम यह भी नहीं जान पाते, वह अपने साथ किसे ले गई हैं? क्या वह उसे जिसे हम जानते थे या किसी और को, जिसे जानने की कभी मुहलत नहीं मिली?'' (पृ. 111)...''देह का आतंक, संदेश सिर्फ़ मृत्यु के सामने खुलता है, जिसे वह बिल्ली की तरह जबड़ों में दबाकर शून्य में अंतर्धान हो जाती है...।'' (पृ. 100)

प्रश्न यह है कि उपन्यास में अंतिम क्षण तक जीने की बलवती इच्छा क्यों नहीं? ग़ालिब से शब्द उधार लेना चाहती हूँ कि, *मौत का एक दिन मोअय्यन है। नींद क्यों रात भर नहीं आती?*

मनुष्य का अंतिम चरण 'मृत्यु' है। इसके उपरांत तो कुछ करने, सोचने को नहीं रह जाता। जब तक जीवन है, नाना प्रकार के संघर्ष हैं, चुनौतियाँ हैं और जय-पराजय हैं। मानसिक-समस्याओं से वह उबर ही नहीं पाता तब तक उम्र ढलने के साथ ही शारीरिक व्याधियों का ताबड़तोड़ आक्रमण होने लगता है। अतः यह कहना ग़लत न होगा कि वृद्धों की समस्याएँ जितनी हैं; उन सबकी अभिव्यक्ति उपन्यासों में नहीं हो सकी है। आलेख के प्रारंभ में जिन-जिन उपन्यासों का नामोल्लेख किया गया है, उन सबका विस्तार में विवेचन भी यहाँ संभव नहीं है। उनकी मूल समस्याओं या प्रतिपाद्यों का संकेत ही किया जा सकता है। दीगर बात यह कि वृद्धों के संदर्भ में अधिक विचारणीय मुद्दा पारिवारिक ही है। पारिवारिक-मूल्यों की माँग होती है कि संतान अपने वृद्ध माता-पिता की देखभाल करें, मगर, ऐसा नहीं हो रहा है। यह मूल्यहीनता विकट सामाजिक-समस्या बन रही है। मसलन, वरिष्ठ कथा-लेखिका ममता कालिया के उपन्यास *दौड़* के दोनों वृद्धों के सामने यह अबूझ स्थिति है कि उनके बच्चे उनकी ही दिखाई राह पर चलें। फिर वही कैसे हाशिए पर आ गए। अकेले और निरुपाय हो गए। ऐसे ही सवालों से जूझता है नाग बोडस के उपन्यास *मैनि.फ़ैस्टो* का वृद्ध नायक। बच्चों का व्यवहार उसके लिए गुत्थी है। वह उन स्थितियों की पड़ताल करता है कि कैसे बच्चों ने वह रास्ता अख़्तियार किया, जिसे उसने कभी चाहा नहीं था। इस प्रकार पारिवारिक, सामाजिक और जैविक परिवर्तनों के कारण वृद्धों की मानसिकता में ज़बर्दस्त बदलाव आता है। भावनात्मकता, आत्मीयता और सुरक्षा-बोध का अभाव उन्हें व्यथित करता है। असहाय निरीह बच्चे भी होते हैं। मगर, उन्हें अपनत्वभरी तन्मयता से पोसा जाता है। जबकि, वृद्धों को व्यर्थ मानकर उनके वर्तमान को ही अतीत में ढकेलने की कोशिश की जाती है। रिश्तों को लाभ के तराजू पर तौलना निश्चित ही शर्मनाक है पर सामाजिक-सच्चाई का दुखद अक्स यही है। वृद्धजन अगरचे साथ रखे भी जाते हैं तो वहाँ उद्देश्य उनकी देखरेख नहीं, आया का स्थानापन्न करना होता है।

वृद्धों की एक समस्या मानसिक रुग्णता भी होती है। वे काम-कुंठा के शिकार हो जाते हैं। ऐसे वृद्धों को युवतियाँ तो 'पिता-तुल्य' समझती हैं लेकिन, वे उन्हें अंकशायिनी बनाने का ख़्वाब देखते हैं। ऐसे वृद्ध समाज में भी अवमानना और निंदा के पात्र होते हैं। वे उस 'मान' को खो देते हैं, जिसके वे अधिकारी होते हैं। श्रीलाल शुक्ल ने *विश्रामपुर का संत* में एक ऐसे ही अस्सी वर्षीय राजनीतिज्ञ के कामकुंठाओं का वर्णन व्यंग्यात्मक लहज़े में किया है। भूदानी नेता जयंती प्रसाद जवानी में ही विधुर हो गए थे। शायद इसीलिए अस्सी की उम्र में भी सुंदरियों की बाँहों में होने का स्वप्न देखते हैं। ज़ाहिर है, ऐसी रुग्णता का इलाज आसान नहीं।
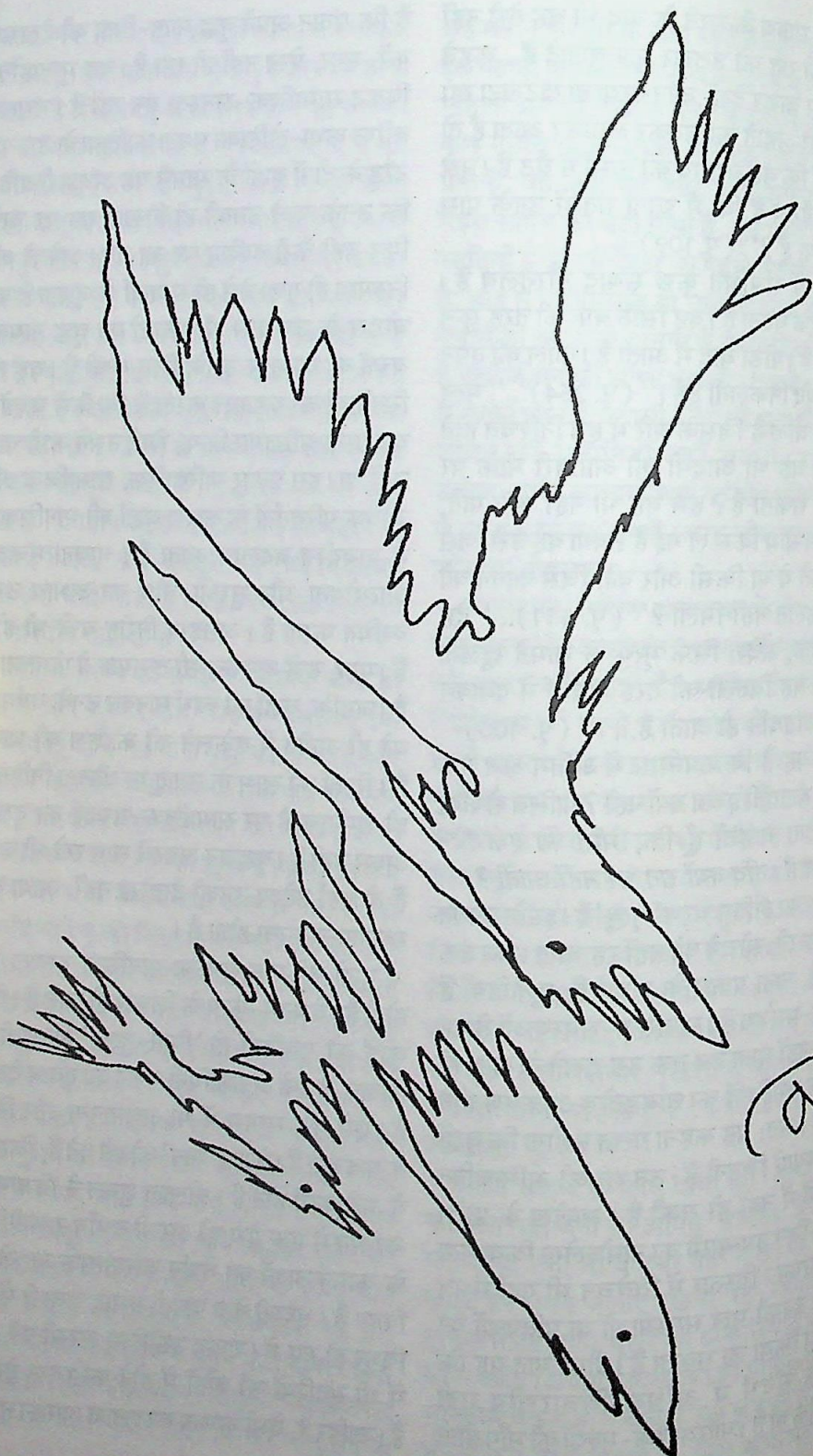
हिंदी कविता

प्रेमशंकर रघुवंशी

हो सकूँ

दोस्त से कुशल-मंगल पूछकर जब पार कर चुका सड़क; तो सुनाई दी चीत्कार। वह जीप के ब्रेक लगने की चीख़ थी। ड्राइवर अधमरा-सा देख रहा था मुझे...कि कहीं लगी तो नहीं। और मैं ब्रेक लगने के बाद की टक्कर खाकर इतना भर गिरा था कि झट्ट से अपने आप धूल झटकारता हुआ खड़ा हो गया। कि तभी आसपास की गुमठियों से लपककर आए लोग ड्राइवर पर पिल पड़े। अच्छा रहा कि ड्राइवर हिंदू निकला। यह भी ठीक रहा कि वह मेरे गाँव के पास का निकला। यह भी गनीमत रही कि वह मेरी जात का निकला। इतनी जानकारी के बावजूद वह भीड़ के कई धप्पे खा चुका था। और मैं चिल्ला-चिल्लाकर मना रहा था भीड़ को कि मत मारो उसे। वह हिंदू है हिंदू। मेरे गाँव का हिंदू। मेरी जात का हिंदू। कि तभी छँटने लगी भीड़ और वह हिंदू ड्राइवर हिंदू से किए एक्सीडेंट की वजह से नहीं मारा गया। और मेरी बस्ती दंगे की चपेट से बच गई। मुझे अब तक कोई ख़ास चोट नहीं लगी थी। लेकिन अब अंदर-ही-अंदर टुकड़ा-टुकड़ा बिखर रहा हूँ। और मेरे पड़ोस के मियाँ लुकमान अली खाँ के शफ़ाख़ाने में भी कोई ऐसी दवा, ऐसा जुशांदा नहीं है कि जिसे पीकर मैं बिना धर्म-मर्म, बिना जात-पाँत, बिना वतन-बेवतन के एक साबुत आदमी हो सकूँ...।

अगला हमला

उन्हें रोका तो वे भन्नाए और बोले—देख लेंगे तुम्हें...फिर तन्मय होकर पजाने लगे तलवारें अपनी...करने लगे गुप्त बैठकें तलघरों में...यह सोच ही रहा था कि कितना ख़तरनाक होता है हत्यारों को रोकना...कि तभी असंख्य चीख़ें सुनाई दीं...। हड़बड़ाकर बाहर आया तो देखा कि मेरे घर के आसपास...गलियों में विस्फोटक लादे बेधड़क घूम रहे हैं हत्यारे और लावारिश जंगलों के मानिंद जल रहे दूर-दूर तक मोहल्ले...अब अगला हमला हमारी तरफ़ ही होनेवाला है उनका...और डरा हुआ, झुलसा शहर; उनकी ही ख़ुशामदें करता, पत्रकार वार्ता के वास्ते, ऊँची ऊँची मचानें बना रहा है...!

...में जन्मे प्रेमशंकर रघुवंशी ...अब तक दस कविता-संग्रह, ... कहानी-संग्रह, दो ...आत्मक और चार बच्चों की ...कें प्रकाशित हुई हैं। राज्य ...हित्य अकादमी, हिंदी ...हित्य सम्मेलन और ...भाषा-संस्थान से पुरस्कृत ...। संपर्क : प्रताप कॉलोनी, ... के पीछे, हरदा-461331 (म.प्र.)

लोगों के कंठ से

ग्रामसिंहों के भूँकने की परवाह किए बग़ैर सूरज...मेरे गाँव का
पता पूछता...मुझे सहानुभूति देने मेरे द्वार तक आ गया...
यह देख मैं फटकी बंद कर जब झोंपड़ी के अंदर हो गया, तो
सूरज; अपनी किरण रंजित हथेलियों से बजाता रहा साँकल!
अब तक का अंधा मुहल्ला भी आँखें मलता सूरज के साथ बाहर
आने के लिए पुकारने लगा मुझे...कि तभी उचककर छाती पर आ
बैठा सूरज और चंदूकलों से झाँकने लगा अंदर...कि तभी ढाँप
लिया चेहरा अपना...लेकिन इतनी जगह से फटा है गमछा कि
उसके छेदों को पारकर मेरे पास आ गया सूरज!
अब, जबकि दाख़िल हो ही गया है सूरज-तो उसे—कहाँ बिठाऊँ?
क्या खिलाऊँ-पिलाऊँ ?...क्योंकि...सारी गृहस्थी तो ले भागे वही
लोग जो सूरज के साथ खड़े होकर बाहर हमदर्दी को पुकार रहे
हैं...और मैं मन मसोसकर यह सब देखता हुआ डूब रहा हूँ अँधेरे
में, जहाँ न तो घर में कोई शेष रहा...न दिख रहा अपना चेहरा
मुझे...ना कोई दर्पण बचा है कि जिसके सामने खड़े होकर प्रतिबिंबों
के साथ ही बाँट सकूँ अपना दर्द!
अब सहानुभूति पाकर न तो भावपूर्ण हूँ—ना भावशून्य...चैतन्य न
अचेत...और ना आँसुओं की कोई धार ही बाक़ी हैं मेरी आँखों में
कि जिनमें नहाते ही लोगों के कंठों से अपने आप फूटने लगती हैं
प्रार्थनाएँ...!

आर्यावर्त का पवित्र पानी

चाहे साबरमती हो या पोरबंदर, हत्यारे कहीं से भी निकाल सकते
हैं नफ़रत का जुलूस...जिनमें लगाए जाने वाले नारों का एक ही
अर्थ होता कि गांधी के बिना भी अयोध्या नंदन श्री रामलला की
कृपा से स्वयं ही स्वतंत्र हो जाती भारतमाता। रामष्टक का एक
पाठ ही काफ़ी होता कि टूट जातीं पराधीनता की बेड़ियाँ तड़ातड़!
और ख़ुद-ब-ख़ुद भाग जाते जंबूदीप से फिरंगी...आख़िरकार,
राष्ट्रपिता या महात्मा या बापू का लोकपद पाने के लिए इतने
बलिदानों की क्या ज़रूरत थी मोहन दास को कि पूरा देश ही झोंक
दिया आज़ादी के वास्ते...
हत्यारों के इन समूह-गीतों में लाठियों की ताल है—लेजिम की
छनकार हैं...खनक हैं तलवारों की...। खंजरों की झनकार है...गमक
है डमरू की...त्रिशूल की टंकार है, उद्घोष हैं हथगोलों के और

सीनों में संकल्प हैं सत्यानाश के। ऐसे में जब भी मन होता उनका कि भारत माँ के चरणों में पुष्प अर्पित करें, तो वे...विधर्मी औरतों के गर्भ चीरकर वहाँ से चुन लेते अधखिले नवजात सुमन...और उन्हें सदियों पुराने प्रतिशोध की अनैतिहासिक दुहाइयाँ देते...'तेरा तुझको अर्पित क्या लागे मेरा' की टेक के साथ नाचते-गाते कीर्तन करते, उत्तेजक जय-जयकारों से भर देते आसमान।...तब वे दिक्पालों के साथ गौरवगान करते, पताकाएँ फहराते-रथारूढ़ हो गांधी के घर से ही शुरू करते अपनी यात्रा और 'जो जैसा करेगा वैसा भोगेगा' का पवित्र संदेश देते हुए पूरे देश को विश्वगुरु के रंग में बोरने लगते हैं जिसकी वजह से मटमैली होती जा रही हैं आर्यावर्त की पवित्र नदियाँ तेज़ी से...!

फिर देखना

सागर को न्योते भेजे कई बार। बार-बार सूरज से मनुहारें कीं...चाँद-तारों को पढ़ाए कई मर्तबा संदेश...किंतु नहीं आया कोई भी द्वारे...कि तभी आकाश ने कहा—पहले बंद हो जाने दो अपने-अपने गिरजाघरों की घंटियाँ...शांत पड़ जाने दो अपने-अपने मंदिरों के नगाड़े...मौन होने दो अपने-अपने गुरुद्वारों की अरदासें...चुप होने दो अपनी-अपनी मस्जिदों की अजानें...तब खोलना धीरे से अंदर के द्वार! फिर देखना कि बस्ती-बस्ती आने लगेंगे पाहुने और आतिथ्य की किलकारियों से भरने लगेंगे घर-आँगन, आठों पहर तुम्हारे...!

किस किस को

किस किस को भेजूँ संवेदन!

सूखी नदी सिरहाने लेटी
पिंडलियों में लिपटी नागिन
मुट्ठी से झर रहे मरुस्थल
मन में बुझते हुए निवेदन!

बस्ती-बस्ती आग लगी है
आसपास ईंधन ही ईंधन
सौंप रही झुलसी मनुष्यता-
विस्थापित युग को प्रतिवेदन!

गोविंद माथुर

बेटे की मोटर साईकिल पर

बैठे बैठे ही किक मारी उसने
जैसे घोड़े के लगाई हो एड़
एक झटके से दौड़ी मोटर साईकिल
आधा पीछे की ओर झुक गया मैं
थोड़ा सचेत था सँभल गया
एक क्षण में मोटर साईकिल
हवा से बातें कर रही थी

पहली बार बैठा था मैं
बेटे की मोटर साईकिल के पीछे
वह चला रहा था आत्मविश्वास के साथ
मैं मुग्ध था उसकी कलात्मकता पर
पर घबरा भी रहा था
हर मोड़ पर सहम जाता था
लालबत्ती पर राहत महसूस करता था
फिर झटके से चलती मोटर साईकिल
मैं लहरा जाता लगता कहीं रह जाऊँगा हवा में
मैंने एक-दो बार कहा भी धीरे चलाओ।

बीस बरस से मैं भी चला रहा हूँ स्कूटर
कुछ बरस राजदूत मोटर साईकिल भी चलाई थी
पर कभी अपने को उड़ते हुए महसूस नहीं किया
तीस-चालीस की स्पीड से ज़्यादा नहीं चला
हर मोड़ पर धीरे किया ध्यान रखा ट्रैफ़िक नियमों का
फिर भी कई बार हुआ चालान
पाँच-दस बार टकराया भी बचा मरते-मरते।

कुछ वर्षों पहले तक मेरे स्कूटर के आगे
लगी हुई थी छोटे बच्चों के बैठने की सीट
जिस पर बैठा करता था मेरा बेटा
जिसके पीछे बैठा हूँ मैं आज
तब भी यही कहता था
तेज़ और तेज़ चलाओ पापा
मैंने रफ़्तार नहीं बढ़ाई कभी
जैसा जीवन में चला वैसा ही चला स्कूटर पर

गोविंद माथुर की कविता तथा कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। तीन कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। कई संस्था से सम्मानित हैं। संपर्क : 'क्षितिज', 82/115, नीलगिरि मार्ग, मानसरोवर, जयपुर-302020

घर लौटकर आने तक तो चुप ही रहा मैं
लेकिन रोक नहीं सका अपने को
किस तरह चलाते हो मोटर साईकिल
ट्रैफ़िक सेंस नहीं है तुममें
इतनी तेज़ दौड़ाने की ज़रूरत क्या है?
मैं एक पिता की तरह डाँटता रहा
वह सुनता रहा एक पुत्र की तरह
फिर उठकर चला गया बिना कुछ कहे

उसके जाने के बाद
बहुत देर बाद संतुलित हुआ मैं
इन दिनों बहुत जल्दी क्रोध आ जाता है मुझे
हर समय झल्लाया-सा रहता हूँ
नई पीढ़ी की सभी हरकतें बेजा लगती हैं
जानता हूँ इन्हें एक नई व्यूह रचना को भेदना है
मेरे संघर्ष से बहुत अलग है इनका संघर्ष
मैं इनकी गति को रोक नहीं सकता
सिर्फ़ टोक सकता हूँ हर बात पर।

आत्मीय संबंधों में बढ़ती दूरी

सुबह साढ़े सात बजे
एक मित्र का फ़ोन आया
एक अन्य मित्र के पिता नहीं रहे थे
मित्र ने भरसक ग़मगीन और
गंभीर स्वर में कहा था
ग्यारह बजे शुरू होगी शव यात्रा
थोड़ा जल्दी आ जाना
वह कुछ कहता इससे पहले ही
मित्र ने फ़ोन रख दिया था।

उसे ग्यारह बजे दूरदर्शन केंद्र जाना था
एक परिचर्चा का संचालन करना था
विषय था आत्मीय संबंधों में बढ़ती दूरी
परिचर्चा में दो वरिष्ठ लेखक एक समाज सेवी
और एक प्रशासनिक अधिकारी आमंत्रित थे
उसने सोचा था दफ़्तर में हाज़िरी मारकर
दूरदर्शन स्टूडियो पहुँच जाएगा।

वह अब तक कितनी ही शव यात्राओं में जा चुका था
शुरू शुरू में बहुत भावुक हो जाया करता था
श्मशानी बैराग भी उत्पन्न हुआ था कई बार
जीवन-मृत्यु पर दार्शनिकों की तरह सोचने लगता था
अब शव यात्राओं में जाना बेहद ऊबाऊ लगने लगा था
तीन-चार किलोमीटर पैदल चलना
दो-ढाई घंटे शव को जलते हुए देखना
फिर भारी क़दमों से धीरे-धीरे घर लौटना
पूरा दिन बरबाद हो जाता है शव यात्राओं में।

मित्र के पिता की उम्र अस्सी-बयासी वर्ष रही होगी
कई महीनों से बिस्तर पकड़ रखा था
पिछले दिनों भर्ती थे अस्पताल में
वह दो-तीन बार मिलकर भी आया था
वह सोच रहा था क्या करे
उसकी भूमिका भी क्या होती है ऐसे अवसरों पर
सिर्फ़ कंधा भर देने की
वह उन लोगों में से है जो
दूर खड़े रहते हैं चुपचाप, न तो कोई
उन्हें अर्थी का सामान लाने को कहता है
और न ही उन्हें अर्थी बाँधना आता है
हर जगह होते हैं ऐसे सामाजिक लोग
जो पूरी तन्मयता से लग जाते हैं
पूरा करा देते हैं सारा क्रिया-कर्म
चाहे संबंध कितनी ही दूर के हों या न भी हों।

वह नहीं जाता है दूरदर्शन तो भी
परिचर्चा तो हो ही जाएगी
प्रोड्यूसर किसी और को बुला लेगा
संचालन के लिए कई लोग तैयार बैठे मिल जाएँगे
पर उसका नुक़सान हो जाएगा
पाँच सौ रुपए निकल जाएँगे हाथ से
वरिष्ठ लेखकों और प्रशासनिक अधिकारी पर
अपना प्रभाव जमाने का अवसर खो देगा
दूरदर्शन पर उसकी सूरत भी
कई महीनों से दिखाई नहीं दी है
छोटी जगहों पर अब भी ऐसे
कार्यक्रम देख लेते हैं लोग

दरअसल छोटे शहर
क़सबाई मानसिकता में जी रहे हैं आज भी
उसे क़सबाई मानसिकता से ऊपर उठना होगा
यूँ भी उसे कुछ दिनों बाद
देश की राजधानी में जाकर बस जाना था
उसने परिचर्चा आत्मीय संबंधों में बढ़ती दूरी का
संचालन करना ही उचित समझा

मित्र के पिता के निधन पर
शोक व्यक्त करने के लिए
तो तीये की बैठक में चला जाएगा।

शाहिद अख़्तर

कोई दिन

अलग-थलग यहाँ ख़ुद से गुज़ारिए कोई दिन
नए सलीके से अपना सँवारिए कोई दिन

अजब नहीं के वही मोतियों से भरने लगे
फिर उसके सामने दामन पसारिए कोई दिन

बदल रहा है बहुत कुछ मिज़ाज मौसम का
बदन से मोम का ज़ेवर उतारिए कोई दिन

हरा न कर दे कहीं ज़ख़्म-ए-दिल वो बारे दिगर
दराज होती-सी ख़्वाहिश को मारिए कोई दिन

किसी को वस्ल पे आमादा कीजिए कोई शाम
गुज़ारने की तरह से गुज़ारिए कोई दिन

इधर उधर की शग-व-रोज़ ख़ाक छान चुके
कभी ग़रीब के घर भी पधारिए कोई दिन

खुलेगा रोज़न-ए-खाब-हसीन भी अख़्तर
वो नक़्श-ए-आईना खाना उभारिए कोई दिन।

...हिद अख़्तर का जन्म 1962 ...ं हुआ। कई ग़ज़ल-संग्रह ...काशित हुए हैं। संपर्क : गया ...ॉलेज, गया-823001 (बिहार)

बाँधी गई

रोज़-व-शब झूठी तसल्ली यार से बाँधी गई
फूल जैसी ज़िंदगी और खार से बाँधी गई

जंग के मैदान में तलवार से बाँधी गई
ज़िंदगी अपनी सलीब-व-दार से बाँधी गई

हो गया सहारा मुख़ालिफ़ दश्त भी मेरे ख़िलाफ़
मेरी वहशत जब मेरी दस्तार से बाँधी गई

रात जब अपने अमल से हो गई थी शर्मसार
रौशनी बार-ए-दिगर मीनार से बाँधी गई

दिल में रहती थी तो अकसर बोलती रहती थी ये
क्यों तेरी तस्वीर-इक-दीवार से बाँधी गई।

नरेश मेहन

घर

घर
चाहे कैसा हो
उसके एक कोने में
खुलकर हँसने की
जगह रखना।

सूरज
कितना भी
दूर हो
उसको घर आने का
रास्ता देना।

कभी-कभी
छत पर चढ़कर
तारे
अवश्य गिनना
हो सके तो
हाथ बढ़ाकर
चाँद को
छूने की
कोशिश करना।

अगर हो
मिलना-जुलना तो

हिंदी कवि नरेश मेहन का जन्म 1959 में हुआ। इनका एक कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ है। कई संस्थाओं से सम्मानित हैं। संपर्क : मेहन हाउस, ढिल्लो कॉलोनी, हनुमानगढ़ संगम-333512, मो. : 9414329505

घर के पास
पड़ोस ज़रूर रखना।

भीगने देना
बारिश में
उछल-कूद भी
करने देना
हो सके तो,
बच्चों को
एक काग़ज़ की किश्ती
चलाने देना।

कभी हो फ़ुरसत
आसमान भी साफ़ हो
तो एक पतंग
आसमान में चढ़ाना
हो सके तो
एक छोटा-सा
पेंच भी लड़ाना।

घर के
सामने रखना
एक वृक्ष
उस पर बैठे
पक्षियों की बातें
अवश्य सुनना।

घर के
एक कोने में
हँसने की
जगह रखना।

फ़ौजी

अजीब थे
ये फ़ौजी लोग
हँसते तो
ठहाका मारकर

घर याद आता तो
रूमाल भिगो देते।

मस्ती बढ़ती तो
लोक गीत गाते
ऐसा लगता था
जैसे कोई सूफ़ी
रेत के टीले पर बैठा
ख़ुदा से
तान जोड़ रहा है।

ग़म गुसार होते तो
फिर यादों के
संदूक़ खोल देते
जिस्म के अलावा
जैसे यादें
उनका सरमाया हो।

युद्ध होता तो
शहीद हो जाते
छोड़ जाते
सिर्फ़ यादें।

फिर
बन जाते बुत
किसी चौराहे
के लिए।

पागलपन

मेरे
घर के पास
खड़ा वृक्ष
रोज चूमता है
मेरी छत को

साथ में
गिरा देता है
कुछ पत्ते व फूल
मेरी छत पर।

मैंने
उससे पूछा
भाई
ऐसा रोज़-रोज़
क्यों करते हो?

उसने कहा
अरे!
भूल गए आप
जब काट रहे थे
कुछ लोग मुझे
सौंदर्य करण के लिए
तब तुम्हीं ने
रोका था उन्हें
बहुत
लड़े थे तुम
परेशान भी
बहुत रहे थे तुम
लिपट गए थे
मेरे तन से।

फिर तो
लोगों ने
छोड़ दिया था मुझे
यह कहकर
कौन माथा मारे
इस पागल से!

ग़रीबी

मैं
अपनी फटी जुराब
कभी भी
जूतों से
बाहर नहीं निकालता

फिर भी
न जाने कैसे
लोग देख लेते हैं

मेरे दाएँ पैर की
तीन उँगलियाँ।
जुराब से
बाहर ताक रही हैं।

रंजना जायसवाल

सच कहना

सीपियों में
मोती का बनना
छीमियों में दानों का उतरना
जाना तुमसे मिलने के बाद

कहाँ जानती थी क्या होता है प्रेम
तुमसे मिलने से पहले
भरोसा भी कहाँ था
किसी पर कहाँ पता
था यह भी कि प्रेम
एक ही बार नहीं होता
जीवन में कल्पना में बसते हैं कितने
असंख्य प्रेम
कहाँ जाना था
तुमसे प्रेम से पहले

अब जबकि हो बहुत दूर
फड़फड़ाते हैं
तुम्हारे होंठ
जब मैं तितली होती हूँ यहाँ

पढ़ते हो तुम वहाँ
मेरी साँसों की लिखी चिट्ठी
किसी चुराए क्षण में
सच कहना
क्या नहीं?

रंजना जायसवाल का जन्म 1968 में हुआ। इनके दो कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। संपर्क : ई.डब्ल्यू. एस. 210, राप्तीनगर चतुर्थ चरण चारगावाँ, गोरखपुर
मो. : 9336417536

जबकि तुम

जबकि तुम
चले गए हो कबके बिखेरकर
ज़िंदगी के कैनवस पर ताज़े रंग

घर में तुम्हारी गंध
फैली है अभी भी
बन ही जाती हैं चाय की दो प्यालियाँ
तुम्हें टटोलने लगते हैं हाथ नींद में अकसर
अभी भी
जबकि तुम चले गए हो
कब के
सपनों में डरी मैं तलाशती हूँ तुम्हारा वक्ष तपते माथे पर
इंतज़ार रहता है
तुम्हारे स्पर्श का जबकि तुम
चले गए हो
कब के

अब जबकि तुम चले गए हो
नहीं टपकती तुम्हारी बातें
पके फल की तरह नहीं आते
पंछी छत पर खाने
चावल की खुद्दी नहीं बिखेरी जाती

झुक गए हैं फूलों के चेहरे
झर गया है पत्तियों का संगीत नहीं उतरती
अब कोई साँवली साँझ
आँगन की मुंडेर पर।

रेखा

बेटी आएगी

परदेसिन बेटी आएगी
चाहती हूँ घर एकदम साफ़ हो
चकाचक
छुपाना चाहती हूँ
महीन से महीन जाले
जो मेरी उलझनों ने
ख़ाली जगहों में बुने हैं
दीवारों के चेहरों से मिटाना चाहती हूँ
बदरंग झाइयाँ
चिपकी हैं जिन पर एकांत उदासियाँ

रेखा की कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : 'अनहद', एलफ़िन लॉज एस्टेट, चौड़ा मैदान, शिमला-171004 (हि.प्र.)

जतन करती हूँ
खिड़कियों के शीशे
खिलखिलाकर स्वागत करें उसका
आर-पार दर्शाने वाली ख़ुशी से
भरा-भरा हो घर
चीज़ें जो न जाने कब से
सुस्त पड़ी हैं, निकम्मी और थकी-थकी
सबको नहलाया-धुलाया है
कितना कठिन है
समय के सामानांतर दौड़ना
टेलीफ़ोन पर
बार-बार भरोसा दिलाना
फिर उसे निभाना
सब ठीक-ठाक है
एकदम वैसा ही जैसा उसके होने से था
बेटी आएगी
उससे पहले सुध लेनी होगी
सब छीजते जोड़ों की
दरारों को पूरना होगा
सुखानी होगी यहाँ-वहाँ छलकती आर्द्रता
हुमकता गीलापन

वह जो घर में, घर के साथ
देखने के बाद
मेरी कोख में घुसकर ढूँढ़ेगी मुझे
उससे भी छुपानी होगी
कुछ बहुत निजी चीज़ें
संदूक़ में अनगिनत तहों के नीचे
नीली पोटली में बँधी पुरानी चिट्ठियाँ
एक भावुक पीढ़ी की भावुकता के
साक्षी अतिरेक
वह बचती है
भुरभुरे काग़ज़ तक फाड़ने से
जिनमें लिखा है 'प्यार'
काग़ज फटने भर से
फट जाएगी नेह की छाँव
दूसरे कोने में दबी है

लाल चुनरी में मन्नत की गाँठ में
बेटे की इच्छा
जिसे खोलते हुए
अब भी काँपते हैं हाथ
गाँठ खुलने से खुल जाएगा
कुछ इच्छाओं का दोगलापन
एक टूटा हुआ ताबीज़ भी
छुपाया है यहीं कहीं
उन सबके लिए प्रार्थनाओं के साथ
जिन्हें आकर जाना था अपनी राह
बेटी आएगी
उससे पहले छुपानी होगी
इतर की कुछ ख़ाली शीशियाँ
जिनमें से उड़ चुका है
सुगंध का अंतिम कतरा
गंध की बस याद बाक़ी है
बेटी आएगी
उसके आने से पहले
ख़ारिज करना है
वह सब जिसमें
शामिल नहीं है वह
और—
उसकी समझदारी।

धीरे-धीरे

यह सिरहाना
जिसकी उमर
मेरे गृहस्थ की उमर जितनी है
सीवन-सीवन उधड़ रहा है
मेरे भीतर जाप कर रही हैं पुरखिनें
धीरे-धीरे बनता है घर
निरंतर बनता है घर
धीरे-धीरे बनती हैं चीज़ें
थालियों-कटोरियों की गिनती बढ़ती है
खाट-खटोले, दरियाँ-खेस
दो से चार, चार से छह होते हैं

हर चीज़ अपने साथ लाती है
अपने आकार जितना उजाला
और उतना ही अँधेरा
चीज़ों के साथ चले आते हैं
कितने ही डर
कितनी ही चिंताएँ
दबे पाँव प्रवेश पाती हैं घर में
महँगे क़ालीनों के नीचे
फूलदानों के आर्द्र अँधेरों में
सिरहाने की रूई के रेशों में
चुपचाप इकट्ठी होती है
धूल—
बनने की थकान
बने हुए का अकेलापन
या बिखर जाने का आतंक

गृहस्थ की उमर वाले
इस सिरहाने को छूती हूँ ऐसे
जैसे पहले शिशु को छूती हूँ
पहली बार
बहुत सारे सपने
तपे-तपे हाथों छूते हैं
बहुत सारा डर
साँसों में सरकता है।

आचार्य सारथी

ख़ामोशी

देखकर आईने की ख़ामोशी
याद आई है तेरी ख़ामोशी।

एक बुत में ज़रा-ज़रा-सी थी,
लफ़्ज़ के डूबने की ख़ामोशी।

तेरे घर में हैं बोलती चीज़ें,
मेरे घर में है मेरी ख़ामोशी।

आचार्य सारथी की ग़ज़लें पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : 1/5786, बलबीर नगर चौक, शाहदरा, दिल्ली-110032

डालती है सवालिया नज़रें,
मुझपे तेरे पते की ख़ामोशी।

इश्क़ वालों से पूछना जाकर
वक़्त की बुज़दिली की ख़ामोशी।

तोड़ देता है एक पल अकसर,
एक पूरी सदी की ख़ामोशी।

आदमी जी रहा है सदियों से
मौत के सामने की ख़ामोशी।

सारे मंज़र धुआँ-धुआँ-से थे,
किस क़दर जल रही थी ख़ामोशी।

काश! कुछ देर को समझ पाता,
आदमी ज़िंदगी की ख़ामोशी।

'सारथी' भूख के हवाले है,
रोटियों के नशे की ख़ामोशी।

चंद रोज़

तेरी चाहत ने भिगोया चंद रोज़,
टूटकर अहसास बरसा चंद रोज़।

मैंनें जो तुझको न देखा चंद रोज़,
तो रहा ये दिल हिरासा चंद रोज़।

चार दिन की है कहानी ज़िंदगी,
और दुनिया का नज़ारा चंद रोज़।

की मुहब्बत, और इबादत हो गई,
एक बुत मैंने तराशा चंद रोज़।

उम्र भर को क़ैद दरिया हो गया,
मछलियों ने जाल फेंका चंद रोज़।

रफ़्ता-रफ़्ता चैन इसको आ गया,
दिल रहा घायल परिंदा चंद रोज़।

मेल है तो है जुदाई भी यहीं,
और मिलने का वसीला चंद रोज़।

दे कभी अपनी निगहबानी मुझे,
भूल जा अपना-पराया चंद रोज़।

बन गया क्यूँ ख़ुद तमाशा तू यहाँ,
देखकर मेरा तमाशा चंद रोज़।

ले गई आख़िर मुझे आकर कज़ा,
मैं तेरे पहलू में जागा चंद रोज़।

पूछ मत क्या रंग बिखराकर गया,
एक मिट्टी का खिलौना चंद रोज़।

'सारथी' अहसास यूँ गूँगा हुआ,
ख़ुद से मैं कुछ भी न बोला चंद रोज़।

तेज राम शर्मा

लाल कोर

हमारे पुरखे
पचास हज़ार वर्ष पहले
धूप, बादल और आकाश से
चुरा लाए इंद्रधनुष का एक टुकड़ा
उकेरते रहे जीवन के चित्र
गुफाओं की छत पर

रंग आँखों से
दिल में उतरा हुआ
अपने ही जीवन पर
फिर-फिर मुस्कुराता

सर्दी की सर्द रातें
जीवन-सी लंबी थीं
आग का ताप कल्पनाओं जैसा

रंग बिखर गया था
पक्षियों के पंखों तक

कवि तेज राम शर्मा का जन्म 1943 में हुआ। इनके दो कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। कई पुरस्कार प्राप्त हुए हैं। संपर्क : रामकृष्ण भवन, अनाडेल, शिमला-171003 (हि.प्र.) फ़ोन : 0177-2812020
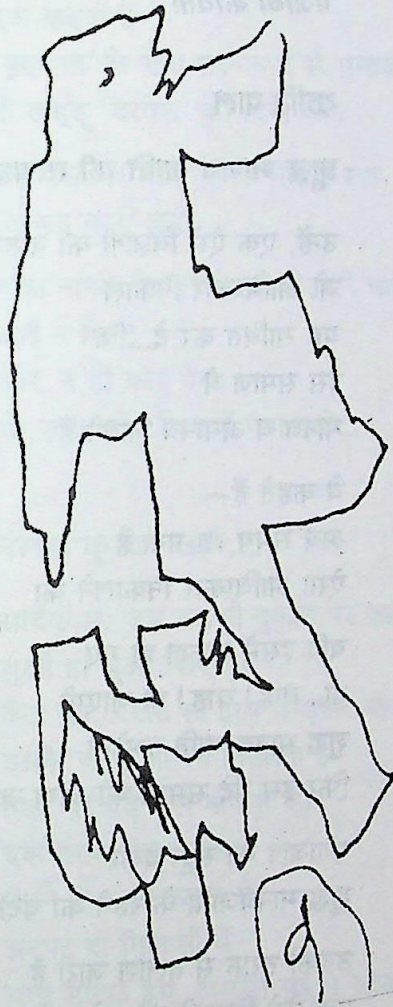
उड़ना चाहता था
बहुत ऊँचा आकाश तक
धरती पर
जीवन-सी कँटीली झाड़ियों के बीच भी
ढूँढ़ते रहे रंग-बिरंगे पंख

स्मृतियों में डूबे देखते रहे
पहाड़ पर
चोटियों को लाँघती
साँझ की लाल धूप

यादों में अटकी रही
नम आँखों की लाल कोर

पंजाबी कविता

क्रांति पाल

शुद्ध मानव जाति की तलाश

उन्हें, एक ऐसे विज्ञानी की ज़रूरत है
जो आविष्कार निकाल
यह साबित कर दे...कि
इस समाज में
मानव व अमानव कितने हैं

वे कहते हैं—
अब समय आ गया है
ऐसा आविष्कार निकालने का

यदि इसमें सफल हो गए
तो...वाह! वाह! हो जाएगी
शुद्ध मानव जाति उभरेगी
फिर इस गंदे समाज को धोया जाएगा

गंगाजल का सट्टा देकर
शुद्ध मानवजाति के रहने का बंदोबस्त किया जाएगा

उनकी तरफ़ से तलाश जारी है
एक ऐसे विज्ञानी की, जो साबित कर दे
मानव व अमानव को...

पंजाबी कवि क्रांति पाल के दो कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। संपर्क : मॉडर्न इंडियन लैंग्वेजिस डिपार्टमेंट, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़

अनु. रामसिंह चाहल पंजाबी के कवि व अनुवादक हैं। इनके पंजाबी में चार तथा हिंदी में एक कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। संपर्क : दशमेष नगर, मानसा-151505 (पंजाब)
मो. : 9356221255

एक शख़्स का इंतज़ार

वह कहता है
सेहत का ख़याल रखा करो

एक और कहता है
योगा किया करो

एक कहता है
सुबह उठकर
'सूर्य-नमस्कार' किया करो

एक कहता है
'बृहस्पत' के रोज़ सर-ऊपर से घुमाकर
दो लड्डू 'दरवेश' को दिया करो

एक उम्र भर बाबा नानक कहता रहा
'अच्छा कर्म' करो

बाबा नानक के वचनों को दोहराने वाला
कोई न मिला
और, न ही कोई ऐसा
जो कहा करे...किताबें पढ़ा करो...

रमेश कुमार उर्फ़...

सर्दियों में, जब उसकी दुकान पर जाओ
धुआँ ही धुआँ किए हुए
बैठा वह, देखते ही हाथ जोड़कर खड़ा हो जाता है
उसके चेहरे का रंग निखरता है
तख़्त पर पड़े मैले कपड़ों को
एक तरफ़ खिसकाकर
बैठने के लिए कहता है
झटपट दो गिलासों में
चाय डालते हुए, असली मुद्दे पे आता है

मेरे सामने पुराने अख़बारों का ढेर लगाता है
'उम्र बेशक पचास साल की हो'
यही वाक्य दोहराता है
अपने कुर्ते की आस्तीनें चढ़ाकर
सूख रहा शरीर दिखाता है
भूख न लगने की दुहाई देता है
आँखें भरकर कहता है—
आप समझते नहीं
कोई बातचीत करने वाला मिल जाए
चार-पाँच साल और गुज़र जाएँ!

हृषीकेश सुलभ

डाइन

वह आधी रात के बाद अचानक प्रकट हुई थी। उसके आने की दूर-दूर तक कोई उम्मीद नहीं थी।

जेठु मंडल अर्ज़ियाँ लिखने में व्यस्त था। उसे आज रात कलेक्टर और ज़िला परिषद् के चेयरमैन के नाम अर्ज़ियाँ तैयार करनी थी। बात बनते-बनते बिगड़ चुकी थी। कलेक्टर के पी.ए. के समधी के मार्फ़त उसने नए सिरे से कोशिश शुरू की थी। उस पी.ए. ने एक नया रास्ता सुझाया था और मदद का भरोसा दिया था। ज़िला परिषद् के चेयरमैन तक पहुँचने में उसके छक्के छूट गए थे। उसके दूर के एक रिश्तेदार का बेटा चेयरमैन का ख़ास शूटर था। उसने चेयरमैन तक पहुँचाने का वायदा किया था। जेठु मंडल को कमिश्नर की चिंता नहीं थी। जब कलेक्टर और ज़िला परिषद् के चेयरमैन की अनुशंसा हो जाएगी, तब कमिश्नर कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा। उसे झख मारकर दस्तख़त करना पड़ेगा। वह इस बार हर क़ीमत पर मामले को अपने हक़ में मोड़कर लक्ष्य हासिल करना चाह रहा था। अब वह नए सिरे से अर्ज़ियाँ दाख़िल करने की तैयारी में जुटा था। उसके गुरु ने उसे पहली सीख यही दी थी कि सरकारी दफ़्तरों-कचहरियों में सफलता सिर्फ़ बुद्धि से नहीं मिलती। इसके लिए धीरज भी चाहिए। अर्ज़ियाँ डालते जाओ ताकि सनद रहे। ऐसी ही सीखों ने उसे हुनरमंद बनाया था। इन दिनों वह मुआवज़ा वसूली के एकसूत्री अभियान में लगा हुआ था। इस अभियान की पहली फ़सल वह काट चुका था। दूसरी फ़सल काटने में लगातार अड़चनें आ रही थीं।

दिसंबर मध्य के दिन थे। ठंड रीढ़ तक में घुसकर पसरी रहती थी। सितंबर के आख़िरी हफ़्ते में आई बाढ़ का पानी उतरकर अब नदी के पेट की ओर सरकने लगा था। पर धरती गीली थी। दलदल और पाँक से पटी हुई। कहीं-कहीं तो नदी की छाड़न धाराएँ नदी की तरह ही जीवित थीं। इस छोटे से शहर को कोशी ने अपनी कई अस्थायी धाराओं के जाल में फँसा रखा था। बाढ़ अमूमन हर साल आती, पर निचले इलाक़ों में डेरा जमाती और फिर विदा हो जाती।...पर इस साल तो प्रलय लेकर आई थी। इस प्रलय के नख-दंत चिह्न इतने गहरे थे कि इस छोटे से शहर के अधिकांश लोगों का चेहरा ही बदल गया था। और फिर ठंड ऐसी कि साँझ घिरते ही पूरा शहर दड़बे में जा छिपता। सड़कें वीरान हो जातीं। कुत्ते बाढ़ में बह गए थे। पर

1955 में जन्मे हृषीकेश सुलभ के तीन कहानी-संग्रह, नाटक-संग्रह, रंग-समीक्षा आदि की पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : पीरमोहानी, मुस्लिम कब्रिस्तान के पास, कदमकुआँ, पटना-800003

छ कुत्तों ने भागकर अपनी जान बचा ली थी और व वे इक्का-दुक्का लौट रहे थे। पर वे सदमे में और भौंकना भूल चुके थे। उनके नहीं भौंकने सन्नाटे के टूटने की गुंजाइश भी ख़त्म हो चुकी । रात का सन्नाटा कुत्तों के भौंके बिना सन्नाटे अलग लगता, सन्नाटे से ज़्यादा भयावह। ऐसी यावह रात में भटकती हुई जाने कैसे पहुँच गई वह।

जेठु मंडल चकित था। उसे अपनी आँखों पर रोसा नहीं हो रहा था। पहले तो वह मुँहबाए उसे खता रहा। फिर उसने दरवाज़े के पल्लों को पूरी तरह खोल दिया ताकि वह भीतर आ सके। बिना कुछ बोले वह अपनी टुटही मेज़ के सामने रखी बिना बाँह वाली उस कुर्सी पर बैठ गया, जिस पर ठकर अर्ज़ियाँ लिख रहा था। वह खड़ी थी। काँप ही थी। ठंड और थकान ने बेध-बेधकर उसका बुरा हाल कर दिया था। वह पूरी तरह लस्त-पस्त दिख रही थी। वहाँ पहुँच जाने का इत्मिनान अभी उसके चेहरे पर नहीं था। घर के भीतर घुसने से पहले पल भर के लिए यह इत्मिनान कौंधा ज़रूर था, पर टिका नहीं। जेठु मंडल उसे जड़वत् निहार रहा था और वह उसके सामने थी।

जेठु मंडल का गाँव इस शहर से सटा हुआ था। लगभग दो वर्षों से वह रोज़ी-रोटी के चक्कर में इस शहर में किराए की एक कोठरी लेकर अकेले रह रहा था। पत्नी-बेटियाँ और बाप-महतारी सब गाँव में ही रहते। उसका ब्याह बचपन में ही हो गया था। मैट्रिक पास करते-करते वह दो बेटियों का बाप बन चुका था। थोड़ी-सी, बस कहने भर को खेती थी। खेती से पेट भरता नहीं था। आषाढ़ बीतते-बीतते खेतों में पानी भरने लगता और माघ बीतने तक रुका रहता। बारिश हो या न हो, पानी ज़रूर आ जाता। नेपाल से आनेवाली नदियाँ पानी लातीं और उड़ेलकर डाइनों-चुड़ैलों की तरह नाचतीं। खेत ख़ाली होते तभी मजूरी का भी आसरा होता। जेठु का बाप मृदंग बजाता और देवी के गीत गाता। उसकी महतारी पर देवी का वास होता और वह हाथों में खप्पर लिए बेसुध होकर नाचती। महीने में एक-दो बार तो ऐसा होता ही। और जब ऐसा होता, दोनों सारा गाँव घूम आते और उनकी झोली में कुछ दिनों तक पेट भरने का सरंजाम होता। इन हालातों में जैसे-तैसे मैट्रिक पास करने के बाद जेठु मंडल के लिए जीना दूभर हो चला था। एक दिन उसने गाँव छोड़ दिया।

जेठु मंडल शहर पहुँचा। यह कहने भर को शहर था। अंग्रेज़ों के ज़माने में बसा एक क़सबा था, जो अपनी चाल से चल रहा था। दुख, निराशा, निंदा और ईर्ष्या यहाँ स्थायी भाव थे। इसके क़सबे पर कुछ वर्षों पहले सरकार मेहरबान हुई और इसे सबडिविज़न से ज़िला बना दिया। यहाँ आने के बाद जेठु मंडल को बहुत भटकना पड़ा। उसे तरह-तरह के पापड़ बेलने पड़े। धक्के खाते-खाते एक दिन वह यहाँ की ज़िला कचहरी के सबसे बड़े वकील के मुंशी का असिस्टेंट बन गया। वकील का बहुत नाम था। वह बहस करने में धुरंधर और अपने दिमाग़ी दाँव-पेंच से मुद्दालह के वकील की बोलती बंद करने में माहिर था। उसके मुंशी का रुतबा भी कम नहीं था। वह मुवक्किलों को फाँसने और लूटने में वकील से ज़्यादा माहिर माना जाता था। लोगों का मानना था कि उस वकील की वकालत को चमकाने में मुंशी का योगदान बहुत ख़ास था। बड़ी मिन्नतों के बाद वह मुंशी जेठु मंडल को अपना असिस्टेंट बनाने पर राज़ी हुआ था। जेठु ने उससे कचहरी में मुंशीगिरी का हुनर सीखना शुरू किया। मुंशी उसे अपने साथ रखता। फ़ाइलें ढुलवाता। चाय-पान मँगवाता। वह सुबह के नाश्ते से रात के खाने तक का इंतज़ाम मुवक्किलों की टेंट से करता और जेठु को भी उसमें शामिल करता। रात में लौटते हुए जेठु मंडल की जेब में भी कुछ-न-कुछ ज़रूर होता। मुंशी मुवक्किलों को ऐसे फाँसता कि जेठु की जेब में उसे अपने हिस्से से कुछ न डालना पड़े। रात में अकसर वह किसी मुवक्किल की नाक में नकेल डालकर जेठु के साथ कचहरी के पीछे वाले होटल में जा पहुँचता। इस
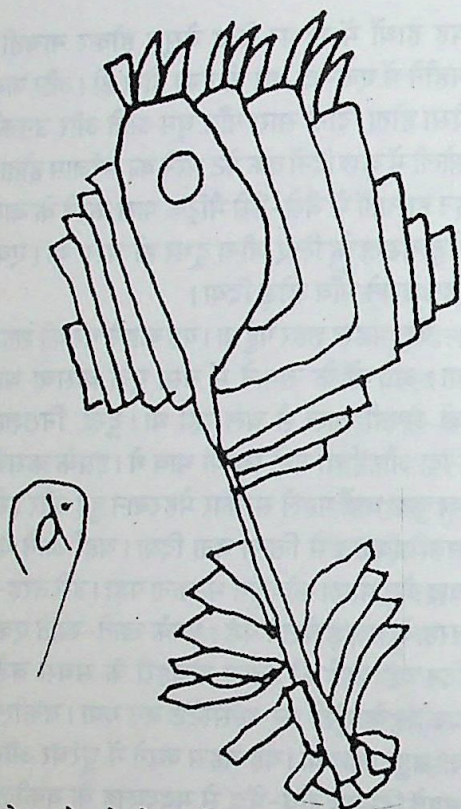
होटल के छोकरे अपने ग्राहकों के इशारे समझने में माहिर थे। उन्हें मालूम था कि मुवक्किलों के साथ आनेवाले ग्रहकों की आवभगत कैसे की जाती है। मुंशी के लिए रम का अद्धा और कलिया आता। जेठु अपने हाथों अपने गुरु के लिए गिलास तैयार करता। वह ख़ुद पीता नहीं था, पर रोटियों के साथ कलिया की बोटियाँ उड़ाता। मृत्यु के आसन्न ख़तरे को भाँप कर ज़बह होनेवाले बकरे की तरह मिमियाते हुए मुवक्किल एक-एक पल गुज़ारते। मुंशी और जेठु दोनों मुवक्किलों की मिमियाहट के मज़े लेते। जेठु रोज़ रात को मुंशी को छोड़ने उसके घर जाता। अपने घर पहुँचते ही मुंशी बरामदे में बिछी चौकी पर पसर जाता और जेठु थोड़ी देर तक उसके पाँव दबाकर वापस आता। वहाँ से चलने से पहले अकसर उसकी आँखें दरवाज़े के पल्लों की ओट में खड़ी मुंशी की बीवी से टकरा जातीं। मुंशी की बीवी बहुत सुंदर थी। गोरी-चिट्टी, लंबी-छरहरी, साँचे में ढली जवान औरत थी वह। मुंशी काला-कलूटा, नाटा, बदसूरत और बुढ़ापे की दहलीज़ पर खड़ा अधेड़ था। शुरू में उस औरत से आँखें मिलाते हुए वह झिझका, पर बाद में उसकी आँखें उस औरत को ढूँढ़ने लगीं। मुंशी की बीवी भी शुरुआती दिनों में झिझकी थी, पर बाद में वह जेठु को ख़ूब निहारती और मुस्कुरा देती। फिर वह जेठु से बतियाने लगी।

जेठु से बतियाते हुए मुंशी की बीवी की आँखों में चमक भरने लगी। यह चमक धीरे-धीरे जेठु की ज़िंदगी में उतरने लगी। मुंशी की बीवी की आँखें कभी जेठु की रातों की नींद में घुसकर चमकतीं, तो कभी दिन-दुपहरिया कचहरी में मुवक्किलों के पीछे भागते जेठु का पीछा करतीं। मुंशी को कोई औलाद नहीं थी। पहली पत्नी इसी ग़म में घुट-घुटकर मर गई थी। बुढ़ापे की दहलीज़ पर खड़े मुंशी ने औलाद की लालसा में दूसरी शादी की थी। मुंशी की एक विधवा बहन भी थी। बूढ़ी विधवा बहन और दूसरी बीवी के अलावा और कोई घर में नहीं था। इस बूढ़ी विधवा को भी कोई आसरा नहीं था। वह अपनी भावज की मलामतें सहती, पूजा-पाठ करती और दो रोटियाँ खाकर आँखें मूँदे पड़ी रहती। एक दिन मुंशी की बीवी ने जेठु मंडल से याचना की कि वह उसकी गोद हरी कर दे। अगर ऐसा नहीं हुआ, तो मुंशी अपनी पहली बीवी की तरह उसे भी मार डालेगा। और अगर उसकी गोद भर गई, तो वह जेठु की दुनिया बदल देगी। दारू से खोखली हो चुकी देह लिए मुंशी और कितने दिन जी सकेगा भला! उसके मरते ही वह जेठु को अपने साथ रख लेगी। वह जेठु की पत्नी को अपनी बहन की तरह मानेगी और उसकी बेटियों के ब्याह में मदद करेगी। मुंशी की बीवी के इस प्रस्ताव ने जेठु मंडल की ज़िंदगी में नया रंग भर दिया। उसे अपने भाग्य के सितारे चमकते हुए दिखे। उसने सुना था कि गाँव से शहर आकर बसने वाले लोग बड़ा बनने के लिए शहर में भी बीवी या रखैल रखते हैं। इस प्रस्ताव ने उसे बड़ा आदमी बनने के अहसास से भर दिया। जेठु मंडल की तबीअत अब कचहरी में कम लगती, पर वह मन मसोसकर अपने को क़ाबू में करता और

कचहरी के काम निबटाता। उसे यह बात अच्छी तरह मालूम थी कि कचहरी एक ऐसी पाठशाला है जहाँ बिना समय गुज़ारे वह कामकाज में कच्चा रह जाएगा। उसकी नज़र और तबीअत मुंशी के घर में उलझी हुई ज़रूर थी, पर वह सतर्क था। जेठु मंडल की लालसा में कचहरी में मुंशी की जगह और हैसियत भी शामिल थी।

एक दिन बाप की बीमारी की ख़बर पाकर जेठु मंडल अपने गाँव पहुँचा। बूढ़े-बीमार बाप को साथ लिए शहर आया। उसकी महतारी अपने पति की सेवा-टहल के लिए साथ आई। उसने बाप को शहर के सरकारी अस्पताल में भर्ती करवा दिया। उसकी महतारी देख-भाल के लिए वहीं रहती। जेठु कचहरी जाने से पहले बाप को देखने अस्पताल जाता। वह रात को नहीं जा पाता। उसे मुंशी के घर से लौटते हुए अकसर देर हो जाती। उसकी महतारी गाँव से चिवड़ा-सत्तू साथ लेकर चली थी। जेठु पहुँचता तो कभी-कभार होटल से कुछ ख़रीदकर उसे देता। यहाँ होटलवाले रोगियों के लिए खिचड़ी बनाकर बेचते। जेठु ने बाप के लिए होटल से खिचड़ी भिजवाने का इंतज़ाम कर दिया था। जेठु का बाप स्वस्थ होने के बदले धीरे-धीरे मौत के क़रीब पहुँचता रहा। डॉक्टर ने पहले ही बता दिया था कि उसके यहाँ ठीक होने की उम्मीद नहीं है।

इस बीच बारिश का मौसम आ चुका था। देहात के निचले इलाक़ों में कोशी का पानी भरने लगा था। उसके गाँव के डूबने की ख़बर आई। यह कोई नई बात नहीं थी। ऐसा लगभग हर साल होता। गाँव डूबते और लोग-बाग़ ऊँची जगहों पर डेरा डालते और पानी उतरने तक जमे रहते। पर इस बार हालात पहले से ज़्यादा ख़राब थे। शहर में पानी भरने लगा था। कोशी की छाड़न धाराएँ उफन-उफनकर नाच रही थीं। गाँव से भागकर आए कुछ लोगों ने जेठु को बताया कि इस बार कोशी तिरमिश काट रही है। यानी धरती को नीचे-ही-नीचे काट रही है कोशी। ऊपर पता तक नहीं चलता और गाँव के गाँव गड़ाप।...जेठु मंडल भागा। जैसे-तैसे गाँव पहुँचा। पत्नी और बेटियों को साथ लेकर शहर लौटा। गाँव से शहर लौटते हुए ऐसा लगा कि अब परिवार नहीं बच पाएगा, पर भाग्य ने साथ दिया और वह शहर की सीमा तक पहुँच गया। शहर में घुसने के लिए सिर्फ़ नाव का ही सहारा था। उसके शहर में घुसने से पहले उसका डेरा डूब चुका था। जेठु मंडल पत्नी और बेटियों के साथ मुंशी के घर पहुँचा। मुंशी का घर शहर के सबसे ऊँचे इलाक़े में था। मुंशी की बीवी ने उसके परिवार को ख़ुशी-ख़ुशी अपने घर में जगह दी।

जेठु मंडल को अपने बाप-महतारी की याद आई। वह अस्पताल की ओर भागा। अस्पताल में पानी घुसने लगा था। अस्पताल भी थोड़ी ऊँची जगह पर था और पूरी तरह डूबने से अब तक बचा हुआ था। पर अस्पताल के बाहर सब कुछ जलमग्न हो चुका था। धारा इतनी तेज़ थी कि तैरकर पार करना सबके बूते की बात नहीं थी। तैरते हुए जेठु अस्पताल में घुसा। बाप की लाश बेड पर पड़ी थी। लोग भाग चुके थे। कुछ कुत्ते थे, जो रोगियों के बेड पर बैठे थे और वार्ड में घुसते पानी को कातर आँखों से निहार रहे थे। उसकी महतारी का कहीं अता-पता नहीं था। जेठु के पास तीन काम थे। पहला, जान बचाकर बाहर निकलना और सुरक्षित स्थान पर पहुँचना। दूसरा काम था, महतारी की खोज-ख़बर लेना। और तीसरा काम था, बाप का अंतिम संस्कार करना। उसने पहला काम किया।

जो जीवित थे, ईश्वर को गुहारते हुए दिन गुज़ार रहे थे। रात होते ही दारू के बिना मुंशी के हाथ-पैर में ऐंठन होने लगती। वह पागलों की तरह चिल्लाता और हाँफता। इस आफ़त की घड़ी में भी जेठु मुंशी की फ़िक्र करता और दारू ढूँढ़ने निकलता। मुंशी की बीवी जेठु के परिवार से अपनापा गाँठने में लगी थी। वह जेठु की पत्नी के पीछे-पीछे डोल रही थी। मुंशी की विधवा बहन और जेठु की बेटियों के बीच दादी-पोती का नया रिश्ता अँखुआने लगा था। जेठु की पत्नी सास-श्वसुर को याद कर आँसू बहाने में व्यस्त थी। उसे

फ़ुर्सत नहीं थी कि वह अपने पति और मुंशी की बीवी के बीच पनपे रिश्ते की गंध सूँघ सके।

पानी उतरा। लाशों से उठती बू शहर में छा गई थी। सरकार ने सबसे पहले मुआवज़े की घोषणा की। जिनकी लाशें मिलीं, उन मृतकों के लिए एक लाख। और जिनकी लाशें नहीं मिलीं और जो लापता थे, उनके जीवित नहीं होने और बाढ़ के पानी में बह जाने का प्रमाण सौंपने पर पचास हज़ार। जेठु मंडल ने पत्नी और बेटियों को गाँव रवाना किया और बाप की लाश खोजने में व्यस्त हो गया। लाशें मिल तो रही थीं, पर उन्हें पहचानना मुश्किल था। कपड़ों या देह में लिपटी दूसरी चीज़ों से पहचान क़ायम हो पा रही थी, पर इसके लिए कुव्वत और हुनर की ज़रूरत थी। बाप की लाश खोजते हुए जेठु मंडल ने एक लाश पर क़ब्ज़ा किया और कचहरी में मुंशीगिरी के अनुभव का लाभ उठाया। अस्पताल में भर्ती के समय उसके बाप के नाम बनी पुर्जी उसकी जेब में थी। इसी पुर्जी ने उसकी मदद की और वह बाढ़ से मरनेवालों की सूची में अपने बाप का नाम दर्ज करवाने में सफल हो गया। अब उसे अपनी महतारी की फ़िक्र हुई। लाश थी नहीं। अब तक मिली लाशों पर किसी-न-किसी का क़ब्ज़ा हो चुका था। वह लापता लोगों की सूची में अपनी महतारी का नाम दर्ज करवाने की जुगत में लग गया।

धीरे-धीरे हालात बदले। लोगों ने अपने घरों-दुकानों को सहेजना शुरू किया। बाज़ार खुले। सरकारी दफ़्तरों और कचहरी में लोगों की आवाजाही शुरू हुई। त्योहारों के मौसम आए। दशहरा में रावण जला और देवी की पूजा हुई। दीपावली में लोगों ने चिराग़ जलाए। छठ पर्व आया। कोशी के तट पर भारी भीड़ जुटी। लोगों ने डूबते और उदित होते सूर्य को अर्घ दिया। इस बीच लापता लोगों की सूची कई बार बनी और निरस्त हुई। हर बार कोई-न-कोई पचड़ा फँस जाता। मृतकों की सूची के आधार पर मुआवज़े की रक़म ज़िला कोषागार में पहुँची। अधिकारियों और कर्मचारियों ने दाँव-पेंच लगाया और बंदरबाँट शुरू हुई। पद और हुनर के हिसाब से लोगों ने अपना-अपना हिस्सा पाया। जेठु मंडल को लाख में चालीस हज़ार मिले। जिस दिन जेठु को रुपए मिले, ठीक उसी दिन मुंशी की बीवी ने उसके कानों में फुसफुसाते हुए कहा कि वह पेट से है।

लापता लोगों की सूची को अंतिम रूप दिया जा रहा था। इस सूची में अपनी महतारी का नाम दर्ज करवाने में असफल जेठु मंडल हार मानने वाला नहीं था। वह सफलता पाने के लिए जी-जान से नए रास्ते की खोज में था। सरकार ने तय किया था कि कलेक्टर और ज़िला परिषद् के चेयरमैन जिस नाम की अनुशंसा करेंगे कमिश्नर उसी नाम पर विचार करेंगे। बहुत भाग-दौड़ के बाद जेठु को रास्ता मिला था। उसने कलेक्टर और ज़िला परिषद् के चेयरमैन तक पहुँचने के लिए रास्ते ढूँढ़ लिए थे और नए मज़मून के साथ अर्ज़ियाँ लिखने में मशग़ूल था कि वह प्रकट हो गई।

जेठु मंडल भौंचक था। वह उससे कुछ भी नहीं पूछना चाहता था। यह भी नहीं कि वह बाढ़ की जलधारा में बहती हुई कहाँ-कहाँ गई ?...उसने कैसे अपनी जान बचाई ?... कहाँ रही ?...और वापस कैसे आ गई ? सितंबर के आख़िरी हफ़्ते से दिसंबर मध्य तक का समय कम नहीं होता! जेठु मंडल ने उससे कुछ नहीं पूछा। उसे कई कोणों से निहारता रहा। यह औरत उसे अपनी महतारी की तरह नहीं लग रही थी। उसे लग रहा था कि जैसे बाढ़ में अकाल मृत्यु की शिकार किसी फ़रेबी औरत की आत्मा उसकी महतारी की देह धारण कर सामने बैठी हो। जेठु मंडल के कानों में प्रलय मचाती कोशी की आवाज़ भरने लगी। फिर मृदंग की अनुगूँज से भर उठी उसकी कोठरी। मृदंग पर नाचते हुए उसका बाप प्रकट हुआ। सामने बैठी उसकी महतारी की देह से एक छाया निकली और खप्पर लेकर नाचने लगी। जेठु को लगा मानो डाइन कोशी उसकी कोठरी में घुस आई हो और मुआवज़े के रुपयों की गड्डियाँ बहाकर लिए जा रही हो। जेठु एक झटके के साथ उठा और चीख़ने लगा, "डाइन !.., डाइन !... डाइन !"

उर्मिला शिरीष

कुर्क़ी

बादलों की गड़गड़ाहट से नाना की नींद खुल गई। मच्छरों की भिनभिनाहट... उमस... गर्मी और बदबू के कारण कई दिनों से ठीक से नींद नहीं आई थी। नीम की पत्तियाँ जलाओ या कंडा, कुछ भी कर लो मच्छरों का जानलेवा हमला एक पल के लिए चैन नहीं लेने देता। दोपहर बाद मौसम ठंडा होने लगा था। आकाश में उठते बादलों के पहाड़ को देखकर नाना का मन चिंतित हो उठा था। इस ठंडक से तो गर्मी भली...भले ही पेड़ चुपचाप खड़े रहें...न चले हवा पर बेमौसम बारिश नहीं होनी चाहिए। खेतों में चना पक चुका था और गेहूँ भी पूरे शबाब पर था। रंगपंचमी के बाद फ़सल कटनी थी। कटैया आ चुके थे। खलिहानों को लीपा-पोता जा चुका था। दाँय करने की तैयारियाँ हो चुकी थी और अनाज रखने के लिए बंडा भी तैयार किया जा चुका था। नाना को बैलों की ज़रूरत थी...बैल किसी के भी ख़ाली नहीं थे...। गाड़ी तो थी जो सामने पड़ी रहती थी...पिछली फ़सल के समय उठाए गए क़र्ज़ को पटाने के लिए बैल दे दिए थे। अब बिना बैलों के नाना वैसा ही महसूस करते थे जैसे कोई अपाहिज आदमी। बादलों की गड़गड़ाहट और हवा की सरसराहट बढ़ती देख नाना उठकर बैठ गए। अँधेरा सघन था। काले साँप जैसा! लालटेन जलाई पर हवा के तेज़ झोंके के कारण वह बुझ गई...। दरवाज़ा खोला तो तेज़ अंधड़ का झटका नाना को गिरा गया। नाना ने स्वयं को किसी तरह सँभाला...। दीवार के सहारे खड़े होकर बेड़ा लगाया और बाखर में उड़ते सामान को समेटने के लिए निकल पड़े। धूल उनकी आँखों तथा मुँह में भर गई थी!

अब बादलों ने विकराल रूप धारण कर लिया था...बिजली की चमक बढ़ती जा रही थी...। हे राम! नाना ने बेबस निगाहों से बादलों से आच्छादित काले आसमान को देखा जो महामायाविनी की तरह डरावना और रहस्यमय लग रहा था। आँधी से नाना के पतली-पतली नसों से भरे पाँव उखड़े जा रहे थे। दुबला-पतला शरीर पत्ते की तरह हिल रहा था। किसी तरह गिरते पड़ते पौर तक आए और वहीं से बाहर देखने लगे...तभी ज़ोर का धमाका हुआ। बिजली तड़की...हत् तेरी की...किसकी जान ली होगी...नाना को लगा बिजली बाहर नहीं उनके भीतर गिरी है। भीषण बारिश शुरू हो चुकी थी...और

हिंदी रचनाकार उर्मिला शिरीष का जन्म 1959 में हुआ। लगभग 8 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। कई पुरस्कारों से सम्मानित हैं।
संपर्क : 59-बी, जानकी नगर चूना भट्टी, कोलार रोड, भोपाल- 462016

टप्-टप् की आवाज़ ने शेष सारी आवाज़ों को दबा दिया था। क्या ओले...नाना ने पूरी ताक़त लगाकर हल्का-सा दरवाज़ा खोला—बिजली के लाल पीले प्रकाश में नज़र आए...सफ़ेद टुकड़े। अपने पाँवों पर उचट-उचटकर गिरते ओलों से बेख़बर नाना को दिखाई दे रहे थे...घायल होते टूटते-गिरते, धूल-धुसरित होते चने...पका-पकाया गेहूँ...अब तक तो पैर बिछ चुकी होगी। सर्वनाश हो गया...सर्वनाश। हे राम !...वे निष्प्राण से इन प्रलयंकारी आवाज़ों को सुनते रहे...। पता नहीं कितनी देर तक यूँ ही खड़े रहते यदि उन्हें गाय के डकारने की आवाज़ सुनाई न देती। नाना ने गाय को डकारते हुए सुना तो भागकर बाहर गए। उनके सिर तथा पीठ पर पत्थरों की बौछार हो रही थी। धरती काँप रही थी। आकाश गरज रहा था। गाय के खूँटे के पास वाला पेड़ गिरकर दीवार से टिक गया था। गाय की गर्दन फँसी थी। नाना ने ज़ोर लगाकर उसका पट्टा खोला और भीतर ले आए। थरथर काँपती गाय के बदन को पोंछते नाना ओलों की मार भूल चुके थे...।

''नाना! नाना...'' बखरी के उस पार से बच्चों के चीख़ने-चिल्लाने की आवाज़ें आ रही थी...।

''वहीं रहो। इतै मत अइयो। सिर फूट जैहे।''नाना ने चिल्लाकर कहा...।

बेरहम हवाएँ, आवारा पानी और चपल-चंचला बिजली—तीनों थमने का नाम नहीं ले रहे थे...नाना को लगा उनका गला किसी ने दबा दिया है और वे साँस नहीं ले पा रहे हैं। अब! अब क्या होगा? सहकारी समिति से उठाया गया क़र्ज़ वैसे भी बढ़कर तीस से पचास हज़ार हो गया था...बिजली का बिल...तेरह हज़ार... साहूकार का क़र्ज़...पंद्रह हज़ार रुपए...जो दस प्रतिशत ब्याज से अब तक कितना बढ़ गया होगा...और भरत के ऊपर ट्रैक्टर ट्रॉली का क़र्ज़ चढ़ा था...बैंक वाले कब से धमकी दे रहे थे...वसूली करने की पर...कैसे गिड़गिड़ाकर... पकी फ़सल दिखाकर...एक महीने की मोहलत ली थी...। इसी फ़सल पर सारी उम्मीदें टिकी थीं...घर का ख़र्च तो तब भी नहीं लगाया था। जेठ महीने में बेटी का ब्याह करना था...अकत्ती की लगन निकली थी...और नाना के बैल जब से बिके थे तब से मन में हूक-सी रहती थी कि जैसे ही पैसे आएँगे एक जोड़ी बैल सबसे पहले ख़रीदेंगे...किसान के पास बैल न हो तो न खेत में रौनक होती है न घर में। लेकिन अब! अब था महाअंधकार! महाविनाश के बाद का अंधकार। उँगलियों पर गिनकर हिसाब लगा सकते थे नाना। इतनी बारिश के बाद कितना-कितना पानी खेतों में भर गया होगा! खलिहान में अनाज रखा होता तो थोड़ा-बहुत बच भी जाता...कैसी मुसीबत से तो यह खेती तैयार हुई थी...भरत के साथ अधिया बटिया पर खेत, हमारे बीज तुम्हारा...। मेहनत हमारी ट्रैक्टर तुम्हारा...उसके बाद जो बचेगा वो आधा-आधा।

''बड़े भय्या !...ओ बड़े भय्या...!'' किसी ने ज़ोर-ज़ोर से दरवाज़ा खटखटाया।

''कौन?''

''हम हैं भरत।''

नाना ने बेड़ा हटाया और भरत को भीतर खींच लिया।

''काय! जा बखत?''

''भय्या गजब हो गया!''

''का करें! किस्मत फूट गई। कुदरत के आगे किसी का बस नहीं। तुम हमारी तो सोचो का बीत रही है हम पर! बस प्रान नहीं निकल रहे हैं।''

''चलकै देखें?''

''इतने अंधड़ में! हाथ को हाथ नहीं दीख रहा और रूख टूटकर पड़े होंगे...फिर जाने से फायदा?'' नाना का गला भर्रा उठा...। खखारकर गला साफ़ किया...और...ज़मीन कुरेदने लगे...। बार-बार उठती खाँसी उनकी कराहों को और मर्मांतक बना रही थी।

भरत भी चुप हो गया। उसने बीड़ी का बंडल

निकाला। हाथ से गोला बनाकर बीड़ी सुलगाई और गहरा कश लगाया! सितेली बीड़ी बार-बार बुझ रही थी।

"सब बर्बाद हो गया...हमने भी सब कुछ लगा दिया था...जेवर, ब्याज पर पैसा...। सब मिट्टी में मिल गया।" लग रहा था हज़ारों फ़ीट गहरे कुएँ से आवाज़ आ रही हो भरत की "...हमारी तो यह टपेरिया भी गिरवी धरी है।" नाना ने कराह भरते हुए कहा।

दोनों ने हल्का-सा किवाड़ खोला। चार-पाँच घंटे की बारिश, गड़गड़ाहट और बिजली के बाद...पानी कुछ रुक गया था। 'पत्थर के टुकड़ों बराबर ओले गलकर अब छोटे आकार के हो गए थे...लेकिन जहाँ तक नज़र गई, बिजली की कौंध में तो दिखाई दी...सफ़ेद पत्थरों वाली चादर...! "राम! राम! ऐसे ओलो तो देखे नहीं...।" नाना ने छाती पर हाथ रखकर कहा। फिर दोनों व्यक्ति बहते पानी की धार सुनते हुए— अवसन्न से बैठे रहे।...

"कलियुग है। पापों का घड़ा भर चुका है...।" भरत ने झल्लाकर कहा!

"का पहली बार हो रहा है ऐसा। प्राकृतिक प्रकोप को कौन रोक सका!"

"पाँच साल हो गए—कभी सूखा—कभी बरसात कभी कीड़ों और झल्लियों का परकोप...एक विपदा से बचते तो दूसरी आ जाती...। सरकार की योजनाएँ सुनने में तो ऐसा लगता जैसे एक दिन में हम धन्नासेठ हो जाएँगे पर ब्याज की दरें देखी...कैसे बेरहमी से वसूली पर उतर आते हैं। हरामखोर, हत्यारों ने कित्तों की जान ले ली...।" भरत का ग़ुस्सा फूट पड़ा।

"हम करें भी तो क्या करें भला! दूसरा कोई काम आता नहीं!"

"हरेक का भाग्य...सियासरण जैसा नहीं कि मन हुआ तो आ गए वरना दुकानदारी भली।"

दोनों के बीच बातों का सिलसिला चल रहा था।

तब न रात्रि थी न भोर। लेकिन पानी थमते ही सारे लोग घरों से बाहर निकल आए थे। हर व्यक्ति अपने खलिहान की ओर ऐसे भागा जा रहा था जैसे भूखा-प्यासा बछड़ा अपनी माँ की ओर भागता है।

नाना ने लाठी उठाई, सिर पर गमछा लपेटा और भरत के साथ चल दिए। पूरा गलियारा पानी से लबालब था! जगह-जगह पेड़ों की डालें पड़ी थीं...या कहीं कोई जानवर टकरा जाता तो कहीं मरे हुए पक्षी पाँवों के नीचे आ जाते...तो किसी ने बताया कि रामधन का घर ढह गया...जितनी बकरियाँ थी सब दबकर मर गईं...। मरते वक़्त कितनी तड़पी होंगी...और दक्षिण दिशा में बजरंगी के खेत पर बिजली गिरी थी। पूरा पेड़ जल गया था और बजरंगी की भैंस भी। एक के बाद एक ख़बरें आ रही थीं। लोग एक-दूसरे को आपबीती सुना रहे थे।

खेत की मेड़ पर लगे बेरियों के पेड़ नंगे हो चुके थे। सारे पके बेर पानी में पड़े थे। जल्ला कक्को का लड़का विलाप कर रहा था क्योंकि उसकी सारी सब्ज़ियाँ डूब गई थीं...। घुटनों-घुटनों पानी और मिट्टी में सने नाना सर्द आँखों से चारों तरफ़ देखे जा रहे थे। बस एक के बाद एक कराह निकल रही थी, "हे राम! यह क्या हो गया...? अब क्या होगा...?" भरत ने नाना का कंधा थपथपाया... "बड़े भय्या!" चारों तरफ़ नज़र आ रहे थे पानी मिट्टी, ओले...! खड़ा खेत बिछ गया था। झींगूरों के बालों की तरह गेहूँ की बालों के रेशे दिखाई दे रहे थे या कहीं-कहीं उतराती मृत चिड़िया...तोते...। ठंडी हवा से शरीर जकड़ा जा रहा था पर नाना को कहाँ परवाह...वे तो बदहवास से खेत में डूबी बालों को पकड़-पकड़कर बाहर खींचते, देखते...और छोड़ देते...। कुछ नहीं बचा...कुछ भी नहीं। पानी की निकासी करने पर भी क्या बचेगा...? आज धूप नहीं निकली तो यह भी सड़ जाएगा। नाना दौड़-दौड़कर मेड़ें खोदने लगे...। पाँवों की नसें और

ज़्यादा उभर आईं थी पर नाना को इन फूली नसों की परवाह कहाँ थी! इस समय नाना को अपनी जान से ज़्यादा खेतों की चिंता थी।''

''भइया, बाहर आ जाओ...सब चौपट हो गया...भमुदर में आलू नहीं भुनता...अब हमारे हाथ में कछु नहीं बचौ।'' भरत नाना को समझा रहा था।

पर नाना पर जुनून-सा सवार हो गया...फावड़ा चलाते नाना सोच रहे थे पानी निकाल देंगे तो...कुछ तो बचेगा? अपने लिए न सही जानवरों के लिए बच जाए।

चारों तरफ़ मातम छाया था। साँय-साँय करता वातावरण जैसे आकाश और धरती दोनों मौन हो गए हों! सब खड़े थे हताश, स्तब्ध! असहाय! ज़बान से शब्द ग़ायब हो गए थे। न किसी के घर में चूल्हा सुलगा...न किसी को भूख-प्यास का अहसास हुआ। बच्चे, बूढ़े, स्त्री सभी बिजली गिरे पेड़ की तरह मुरझाए थे...भावी संकट से भयभीत! बच्चों की समझ में नहीं आ रहा था यह सब क्या हो गया है। वे तो पानी में फच-फच करते ओले बीनते...मुँह में डालते आ उ...चीख़ते...बुलबुले फोड़ते...कीड़े-मकोड़ों को पकड़ते...उन्हें मारते...अपनी ही धुन में मस्त थे...जहाँ पेड़ गिरे थे, वहाँ से बेर भरकर ला रहे थे अधपके...अधमीठे...खट्टे बेर...जिन्हें कोई तोड़ने नहीं देता था...। सूने पड़े खलिहान किसी विधवा स्त्री की तरह उजाड़, उदास और लुटे-पिटे से दिख रहे थे...। सुनहरा संसार देखते-देखते मिट्टी में मिल गया था। हँसी-ख़ुशी, उल्लास, आशाएँ, कामनाएँ...सब पानी-पानी हो गई थी।

''अब! अब क्या होगा...! हे राम जी!'' सबकी आँखों में एक ही सवाल था...सबकी जुबान पर एक ही शब्द था...। हाय-हाय थी। मन निराशा से भरा था तो आँखें शून्य में डूबी!

लगभग सभी गाँववाले क़र्ज़दार थे। कुछ पुराने क़र्ज़दार थे। कुछ पीढ़ियों के क़र्ज़दार थे...कुछ नए क़र्ज़दार थे...पर थे सभी क़र्ज़दार। कोई साहूकार का क़र्ज़दार था, तो कोई सहकारी समिति का, तो कोई बैंक का, तो कोई सर्राफ़ का। एक नया क़र्ज़ और था वैश्य का। वैश्य ने इधर अपना पैसा ऐसे किसानों के बीच बाँट दिया था जो बेहद ज़रूरतमंद थे। जिनकी बेटियों की शादियाँ होनी थीं। जिनकी वसूली होनी थी। जिनकी कुर्की होनी थी, जिनकी बिजली कटनी थी या जिनकी फ़सल कटनी थी या जिनको बीज लेना था। अमेरिका में बसे बेटी-दामाद का पैसा उनके पास आता था। शेयर ख़रीदने, फ़ैक्ट्री में लगाने, ज़मीन ख़रीदने के बाद जो पैसा बचता था...वह...किसानों या लेनदारों के बीच पाँच से दस प्रतिशत ब्याज पर देते थे...। उधर कटैया हाथ पर हाथ धरे बैठे थे...दरअसल ये वे लोग होते थे जो पूरा एक समूह बनाकर आते थे और फ़सल कटने तक डेरा डालकर रहते थे लेकिन...उनकी क़िस्मत भी मारी गई थी। उन्हें समझ में नहीं आ रहा था कि यहाँ से चले जाना चाहिए या रुकना चाहिए।

नाना समेत सभी लोग रेडियो से कान लगाए बैठे थे...कहाँ कितना नुकसान हुआ। कितने गाँव नष्ट हुए, कितनी जगह बिजली गिरी। कितने लोग और मवेशी मरे। सरकार क्या कर रही है। क़र्ज़ माफ़ करेगी। बिजली के बिलों को माफ़ करेगी...या फिर पिछली बार की तरह इस बार भी वसूली करने वाले धावा बोले देंगे और जो हाथ में आएगा, उठाकर ले जाएँगे जैसे कि पिछली बार किया था...। लक्ष्मीनारायण के घर की चादरें उतारकर ले गए थे...लगातार प्रताड़ना से तंग आकर वह इतना हताश हो गया था कि चूहे मारने की दवा पीकर जान दे दी थी...और भीखू की मोटर उठाकर ले गए थे...फिर वही कहानी दोहराई जाएगी क्या...?

''कलेक्टर साहब से मिलेंगे।'' पंचायत अध्यक्ष ने सुझाव दिया।

''विधायक जी से भी मिलना चाहिए।''

''विधान सभा चल रही है...वहीं होंगे सब।''

पाँचवें दिन जब रास्ता कुछ साफ़ हुआ तो

आठ-दस लोग मिलकर कलेक्टर कार्यालय जा पहुँचे। मार्च का उतरता महीना था वह। इन दिनों किसानों को मरने की फ़ुरसत नहीं मिलती थी पर इस बार मौत से बचाव के रास्ते ढूँढ़ रहे थे...ख़ाली...हताश और परामुखी होकर।

"कोई खबर आई का?"

"नहीं!"

"खबर तो पहुँची होगी सरकार तक।"

"सुनने में आया है कि पहले सर्वे होगा। समिति बनेगी...वह रिपोर्ट देगी तब कहीं जाकर फ़ैसला होगा कि कितना क्या मुआवजा दिया जाए। अब उन सबका मुँह देखो उसमें भी धाँधली होगी। हर जगह बेईमान और चोर-उचक्के भरे हैं...उनके भरोसे रहना बेकार है।"
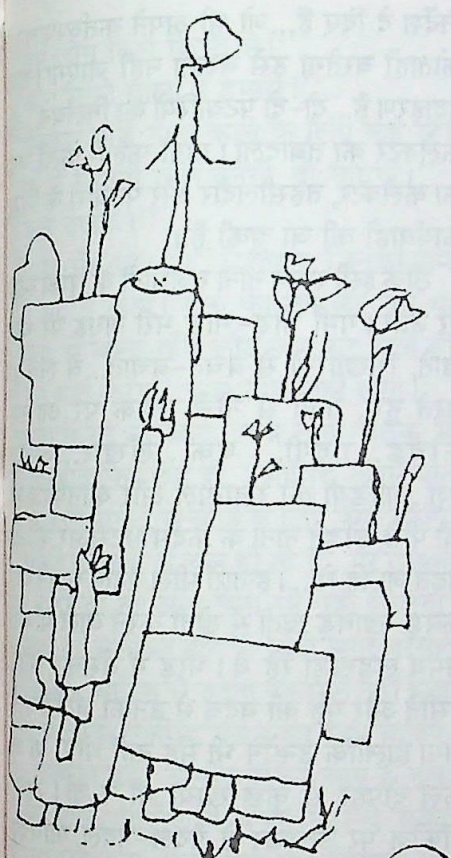
सरकारी कामकाज का तरीक़ा देखा है नाना ने। पिछली बार सूखा पड़ा था तब कितना मुआवज़ा दिया था...। अधिकारी-कर्मचारी आते थे...जगह देखते थे कि ट्यूबवेल लगाएँगे...बाद में पता चला ट्यूबवेल लग गया था...। नाना जानते हैं...। उनकी आँखों ने सब कुछ देखा है...। इसलिए वे कही हुई बातों पर विश्वास नहीं करते।

जब तक सर्वे होगा रिपोर्ट बनेगी तब तक कौन ज़िंदा रहेगा...और कितने प्राणी भूख से मर जाएँगे...?

भरत...हिसाब लगा रहा था। "भय्या..., कुल चालीस हजार बैंक से उठाया था। ब्याज़ सहित हो गया साठ हजार...। जितना सोना था वो गिरवी धरा है। बिजली का बिल बचा है अठारह हजार..."

"भय्या, आमदनी तो है जीरो और कर्ज हुआ...पचपन हजार। कहाँ से चुकेगा पैसा!"

"रात भर करवटें बदलता रहा भईया...प्राण सूख रहे हैं।" भरत की आँखें कोटर में धँसी लग रही थीं...। वह लंबी बीमारी से उठा मरीज़ लग रहा था इस समय।

नाना एक-एक व्यक्ति का रिश्तेदार और मित्रों का नाम याद कर रहे थे कि कौन क्या मदद दे सकता है? बिना ब्याज के पैसा मिले तो काम चले...। खाने को घर में दो-चार बोरा ज्वार पड़ी थी और आधा बोरा गेहूँ...। कपड़े-लत्ते फट चुके थे। बड़े बर्तन-भाँड़े पहले ही बिक चुके थे।

"भरत, अगर तुम दो-चार सौ रुपए का इंतज़ाम कर सको तो हम भोपाल का एक चक्कर लगा आएँ। वहाँ से थोड़ी-बहुत मदद मिलने की उम्मीद है। अपना कुछ दिन का काम चलेगा।"

भरत पुरानी ख़ानदानी ज़मीन वालों का लड़का था। खेती-बाड़ी पुश्तों से चली आ रही थी। ज़मीनें थीं। खेत थे।...आम के पेड़ थे! पर आपस की लड़ाई और मुक़दमेबाज़ी में काफ़ी कुछ बिक गया था...दो बार डाकुओं ने डाका डाला था फिर भतीजे के अपहरण के बाद काफ़ी पैसा डाकुओं के पास चला गया था...। उन बुरी ख़ौफ़नाक बातों

का अंत भाई की हत्या से हुआ था। भाई की हत्या के बाद तो वह लुट-सा गया था। तब नाना ने उसे अपनी ज़मीन पर खेती करने का आग्रह किया था। उसने ज़मीन गिरवी रखकर ट्रैक्टर उठा लिया था। कुछ अपनी खेती और कुछ किराए पर काम करके ट्रैक्टर चला रहा था...। इतना कुछ करने के बाद भी पिछले एक साल में उसकी क़िस्तें जमा नहीं हो पा रही थीं...। बैंक के लोग बार-बार चक्कर लगा रहे थे। उनकी बातें और नियम इतने सख़्त होते कि भरत और नाना को लगता था कि दोनों की मौत भी उन्हें पिघला न सकेगी।

किसी तरह तीन सौ रुपए की व्यवस्था हुई।

...दो हफ़्ते बीत गए थे पर कहीं कोई आशा की किरण न थी। बेआस। बेरौनक! आसमान में मँडराते गिद्ध। उड़ान भरती चीलें। हड्डी सूँघते कुत्ते...। बिलों से बाहर भागते चूहे...साँप...बिच्छू। सड़ते जानवर। फटती धरती और मिट्टी में मिलती फ़सलें। हवा में दुर्गंध थी और आसमान में मनहूसियत फैलाती धूप! जो पेड़ थे...। बिजली में जले झुलसे वृक्ष अपनी बदसूरती लिए खड़े थे। जब इस पुराने गाँव में किसान, मज़दूर, लोहार, ढीमर, धोबी, कुम्हार, दांगी, ब्राह्मण भूख चिंता और क़र्ज़ से बेहाल रात-रात भर जागते हुए काट रहे थे। ठीक इसी समय शहर में ख़ासकर राजधानी में नेता...मंत्री, ज़िले के प्रभारी, सरकारी अफ़सर नष्ट हुई फ़सलों पर...किसानों को दिए जाने वाले मुआवज़े पर बहस कर रहे थे...। सरकार अपना पक्ष रख रही थी तो विपक्ष उस पर आरोप लगा रहा था और मज़े की बात यह कि कौन नेता कितने संवेदनशील ढंग से कैमरे के सामने अपनी बात कह पाता है इसमें भी होड़ लगी थी। एक तरफ़ मुआवज़े की राशि के बारे में बताया जा रहा था तो दूसरी तरफ़ आँकड़े गिनाए जा रहे थे कि कितने किसानों ने आत्महत्या की है। कितने मरे हैं। कितने जानवर मारे गए हैं...तो दूसरी तरफ़ प्रभारी मंत्री के साथ मुख्यमंत्री प्रेस कॉन्फ्रेंस में जानकारी दे रहे थे कि उन्होंने संबंधित अधिकारियों को सख़्त निर्देश दे दिए हैं...जो भी अपने कर्तव्यपालन में कोताही बरतेगा उसे बख़्शा नहीं जाएगा। ताज़ा उदाहरण है...दो-दो पटवारियों का निलंबन...और कलेक्टर का तबादला। यानी फलाँ-फलाँ जगह का कलेक्टर, तहसीलदार और पटवारी के विरुद्ध कार्यवाही की जा चुकी है।

ठीक इसी समय नाना राजधानी के मुख्य स्टेशन पर उतरे। गर्मी भीड़-भाड़ भरी जगह पर धक्के खाते, भिखारियों से बचते-बचाते...वे लंबे डग भरते हुए, तेज़ी से नीचे सड़क पर आ गए। कीचड़...गंदगी... थूक...खँखार...आवारा पशु...गाड़ियों की रेलमपेल और कानफोड़ शोर को पीछे छोड़ते नाना के क़दम भटसुअर की ओर बढ़ते जा रहे थे...। हज़ारों मील पैदल चलने वाले, ऊबड़-खाबड़ खेतों में खेती करने वाले पाँव इस समय लड़खड़ा रहे थे। भीड़ में ठूँसकर बैठे तो पसीने और मुँह की बदबू से उनका जी मिचलाने लगा हालाँकि उन्होंने भी मुँह नहीं धोया था और कल दोपहर से कुछ खाया भी न था। अप्सरा टॉकीज पर उतरकर वे पैदल-पैदल गोविंदपुरा की ओर चल दिए। आधा घंटा लगा होगा उन्हें। शहर अपनी साफ़-सुथरी सड़कों के कारण दमक रहा था। गाड़ियाँ भाग रही थीं। लोगों के उत्साह को देखकर नहीं लग रहा था कि यहाँ कोई परेशान है या चिंतित है...छुट्टी का दिन था इसलिए लोग फ़ैमिली सहित खुली जीपों या कारों में पिकनिक पर जा रहे थे। जब नाना अपने रिश्तेदार के घर पहुँचे तो साढ़े नौ बज रहे थे...। उनका घर ताज़े फूलों से महक रहा था...

"क्यों! अचानक!" नाना को यूँ आया देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ।

"भागकर आना पड़ा।"

"कुछ बचा!"

"सब नष्ट हो गया!"

"सरकार मुआवजा देगी, चिंता क्यों करते हो...! कोई सरकारी आदमी पहुँचा या नहीं!..."

"कल तक तो कोई नहीं आया था।"

"तुम लोग मिले किसी से!"
"कौन सुनने वाला है हमारी!"
"सरकार कर्ज माफ करने के लिए कह रही ...सर्वे में जितनी राशि बनेगी, दी जाएगी।"
"कब तलक।"
"हाथ-मुँह धो लो।" रिश्तेदार, जिनका नाम ...विंद था, ने कहा। नाना का मन कर रहा था ...जल्द से जल्द गाँव लौट जाए पर आते ही ...ों की बात करना...कुछ ठीक नहीं लगा।

नाश्ता करने के बाद...जब नाना बैठक में ...ठे...तो बात फिर छेड़ दी, "गोविंद, तुमसे एक ...म था। सोसायटी से बीज के लिए पैसा उठाया ...पहले के कर्जे तो चल ही रहे हैं...पर उसकी ...स्त नहीं दी तो आगे पैसा भी नहीं मिलेगा। ...क साल की मुसीबत टल भी जाती अगर बरसात ...हुई होती...बारिश से उतना नुकसान नहीं हुआ ...तना ओलों से। गोविंद, दस हजार रुपए चाहिए। ...हुत जरूरी। बड़ी उम्मीद लेकर आए हैं हम! ...ें कब लौटा पाएँगे, ये वचन नहीं दे सकते ...तुम्हारे एक-एक पैसे का हिसाब कर ...गे...अगर भरोसा कर सको तो?" कहते-कहते ...ना की आवाज़ बैठने लगी।

गोविंद का चेहरा उतर गया। इधर-उधर देखने ...गे।

"अचानक! आज तो छुट्टी है। बैंक बंद हैं।" ...न्होंने टालते हुए कहा।

"बड़ी विपदा पड़ी है।" गोविंद समझ ...ए...नाना का आश्वासन तो पपीहा की आस ...। जो देना है बिना लौटाने की उम्मीद के ...ना...।

"यहाँ किसी से मिलने से काम चलेगा?"

"एक हम ही थोड़ी न हैं!" दूसरे दिन...चार ...हजार रुपए उनके हाथ में थे। उनका मन बैठ ...गया। नोटों को बार-बार उँगलियों के बीच ...टटोलते। कँपकँपाते हाथों में इतनी ताक़त नहीं ...थी कि नोटों को वापस कर सके...! क्या होगा ...इतने से रुपयों से! भरत इंतज़ार कर रहा था।

"बड़े भईया काम हुआ?"
"चार हज़ार रुपए मिले हैं।"
"चार! बस! बेकार भगत गए।"
"का करें! कोई आया सर्वे के लिए।"
"नहीं। सुनने में आया कि पढरा में सरकारी कर्मचारी आया था, देख-दाखकर गया है...।"
"वहाँ तो खूब हल्ला है। लंबी-चौड़ी बहसें चल रही हैं। हिसाब-किताब लगाकर केंद्र सरकार को भेजा जा रहा है। इस बीच...कल्लू ने अपनी गाय बेच दी थी...परमा अपनी ससुराल चला गया था...नई उम्र के लड़के शहर में निकल गए थे काम की तलाश में।"

नाना के घर में वही हाल था। ज्वार की रोटी खा-खाकर लड़के का पेट फूल गया था। सब्ज़ी के नाम पर एक आलू और भगोनाभर पानी जिसमें हल्दी मिर्च और नमक से छोंक दिया जाता...। कटैया अभी भी डेरा डाले हुए थे। लोगों ने देखा था कि वे रात में चुपचाप सूअर का माँस, चूहा, केंकड़ा या मेढ़कों को भूनकर खा रहे थे। इस बार न होली मनी, न रंगपंचमी। कटाई से लेकर छनाई तक...फिर बेचने तक जो गहमागहमी, उत्साह और उल्लास रहता था वह आकाश में उड़ते बादलों-सा हो गया था...।

"हम सब मिलकर चलते हैं...।"
"का फायदा! जब उनके आदमी आएँगे काम तभी शुरू होगा।"
"ऐसे किसी के कान पर जूँ नहीं रेंगती।"
"सुना है कई जगह सर्वे का काम शुरू हो गया...!"
"हमारा नंबर कब तक आएगा?"
"सर्वे! सर्वे! सर्वे! अगर सर्वे नहीं हुआ और हमें माफी पत्र नहीं मिला तो हमारी बात पर कौन विश्वास करेगा। बैंक वालों को, सोसायटी वालों को, बिजली वालों को...कागज लगेगा...और मुसीबत यह है कि किसी के पास भी कोई कागज नहीं था...सुबह से लेकर शाम तक लोग पटवारी के चक्कर लगाते। पटवारी तहसीलदार के चक्कर लगाता...एक अंतहीन सिलसिला!"

"सब मिलकर चलते हैं तभी सुनवाई होगी।"

नाना अड़े थे, "हम कह रहे हैं चाहे धरना दे लो चाहे सिर कुटवा लो, चाहे सड़क पर लोट लगा लो तब भी उनका काम अपनी परक्रिया से होगा और अब आने दो विधायक जी को, जूते मारकर भगा देंगे...। हटाओ हरामखोर को...। विपदा में जो हमारे साथ नहीं हम भी उनके साथ नहीं।" नाना ज़ोर-ज़ोर से बोल रहे थे...। उनके चेहरे की हड्डियाँ तथा दाँत बाहर निकल गए थे।

फिर भी सबकी सलाह थी कि एक बार चलकर अपनी बात रखनी चाहिए।

पंच, सरपंच...चार-छह लोग इकट्ठा होकर...कलेक्ट्रेट ऑफ़िस के सामने जमा हो गए।...

दोपहर ढल रही थी, तीखी धूप उतरते हुए और जानलेवा साबित हो रही थी...प्यास...पसीना और प्रतीक्षा...तीनों ने मिलकर सबको बेहाल कर दिया था...।

"साहब से कहो, ओला पीड़ित गाँव से किसान लोग आए हैं—मिलना चाहते हैं।..."

"अभी तो मीटिंग चल रही है।" एक रटा-रटाया वाक्य जो चपरासी सुबह से शाम तक बोलता है।

"कब तक!"

"एकाध घंटे। आप लोग बाहर बैठिए। ख़ाली होंगे तो आपको बुला लेंगे।"

एक-डेढ़ घंटे के इंतज़ार के बाद लंच हुआ...लंच के बाद...साहब का इंतज़ार हो रहा था प्यास बुझाते—थके-हारे वे सब अब और प्रतीक्षा नहीं कर सकते थे।

"चार घंटे हो गए हमें!" नाना ने ऊँची आवाज़ में कहा।

"तो क्या करें? परची भेज तो दी। वी.आई.पी. लोग आए हैं! साहब ने मना किया है...।"

एक बार परची फिर भेजी गई और फिर प्रतीक्षा में आधा घंटा काटना पड़ा! अंततः पूरी भीड़ ज़बरदस्ती अंदर घुसती गई और चपरासी चिल्लाता ही रह गया।

"चार घंटे से बाहर बैठे हैं और सुबह के चले थे...साब, भूखे-प्यासे।"

"फिर भी...! हम आप लोगों को बुला ही रहे थे।"

"आज तक आपका एक कर्मचारी नहीं पहुँचा हमारे गाँव! आखिर कब होगा सर्वे?" सबका एक ही सवाल था।

"पहुँचेगा, ज़रूर पहुँचेगा। ज़ोर-शोर से काम चल रहा है। देखिए यह कोई छोटा-मोटा काम तो है नहीं...समय तो लगता ही है ऐसे कामों में...।"

"तब तक हम लोग क्या करें साब? हमारा कर्ज माफ करवा दो...हमारे पास फूटी कौड़ी नहीं बची है...जो भी अधिकारी आता है बदसलूकी करता है। सामान उठाकर ले जाता है। हाहाकार मचा है। एक बार आकर आप देख लेते।"

"देखिए, मैंने आप लोगों से कह दिया है कि हर काम की नियम-प्रक्रिया होती है। अभी आप लोग घर जाइए...काग़ज़ छोड़ दीजिए...। आपको तत्काल राहत राशि पहुँचाई जाएगी। हम समझ रहे हैं आपकी समस्याएँ! आप लोगों की तकलीफ़ें! आप चिंता न करें। सरकार आप लोगों के बारे में चिंतित है। काम चल रहा है।"

कलेक्टर की दलीलों के सामने उजबक से खड़े रह गए वे सब। सोचकर तो आए थे कि हंगामा करेंगे... ख़ूब खरी-खोटी सुनाएँगे...लेकिन कलेक्टर के सामने पड़ते ही पिंडलियाँ कँपकँपाने लगी। अपना-सा मुँह लेकर लौटना पड़ा। थके पाँव। निराश! ख़ाली हाथ। आश्वासन और आश्वासन जो हवा में सूखे पत्ते की तरह उड़ रहे थे।

सर्वे किया जा रहा था। रिपोर्ट तैयार हो रही थी। मुआवज़ा मिलने की लंबी प्रतीक्षा के बीच पुराना कबाड़ा बेचा जा चुका था। टूटे-फूटे बासन भाँड़े। तार-तार पड़े गिलट चाँदी के आभूषण

ोटी-छोटी दुकानों पर मिट्टी के भाव बेचे जा चुके थे। भूख से मर रहे मवेशियों को खुला छोड़ दिया गया था क्योंकि अब न किसी की फ़सल री जानी थी। न सब्ज़ियाँ। जिसको जहाँ जगह मिले बैठो, घूमो... । पाँव पसारो... । सारी धरती तुम्हारी...सारा आकाश तुम्हारा!

कौन किसके घर जाकर काम माँगे... । काम के बदले अनाज प्राप्त करने की आशा में भी लोग इधर-उधर भटक रहे थे... ।

बीच का यह वक़्त खाने को दौड़ रहा था। ख़ाली हाथ बैठे लोगों को एक-एक दिन भारी पड़ रहा था! दालें...तिलहन...भूसा-खली गेहूँ, चना सिर्फ़ सपने में दिखते थे!

सन्नाटा ऐसा कि लग रहा था यमराज का पहरा हो...। नाना को इस ख़ाली मनहूस वक़्त में दो ही रास्ते नज़र आ रहे थे... । शहर जाकर गोविंद की मदद से किसी फ़ैक्ट्री में काम तलाशा जाए...या... स्वयं को नियति के हवाले छोड़ दिया जाए। उन्होंने पहला रास्ता चुना।

रातों-रात पैसेंजर में बैठकर भोपाल आ पहुँचे। गोविंद के कहने पर एक फ़ैक्ट्री में रातभर की चौकीदारी मिल गई और दूसरा एक घर में दूध दुहने तथा गायों की देखभाल का काम मिल गया। नाना बीच-बीच में घर का हालचाल पूछ लेते... । भरत से बात कर लेते... । घर छोड़े चार महीने से ज़्यादा हो गए थे।

"नाना वहाँ जम गए हो तो इधर की चिंता छोड़ो...अच्छा है वहीं बस जाओ।"...भरत बार-बार एक ही बात पर ज़ोर देता। भरत के बार-बार ऐसा कहने पर पता नहीं क्यों नाना का मन शंकाओं से भर उठा। भरत ऐसा क्यों कह रहा था! क्या नाराज़ है ? या उसके दिल में कोई खोट है...कहीं धोखा तो नहीं दे रहा है... ? पर दूसरा मन कहता—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता... । भरत ऐसा क्यों सोचेगा ? वह अनमना-सा क्यों था... ! एकाध बार चलकर देखना चाहिए। सोचकर नाना...पैसे खीसा में दबाकर रवाना हो गए। गाँव लौटते हुए उनका मन प्रफुल्लित था और क़दम हल्के। लग रहा था वर्षों बाद लौट रहे हों! दूसरों के यहाँ नौकरी करना नाना को कितना अपमानजनक और दुखद लगता था। उनकी आत्मा तो वहीं बसती थी, अपने घर में, खेत-खलिहान में, अपने लोगों के बीच!

सुबह तक घर पहुँच गए... ।

चार महीने में घर खंडहर-सा हो गया था।...

भरत के घर के सामने ट्रैक्टर नहीं था... ।

"कहाँ गया ?"

"बैंक वाले उठा ले गए!" भरत ने दुखी होकर कहा।

"तुमने उठाने क्यो दिया! बोलते, पैसा आएगा तो क़िस्तें भर दोगे।"

"एक नहीं सुनी भईया... । चलो जान छूटी। मरा हाथी बन गया था। नाना, हमसे तो अपमान सहन नहीं होता। स्साला बिना पैसे के आदमी कुत्ता बना दिया जाता है। ऐसी दुत्कार पड़ती है चारों तरफ़ से कि...नाना जी करता है सब बेच-बाचकर कहीं चले जाएँ।"

"दुखी मत होओ। हिम्मत हारने से काम नहीं चलेगा। विपदाएँ तो आती-जाती रहती हैं। अब अगली फसल की तैयारी कर लो। थोड़ा-बहुत पैसा हाथ लगा है।" नाना ने उत्साहित होकर कहा।

"कैसी अगली फसल भईया!"

"ट्रैक्टर नहीं हुआ तो क्या, अपन हल-बखर से काम चला लेंगे। हमारी जमीन पर... ।"

"आपकी जमीन! कौन-सी जमीन। वो तो कुर्क हो रही थी...हमने पइसा देकर बचा लई! अब आपकी जमीन कैसे रई ?" भरत बेलिहाज होकर बोला।

"भरत, ऐसा मजाक हमें पसंद नहीं।"

"भगवान की सौगंध नाना, आपकी कोई जमीन नहीं रही।"

"तो कहाँ गई हमारी जमीन ?"

"समिति वाले कुर्की के लिए आए थे..."

"हमको खबर करनी थी!"

"इतना समय नहीं था।"

"समय नहीं था या तुम्हारी नीयत बदल गई थी।"

"तुम्हें जो समझना हो!"

"इतना बड़ा धोखा! भगवान से डरते हो या नहीं! हमने कभी तुम्हारा पैसा रोका? कभी हिसाब-किताब माँगा? अगर मुसीबत आई है तो मिलकर सामना करो। तुम्हें कोर्ट में घसीटेंगे समझे। अब समझ में आया तुम्हारे भाई की हत्या क्यों हुई थी? चोट्टे और बेईमान हो तुम सब।"

"नाना, तुम्हारी जमीन हमारे पास आ गई, इस बात का रंज है तुम्हें?"

"रंज उस बात का नहीं है, रंज तुम्हारे कपट भरे व्यवहार का है!"

"हमारा सब कुछ चला गया बड़े भईया सब कुछ...।" नाना का क्रोध देखकर भरत नरम पड़कर बोला।

"मत कहो बड़े भईया। पीठ में छुरा भोंक दिया तुमने! रात-दिन एक करके पइसा बचा रहे थे कि लौटकर अपनी खेती करेंगे...! कब तुमने हमसे दस्तखत करवा लिए थे...। तुम सब मिल गए हो। पर हुसियार रहना, नाना कमजोर नहीं है...हम अपनी जगां-जमीन नहीं छोड़ेंगे!" नाना ज़ोर-ज़ोर से चीख़ रहे थे, नाना का ऐसा रौद्र रूप भरत ने पहली बार देखा था। उनकी उत्तेजित आवाज़ सुनकर आसपास के लोग इकट्ठे हो गए थे...। उनकी आँखें मिचमिचा रही थीं...। दुबला-पतला शरीर क्रोध से काँप रहा था। मुँह से थूक गिर रहा था।

"अरे बोल देते कि हमें पैसा चाहिए...अपने को बेचकर देते। पर यह फरेब...। हमीं मिले थे ठगने के लिए!"

"बड़े भईया...!" भरत के मुँह से शब्द नहीं निकल रहे थे। वह हकलाने लगा था।

धीरे-धीरे राज़ खुलते गए...मोटर उठा ली गई थी और मोटर को ढकने के लिए जो चादरें चढ़ी थीं वह भी उतार ली गई थी...। नाना को लगा जैसे भूख और अभाव ने अपनों को हैवान बना दिया है। उन्हें नाना का मांस नोचकर खाने में भी संकोच न होगा। चार महीने के लिए क्या चले गए...सोच लिया कभी नहीं आएँगे। नाना को अपने चारों तरफ़ सब कुछ घूमता नज़र आ रहा था। आसपास खड़े लोग...मकान... सपाट गैल-गलियारे! नाना ने नज़रें उठाकर देखा, ऊपर जलता हुआ आसमान था! नीचे दरारों से भरी धरती! रूखे पेड़! क्या-क्या सोचकर आए थे...कि ख़रीफ़ की फ़सल में कुछ न कुछ तो हाथ लगेगा ही। पर भरत ने यह कैसा खेल खेला!

नाना को लग रहा था जैसे...वे सबके सामने निर्वस्त्र कर दिए गए हों।

सुबह पड़ोसियों ने देखा...दरवाज़े के बाहर चारपाई पर भरत पड़ा है—सीधा! दोनों हाथ छाती पर। मुँह खुला हुआ। पत्नी ने बताया कि रात में वैश्य का आदमी आया था और धमकियाँ देकर गया था...! तब से वह मुँह बंद किए पड़ा था...। किसी से कुछ नहीं बोला था बस एक ही शब्द दोहरा रहा था नाना...! नाना...!

तीन महीने बाद! बढ़ी हुई दाढ़ी...एक हड्डी की काया और धँसी आँखों वाले नाना अपने पाँवों तथा गले की उभरी हुई नसों...लगातार उठती खाँसी के बावजूद भी अकेले ही अपने एक छोटे से ज़मीन के टुकड़े पर बिना बैलों के, बिना ट्रैक्टर के, बिना भरत के गैंती-फावड़ा और कुदाल से खेत को समतल बनाने में लगे थे...कुछ लोग नाना को पागल कह रहे थे तो कुछ सनकी तो कुछ मूर्ख, लेकिन नाना जानते थे कि...इस बार उन्हें पत्थरों में से पानी निकालना है यानी इस बंजर पड़ी ज़मीन में फ़सल पैदा करनी ही है। क्योंकि गले-गले तक क़र्ज़ में डूबे नाना के लिए स्वयं को तथा भरत के परिवार को मौत के मुँह से बाहर निकलने का यही अंतिम रास्ता दिखाई दे रहा था।

नंदकिशोर नंदन

शब्द-शक्ति

सेमरा गाँव के बाबू रघुवीर सिंह को बड़े राजनेताओं और अफ़सरों की मानिंद अपनी आँखों से अधिक अपने कानों पर ही भरोसा था। आँखों से दिखनेवाले दृश्यों में नहीं, दूसरों के द्वारा उच्चरित शब्दों में ही उनकी आस्था थी। वह अपनी पत्नी और आस-पास रहने वाले लोगों के शब्दों में ही सच्चाई के दर्शन करते थे। लंबे डील-डौल वाले रघुवीर सिंह का यह स्वभाव बन गया था कि कोई कितनी ही निष्ठा से उनकी सेवा करे, वह उसे हर पल संदेह की दृष्टि से देखते थे। उनकी इसी शंकालु प्रकृति के कारण आज से चौदह साल पूर्व उनके छोटे भाई यदुवीर से ऐसी लड़ाई हुई कि आज भी कोर्ट से उस मुक़द्दमे का निपटारा न हो सका। वह जब भी तारीख़ पर कचहरी जाते, अपने वकील को रोब-दाब के साथ कहते, ''देखिए वकील साहब! रुपए चाहे जितने ख़र्च हों, यह मुक़द्दमा मुझे ही जीतना है। आख़िर वह अपने को समझता क्या है? ज़रा पढ़-लिख क्या गया, अपने को बड़ा आदमी समझता है!'' चौदह साल से चले आ रहे मुक़द्दमे में वह लाखों रुपए से भी अधिक झोंक चुके थे पर उनकी अकड़ में कमी नहीं आई थी। उन्हें रुपए-पैसे की कोई कमी नहीं थी। पचास एकड़ में आम और लीची का बग़ीचा था, जिससे हर साल तीन-चार लाख बैठे-बिठाए मिल जाते थे। फिर अच्छी खेती होती थी और प्रति सैंकड़ा दस रुपए की दर पर पचासों हज़ार रुपए सूद पर चलते थे। सो अपने छोटे भाई से हार जाना उनके लिए चुल्लू भर पानी में डूब मरने के बराबर था। वह हर क्षण प्रतिशोध की आग में सुलगते रहते और नित नई साज़िशें रचा करते थे ताकि यदुवीर हर तरह से बर्बाद हो जाए।

लेकिन धन के नशे में उनका विवेक ग़ायब हो गया था, इसलिए वह जो भी दाँव चलते थे, उलटा पड़ जाता था। अब ऐसे वकील और समझदार लोग भी कहाँ हैं जो दोनों भाइयों में मेल-मुहब्बत कराने की सोचते। सबको लड़ने-लड़ाने में ही फ़ायदा दिखता है। लेकिन उस दिन कचहरी में उनके पुराने दोस्त हेमंत से उनकी भेंट हो गई। वह कलकत्ता हाईकोर्ट के नामी अधिवक्ता थे। दोनों मित्रों ने एक-दूसरे का हाल-समाचार लिया। अचानक हेमंत ने यदुवीर के संबंध में जिज्ञासा की तो रघुवीर आग-बबूला हो उठे, ''उस कमीने को तो मैं जेल भेज कर ही दम लूँगा। उसके जैसा नीच तो धरती पर

नंदकिशोर नंदन की रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : 'हरीतिमा' चौधराइन मंदिर मार्ग, नया टोला, मुज़फ़्फ़रपुर- 842601
फ़ोन : 0621-2246406

पैदा ही नहीं हुआ।'' हेमंत रघुवीर के मुँह से निकले वाक्य सुनकर स्तब्ध रह गए। उन्हें रघुवीर के प्रति यदुवीर की भक्ति याद आ गई। रघुवीर ने उन्हें मुक़द्दमे की पृष्ठभूमि और कारण बतलाए तो हेमंत ने रघुवीर को क़ानूनी पहलू बतलाते हुए समझाना चाहा, ''देखो रघुवीर! क़ानून की दृष्टि से तुम्हारा पक्ष कमज़ोर है। तुम हार जाओगे। अच्छा होगा, तुम आपस में मिल-बैठकर हल ढूँढ़ लो।''

''नहीं। तुम ग़लत कह रहे हो।'' रघुवीर जैसे आकाश से सीधे ज़मीन पर आ गिरे। आज तक किसी ने इस संभावना की ओर इशारा भी नहीं किया था।

''इतने वर्षों बाद तुम मिले, फिर मैं तुमसे ग़लत क्यों कहूँगा?'' हेमंत ने उसे फिर भी समझाने की कोशिश की, ''अगर तुम समझते हो, रुपयों के बल पर फ़ैसला ख़रीद लोगे तो कान खोलकर सुन लो। हर हाकिम बिकाऊ नहीं होते। मैं अब भी कहता हूँ, यदुवीर जैसा भाई बिरले मिलता है।''

यदुवीर की प्रशंसा सुनकर रघुवीर का पारा गर्म होने लगा। उन्होंने दोस्त के प्रति यह औपचारिकता भी नहीं निभाई कि चलते समय कहते, ''अच्छा चलता हूँ, फिर कभी मिलेंगे।''

वह अचानक दोस्त का साथ छोड़कर अलग हो गए। लेकिन दोस्त की बातों ने उनकी सारी अकड़ ही ढीली कर दी। घर लौटे तो उन्हें लगा जैसे सैकड़ों मील की निरर्थक यात्रा से लौटे हों, उनका शरीर ही नहीं, मन भी थकान और निराशा से टूट रहा था। हमेशा रोब बरसाने वाले पुलिसिया मूँछ वाले उनके चेहरे पर स्याही-सी पुत गई थी। पहुँचते ही पलंग पर जा गिरे। उन्होंने कुछ देर बाद बुझे-बुझे से स्वर में कहा, ''लक्ष्मी की माँ! अब मैं सोचता हूँ, यदुवीर से सुलह कर लूँ।''

''दिमाग़ तो नहीं फिर गया है आपका? इतना ही था तो भाई से लड़े ही क्यों? उसे गोद में बिठाकर रखते।'' पत्नी कमला हुँकार उठीं, ''बड़े होकर हम जाएँगे उससे सुलह करने? वह छोटा है तो उसे इतना गुमान!''

''आख़िर ग़लती तो हमारी ही थी।'' रघुवीर ने पत्नी के विरोध के बावजूद शांत स्वर में कहा, ''फिर इसमें बुराई भी क्या है? सोचकर देखो, यदुवीर ने तो बेटे से भी बढ़कर मेरा साथ दिया था। वह क़दम-क़दम पर मेरे साथ रहा, मेरे पाप-पुण्य, सबका भागी बना।''

''लगता है आप सठिया गए हैं। आप पंचायत का वह अपमान भूल गए?'' कमला ने एक सधे हुए राजनीतिज्ञ के समान निशाने पर तीर फेंका, ''आप मुखिया थे, भरी पंचायत में उसे आपकी पगड़ी उछालने की क्या ज़रूरत थी?''

''यदुवीर ने तो मुझे पाप का भागी होने से बचा लिया था।'' रघुवीर ने बारह-तेरह साल पहले की घटना याद करते हुए कहा, ''मैंने तो तुम्हें असली बात नहीं बतलाई थी। मुझे बटेसर और सुकेसरा की आपसी दुश्मनी की कोई जानकारी नहीं थी। बटेसर की बेटी फुलिया का कोई क़सूर नहीं था। वह तो जगन्नाथ ओझा के आवारा बेटे ने स्कूल से लौटती हुई फुलिया के साथ ज़बरदस्ती की थी। लेकिन सुकेसरा साले ने मुझे समझा दिया था कि बटेसर की बेटी ही बदचलन है। मैंने सोच-विचार किए बग़ैर बटेसर को दो सौ रुपयों का जुर्माना तजबीज कर हिदायत दे दी कि वह जल्दी से जल्दी बेटी की शादी करके उसे गाँव से भगाए। अब तक चुप बैठे यदुवीर से नहीं रहा गया। उसने उठकर पंचायत के सामने हिम्मत करके सच्चाई बतलाई, जिसका ज़्यादातर पंचों ने समर्थन किया। सारा गाँव जानता था कि जगन्नाथ ओझा का लड़का गाँव की प्रायः हर बहू-बेटी को आते-जाते छेड़ा करता है। इसलिए यदु ने तो मुझे नरक में गिरने से बचा लिया था। लेकिन मेरे ऊपर तो बड़ा होने का घमंड था, मैंने इसे अपना व्यक्तिगत अपमान समझ लिया था।''

''मतलब कि वह धर्मात्मा है और हमलोग पापी?'' कमला ने पति को फिर से घेरने की कोशिश में लगभग चीख़ते हुए कहा, ''वह तो ख़ुद छँटा हुआ बदमाश है। यदु की बहू ने मुझे ख़ुद बतलाया था कि उसके कई औरतों से ग़लत संबंध

।" कमला के इस वाक्य ने जैसे उसके कथन को विश्वसनीयता दे दी। रघुवीर सोचने लगे— न हो, यदु ने पंचायत में मेरा सिर नीचा करने के लिए ही फुलिया को निर्दोष बतलाया हो। फिर संदेह के बादल मँडराने लगे। पति के सोचने की मुद्रा से कमला ने समझ लिया कि उसकी बातों का असर हो रहा है। वह पति के पैर दबाने लगी। कुछ मिनटों के बाद उसने कहना शुरू किया, "यह मत समझिए कि मैं आपको भाई के ख़िलाफ़ उकसा रही हूँ। मैं इतनी बुरी नहीं हूँ। वह आपका अपना खून है, उसे आपसे अधिक कौन जानता होगा? और मैं ठहरी पराए घर की बेटी।" वह पैर दबाते-दबाते सिसकने लगी। स्त्री की रुलाई असली हो या नक़ली वह पति पर तत्काल असर करती है। उसने सिसकते हुए कहा, "आपको कुछ भी याद नहीं रहता। उस साल लीची के व्यापारियों से मिलकर उसी ने बीस हज़ार रुपए मार लिए थे और कह दिया था—इतने ही रुपयों पर बात तय हुई थी। वह तो हमें कंगाल बनाकर छोड़ देता।"

स्वभाव से शंकालु और क्रोधी रघुवीर अचानक उठ बैठे और क्रोध से जलते हुए स्वर में चीख़ उठे, "उस साले को तो मैं बर्बाद करके रख दूँगा! तुम बेकार आँसू बहाती हो। उसे अभी मेरा स्वभाव नहीं मालूम है।" कमला के आँसू भरे चेहरे पर अपनी सफलता से हल्की मुस्कुराहट फैल गई। एक ही माँ की कोख से पैदा हुए रघुवीर और यदुवीर के स्वभाव और चरित्र में इतनी असमानता लोगों को अकसर आश्चर्य में डाल देती थी। रघुवीर शुरू से स्वार्थी, पीड़क और शंकालु थे जबकि यदुवीर सरल, परोपकारी और श्रद्धाशील। रघुवीर की आज तक किसी से नहीं बनी, जो भी संपर्क में आया, उससे वह किसी-न-किसी बात पर ज़रूर लड़ जाते थे। यदुवीर जहाँ इंटर पास था, वहीं रघुवीर मैट्रिक भी पास न कर सके पर उन्हें सबसे अधिक जानने और क़ाबिल होने का गुमान था। यदुवीर की बंधुभक्ति अंधभक्ति थी, वह किसी रूप में भाई की निंदा सुनने को तैयार नहीं था। एक हद तक उसकी यह भक्ति एकपक्षीय भी थी। वह अपनी सरलता के कारण रघुवीर और भौजाई कमला के व्यवहार की औपचारिक आत्मीयता को ही सच्ची आत्मीयता समझ रहा था। उसके शुभचिंतक जब उसे बड़े भाई से सावधान रहने की सलाह देते तो वह नाराज़ हो उठता था। रघुवीर दिन को रात कहे तो रात और रात को दिन कहे तो दिन मानता था। हद तो उस दिन हुई जब यदुवीर की नवागता पत्नी आई तो उसने उससे पहले ही दिन कहा था, "मेरे जीवन में माँ और भैया के बाद ही किसी और का स्थान है, यह हमेशा याद रखना।" सच तो यह है कि रघुवीर उसके लिए भाई ही नहीं, उसके सर्वस्व थे। वह भैया को तनिक भी उदास देखता तो सहसा पूछ बैठता था, "भैया! आपकी तबीअत ठीक तो है?" वह अकसर भाई का चेहरा निहारा करता था। उनकी हर आज्ञा उसके लिए ईश्वरीय आदेश था। वह उनका काम करने के लिए अपनी सारी शक्ति झोंक देता था।

उस साल रघुवीर भयंकर कष्ट के शिकार हो गए थे। लगातार तंबाकू सेवन से उनके तालू में सूजन हो आई थी और वह असह्य पीड़ा से न सो पाते थे न जगे हुए में पल भर का चैन पाते थे। बड़ी यातनादायी स्थिति थी। भाई की असह्य वेदना से यदुवीर की चिंता बेचैनी का रूप ले चुकी थी। उसने भैया का दरभंगा, पटना और बनारस के बड़े-बड़े डॉक्टरों, हकीमों और वैद्यों से इलाज करवाया परंतु रोग ठीक नहीं हुआ। आख़िरकार वह उन्हें दिल्ली ले गया, जहाँ अखिल भारतीय आयुर्वेद संस्थान में तालू में बढ़ आए ट्यूमर के ऑपरेशन के दिन से लेकर महज तीन दिन तक ही पत्नी कमला वहाँ रही, फिर वह पति को छोड़ गाँव लौट गई। उसकी चिंता पति से अधिक ज़मीन-जायदाद और सूद से मिलने वाले, रुपयों की थी। यदुवीर अपने शरीर की सुध-बुध खोकर भाई की सेवा में ऐसे जुटा रहा कि कई दिन तो वह यह भी भूल गया कि उसने खाना खाया है या नहीं। जब डॉक्टरों ने उन्हें पूर्ण स्वस्थ और ख़तरे से बाहर घोषित किया तो उसकी जान में जान आई थी।

वह घटना आज भी यदुवीर को बहुत अधिक सालती है। सेमरा के इतवारी हाट में वह कुछ सामान ख़रीदने गया था। वहाँ उसकी अपने ग्रामीण साथी गजेंद्र और परमेश्वर चौधरी से भेंट हो गई। तीनों धनुकी साह की चाय-नाश्ते की दुकान पर चाय पीने बैठे तो गाँव-घर की राजनीति से शुरू होकर बात रघुवीर की हृदयहीनता पर आ पहुँची। अचानक तीनों में ज़ोर-ज़ोर से बातें होने लगीं, जिससे हाट के लोग भी इधर-उधर से आ गए।

''रघुवीर भाई की हम भी इज़्ज़त करते हैं मुदा सूद वसूलने में वह पठान से भी कठोर हैं।'' गजेंद्र ने सहज भाव से चर्चा चलने पर कहा।

''देखो, मेरे भईया के बारे में आगे कुछ कहोगे तो मुझसे बुरा कोई नहीं होगा।'' यदुवीर ने अपनी नाराज़गी ज़ाहिर करते हुए तेज़ स्वर में कहा।

''मैं क्या, सारा गाँव कहता है कि रघुवीर सिंह के दिल में दया नहीं है, वह सिर्फ़ पैसा देखता है।'' गजेंद्र को भी तैश आ गया। ''तुम किसको-किसको रोकोगे?''

''हद से बाहर जा रहे हो।'' यदुवीर ने जैसे अंतिम चेतावनी देते हुए कहा, ''तुम छोटे लोग मेरे भईया को क्या समझोगे?''

''तुम्हारे भईया के दिल में दया होती तो वह लक्ष्मण राम की मुसम्मात के सूद ज़रूर माफ़ कर देते। सारे गाँव ने आरज़ू-मिन्नत की कि बेचारा लक्ष्मण बस दुर्घटना में मर गया है, उसकी मुसम्मात को कोई देखने वाला नहीं है पर उसके मूल की कौन कहे, सूद का एक-एक पैसा वसूल कर लिया।'' अब तक चुप परमेश्वर चौधरी ने कहा, ''धन के लिए वह कुछ भी कर सकते हैं।''

अपने भाई का यह अपमान यदुवीर के लिए ज़हर पीने के समान था। उसने उछलकर परमेश्वर की गर्दन पकड़ ली और उसे पीटना शुरू कर दिया। साथी को पिटते हुए देखकर गजेंद्र ने यदुवीर को कसके पकड़ लिया। उसके मिल जाने से परमेश्वर की ताक़त बढ़ गई। दोनों ने जमकर यदुवीर की पिटाई की। किसी ने जाकर रघुवीर को यह ख़बर भी दी कि यदु भैया को गजेंद्र और परमेश्वर बुरी तरह पीट रहे हैं, पर रघुवीर स्थल पर नहीं पहुँचे। जब यदु का सिर फट गया तो दोनों पुलिस के डर से भाग गए। गाँव में यदु की पिटाई की घटना से जहाँ यदु के प्रति सहानुभूति थी कि बेचारा भला आदमी उस भाई के लिए पीटा गया, जो उसे कुछ नहीं समझता, वहीं रघुवीर के इस व्यवहार की आलोचना भी होने लगी कि वह भाई के बचाव में नहीं आया। इतने वर्षों बाद भी पुरवा चलने पर उस पिटाई की वजह से उसके जोड़ों में आज भी दर्द टीसने लगता है। लेकिन यह स्मृति उसे और अधिक विचलित कर देती है कि अन-बन होने पर घर से परिवार समेत निकाल दिए जाने के बाद वे ही गजेंद्र और परमेश्वर रघुवीर सिंह के नज़दीकी दोस्त बन गए हैं। जब यदुवीर ने पहली बार उसी हाट में रघुवीर भैया को उन दोनों के साथ हँस-हँसकर बातें करते हुए देख था तो वह मर्माहत हो उठा था। कई दिनों तक उसे नींद नहीं आई, वह गहरे मानसिक दबाव में बेचैन रहा था।

इन भाइयों के झगड़े और अलगाव की घटना भी कम अविश्वसनीय नहीं थी। यदुवीर के भतीजे 'धन बुरे रास्ते आया, बुरे रास्ते गया' की कहावत चरितार्थ करने वाले सपूत थे। तीनों भाइयों की अलग-अलग मोटरसाईकिलें थीं। सेमरा गाँव से दस किलोमीटर की दूरी पर मोतिहारी ज़िला था; वे अकसर वहीं अपना समय गुज़ारते थे और रात में नशे में धुत लौटते थे। बड़ा बेटा लक्ष्मीनारायण उस रात कुछ अधिक ही नशे में था। गाँव में बाँध की ऊबड़-खाबड़ सड़क पर उसका संतुलन बिगड़ गया और उसकी मोटर साईकिल से बाँध पर किनारे बैठकर साथी से बात करते हीरा पासी को ज़बरदस्त ठोकर लग गई। वह लहू-लुहान हो गया। उसके साथी मोहित ने विरोध जतलाया तो लक्ष्मीनारायण उसी पर हाथ छोड़ बैठा। फिर क्या था, हीरा की पत्नी बच्ची के साथ, दर्जनों पासी बाँध के नीचे बसे पासी टोले से भी आ पहुँचे। हो-हल्ला सुनकर बाँध के पूरब की निचली सड़क से जा रहा यदुवीर भी आ पहुँचा। भतीजे को तीन-चार थप्पड़ लग चुके थे। उसने अपने प्रभाव और मृदुल व्यवहार

लोगों को समझा-बुझाकर शांत किया। अपनी जेब से सौ रुपए प्राथमिक उपचार के लिए दिए और भतीजे को डाँटा-फटकारा। जब वह भतीजे को लेकर घर पहुँचा तो रघुवीर और भौजाई कमला का तेवर पहले से ही बदला हुआ था। जब से ज़मीन-जायदाद और लेन-देन का काम देखने के ख़याल से रघुवीर का साला आ गया था, पति-पत्नी दोनों यदुवीर और उसके परिवार से मुक्त होना चाह रहे थे। रघुवीर के दिमाग़ में उसके ख़िलाफ़ रात-दिन ज़हर भरा जा रहा था; अब वह बाहर छलकने के बिंदु पर पहुँच गया था। माँ-बाप को देखते ही लक्ष्मीनारायण बुक्का फाड़कर रोने लगा। उसने त्रिया-चरित्र का उदाहरण पेश करते हुए रास्ते में ही अपनी क़मीज़ फाड़ ली थी। कमला दौड़कर बेटे को कलेजे से लगाकर ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी, "किस अभागे ने मार-मारकर मेरे बेटे का यह हाल बना दिया? छठ माई उसको निर्वंश कर दें...।" लक्ष्मीनारायण ने जब देखा कि स्थिति उसके अनुकूल है तो उसने रो-रोकर कहना शुरू कर दिया, "मेरा कोई क़सूर नहीं था। चाचा ने ही मुझे घेरकर मारा-पीटा और पासियों के सामने आपको भी गालियाँ दीं।" अब तो जैसे सुलगती आग में घी पड़ गया।

"हद हो गई। बहुत निभाया। अब एक पल भी साथ रहने लायक़ नहीं है।" रघुवीर ने क्रोध से काँपते हुए कहा, "साँप भी कहीं ज़हर छोड़ता है? तुम लोग मेरा घर छोड़ दो।"

यह सुनकर यदुवीर सन्न रह गया। वह यह समझने में बिलकुल असमर्थ था कि ग़लती करनेवाले भतीजे को दंडित करके उसने कैसा अपराध किया है। वह भी रात-दिन की अपनी शिकायत-निंदा और आए दिन हो रहे कलह से ऊब गया था।

"भैया! मैंने लक्ष्मी को पासियों के ग़ुस्से से बचाने के लिए डाँटा और एक थप्पड़ लगाया था।" यदुवीर ने सच बतलाना चाहा पर रघुवीर और कमला ने तो कुछ और ही ठान रखा था। "अब बहुत हुआ भैया! मुझे कुछ नहीं सुनना-समझना। मेरा घर ख़ाली कर दो।" रघुवीर के शब्दों में अपनत्व का हज़ारवाँ हिस्सा भी शेष नहीं था।

घर के अंदर दरवाज़े की ओट से यदुवीर की पत्नी नयना सारा तमाशा देख रही थी। पति के अपमान से आहत उसका स्त्री-मन अंदर-ही-अंदर उमड़-घुमड़ रहा था। जहाँ पति की सरलता के कारण उसे घर में पीड़ित होते रहने की कसक सालती थी, वहीं उसे अपने पति के इंसान होने पर कम गर्व नहीं था। उसने अपने पति के बड़े भाई को हमेशा पिता के समान पूज्य समझा था, उनके सामने मुँह खोलना तो दूर उनके सामने खड़ी भी नहीं हुई थी, लेकिन आज घर से निकल जाने की बात ने उसे मुँह खोलने के लिए विवश कर दिया। "भैया जी की यही मर्जी है कि हम घर छोड़ दें तो हम घर ज़रूर छोड़ देंगे; मगर सवाल है कि यह घर केवल आपका ही है या इसमें हमारा भी हिस्सा है?" नयना ने प्रतिरोध को मुखर किया।

रघुवीर ने भावज की ऐसी तेज़ आवाज़ पहली बार सुनी थी। वह कुछ कहते, इससे पहले ही यदुवीर ने नयना को डाँट दिया, "हम भाइयों के बीच तुम क्यों पड़ती हो?" फिर उसने रघुवीर की तरफ़ डबडबाई आँखों से देखते हुए कहा, "इस रात में मैं पत्नी-बच्चों के साथ कहाँ जाऊँगा? सुबह होते ही घर छोड़ दूँगा।"

"कहाँ जाओगे, यह तुम जानो। लेकिन मेरा घर अभी इसी पल छोड़ दो।" कमला ने किसी क्रूर जमींदार के प्यादे के समान कठोर शब्दों में कहा तो यदुवीर ने भाई की तरफ़ उम्मीद भरी आँखों से देखा। लेकिन भाई ने तो पहले ही सिर झुका रखा था। वह भारी क़दमों से घर के अंदर गया। वह कुछ ही मिनटों के बाद अपनी पत्नी और दोनों बच्चों विवेक (दस वर्षीय) और मनीष (तीन वर्षीय) के साथ बाहर निकला तो मनीष ने तोतली वाणी में पूछा, "बाबू! हम कहाँ जा लहे हैं?"

यदुवीर ने उसे कोई उत्तर नहीं दिया। उसने बड़े भैया के चरण-स्पर्श किए पर कोई आशीर्वाद न मिला। यह जानकर कि वह अपनी भौजाई के भी चरण छुएगा, भौजाई पहले ही अंदर चली गई थी।

यदुवीर ने कोई सामान नहीं लिया, यहाँ तक कि कोई एक अतिरिक्त कपड़ा भी नहीं। वह धीरे-धीरे अपने घर से बाहर गाँव की चौमुहानी पर आया तो उसके पैर ठमक गए। पीछे उसकी पत्नी दोनों बच्चों के हाथ पकड़े सिसक रही थी। कृष्ण पक्ष की रात अपनी संपूर्ण कालिमा का विस्तार कर चुकी थी। चारों तरफ़ स्तब्धता छाई थी। केवल झींगुरों की आवाज़ें सन्नाटे में भयावहता भर रही थी। यदु ने असहायता अनुभव की—इस समय वह किसके घर जाए? दिन होता तो रिक्शा करके वह शहर किसी दोस्त के घर जाता। वहाँ कई ऐसे दोस्त हैं, जिनके घर कभी भी जाया जा सकता है। वैसे गाँव में भी तो शुभ-चिंतकों की कमी नहीं है, पर यहाँ किसी के घर जाने पर सुबह होते ही सारे गाँव में बात फैल जाएगी। फिर तो पूरे परिवार की थू-थू होने लगेगी। वह किंकर्तव्यविमूढ़ वहीं खड़ा रहा।

अँधेरे में शहर से काम करके लौटने वाले इक्के-दुक्के मज़दूर आ-जा रहे थे। सहसा साईकिल की घंटी बजी तो यदुवीर के चेहरे पर चमक आ गई और कोई नहीं, राजेश्वर भाई ही होंगे। वह तो उनकी साईकिल की आवाज़ तो क्या दस मील दूर से ही उन्हें अँधेरे में भी पहचान सकता है। राजेश्वर ने भी अपनी साईकिल रोक दी। उन्होंने पूछा, ''इस समय अँधेरे में परिवार के साथ? ख़ैरियत तो है?'' सारी कथा सुनने के बाद उन्होंने उसे ढाढ़स बँधाते हुए कहा, ''यह तो आज न कल होना ही था। जिसकी निगाह में धन ही सब कुछ हो, उससे कोई रिश्ता नहीं निभ सकता। ख़ैर मनाओ, जो तुम्हारा भ्रम टूटा वरना सारी ज़िंदगी इसी भ्रम में उसके पैरों तले पिसते रहते कि भाई-भौजाई बहुत मानते हैं। चलो, मेरा घर भी तुम्हारा ही घर है।''

राजेश्वर झा स्वभाव से अक्खड़, परोपकारी और गाँव भर में लाल झंडा उठाने वाले अकेले कामरेड। गाँव के भूमिपति उन्हें सनकी, पागल, गुंडा जाने क्या-क्या कहा करते थे मगर ग़रीबों में उनकी ख़ूब इज़्ज़त थी। किसी ग़रीब की बेटी का ब्याह हो, वह बढ़कर मदद करते थे। दुख-तकलीफ़ में तो वह अवतार के समान प्रगट होते थे। यदुवीर के स्वाभिमानी स्वभाव और अनिच्छा के बावजूद उन्होंने उसके परिवार को अपने परिवार की तरह अपने घर में इतने वर्षों से रखा है। लोग तो यहाँ तक कहने लगे कि अपना भाई जान का दुश्मन हो गया पर यह राजेश्वर तो भाई से भी बढ़कर है। दरअसल पारिवारिक संपत्ति के बराबर बँटवारे के लिए भी मुक़द्दमा यदुवीर ने उन्हीं के दबाव पर किया था। जहाँ कचहरी की दीवारें भी पैसे के लिए मुँहबाए हों, वहाँ सामान्य व्यक्ति के लिए मुक़दमा लड़ना आसान नहीं। रघुवीर जैसे सूदख़ोर धनी के लिए हर तारीख़ पर सौ-दो सौ रुपए ख़र्च कर देना बाएँ हाथ का खेल था पर यदुवीर के लिए दस-बीस भी ख़र्चना मुश्किल था। लेकिन इतने वर्षों से यह मुक़द्दमा राजेश्वर झा के बल पर ही चला आ रहा था। जब कभी यदुवीर हताशा में सुलह की सोचता, राजेश्वर उसे हिम्मत देते कि अन्यायी के सामने घुटने टेकना कायरता है।

इतने वर्षों की मुक़द्दमेबाज़ी ने रघुवीर को भले ही न तोड़ा हो पर घर में बेटों के कारण रात-दिन होनेवाले कलह से वह ऊब गए थे। साला था कि ज़मीन-जायदाद और लेन-देन के मामले में ख़ुद नफ़ा मारने लगा था। बेटे शराब और अन्य आदतों पर बेतहाशा रुपए फूँक रहे थे। बेटों की बदनामी ने उन्हें गाँव तक में निकलना मुश्किल कर दिया था। उन्हें महसूस होने लगा था कि भाई से विलगाने में पत्नी, गजेंद्र और परमेश्वर जैसे कुटिलों का ही हाथ है। अब उन्हें रह-रहकर यदुवीर याद आने लगा। वह कभी-कभी यह भी सोचने लगे, क्यों नहीं, पंचों के बीच बैठकर संपत्ति आपस में बराबर-बराबर बाँट ले। आख़िरकार हम दोनों तो एक ही माँ-बाप की संतानें हैं। लेकिन वह जब कभी अपनी यह सोच सामने रखते, कुछ लोग विशेषकर कमल दीवार बन जाती थी।

यदुवीर वकील की बात सुनकर बिलकुल घबरा गया। मुक़द्दमा फ़ैसले पर चला गया है। उसने तो पूरी मेहनत और ईमानदारी से तहरीर से तक़रीर तक को अंजाम दिया है मगर तदवीर भी ज़रूरी

तदवीर का मतलब है—हाकिम की पूजा। के लिए कम-से-कम दस हज़ार रुपए चाहिए। उसने अब तक मुक़द्दमे में पत्नी के गहने भी बंधक रखकर रुपए लिए और ख़र्च किए, पर सूद भी न पाया, जिससे राशि बढ़ती और अंततः गहने महाजन के ही घर डूब गए। उसने गाँव से शहर तक अपने एक-एक मित्र पर नज़र दौड़ाई पर किसी में एक बार इतने रुपए देने की क्षमता न थी। उसे भी कई मित्र उससे मुँह भी फेरने लगे थे। वह 'क्या करे क्या न करे' इसी उधेड़-बुन में बेचैन रहने लगा। मुक़द्दमे के फ़ैसले की तारीख़ नज़दीक आने लगी तो वह हताशा के चरम बिंदु पर पहुँच गया। उसने हारकर यह तय किया कि वह बड़े भैया के पास ही जाएगा। वह उन्हीं से पहले विनती करेगा कि वह अपनी इच्छा से संपत्ति बाँटकर दे दें। राज़ी न होने पर उनसे ही दस हज़ार रुपए माँगेगा। उसके इस निर्णय पर पत्नी नयना ने रोका, "राजेश्वर बाबू को कलकत्ता से आने दीजिए। उनसे भी विचार करें, कोई रास्ता वही सुझाएँगे।" लेकिन हताश यदुवीर उनकी प्रतीक्षा के लिए तैयार न हुआ।

पौ फट चुकी थी। किसान कंधे पर हल लिए अपने-अपने खेतों की ओर जा रहे थे। यदुवीर को देखकर कइयों ने उसे प्रणाम किया और पूछा भी, "सुबह-सुबह कहाँ जा रहे हैं यदु भैया?" वह प्रणाम का प्रणाम से उत्तर देकर आगे बढ़ता गया। कुछ मिनटों के बाद वह अपने उसी घर के सामने था, जहाँ उसने बड़े भाई के साथ जन्म लिया था, पला-बढ़ा था, एक साथ सुख-दुख व्यतीत किए थे। उसने देखा—सामने कुएँ की जगत पर खड़े बड़े भैया सूर्य को जल दे रहे हैं। कुएँ के पास उसके द्वारा रोपा गया आँवले का पौधा बड़े वृक्ष का आकार ले चुका है और उसकी डालियाँ फलों से लद गई हैं। उसे अंदर-ही-अंदर ख़ुशी हुई। उसने सोचा, वह तेज़ी से भैया के पास जाकर उनके चरण छुए पर उसे ख़याल आया, भैया तो उससे इतने नाराज़ हैं कि जेल तक भेजने और बर्बाद करने की क़समें खाए बैठे हैं। उसे साहस नहीं हुआ, उसके पैरों में मानो पत्थर बँध गए। तभी जल देने के बाद रघुवीर की नज़र उस पर चली गई। ऊँचे पर्वतों से गिरकर बहनेवाली वेगवती धाराओं के समान उनके हृदय में किशोरावस्था का भ्रातृत्व उमड़ पड़ा। वर्षों से उनके कान-मन-प्राण 'भैया' शब्द सुनने के लिए व्याकुल और अधीर थे। इच्छा हुई, वह ख़ुद दौड़कर उसे अपने गले लगा लें, "कहाँ छोड़कर चला गया था अपने भाई को पगले। देख क्या हाल हो गया है हम भाइयों का?" तभी उनके बड़े होने, धनी होने का अहसास सिर उठाने लगा। भाई है तो क्या? है तो वह छोटा ही। वह फिर आँखें बंद करके मंत्रोच्चार करने लगे मानो उन्होंने उसे देखा ही न हो।

उधर यदुवीर भैया के आतंक के नीचे दबा हुआ खड़ा था। क्या जाने वह मुँह खोलते ही उस पर टूट पड़ें? बहुत होगा, दो-चार थप्पड़ मारेंगे ही न। आख़िर बड़े भाई ठहरे। उसने स्वयं को तैयार किया। कुछ मिनटों की संवादहीनता के बीच जाने किस अंत:प्रेरणा से उसके मुँह से सहसा 'भैया' शब्द निकल ही गया। कोर्ट में सैकड़ों बार हुई बहसों और तर्क-वितर्कों में वह शक्ति न थी, जो हृदय से निकले इन दो अक्षरों से बने शब्द में थी। आँखें बंद किए रघुवीर का सारा अस्तित्व 'भैया' शब्द ने हिलाकर रख दिया। वह त्वरित गति से यदुवीर की तरफ़ झपटे और उससे लिपटकर बच्चों की मानिंद रोने लगे। आँसुओं की वेगवती धारा में जैसे सारी घृणा, सारी दुश्मनी बह-बहकर गलने लगी। यदुवीर भी रोने लगा। दोनों बच्चों के समान बिलख रहे थे पर उनके रोदन में हृदय का सच्चा हाहाकार व्यक्त हो रहा था। यदुवीर को मुक़द्दमे की याद आई तो वह डरते-डरते बोला, "भैया, मुक़द्दमे में...।" वाक्य पूरा हो भी न पाया कि रघुवीर ने रोते हुए कहा, "अब कैसा मुक़द्दमा? मैं हार गया यदु! फिर भाइयों के बीच कैसी हार-जीत?" वह दौड़कर घर के अंदर गए। लौटे तो उनके हाथ में मुक़द्दमे की फ़ाइल थी। उन्होंने सारे दस्तावेज़ों के टुकड़े-टुकड़े कर दिए।

विनोद साव

चालीस साल की लड़की

इलाक़ा बहुत साफ़-सुथरा था। जहाँ एक ओर से आती हुई ढलान ख़त्म हुई थी वहाँ एक तिगड्डा बनता था। ढलान की ओर से आती हुई सड़क सीधे कुछ साफ़-सुथरी नई बसी हुई कॉलोनियों की ओर चली गई थीं। तिगड्डे को अंग्रेज़ी के टी अक्षर-सा आकार देती जो बीच वाली तीसरी सड़क थी वह सरकारी ईमारतों और उसमें नए बने विभागों व मंत्रालयों की ओर निकलती थी। इस तीसरी सड़क के बीचों-बीच पार्टीशन था जिससे आने और जाने के अलग-अलग रास्ते नियत थे। उसने एक साफ़-सुथरी सड़क पार की और बाईं ओर की सड़क में आकर वह चलने लगा था।

थोड़ी देर पहले रेडियो पर अपनी रिकॉर्डिंग करवा लेने के बाद प्रोग्राम एक्ज़ीक्यूटिव के कमरे में रखे फ़ोन से उसने बात करनी चाही थी। कंप्यूटर पर काम कर रहे एक नौजवान से उसने पूछा था, ''मैं यहाँ से फ़ोन कर सकता हूँ?'' नौजवान ने कहा, ''हाँ...लेकिन पहले ज़ीरो डायल कर लीजिए।'' उसने वैसा ही किया। डायल टोन आ जाने के बाद उसने मनचाहा नंबर घुमा दिया था जो किसी के मोबाइल का था।

''हैलो...'' उस ओर संध्या की आवाज़ थी जो बड़े धीरे-से आई। यह शाम तक काम करने वाले किसी कर्मचारी की थकी-थकी आवाज़ जैसी थी।

''मैं हुलाश बोल रहा हूँ।'' उसने भी धीरे से कहा ताकि कंप्यूटर पर काम करता वह नौजवान सुन न सके। उस ओर थोड़ी देर सन्नाटा रहा जैसे वह बोलने वाले के नाम को पकड़ने की कोशिश कर रही हो। उसकी प्रौढ़ता में नौजवानों जैसी चहक पैदा हुई जो उसकी आवाज़ को पहचान जाने का प्रमाण थी, ''थोड़ा वक़्त मुझे और लगेगा।'' उस ओर से आवाज़ आई।

''मुझे लौटना भी है। जल्दी मिल जाएँगी तो देर तक बातें करेंगे।'' हुलाश सोचता रहा कि 'देर तक' शब्द उसे बोलना था या नहीं!

''देर तक बातें करेंगे!'' उस ओर से हँसीमिश्रित आवाज़ खनकी, तब लगा कि उसने कोई धृष्टता नहीं की है। फिर आवाज़ आई, ''मुझे डेढ़ घंटा तो लग ही जाएगा। आपको पता तो है ना...कहाँ आना है?''

विनोद साव की रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : मुक्तनगर, दुर्ग, छत्तीसगढ़-491001
मो. 9301148626

बस...यही कारण था उसके सड़क में आ जाने और सड़क की बाईं ओर पैदल चलने का। ...के पास डेढ़ घंटे का समय था। अब छह से ...ले क्या मुलाक़ात होगी। उसने सड़क पर आती एक बस को सिटी बस समझकर रोकने की ...शिश की पर वह नहीं रुकी। वह शायद कोई ...क बस थी। बस के नहीं रुकने से उसने अपना ...र्णय भी बदल दिया कि अब बस से उसे नहीं ...ना है। किसी रिक्शे से भी नहीं। इस तरह के ...तिबंधित क्षेत्र में कोई रिक्शा दिखता नहीं। लेकिन ...ख जाए तो भी नहीं जाना है।

अब वह सड़क की बाईं ओर बने फ़ुटपाथ ...र चलने लगा। शहर उसका जाना-पहचाना था। ...ह अकसर यहाँ आता रहता है। फिर भी अपने ...तर शहर को लेकर एक अजनबीपन उसने ...नाए रखा ताकि शहर उसे नया-नया-सा लगे ...र उसके भीतर लंबे समय तक पैदल चलने ...ा हौसला बना रहे।

अब वह चलते समय शहर को किसी नए ...साफ़िर की तरह देखने लगा। सड़क, फ़ुटपाथ, ...ते-जाते वाहनों, बीच में आने वाले चौराहों, ...गीचों, उनमें लगे फ़व्वारों और हर क़िस्म की ...रकारी ईमारतों को वह बड़े कौतूहल से देखने ...ा उपक्रम करने लगा। विभागों और मंत्रालय ...वनों के बाहर लगे उनके नामों को पढ़ते हुए ...ह चलने लगा। किसी प्रकार की निर्देश पट्टिका ...हाँ टँगी होती तो उनमें से कुछ को वह पढ़ लेता ...ा।

अपने कंधे पर लटके हुए बैग से उसने सिगरेट ...ा पैकेट निकाला और एक छोटी चपटी माचिस ...पनी चैक शर्ट की जेब से निकालकर सिगरेट ...ुलगा ली। इस तरह सिगरेट पीते हुए चलते समय ...ैंतालीस पार हो चुकी अपनी प्रौढ़ उम्र में वह ...पने को युवा महसूस करने लगा। ऐसा सोचते ...ी वह कोई गीत भी गुनगुना लेता था या अपने ...ोंठ गोल करते हुए उसकी धुन में थोड़ी सीटी बजा लेता था।

उसे यह अच्छा लगा कि इस थोड़े महानगरीय तेवर वाले शहर में रास्ते में कोई पहचानता नहीं और वह पूरी उन्मुक्तता से चला जा रहा है, अपने में खोया और संध्या के बारे में सोचता हुआ। अन्यथा अपने क़सबाई शहर में यह आज़ादी कहाँ। अपने शहर में पैदा होकर न जवान होने का मज़ा है न प्रौढ़ होने का। न जवानी की आज़ादी मिलती है न प्रौढ़ होने पर सम्मान। वहाँ तो सड़क पर एक सिगरेट जलाने से पहले भी सोचना पड़ता है कि कोई बुज़ुर्ग डाँट न दे यह पूछते हुए कि तुम किसके लड़के हो?

सामने लाल रंग से पुती एक दीवार थी जो राजभवन का पिछवाड़ा था। यहाँ बने एक प्रवेश द्वार को गेट नं. 4 कहा गया था। दीवार पर निर्देश की एक तख़्ती लगी थी जिसमें महामहिम से मिलने वालों को गेट नं. 1 में संपर्क करने को कहा गया था। प्रवेश द्वार के ऊपर एक टॉवर था जिसमें एक बंदूक़धारी तैनात था। वह प्रवेश द्वार के पीछे वाली सड़क पर चल रहे राहगीरों को बड़ी मुश्तैदी और संशय से देख रहा था। शायद इतनी ही उसकी ड्यूटी थी।

उसे लगा कि महामहिम से मिलने वालों की तरह उसने संध्या से आज का अपॉइंटमेंट ले रखा है शाम को छह बजे का, देर तक बातें करने के लिए।

दस साल हो गए संध्या को देखे। वह जहाँ भी रही, फ़ोन पर उससे बातें होती रहीं पर रु-ब-रु हुए सालों हो गए। वैसे भी उससे जब भी मुलाक़ात होती है वह दस-दस सालों के अंतराल में होती है। बीस साल की उम्र में वे पहली बार मिले थे। फिर तीस की उम्र में और अब दोनों चालीस पार हो जाने के बाद मिलेंगे। उसने एक बार फ़ोन पर कहा था, ''इस हिसाब से अब वे अर्द्धशती में मिलेंगे फिर होगी उनकी भेंट षष्ठिपूर्ति के बाद।'' वह एकदम खिलखिला पड़ी थी जैसे पिछले दस सालों से वह हँसी ही नहीं हो। शायद इतनी कम मुलाक़ातों के कारण वे एक-दूसरे से

अब तक 'आप' कहकर बातें करते हैं और कभी एक-दूसरे को नाम से संबोधित नहीं करते हैं।

कोई है उसके साथ। वह अकेला नहीं है। उसे लगा कि चलते समय जब हम किसी के बारे में सोचते हैं तो वह हमारे साथ हो जाता है। जैसे वह सड़क की बाईं ओर चल रहा है। कोई चल रहा है उसके भी बाईं ओर। साड़ी के भीतर एक छोटा क़द वाला भरा-भरा जिस्म है। चौड़ा माथा जिस पर छोटी काली बिंदी है। बिंदी के नीचे उसकी हल्की-सी उठी हुई नाक है। शायद उठी हुई नाक के कारण चेहरा थोड़ी मासूमियत व रोमानीपन से भरा लगता है।

उठी हुई नाक वाली लड़कियाँ उसे अच्छी लगती हैं। ज़्यादातर इस तरह की लड़कियाँ दिखने में संध्या जैसी ही होती हैं। छोटे क़द में भरा-भरा शरीर, चौड़ा चेहरा और उठी हुई नाक। जैसे संध्या जैसी लड़की बनाने का यही फ़ॉर्मूला हो।

वह चलते समय बाईं ओर देख लेता है तब उसे संध्या का चेहरा दिखता है। उसके साथ वह उन सुरों में बात करता है जिसे केवल वह सुन सकती है रास्ते में चलने वाला कोई और नहीं। जैसे फ़ोन पर बात करते समय उसकी आवाज़ को संध्या ने सुना था, वहाँ कंप्यूटर पर काम कर रहे नौजवान ने नहीं।

वह जब भी उसकी ओर देखता है तो क़द छोटा होने के कारण उसे अपना सिर उठाकर उसकी ओर देखना पड़ता है। उसे अपने मुक़ाबले उसके क़द का छोटा होना सुविधाजनक लगता है। देखता है तो उसे लगता है कि वह उसे निरंतर देखती हुई चल रही है। जैसे उसका चेहरा स्थायी रूप से मुड़ा हुआ है हल्की मुस्कान के साथ।

हुलाश को लगता है कि वे दोनों बातें करते चले जा रहे हैं। यह उसे तब पता चलता है जब चलते हुए वह उसके चेहरे पर कई प्रकार के भावों को देखता है। यह भाव संध्या के बोलने का भाव नहीं है यह उसके सुनने का भाव है। वह लगातार सुन रही है और केवल सुन रही है बोल नहीं रही है। जैसे उसे बोलने की चाह नहीं केवल सुनने की चाह है। लगातार केवल वह बोल रहा है और जब संध्या के बोलने की बारी आती है तब वह हिंदी माध्यम के स्कूल से पढ़ी किसी लड़की की तरह चुप हो जाती है। बस मुस्कुरा कर रह जाती है। उसकी इस मुस्कुराहट में उसे अपने पूरे सुने जाने और बातों को समझ लिए जाने के भाव स्पष्ट हैं।

मोटर गाड़ियों का हॉर्न और कोलाहल उसे सुनाई दिया। वह एक म्यूज़ियम के पास पहुँच गया था। थोड़ी दूर में हाईवे था। यह प्रतिबंधित क्षेत्र जहाँ ख़त्म हो रहा था वहाँ फ़ुटपाथ पर चाय का एक ठेला था। वह लगभग दो किलोमीटर चल चुका था और अब किलोमीटर भर की दूरी शेष थी। उसका रक्तचाप उसे सामान्य लगा। वह रोज़ आधी गोली सवेरे खा लिया करता है। डॉक्टर ने उसे रोज़ दो-तीन किलोमीटर चलने को कहा है। आज भी उसने डॉक्टर की नसीहत मान ली थी।

चाय के ठेले पर उसने बिना दूधवाली लेमन-टी देखी तो उसे ही उसने माँग लिया। काँच के गिलास में काले रंग की लेमन-टी पीना उसे वैसे ही लगता है जैसे वह 'रम' पी रहा हो। अपने रक्तचाप को सामान्य मानकर उसने दूसरी सिगरेट सुलगा ली थी जिसे दाएँ हाथ की दो उँगलियों के एकदम सामने फाँसकर वह इस तरह कश मारने लगा कि ठेले वाले ने कहा, "वाह! क्या स्टाइल है साब...आपके सिगरेट पीने का!" उसे अच्छा लगा यह सुनकर कि किसी मामले में वह थोड़ा हटकर तो है। वह सिगरेट पीने का उसका अपना ख़ास अंदाज़ था उसकी किसी अप्रकाशित, अप्रसारित और मौलिक रचना की तरह।

डेढ़ घंटे में से एक घंटे का समय उसने निकाल लिया था। बिताए हुए एक घंटे का उसे पता ही नहीं चला। वह आश्वस्त था, जितनी दूरी शेष है उसे वह आधे घंटे में तय कर लेगा।

ठेले के पास फ़ुटपाथ पर सिगरेट पीने तक खड़े होकर उसने हाईवे को देखा जिस पर ट्रैफ़िक का दबाव बढ़ता जा रहा है। यह इस शहर का लगभग केंद्र स्थल है। कई ओर से आती सड़कों का एक संगम स्थल जहाँ टॉवर पर एक बड़ी घड़ी लगी हुई है। इस कारण यह घड़ी चौक के नाम से जाना जाता है। जैसे-जैसे शाम हो रही है ट्रैफ़िक बढ़ता जा रहा है। जैसे शाम का ट्रैफ़िक से कोई गहरा ताल्लुक़ हो। इस शाम का ख़ुद उससे भी कोई गहरा ताल्लुक़ है। उसने टॉवर में लगी घड़ी की ओर देखा यह जानने के लिए कि शाम के छह बजने में अब कितना समय बाक़ी रह गया हैं।

प्रतिबंधित क्षेत्र ख़त्म हो गया था। शाम हो चुकी थी। भरी दोपहरी का वैधव्य जा चुका था और सुहागन संध्या अपने पूरे शबाब पर आने को थी। यह शहर भी नई-नई राजधानी बना है। किसी नई ब्याहता की तरह उसका भी यौवन अपने उफान पर है। जूनो लाइट की सफ़ेद रोशनी से सड़कों में ऐसी जगमगाहट थी जैसे कोई दुल्हन संपूर्ण श्रृंगार किए बैठी हो। ऐसे में उसकी आतुरता बढ़ती जा रही थी। उसने हाईवे को छोड़कर कोई छोटा रास्ता निकाल लिया था। हल्की थकान के बाद भी उसके क़दम तेज़ हो चले थे।

हाईवे के इस पार एक अलग दुनिया थी भीड़भाड़ वाली, जहाँ टेढ़ी-मेढ़ी गलियाँ थीं। इनमें आते-जाते रिक्शे, ताँगे और ठेले थे। जिनके गुज़रते समय किसी मकान की दीवार से सटकर चलना होता है। कई बार ऐसा हो जाता है जब किसी शहर की मुख्य सड़क दो सभ्यताओं के बीच विभाजक का काम करती है। एक तरफ़ पॉश इलाक़ा होता है तो दूसरी तरफ़ झुग्गी-झोंपड़ी। पॉश इलाक़े के अनजानेपन से यह दुनिया भिन्न और आत्मीय लगती है। यहाँ चलते हुए उसे ज़मीनी आदमी होने का अहसास हो रहा था जो साहित्य को अतिरिक्त गरिमा देता है। यह सोचकर वह मुस्कुरा उठा।

अब उसकी मंज़िल क़रीब थी। रेलवे लाइन की पटरियाँ दिखने लगी थीं। यही पता संध्या ने दिया था। रेलवे फाटक के क़रीब। पटरी के किनारे पेशाब करते लोग खड़े थे। उसे भी लगी थी। तीन किलोमीटर वह चल चुका था। फिर संध्या के घर में पता नहीं कितनी देर वह बैठेगा और वहाँ ऐसा करने में उसे संकोच होगा। पटरी के किनारे वह भी लाइन में लग गया। अब वह पहले से ज़्यादा सुविधाजनक महसूस करने लगा था।

ड्रॉइंगरूम छोटा लेकिन व्यवस्थित था। सामने किसी बुज़ुर्ग का क्लोज़अप लगा हुआ था। चित्र में वे सौम्य लग रहे थे और उनके सिर के बाल कम थे। कुर्ते के ऊपर अपनी हाफ़ काली जैकेट में वे कोई परिचित राजनेता लग रहे थे।

हुलाश एक सोफ़े पर पसर गया था। शरीर को भरपूर आराम देने का सुख वह प्राप्त कर रहा था। उसके सामने दीवार में बने अलमारी पर टेराकोटा की कुछ मूर्तियाँ थीं। वहाँ ग्रीटिंगकार्डों को एक धागे में गूँथकर झालर की तरह डाल दिया गया था। शायद यह किसी बच्ची का शौक़ हो। वह यह सब देखते हुए बीच में अपनी आँखें बंद कर लेता था। आराम चाहने के साथ वह धैर्यविहीन भी होता जा रहा था।

''पानी'' किसी का स्वर गूँजा। सामने एक किशोर उम्र की सेविका थी। उसने पानी का गिलास लेकर थोड़ा पिया, फिर उसे दो सोफ़ों के बीच रखे स्टूल में रख दिया। गिलास रखते समय स्टूल पर रखी पत्रिका उसने उठा ली। वह तलाक़ विशेषांक थी जिसके मुखपृष्ठ पर अर्द्धवस्त्रों में लिपटे पुरुष और स्त्री की अलग-अलग खाटें थीं। यह विरक्ति लाने वाला चित्र था। किसी भी मिलन में बाधक होने वाला। उसने पत्रिका पलटकर यथास्थान रख दी।

''नमस्ते'' की हल्की आवाज़ आई। सामने एक भरी-पूरी महिला थी जो हरे रंग के सलवार कुर्ते में दुपट्टा डाले खड़ी थी।

''मैं हुलाश!''

''मैं पहचान गई! आप मुझे भी पहचान गए होंगे।'' थोड़ा रुककर उसने कहा।

''पर हम कहीं और मिले होते तो एक-दूसरे को शायद...''

''नहीं पहचान पाते।'' वह हँस पड़ीं। ''अपॉइंटमेंट लेने से यह फ़ायदा है कि हम जिनसे मिलने जाते हैं उन्हें पहचान लेते हैं।''

''और कैसे, कहाँ हैं आजकल?'' उसने औपचारिक सवाल किया जो लंबे समय बाद मिलते समय अकसर किए जाते हैं।

''मैंने तो एक स्टील प्लांट में अपनी नौकरी शुरू कर ली थी।'' उसने कहा, ''और आप भोपाल से कब लौटीं?''

''तीन महीने हो गए।''

''अब तो और भी ख़ूबसूरत हो गया है भोपाल।'' जैसे वह भोपाल की नहीं संध्या की बात छेड़ रहा हो।

''बहुत ख़ूबसूरत...हाँ...और मैंने उसे मिस किया।'' उसने ठंडी साँस भरी जैसे ज़िंदगी में केवल ख़ूबसूरत होना ही कोई योग्यता नहीं है प्रारब्ध पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है।

वे दोनों बातें करते हुए बीच में चुप हो जाते। जैसे उनके चुप होने की भूमिका हो। हुलाश को लगा कि जब कोई दूर होता है तो अपने बहुत क़रीब होता है और जब वही इंसान क़रीब हो जाता है तो अपने से दूर चला जाता है। दूर पास के इस खेल को ख़त्म करने की कोशिश उन्हें करनी थी। ''यह चित्र?'' उसने पूछा।

''पिताजी का है...जब पार्लियामेंट्री सेक्रेटरी थे...आप जानते तो होंगे।'' उसने आश्वस्त होकर देखा।

''हाँ...मैं इन्हें जानता हूँ पर आप इनकी बेटी हैं...यह नहीं जानता था।''

''अरे...!''

''आपकी समृद्ध पृष्ठभूमि है।'' हुलाश के मुँह से निकला, यह सुनकर उसने निर्निमेष दृष्टि से देखा। थोड़ी देर फिर चुप्पी रही।

''आप आए किससे हैं।'' उसने चुप्पी तोड़ी।

''पैदल।''

''अरे! अपने शहर से यहाँ तक पैदल?'' हँसने की आवाज़ आई।

''ओह! नहीं...बस से आया हूँ। फिर...यहाँ आकर पैदल आया।'' उसने हड़बड़ी में कहा। इस तरह की हड़बड़ाहट अकसर अपनी हमउम्र महिला के सामने हो जाती है...और तब जब महिला ख़ूबसूरत हो। ख़ूबसूरत स्त्री के साथ बात करने के अपने अलग तनाव होते हैं। उसने सोचा।

उसकी दशा देखकर संध्या के चेहरे पर मुस्कान बनी रही। तब उसने कहा, ''पहले मोटरसाईकिल से यहाँ आ जाता था। जब से रीढ़ की हड्डी में दर्द हुआ है...बस से आता जाता हूँ।''

"तब यहाँ आकर इतनी दूर पैदल क्यों ...रिक्शे में आ गए होते?" उसने तीसरा ...चारिक सवाल किया।

"आपने समय ही डेढ़ घंटे बाद का दिया था। ...यह समय आप तक पैदल पहुँचकर ...या।" उसने कहा।

"रिक्शे से आकर जल्दी पहुँचकर यहाँ बैठ ...जाते। मैंने घर में आपके आने की सूचना दे ...थी।" उसने लगातार औपचारिकताएँ बरतीं ...उसे लगा कि यह शायद हर महिला के किसी ...रुष से बातचीत करने से पहले की भूमिका होती ...जैसे किसी साहित्यिक गोष्ठी की शुरुआत के ...ए आधार वक्तव्य होते हैं।

"अपने शहर को छोड़कर दूसरे शहर में पैदल ...लना अच्छा लगता है। जैसे कोई लंबी कहानी ...खी जा रही हो...और किसी लंबी कहानी को ...ढ़ते समय पैदल चलने का भान होता है।" ...लाश को लगा कि औपचारिकताओं को ...यासपूर्वक ख़त्म करते हुए अब उन्हें सहज होना ...हिए।

"क्या आज भी कोई कहानी बनती है?" ...सने हुलाश की ओर देखा।

"हाँ...बनती है लेकिन आपका सहारा लेना ...गा।" उसने सहारा शब्द पर ज़ोर दिया।

"सहारा!" इस शब्द पर उसने भी ज़ोर दिया। ...फर थोड़ी हँसी। मानों इस शब्द में कहीं उसकी ...अहमियत छिपी हुई है। "मैं आती हूँ।" वह ...उठकर अंदर चली गई एक कुँआरी लड़की की ...तरह सीधे सपाट ढंग से। उसे लगा जिन लड़कियों ...की शादी नहीं हो पाती वे प्रौढ़ हो जाने पर भी ...लड़कियाँ ही लगती हैं। उनका हाव-भाव गृहस्थ ...या दांपत्य जीवन जीने वाली नारी के समान जीवंत ...नहीं लगता। वे हर पल इस तरह जी रही होती हैं ...जैसे जीवन में कहीं रिक्तता है और वे उसे भरने ...की चाह या न भर पाने की विवशता के बीच ...कहीं खड़ी हैं।

संध्या ने बिना पुरुष के जीवन जीने का निर्णय लिया था। इसे क्रांतिकारी क़दम मानकर। शायद यह उस दौर में उपजी नारी स्वाधीनता की लहर का प्रभाव था। ख़ुद के दम पर एक अलग पहचान बनाने और दुनिया को दिखा देने की चाहत लिए। उसने सोचा।

इस मामले में वह कुछ नहीं कर सकता था क्योंकि संध्या न उसकी पत्नी है न कभी उसकी प्रेयसी रही। उसके साथ उसके संबंध केवल साहित्यिक हैं। वह ख़ुद तो लेखक है और संध्या शुरू से ही राज्य शासन के प्रकाशन विभाग में रही है। इस विभाग से निकलने वाली पत्रिका के संपादन मंडल में उसका नाम वह देखता रहा है—संध्या चंद्रवंशी। मानो यह नाम संपादन मंडल में रखे जाने के लिए ही बना हो। उसकी पत्रिका के लिए वह अपने व्यंग्य और कहानियाँ भेजता रहा है। जिसे वह छापती रही है। यह सब इसलिए क्योंकि वह उसके लेखन और विचारों से हमेशा प्रभावित रही। लेकिन इस वैचारिक साम्य ने उनके भीतर तरलता पैदा की थी। उनके संबंधों को साहित्येत्तर भी बनाया है। वे अलग और दूर होते हुए एक-दूसरे के प्रति आसक्त रहे हैं। कभी वह सोच लेता है "अगर संध्या मेरी पत्नी होती तो?"

"लीजिए।" एक ठंडी और नरम आवाज़ आई। उसके सामने चालीस साल की एक लड़की खड़ी थी जो साड़ी में नहीं सलवार सूट में थी। कुछ झड़ आए बालों के कारण और भी चौड़ा हुआ माथा, माथे पर वही छोटी काली बिंदी और बिंदी के ठीक नीचे उठी हुई नाक। माथे के दाहिने हिस्से में लटकती हुई एक जुल्फ़। यह संध्या थी जिसे उसने आज ज़्यादा गौर से देखा, पूरे दस साल बाद।

दोनों सोफ़ों के बीच रखे स्टूल पर रखी पत्रिकाओं को उसने उठाया और उस पर नाश्ते की ट्रे रख दी। उसके चेहरे पर किसी समर्पित स्त्री के भाव थे जो किसी पुरुष के सान्निध्य से आ जाते हैं। ट्रे में गजक और ढोकला था। एक

केतली में चाय थी। संध्या ने ढोकले की प्लेट उठाई और कहा, "लीजिए।"

"ये सब चीज़ें मुझे बहुत अच्छी लगती हैं और भूख भी लगी है।" उसने हाथ उठाया, प्लेट से लेते समय उसकी उँगली उन नर्म उँगलियों से छू गई थी। उसके भीतर झनझनाहट हुई जैसे इस छूअन की उसे बरसों से प्रतीक्षा थी। शायद संध्या को भी, उसने सोचा।

"आप! आप भी लीजिए ना..." उसने संध्या की तरह औपचारिकता बरती।

"मैंने ऑफ़िस में लंच लिया है। अभी कुछ नहीं ले पाऊँगी।" उसने उसकी प्लेट पर सॉस डालते हुए कहा। उसे परोसते समय उसके चेहरे पर एक अलग क़िस्म के अहसास का भाव था।

"आप दूसरों को तो छापती रहती हैं। आपने ख़ुद अपना कोई संग्रह निकलवाया?" उसने गजक का एक टुकड़ा उठाते हुए पूछा।

"कहाँ निकलवा पाई देखो ना...वक़्त कैसे निकल जाता है!" उसने वक़्त को अपना संग्रह न दे पाने पर जैसे खेद व्यक्त किया।

"लेकिन कुछ तो कोशिश होनी चाहिए।" अपनी चार छह किताबों के छप जाने के दर्प से शायद वह बोल उठा।

"संपादन का काम ऐसा होता है जिसमें दूसरों को छापने, कुछ ही रचनाओं को लौटा देने और उनकी रचनाओं में काँट-छाँट करने का अधिकार पा लेने के दंभमिश्रित सुख से भरा होता है। यदि कोई लेखक संपादक बन गया तो इस ख़ुशफ़हमी में उसका लेखन ख़त्म भी हो सकता है।" अबकी बार उसने लंबे वाक्य कहे जो उसकी वाक्शैली में नहीं थे।

"आपने कुछ व्यंग्य कथाएँ अच्छी लिखी हैं। इस क्षेत्र में महिला रचनाकार कम हैं। यदि व्यंग्य कथाओं का कोई संग्रह आपका आ जाए तो वह चर्चा में होगा।" उसने बातों को समेटते हुए कहा।

"चर्चा?" उसने प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा। "क्या अब भी उसे चर्चा या चर्चित होने की ज़रूरत है। एक अकेली लड़की के लंबे जीवन में यह शब्द तो ऐसे चस्पा होता है जैसे वह उसका उपनाम हो। बल्कि कभी-कभी उन्हें अपने आपको चर्चा से बचाए रखने की ज़रूरत भी आ पड़ती है।" उसने चाय का कप आगे बढ़ाया।

"चलिए आप कह रहे हैं तो ये कोशिश ज़रूर होगी। कोई किताब छपकर आ जाएगी इस साल। इससे आगे के लिए एक सहारा तो मिलेगा।" उसने सहारा शब्द पर ज़ोर दिया। यह शब्द उन दोनों के बीच दूसरी बार आया था। अब हुलाश को लगा कि उनकी बातचीत चाय पीते तक ही है। चाय ख़त्म होने के बाद इसे बढ़ा पाना मुश्किल होगा।

"मुझे चलना चाहिए।" अब उसे केवल यही कहना बाक़ी था।

"फिर आइए।" संध्या का मद्धिम व औपचारिक स्वर गूँजा।

शीशे को दरवाज़े से शहर का भीड़-भरा ट्रैफ़िक दिखाई दे रहा था। जिससे बाहर के शोर का अंदाज़ा हो रहा था। पर भीतर निस्तब्धता थी। "आपका मकान तो साउंडप्रूफ़ है।" उसने दरवाज़ा खोलते हुए कहा।

"हाँ...दरवाज़ों पर शीशे की दोहरी दीवार है।" जवाब आया। यह सुनकर उसे लगा कि संध्या के मन में भी कोई शीशों वाला दरवाज़ा है जिसकी दोहरी दीवार है। जिसमें बाहर का दिखता सब कुछ है पर भीतर निस्तब्धता है, उसके मकान की तरह।

अब वे दोनों घर के बाहर खड़े थे। बाहर सड़क का शोर-गुल था लेकिन उनके भीतर सन्नाटा था। संध्या की वही निर्निमेष दृष्टि थी जो उसकी रिक्तता से उपजती थी। वह आगे बढ़ चला अपने शहर जाने वाली बस को पकड़ने के लिए और अपने पीछे छोड़ गया था वह चालीस साल की एक लड़की को।

चरणसिंह पथिक

दो बहनें

वे दोनों बहनें थी। सगी बहनें। बचपन में दोनों दिन भर लड़ती रहतीं। बात-बात में लड़ाई तो बात-बात में गुत्थमगुत्था। एक बहन से दूसरी बहन मेले-ठेले में एक रुपया उधार ले भी लेती तो कुछ दिन बाद दूसरी सूद सहित दो रुपया माँगती। देने-लेने में आनाकानी होती तो दोनों की चोटी एक-दूसरे के हाथ में होती। बड़ी होने पर दोनों एक ही घर में सगे भाइयों के साथ ब्याही गई तो युद्ध का मोर्चा ससुराल में भी दोनों ने खुला ही रखा। बड़ा भाई दूरसंचार विभाग में अफ़सर तो छोटा भाई मिलिट्री के पैराशूट ग्रुप में हवलदार था। ससुर था नहीं। घर में बुज़ुर्गों के नाम पर एकमात्र बूढ़ी सास थी जो उन्हें समझाती रहती। वे नहीं मानती तो थककर चारपाई पकड़ लेती। वक़्त के साथ-साथ दोनों ने आधा-दर्जन बच्चे पैदा किए। दूरसंचार क्षेत्र में भी अभूतपूर्व क्रांति का दौर चल रहा था। हर एक की जेब में एक अदद मोबाइल नज़र आने लगा। बड़की का पति दूरसंचार का अफ़सर ठहरा, सो उसके यहाँ दो मोबाइल आए। एक हर वक़्त बड़की के ब्लाउज़ में पालतू कबूतर-सा दुबका रहता। दूसरा उसके पति के पास रहता। गाँव से पचास-साठ किलोमीटर दूर शहर में उसकी नौकरी थी इसलिए दस-पंद्रह दिन में ही घर का एकाध चक्कर लग पाता।

बड़की के ब्लाउज़ में छुपे मोबाइल पर जब घंटी घनघनाती तो उसकी छाती में मीठी-सी हिलोर उठती। उसने मोबाइल चालू और बंद करने की प्राइमरी क्लास अपने पति के सान्निध्य में पास कर रखी थी। वह बड़े ठसक से मोबाइल निकालती। टिक्कऽऽऽ से बटन दबाती। और अपना मुँह छुटकी की तरफ़ करके बात करती, "हल्लूऽऽऽ आप कौण जी !...अच्छा... अच्छा...गोलू के पापा हैं...जब ईऽऽऽ मैं...सोचूँ...आधी रात...को...नींद ख़राब... !" फिर वह आश्चर्य भरे स्वर में कहती, "कीऽऽऽ अब ईऽऽऽ आठ बजे हैं... ।...तो मैं काऽऽ जाणूं...मुबाल में टैम...देखबौ... !" वह बात करते-करते कभी मकान के ऊपर चढ़ती तो कभी नीचे आकर चबूतरे पर मोरनी का-सा नाच नाचते हुए इधर-से-उधर दौड़-सी लगाती। छुटकी देख सुनकर जल-भुनकर राख हो जाती। बड़की उसी टूम-ठसक से मोबाइल ब्लाउज़ में खोंसकर छुटकी को सुनाकर अपनी सास से कहती, "अफसरी का जेऽऽ ईऽऽ तो फायदा है। फौरंट समंचार ले लो !" सास बेचारी टुकुर-टुकुर आसमान की तरफ़ देखती।

...णसिंह पथिक की रचनाएँ
...-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती
...ी हैं। संपर्क : ग्राम एवं पोस्ट :
...सी, वाया-श्रीमहावीर जी,
...ला करौली-322220
(राज.)
...न : 09414860916

छुटकी बड़बड़ाती, ''हूँऽऽऽहऽऽ बड़ी आई ओफिसर की लुगाई। ऐसे मुबाल और ऐसे धणी तो टिंडे-टमाटरों की तरह खेतों में पड़े रहते हैं।''

बड़की टी.वी. एंटीना की तरह छुटकी के बड़बड़ाने को ज्यों का त्यों जीवंत पकड़कर गरजती, ''नासगई, तेरा खसम होगा टिंडा! तू होगी टमाटर की लुगाई। तेरे दीदे चौड़े-फट्ट में फूट गए काऽऽऽ! गोरमेंट में मेरा धणी अफ़सर और या घर में मेरी जूती अफसर। समझी...!'' छुटकी जूती का नाम सुनकर पैट्रोल की तरह भक्क से लौ पकड़ लेती।

''तेरी-सी जूती तो मेरे पाँवों में पड़ी रहती है। नज़दीक तो आऽऽऽ...!'' छुटकी चुनौती देती। सास चारपाई से उतरकर गरियाती, ''अरी, खसमखाणियों! शरम करो, शरम...!'' लेकिन उस बेचारी की आवाज़ नक़्क़ारखाने में तूती की आवाज़ होकर रह जाती। पड़ोसी दीवारों के कान लगाकर लगभग रोज़ होने वाले बिना पैसों के इस नाटक का ख़ूब आनंद लेते। बड़की चुनौती भरे स्वर में ही चुनौती स्वीकार कर कहती, ''आने दे अबकी...गोलू के पप्पाऽऽऽ को...। तेरे पाँवों की जूती देखणी है।''

छुटकी कहाँ पीछे रहती! ''बुला-बुला...उस टेलीफोनिया को...! पिल्लूड़ी का पप्पा भी आनेवाला है छुट्टी...! असल बाप की हो तो तब अइयो मैदान में...।''

दोनों की लड़ाई इसी तरह दूरसंचार उपकरण के बहाने शुरू होकर जीवन के हर दबे ढँके पहलू को छूते हुए समाप्त होती। गाहे-बगाहे गुत्थमगुत्था भी हो जाती। पटका-पछाड़ी भी हो जाती। सास बचाते-बचाते थक जाती तो उन्हें उनके हाल पर छोड़कर हाँफने लगती। और वे थोड़ी देर बाद अपने आप बच जाती। आधा दर्जन भर बच्चे चौक में एक-दूसरे का पीछा करते रहते। या काँय-कूँ करते हुए ठिनकते रहते। शाम होने पर ख़ूब शोर मचाते। टाल-टिल्ली, छुआन-छुई तथा मियांजी की घोड़ी का खेल-खेलते हुए हँसते रहते। झगड़ते रहते।

उन दोनों को देश-दुनिया की ख़बरों और राजनीति से कोई सरोकार नहीं था। जो चुनाव-चिह्न खोपड़ी में बैठ जाता या कोई कार्यकर्ता बीच रास्ते बहका देता, उसी पर ठप्पा लगा आती। प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री के नामों से सर्वथा अंजान वे अपने देश-प्रदेश का नाम तक भूल जातीं। गाँव के सराय का नाम उनकी जुबान पर चढ़ चुका था। वो भी इसलिए कि उससे यदा-कदा कोई-ना-कोई काम निकल ही आता। बुश, ओसामा, मुशर्रफ़, मनमोहन सिंह आदि होंगे कोई अपने-अपने घरों में तीसमार खाँ! उनके घर में तो सिर्फ़ उन्हीं दोनों की तूती बोलती है और बोलती रहेगी।

ना वैट का नाम सुना और ना ही शेयर बाज़ार के घटने-बढ़ने वाले सेंसेक्स से उन्हें कोई काम! चाय, साबुन, सोडा, कॉलगेट, चीनी, चावल आदि कभी फ़ौजी तो कभी दूरसंचार वाला इकट्ठा ख़रीद कर रख देते। भैंसों की खली तथा बच्चों और स्वयं के कपड़े, तेल, नमक, मिर्च, मसाले गाँव का दुकानदार घर बैठे दे जाता और मनमाना वसूलता। उन्हें इन सबकी कोई परवाह नहीं थी। हाँ, रसोई गैस इस्तेमाल करना दोनों ने ज़रूर सीख लिया था। वो भी इस कारण कि गैस का सिलेंडर अब घर बैठे सप्लाई होने लगा था।

छुटकी ने अपने कमरे में फ़ौजी द्वारा ख़रीदा टी.वी. भी लगा रखा था। छत पर डिश-एंटीना भी फ़ौजी ने लाकर लगा दिया था। कभी-कभार बिजली आती तो टी.वी. चलता। बच्चे बार-बार चैनल बदलते। देश-विदेश के समाचारों से उन्हें कोई मतलब नहीं रहता। सदी का महानायक उनके खेतों में काम करने आ नहीं जाएगा! और ना ही आमिर, सलमान, शाहरूख उनकी भैंसों को चराने तालाब की तरफ़ जाएँगे! सो उनका गठीला और कसा बदन देखकर उनके शरीर में कोई सनसनी नहीं दौड़ती और ना ही ऐश्वर्या राय, करीना कपूर और मल्लिका शेरावत की अदाएँ चूल्हे में फूँक देने और कंडे थापने के काम आएँगी। इसलिए जब किसी फ़िल्म में अधनंगी नायिका नायक से लिपटा-झिपटी और चूमा-चाटी करती तो दोनों बहन ऐन आगे-पीछे कहतीं, ''बेशरम...! बेहया-दारी।''

छुटकी पूछती। जान-बूझकर पूछती।

"देखने वाले कि टी.वी. वाले?"

"दोनों...!" और बड़की फटाक से टी.वी. बंद कर छुटकी को घूरने लगती। फिर तो वे देश-दुनिया की तमाम चिंताओं-आपदाओं और हीरो-हीरोइन की अदाओं को धता बताकर आधी रात तक थककर लड़तीं। बूढ़ी सास हमेशा की तरह रात का वास्ता देकर टोकती हुई खाँसती जाती, हाँफती जाती और बच्चे जहाँ वश चलता, वहीं खा-पीकर सुविधानुसार सो जाते। उनका अलग-अलग चूल्हा था। इसलिए अपनी सेंकती और अपनी खाती। थक-हारकर दोनों बहनें रात की ब्याल कर अपनी-अपनी चारपाइयों पर बेसुध गहरी नींद में सो जातीं। बड़की के सपनों में हर वक़्त मोबाइल घनघनाता रहता तो छुटकी सपनों में चीलगाड़ी में बैठकर मौजी खाती रहती।

दिन निकलने पर पशुओं के लिए खेतों से हरा चारा लातीं। फिर गोबर इकट्ठा कर कंडे थापतीं। रोटियाँ थेपतीं। और लड़ने के लिए रोज़ वक़्त भी निकाल लेतीं। खेती आधे-बाँटे पर उठा ही रखी थी।

दोनों का भैंस-गाय बाँधने और भूसा-चारा रखने का बाड़ा इकट्ठा ही था। बाजरे की कडवी की कुट्टी बाहर ही बाड़े में रखी हुई थी। बड़की अपनी भैंस को सुबह सानी करने के लिए कुट्टी लेने गई तो उसे कुट्टी के ऐन क़रीब पाखाना नज़र आया। वह तकोला वहीं फेंककर उलटे पाँव मकान में आकर छुटकी से ग़ुस्से में बोली, "अपने चीकलेटों के गू-मूत नहीं सँभलते तो काय कू पैदा किए?"

छुटकी सुबह-सुबह अचानक हुए इस हमले से बौखला गई। वह पलटकर बोली, "दर्द तो मैंने झेला...! तेरी... फोकट...में...सुबह सुबह... क्यों...?"

"नकटी...! बेहया...! तेरे जैसे दर्द तो भौत झेले हैं, मैंने...। पर कुट्टी के ढिंग से अपने सपूत की टट्टी तो साफ कर देती...!" बड़की एक पाँव चारपाई पर रखते हुए दनदनाकर बोली।

छुटकी बिफरी, "क्यों करूँ? तेरे बच्चों ने की होगी!"

"झूठी! चलकर देख। उसमें अमरूद के बीज पड़े हैं। शाम कू मेरे छोरा-छोरियों ने अंगूर खाए थे अमरूद नहीं...।" बड़की ने सफ़ाई दी।

"और मेरे चीकलेटों ने केले खाए थे। समझी...!" छुटकी ने नहले पर दहला मारा।

"तेरे बाप-दादों ने खाया कभी केला...?" बड़की ने ताना मारा।

"और तेरों ने खाए कभी अंगूर...?" छुटकी ने हाथ नचाकर कहा।

"बाप-दादों पर पहुँचने की हिम्मत कैसे की तैंने...?" बड़की की आँखें सुर्ख़ हो उठीं।

"...और...तैं...ने...?" छुटकी ने कमर पर हाथ रखकर जवाब दिया।

"ठहर तो बापखाणी...!" बड़की छुटकी की ओर लपकने को हुई।

"आऽऽऽ आऽऽऽ मैं बणाउं तोय वीरौठनी।" छुटकी ने चाय के बर्तन एक तरफ़ हटाकर पास रखी झझरी तलवार की तरह ऊपर तानकर कहा तो बड़की सहमकर पीछे हटते हुए यह कहकर वापस बाड़े की तरफ़ चल पड़ी, "असल बाप की होय तो यहीं ठाड़ी रहियो। अभी आती हूँ 'हाथ-मुँह' धोकर..!"

दोनों हर बार यह भूल जातीं कि उनके माँ-बाप अलग-अलग हैं या एक...? दोनों एक बाप की माँ जायी औलाद। लेकिन अकसर लड़ाई के अंत में दोनों ही इस जुमले का प्रयोग करने से नहीं चूकतीं।

तब दो दिन तक ढोर भूखे बाड़े में रँभाते रहे। कुट्टी के पास पड़ी हुई टट्टी दोनों में से किसी ने भी साफ़ नहीं की। छोटे बाप की कौन-सी बने...? आख़िर में जब बूढ़ी सास से नहीं देखा गया तो खुरपी और झाड़ू लेकर उसने सफ़ाई की।

दोनों के बच्चे इन सबसे बेपरवाह रहते। एक के यहाँ देर-सबेर रोटी बनती तो दूसरी के यहाँ बेख़ौफ़-बेझिझक जबरन खा आते। दस-पंद्रह दिन में बड़की का पति जब घर आता तो बड़की पति को बताने के लिए जी-जान से सास की सेवा करने लगती। छुटकी के बच्चों को जी-प्राण से रखती।

तब ख़ुश होकर उसका पति अपनी माँ से कहता, ''माँ, बहुत सेवा करती है तेरी ये... ! छुटकी के बच्चों को भी बड़े प्यार से रखती है।'' सुनकर बूढ़ी दमे से हाँफती-काँपती कहती, ''हाँ बेटा, मेरी तो दोनों बहुएँ लाखों में एक हैं। दोनों बड़े प्यार से रहती हैं। माँ जायी बहन जो ठहरीं... !''

कहकर वह मन ही मन सोचती—अगर रोज़-रोज़ का तमाशा बेटे से बखानने लगूँ तो महाभारत हो जाए। मगर वह दस-पंद्रह दिन में एक बार घर आने वाले बेटे का दिल छोटा नहीं करना चाहती। माँ के मुँह से दोनों की प्रशंसा सुनकर बड़की का पति कहता, ''मिलकर रहने में फ़ायदा ही फ़ायदा है। दूरियाँ कम होती हैं। मैं भी इनसे यही कहता रहता हूँ और फिर हमारे तो विभाग का काम ही दूरियाँ कम करना है।''

वह रातभर घर रुकता और सुबह पहली बस से अपनी ड्यूटी पर रवाना हो जाता। सुबह बड़की जान-बूझकर अँगड़ाई लेकर छुटकी के सामने से छम...छम करती निकलती तो छुटकी जल-भुनकर, मुँह बिदका कर मन-ही-मन बड़बड़ाती, ''ऊँ...हूँऽऽ...ये भी कोई आना हुआ...कि...आए और होंठों पर बुखार की तरह पिसाब-सा करके भाग लिए! परसों पिल्लूड़ी का पप्पा आ रहा है छुट्टी। तब देखूँगी इसका ठसका!'' सोचकर उसकी छाती में गुलगुली-सी उठने लगती।

बस एक फागुन का महीना ऐसा आता कि लड़ने-झगड़ने की फुरसत नहीं मिलती। दोनों ही बहन मोहल्ले की औरतों की अगुवाई करतीं। रात के तीसरे पहर तक होली का नाच-गान चलता रहता। दोनों को अगर लड़ने की हुलहुली छूटती तो होली के नाच और गीतों के माध्यम से कसर पूरी कर डालतीं। औरतों के घेरदार झुंड के बीच छुटकी घूमर दे-देकर नाचती गाती जाती :

ओऽऽ मैया मेरो एकलो बलम हो गौ भरतीऽऽऽ
कुण जोत गौ अठारह बीघे धरतीऽऽऽ
ओऽऽ मैया मेरो...

औरतें ताली बजा-बजाकर गीत के बोल मस्ती में दोहरातीं। बड़की भी कहाँ पीछे रहती। अपनी बारी आने पर कोयल की तरह कूक उठतीं :

होरी मौ से खेल लै बसंती आ गौ फगुनाऽऽ
ठाड़ी-ठाड़ी को उमग रघ्यौ जुबनाऽऽ
ओ..होरी...

फिर एक के बाद एक... । छुटकी को चिढ़ाने की ग़रज़ से गातीं :

चना में आ गई घेघरिया
रमझोल गढ़ा है देवरियाऽऽऽ
चना में...

नाचते-गाते रात का तीसरा पहर बीत जाता। दोनों बहन मिलकर हर दिन अलग-अलग तरह का स्वाँग भरती। कभी-लोहपीटा-लोहपीटन। कभी फ़ौजी तो कभी सिपाही तो कभी लखेरा-लखेरिन। देखने वालों के मुँह से वाह छुटकी-वाह बड़की निकलता तो वे आपस में गुर्राकर अपनी ख़ुशी ज़ाहिर करतीं। धुलहंडी के दिन पानी से तर-बतर हुए कपड़े एक हाथ में सँभालकर एक हाथ में लट्ठ थामे जब अपने मोहल्ले के देवर-जेठों के पीछे दौड़ लगातीं तो दौड़ने वाले को गिड़गिड़ाने पर मजबूर कर देतीं। ज़्यादातर फ़ौजी या तो होली पर छुट्टी आते या होली के तुरंत बाद। छुटकी का हवलदार होली बाद ही छुट्टी आ सका। छुटकी होली पर उम्मीद लगाए बैठी थी। हवलदार एक महीने की छुट्टी आया तो घर में चहल-पहल बढ़नी ही थी।

हवलदार को दोनों के बच्चे चॉकलेट और मिठाई के लालच में हर वक़्त घेरे रहते। छुटकी की ऐंठ-ठसक देखने लायक़ थी। फ़ौजी की उपस्थिति के कारण दोनों के पेट में अफारा जैसा कुछ महसूस होता तो आँखों ही आँखों में तथा हाथों के अपने ईजाद किए गए अजीब इशारों से लड़ लेतीं। मकान की पौड़ी से संयोगवश जब कभी दोनों एक साथ बाहर निकलतीं या अंदर आतीं तो छुटकी कोहनी का मस्का लगाकर धीमे स्वर में चुनौती देती, ''अब बोलकर देख... ! तेरा टेंटुआ दबा दूँगी।'' बड़की मन-ही-मन ज़हर का घूँट पीकर कहती, ''एक महीना बाद तेरी घाघरी की लीर-लीर नीं करी तो मैं अपनी माँ जायी नहीं।'' खुलकर लड़े हुए और

गुत्थमगुत्था हुए फ़ौजी के कारण कई रोज़ हो चुके थे। एक दिन जब हवलदार रम की बोतलें, शैंपू, क्रीम, साबुन-सोडा वग़ैरह लेने शहर की मिलिट्री कैंटीन गया तो मैदान ख़ाली मिला।

अचानक आकाश में एक काफ़ी नीचे उड़ते हवाई जहाज़ को देखकर छुटकी अपने बच्चे से बड़की को सुनाकर बोली, ''तेरे पप्पा इसी चीलगाड़ी में बैठकर रोज़ अपने मकान के ऊपर से जाते हैं। एक दिन तो तेरे पप्पा ने झाला देकर मुझे भी बुलाया था।'' बड़की ने सुना। सुनकर बहुत गुस्सा आया। झूठ की भी कोई हद होती है। बड़ी अंग्रेजी झाड़ने लगी है। अगर-मगर, क्या, मुझे जैसे शब्द उन्हें अंग्रेज़ी के लगते। वह जीभ निकालकर बोली, ''कब्बी बाइसकल भी देखी... ? बिड़ला की महतारी...चीलगाड़ी की धिराणी... !''

''बिड़ला की महतारी होगी तू... ! तौ कू मतलब...काऽऽऽ ?''

''बिड़ला काऽऽ बीमारी है मेरे आगे !'' बड़की अपने अफ़सर पति का रौब दिखाती। फिर दाँत पीस कर तकादा करती, ''पार साल के मेरे सौ रुपया ब्याज समेत चुका दे पहले नाकदार...। चीलगाड़ी में तो पीछे बैठियो...।''

''काय के सौ रुपया... ? सौ का नोट चीन्हती भी है... ? दस दिन तो ठसकदार तू दूध और सब्जी माँगकर ले गई। सो तेरा कुछ भूल-चूक में लिया होगा तो चुक्कम-चुक्का।'' छुटकी साफ़ पलट गई।

उस दिन वे जमकर लड़ीं। कसर यह रही कि फ़ौजी के डर से पटका-पछाड़ी नहीं हुई। दोपहरी में दोनों ने थकान की वजह से आई नींद की पूर्ति भी क़रीब कि आज उसकी रोटियों का रामजी ही धणी है। दोनों अनपढ़ होने के कारण पैसों का हिसाब इस ढंग से करतीं कि सामने वाला माथा पीटता रह जाता। दोनों में क़रीबन रोज़ हिसाब होता। लेकिन कमबख़्त हिसाब का ओर-छोर दोनों को ही नहीं मिलता। इसलिए हिसाब फिर अधूरा रह जाता।

बड़की हमेशा अपना मोबाइल ब्लाउज़ में खोंसे रहती। कोई दूसरी इस बाबत पूछती तो चिंताभरी ठसक में बताती, ''जमाना ख़राब है भैंणा। जाने कब्ब...गोलू के पप्पा का फून आ टपके...सो मैं तो हगते-मूतते भी इसे संग राखूं भैंणा ! अब कोई जले तो खूब जल...।'' छुटकी दूसरी के ज़रिए ऐसा सुनती तो वह भी कहाँ पीछे रहती... ! शाम को चार-पाँच अपनी मन मिलताऊ औरतों के सामने छुटकी शुरू हो जाती।

''अबकी...तो मैं भी हवलदार के संग जाऊँगी। जिंदगी में घूम ले सो है। देख ले सो है। मैं भी चीलगाड़ी में बैठकर मौजी खाऊँगी।'' कोई छुटकी की बात को बड़े ध्यान से सुनती तो कोई इस कान से सुनकर उस कान निकालकर नित्यकर्म में ध्यान देने लगती।

हवलदार की छुट्टी पूरी हो चुकी थी। सामान जमाया जाने लगा तो छुटकी ने साथ चलने की ज़िद पकड़कर कहा, ''मैं भी चलूँगी। कुछ भी हो !''

''और बच्चे... ?'' हवलदार ने पूछा।

''माँजी सँभाल लेंगी। एक महीना आगरा घूमकर वापस आ जाऊँगी।''

हवलदार आगरा में तैनात था। उसने काफ़ी समझाया कि क्वार्टर की दिक़्क़त होगी। घुमाने के लिए वक़्त मिल भी सकता है और नहीं भी...। सास ने भी टोका। बच्चे भी साथ चलने को मचले। लेकिन छुटकी नहीं मानी। फ़ौजी चाहे अफ़सर के हुक्म में टालमटोल कर दे मगर बीवी के हुक्म में कोताही नहीं कर सकता। हार कर उसने शाम की अवध एक्सप्रेस से चलने को तैयार हो जाने के लिए कह दिया।

छुटकी को गए हुए अभी मुश्किल से दस दिन ही गुज़रे थे कि बड़की बीमार हो गई। गाँव के झोला छाप डॉक्टर और नीम-हकीमों से दवाई ली मगर कोई फ़ायदा नहीं मिला। भैंरो-भुमिया भी ढोकती रही। पति को मोबाइल से ख़बर की तो दौड़ा आया। शहर ले गया। बड़े अस्पताल के डॉक्टर को दिखाया। वो भी घर पर।

डॉक्टर ने मर्ज़ की सामान्य जानकारी मरीज़

से ली। बड़की ने बीमार आवाज़ में बताया, "भूख नीं लगै। खोपड़ी में भाँय-भाँय होती रहती है। रात को नींद गायब। पेट हर वक़्त फूला-फूला रहता है। वायु उसरे सात दिन हो गए।"

डॉक्टर ने कहा, "जीभ निकालो।" बड़की ने तुरंत अपनी चिकनी जीभ बाहर निकाली।

"ज़ोर से मुँह फाड़ो।" बड़की ने सुरसा की तरह मुँह फाड़ा तो डॉक्टर को कहना पड़ा, "बस-बस्सऽऽ।" फिर डॉक्टर ने आला लगाकर धड़कनें सुनी। नब्ज़ देखी। और कहा, "हाज़मा ख़राब है। इसी वजह से अन्य बीमारियाँ पनप रही हैं।" उसने अपनी फ़ीस लेकर पर्ची में दवाइयाँ लिखीं और साथ में ये हिदायत भी दी कि तीन दिन बाद मरीज़ को एक बार और दिखा दें। दवाइयाँ ख़रीदकर बड़की को उसका पति गाँव छोड़ आया।

बड़की सुबह-शाम बताए गए तरीक़े से नियमित दवाइयाँ लेने लगी। तीन दिन हो चुके थे मगर उसे आराम नहीं मिला। तीन दिन बाद बड़की का पति उसे लेकर फिर शहर आया। अबकी बार स्पेशलिस्ट फिज़ीशियन को दिखाया। ज़रूरी सारे चैकअप करवाए गए।

फिज़ीशियन ने जाँच रिपोर्ट देखकर कहा, "मुझे तो कोई ख़राबी कहीं भी नज़र नहीं आती। फिर भी कुछ दवाइयाँ लिखे देता हूँ। पाँच दिन बाद फिर आ जाना।" बड़की ने सुना तो वह तमककर डॉक्टर के केबिन से बाहर निकल आई। डॉक्टर मरीज़ के इस अजीब व्यवहार से हतप्रभ रह गया। पति उसके पीछे-पीछे लपका।

वह अपने पति से आँखें तरेरकर बोली, "कौण के पास ले आया? ये तो कक्का की पूँछ भी नहीं जाणता। इलाज काऽऽ भट्टी की राख करेगौ!" और वह वापस घर आ गई।

रात को उसने अपने बड़े बेटे से कहा, "चच्चा कू फून लगा आगरा। तेरी मौसी ते बात करूँगी।"

बेटे ने फ़ोन लगाया। हवलदार ड्यूटी से ऑफ़ होकर क्वार्टर पर आ चुका था। फ़ोन उसने ही उठाया।

"हैल्लो, कौन?"

"मैं...गोलू..."

"हाँ गोलू बोल...क्या समाचार हैं घर के?"

"सब ठीक हैं।"

"बूढ़ी माँ ठीक है!"

"हाँ, ठीक है चच्चा। मौसी को फ़ोन दो मम्मी बात करेगी।"

हवलदार ने छुटकी के हाथ में फ़ोन देकर बताया, "घर से फ़ोन है...।"

छुटकी ने झपटकर फ़ोन कान से लगाया। छूटते ही बोली, "मैं छुटकी! तू कौण...?"

"मैं बड़की बोलती...।"

"नकटी! मौ सू बोलवै की जुर्रत का है!"

"लाल किला-ताजमहल देखा...?"

"तेरे हड्डा, दारी!"

"मैं तो पहले ही बीमार हूँ।"

"घुट-घुटकर मरेगी!"

"चीलगाड़ी में बैठी...?"

"बोल मत दे भूतनी! मैं भी बीमार हूँ। आगरे का पानी नीं लगा।"

"मुझे अकेली छोड़कर खसम संग मौज करने गई थी। भुगतेगी-भुगत...।"

"तू तो बिल्ली है दारी, पिछले जन्म की...।"

"दूर से शेरनी बणती है छछूंदर! असल बाप की बेटी है तो गाँव में आकर लड़...!" बड़की ने फिर ललकारा, "बणती है फौजी की लुगाई।"

"दो दिन बाद आ रही हूँ दारी...! तेरी चुटिया पकड़ फिरा-फिरा के नीं फेंका तो असल बाप की बेटी मत कहियो।" छुटकी ने फ़ोन पर ताल ठोकी।

फ़ौजी उजबक की तरह बस सुने जा रहा था। उसकी बौद्धिक पहुँच से दूर छुटकी उसे पहेली जैसी नज़र आ रही थी। बड़की ने छुटकी की दो दिन बाद आने की बात सुनकर अपने मोबाइल का स्विच तुरंत ऑफ़ कर दिया।

उस रात उसने एक बालिश्त रोटियाँ डकारी। थाली भरकर दूध और रबड़ी गटकी। और दवाइयों की पोटली उठाकर बाहर घूरे पर फेंक आई। बोली, "उस रात जैसी नींद उसे पिछले बारह-पंद्रह दिन में कभी नहीं आई।"

श्रीराम निवारिया

भ्रमलोक

यह पान की गुमटी है, जिसमें सिगरेट की पाँच भरी डिब्बियाँ रखी हैं और पचास ख़ाली रखी गई हैं। ये पचास ख़ाली डिब्बियाँ भी उतनी ही हिफ़ाज़त और सजावट से रखी हैं, जितनी पाँच भरी हुई रखी हैं। भरी दुकान लगनी चाहिए भले ही ख़ाली डिब्बियाँ क्यों न रखी रहें। ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए दुकान का भरा हुआ, सजा हुआ दिखना ज़रूरी है। भरा हुआ होना ज़रूरी नहीं है।

हिंदुस्तान का हृदय स्थल कहलाने वाले नगर के एक परिवार की यह कथा; इस पान की गुमटी से कुछ मेल खाती है, थोड़ी-सी भिन्नता के साथ। भिन्नता इस अर्थ में है, पान की गुमटी में रखी सिगरेट की डिब्बियाँ सजी हुई चुपचाप बैठी हैं। कह नहीं सकती कि वे भरी हैं अथवा ख़ाली हैं। बस सजी हैं। केवल सजा दी गई हैं, उसके मालिक के द्वारा। इस परिवार के लोगों को प्रकृति ने मुँह रूपी एक क़ीमती उपहार दिया है। इस कारण ये लोग बोलते हैं और ख़ूब बोलते हैं। ख़ाली होने की स्थिति में भी ऐसा बोलते हैं जिससे सुनने वालों को भरा हुआ ही समझ आए।

कहानी में यदि किसी पात्र को नायक बनाने की सोचें तो किसे नायक बनाया जाए? क्योंकि यहाँ के सारे पात्र भ्रम का वायुमंडल निर्मित करने में एक से बढ़कर एक हैं। बल्कि कहा जा सकता है, भ्रम उत्पन्न करने के फन में माहिर हो गए हैं। नायक समझें किसे? इसलिए अब ऐसा समझ लीजिए जितने भी सदस्य हैं, सभी इस कहानी के नायक हैं। इन्हें कोई नाम न दिए जाने तक हम, पात्र एक...दो...तीन...कहकर काम चला सकते हैं। फिर भी दिक़्क़त है। पात्र एक किस पात्र को कहा जाए? पात्र एक जिसे कहें; वह उम्र के हिसाब से बड़ा हो, पैसा कमाने के हिसाब से कमाऊ हो, शिक्षा के सर्टिफ़िकेट हासिल कर लेने की दृष्टि से बड़ा हो अथवा बातों के चक्रव्यूह बनाने में पारंगत पात्र को, पात्र एक कहें? इतनी सारी विशेषताओं में से किस विशेषता में अव्वल व्यक्ति को इस कहानी का पात्र एक कहें?

फ़िलहाल यह बहस किसी विषय-विशेषज्ञ के लिए छोड़ दी जाए। हम चाहते हैं आप भ्रमलोक की यात्रा करें। कारण है,

श्रीराम निवारिया की रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : नाला मोहल्ला, इटारसी-461111 (म.प्र.)

कहानी के पात्रों के द्वारा यह लोक नया निर्मित किया गया है। स्वर्ग लोक, नरक लोक, इहलोक-परलोक, पाताल लोक, गो लोक जैसे अनेक लोक तो आपकी कल्पना में हैं। मैं आपको भ्रमलोक से रू-ब-रू कराने का उपक्रम कर रहा हूँ। स्वर्ग-नरक लोक तो—'मरे बिना स्वर्ग नहीं दिखेगा' के अर्थ में, इस जन्म में देख पाना संभव नहीं है। लोगों का मानना है, स्वर्ग धरती पर नहीं होता है। परंतु वर्ग विशेष ने इसी धरती पर भ्रमलोक निर्मित कर लिया है। इसका सृजनकर्ता कौन है, ठीक-ठीक कुछ नहीं कहा जा सकता और ठीक-ठीक यदि सृजनकर्ता का पता ही चल जाए तो भ्रमलोक ही काहे का!

उम्र की वरिष्ठता को आधार मानकर पात्र निर्धारित किया जाए तो कहानी का प्रधान पात्र एक वृक्ष है। अर्थात् उसे वृक्ष के रूपक से बेहतर तरीक़े से समझा जा सकता है। गुलाब का पौधा नहीं है यह पात्र। गुलाब का पौधा छोटा होता है। उसके फैलाव की सीमाएँ छोटी होती हैं। कम जगह घेरता है। किसी छोटे गमले में भी लग-पनप जाता है, उसमें फूल फूट पड़ते हैं, सुगंध बिखेर देता है। सौंदर्य से मनुष्य का मन प्रफुल्लित कर देता है। हालाँकि गुलाब के पौधे में काँटे होते हैं। लेकिन पौधे का आकार छोटा होने के कारण काँटों का प्रसार भी कम होता है। इन काँटों से बचकर फूल को पाया जा सकता है। सुगंध को महसूस किया जा सकता है।

पात्र एक बड़ा वृक्ष है। यह जितना ज़मीन पर विशाल है, उतना ही जड़ों के रूप में ज़मीन के अंदर फैला है। इसमें विशाल तने, शाखाएँ, पत्ते और फुनगियाँ हैं। जिस वृक्ष की जड़ें ज़मीन के अंदर दूर-दूर तक फैली हों उसके आस-पास कोई दूसरा घर-बसेरा नहीं बन सकता।

यदि बनाया जाए तो बड़े वृक्ष की फैलती जड़ें, नज़दीक के घर और बसेरे में दरारें पैदा कर देंगी। गुलाब किसी दूसरे के घर में दरारें कदापि पैदा नहीं करता। साम्य यही है कि पात्र एक किसी व्यक्ति के बारे में उसकी अनुपस्थिति में कहता है, "अरे वह बहुत चालाक है। अपनी लड़की के लिए लड़का फँसाना कोई उससे सीखे।" कान के पास मुँह लगाकर धीमी आवाज़ में फिर कहता, "शादी से पहले ही लड़का उनके घर आता था। निमंत्रण और सैर-सपाटा तो रोज़ की बात थी। कई बार तो पिक्चर देखने लड़के-लड़की साथ गए हैं। फलाँ लड़की पेट से है और फलाँ ने छह महीने का पेट गिराया है।" पेट के अंदर तक की बातें यह पात्र आपको बता सकता है। जब आपसे वह बात कर रहा हो तब आपसे बढ़कर उनका हितैषी इस दुनिया में कोई नहीं है। यह बात आपसे कहने में इसे हिचक नहीं होती। भले ही दूसरे से बात करते समय आप और आपके बच्चों के पेट के समाचार भी वह दूसरों को दे दे। यह पात्र भ्रमित कर देने वाली बातों को करने के बाद, झूठ कह चुकने के बाद सामने बैठे व्यक्ति से यह कहना ज़रूरी समझता है, "हाँ मैं सच कह रहा हूँ, तुम झूठ मत समझना।"

यह पात्र सामने वाले को देखकर बातें करता। सामने वाले की शिक्षा, वेशभूषा, आय, रुचि इन सबको पहले तौल लेता। फिर बात करता। अगर आप ईमानदार सिद्धांतवादी लगें तो आपसे वह कहेगा, "देश में कितना भ्रष्टाचार फैला है। नेता लोग ने देश सेवा के नाम पर दे लूट मचाई हुई हैं। मैं कहता हूँ, ऐसे भ्रष्ट लोगों को शूट कर देना चाहिए।" उनकी बातें ख़त्म भी नहीं हुई थी कि इसी बीच उसका नौकर आकर बताता है, "साहब दफ़्तर की गाड़ी में डीज़ल डल गया है। मेमसाहब ने कहा था कि कुछ ख़रीददारी को जाना है। यदि कुछ देरी हो तो मैं ज़रा चाय पी आऊँ?"

सरकारी गाड़ी से जाने के लिए साहब की बीवी बिलकुल दुल्हन की तरह तैयार है। पात्र

एक का भ्रष्टाचार विरोधी ज़ोरदार प्रवचन सुन रहा व्यक्ति लगभग प्रभावित ही हो गया था। लेकिन इस ड्राइवर के बीच में आ जाने से उसका प्रभावित होना; कुछ इस तरह रह गया जैसे लीक होने वाले पाइप का पानी पूरे दबाव से आने के बावजूद भी बर्तनों में भरने से मना कर देता है। लीक होने वाला यह पाइप यानी साहब और ख़ाली रहने वाला बर्तन यानी व्यक्ति एक-दूसरे से अलग होते हैं। पात्र एक दीनतापूर्वक कहता, "श्रीमान् मुझे इजाज़त दें मैं आपकी ख़िदमत नहीं कर सका। क्षमा प्रार्थी हूँ। दुबारा इस ग़रीब की कुटिया को अपने पैरों से पवित्र करिएगा।'' लगभग साष्टाँग मुद्रा में वह नमस्कार करता और अंदर चला जाता।

असल में वह शीघ्रता से घर में जाना ही चाह रहा था। उसका शरीर अस्थिर-सा होकर काँपने लगा। अंदर घुसता हुआ पात्र एक क्रोध के साथ बड़-बड़ाया।...इस ड्राइवर को आज सारे दिन खाना नहीं मिलना चाहिए। जी चाहा कि इसकी ज़बान इसके मुँह से अलग कर दे। साले छोटे तबके के लोग बहुत ही गँवार क़िस्म के होते हैं। चोर की दाढ़ी में तिनका होता है। पात्र एक जान रहा था मैं जिस व्यक्ति से भ्रष्टाचार विरोधी बातें कर रहा था, इस ड्राइवर की बात से सारी पोल खुल गई। साहब के; भ्रष्टाचार विरोधी भाषण के कलफ़ को ड्राइवर ने धो डाला था। अब चोर की दाढ़ी में तिनका नहीं था। बल्कि चोर; चोरी किए हुए सोने चाँदी की दाढ़ी लगाकर ही घूम रहा है, ऐसा लग रहा था।

पात्र दो। इस पात्र के दोनों हाथों में लड्डू हैं। अगर किसी देवमूर्ति के बाजू में इसे बिठा दिया जाए तो पात्र दो देवमूर्ति से भी श्रेष्ठ मूर्ति होने का पुरस्कार पा सकता है। इस पात्र को महिला के रूप में स्वीकार करें तो, सावित्री की कल्पना कर सकते हैं। अगर बात करें तो ऐसा लगे जैसे चाँदनी रात में पौधे से चाँदनी के फूल झर रहे

हों। अपनी लड़कियों की शादी करनी हो तो वह सावित्री-सीता के रूप में प्रस्तुत होगी। अपनी लड़कियों को देखने जब किसी लड़के के माता-पिता आएँ, तो यह पात्र उस महिला से जो बातें करेगा वह कुछ इस तरह होगी, ''बहिन जी; लड़कियाँ तो लक्ष्मी होती हैं, घर को स्वर्ग बना देती हैं। बस बेटियों को अच्छी शिक्षा मिली होनी चाहिए। धन-दौलत कौन जीवन भर पूरता है।'' पात्र दो कहता, ''लड़कियों के प्रति समाज में बहुत ही ओछापन आ गया है। लड़कियों के जन्म को अशुभ माना जाता है। जबकि लड़के-लड़कियाँ सब बराबर हैं। हमने तो अपनी बेटियों को ऐसी शिक्षा दी है कि बेटी, ससुराल ही तुम्हारे लिए स्वर्ग लोक है। हमने दौलत तो कुछ कमाई नहीं, न दो नंबर का कोई धंधा है, शिक्षा की दौलत से अपने बच्चों को भरपूर किया है। बहिन जी, फिर आज के ज़माने में ख़ानदानी और सुशील लड़कियाँ मिलना बहुत मुश्किल काम है।''

लड़के की माँ ने कहा, ''जी।'' उसे कुछ कहने का अवसर ही नहीं मिला। वह कुछ कहना भी नहीं चाहती थी। केवल देखती रही, समझती रही। इतनी बातें सुनते-सुनते आगंतुक महिला थोड़ा थक गई। गर्मी के मारे प्यास लग आई। कहने लगी, ''अब हम जाएँगे, बस एक गिलास ठंडा पानी और पिला दीजिए।'' ठंडा पानी की बात सुनते ही घर के दो छोटे सदस्यों ने सम्वेत स्वर में कहा, ''मम्मी फ्रिज़ जल्दी क्यों नहीं ख़रीदते हम? फ्रिज़ में सब्ज़ियाँ, फल कितने अच्छे रहते हैं और यदि फ्रिज़ होता तो आंटी को ठंडा-ठंडा पानी भी नहीं पिला देते क्या!'' आगंतुक महिला ने कहा, ''कोई बात नहीं मटके का पानी ही दे दीजिए, वह भी चल जाएगा।'' उन्होंने पानी पिया और नमस्कार करके विदा ले ली।

मेहमानों के जाने के तुरंत बाद पात्र दो ने घर के सभी सदस्यों की परेड ले डाली। लगभग आदेश देते हुए सभी सदस्यों को समझाया। ''सुनो कुछ अक़्ल से काम लिया करो। अभी कुछ दिन फ्रिज़ नहीं ख़रीदने से, मर नहीं जाओगे। ज़रा समझा करो।'' अपनी लड़की को देखने आने वाले मेहमानों के आने से पहले, कार ख़रीदना पात्र दो की दृष्टि में मूर्खता है। उसका मानना है ऐसा करने से लड़के वाले हमें बहुत संपन्न समझेंगे। संभव है कार की उम्मीद करने लगें। घर के सदस्यों को बहुत-सी हिदायतें दी गईं। मेहमानों के आने पर क्या और कैसी बातें करनी हैं, उस दिन कौन-से कपड़े पहनने हैं; समझाया गया। याद दिलाया, ''सीमा तुम्हारी सहेली की शादी हुए चार दिन हो गए हैं, पर तुमने अभी तक गले में चेन डाल ही रखी है। इसे उतारकर रख दो।''

भ्रमलोक के इस परिवार ने; जब अपने लड़के की शादी होने वाली है तब, लड़की की शादी के समय खड़े किए गए बातों के सेट्स हटा दिए हैं। हटा क्या फेंक ही दिए हैं। पात्र दो परिवार के ज़िम्मेदार सदस्यों को कहता, ''महेंद्र के ससुराल वालों को ज़रा फ़ोन करके बतला दो, स्कूटर तो हमारे यहाँ है इसलिए स्कूटर देने की ज़रूरत नहीं है। हाँ; यदि फ़ोर व्हीलर गाड़ी दे दें तो, समाज में उनकी और हमारी दोनों की नाक ऊँची रहेगी। इसके लिए हम यह सुविधा दे सकते हैं; वे जो कैश दे रहे हैं, उसमें से कुछ कम कर लें।'' पात्र दो की बातें गुलाबजामुन के माफ़िक़ होतीं। लेकिन ऐसा गुलाबजामुन जिसमें ऊपर तो चाशनी दिखाई देती; पर मुँह में जाने के बाद पता चलता,अंदर से सूखा रह गया है। मुँह फीका हो गया है। कुछ उबकाई-सी आने की स्थिति हो जाती। यह पात्र अपनी विनम्रता दिखाने के लिए और परलोक के डर को ध्यान में रखकर घर के सदस्यों से कहता, ''हम किसी की इज़्ज़त ख़राब नहीं करना चाहते। किसी से ज़ोर-ज़बरदस्ती भी नहीं करना पसंद करते। ये तो उन्हीं की लड़की के लिए सब कुछ माँग रहे हैं, ताकि लड़की ख़ुश रहे।''

भ्रमलोकी परिवार के प्रत्येक सदस्य का चरित्र, किसी नाटक के लिए तैयार किए गए अलग-अलग सजावट तथा बनावट के साथ तैयार रहता। लेकिन घर की दीवारें एक रंग की और बहुत साफ़-सुथरी होतीं। पलंग की चादर, सोफ़े के कवर पर सलवटें होना, इस परिवार को असहनीय है। दिल के दाग़-धब्बे मिटाने के लिए ऐसी ही दवाइयाँ-रसायनों का प्रयोग यहाँ किया जाता है। आपको पानी दिया गया हो तो इसे पानी भर मत समझ लेना। वास्तव में वह एक जाल हो सकता है। यह जाल उतना ही बारीक होगा जितना साफ़ चमकदार गिलास होगा। ट्रे में रखे नाश्ते में मकड़जाल हो सकते हैं, जो आपको आसानी से दिखाई नहीं देंगे। इनके जालों को आसानी से और एक बार में समझना मुश्किल है। नाश्ते की ट्रे में जितने व्यंजन होंगे, जितनी वह सजी होगी

उतनी अधिक जाल की कसावट समझनी चाहिए।

इस परिवार के सदस्यों ने अपने आप से कई बार प्रश्न करके; तर्क के साथ यह निष्कर्ष निकाला है, दिल क्या किसी को दिखाना है? वास्तव में दिल दिखाई ही नहीं देता है। शायद कपड़ों की तरह दिल दिखाई देता तो, निश्चित ही वे दिल को भी साफ़ रखने पर विचार करते। फ़िलहाल इतना ही निश्चय किया है, दिल दिखाई नहीं देता, अतः ऐसी वस्तु पर भावुक होने, चिंता करने और साफ़ रखने का सवाल ही नहीं। ज़रूरत भी नहीं है।

एक-दो पत्र-पत्रिकाएँ भी इस घर में आती हैं। ये बैठक रूम में बहुत तरीक़े से टेबल पर सजी रखी होतीं। इस भ्रमलोक के निर्माता, निर्देशक, कलाकारों को जब समय मिलता, तब वे इन पत्र-पत्रिकाओं से अपने काम की बातें देख लेते। कौन-सी नई क्रीम बाज़ार में आई है, मुँहासे ठीक करने के तरीक़े और कम समय में अधिक धन कमाने की ख़बरें इनके लिए महत्त्वपूर्ण होतीं। रायपुर के रिक्शे वाले ने किसी अंजान यात्री के; अस्सी हज़ार रुपए घर जाकर वापिस कर दिए, ऐसे किसी समाचार पर इन सदस्यों का ध्यान नहीं जा पाता। ध्यान चला जाए तो वह उनकी रुचि का विषय नहीं है। उनकी प्रेरणा का स्रोत ऐसा समाचार हो नहीं सकता। दिल के किसी भी कोने में ऐसे समाचार के लिए कोई स्थान नहीं है। 'ईमानदारी के बल पर कोई व्यक्ति पच्चीस साल में बड़ा आदमी बन गया।' ऐसा समाचार भ्रमलोक की टीम को ऐसा लगता—जैसे बुढ़िया के बाल बेचने वाले उद्योग की बात की जा रही हो। जबकि उनकी आकांक्षा की उड़ान में से वे ऐसे किसी भी ज़मीन पर बने नक़्शे को नहीं देखना चाहते।

आलू-प्याज़ बेचने वालों के लिए, पात्र एक का कहना था, ''ये लोग भक्कम कमाई करते हैं।'' जबकि पात्र तीन ऐसी नौकरी की तलाश और स्वप्न में जी रहा है, जिसमें केवल अपने एक हस्ताक्षर को वह हज़ार से लेकर हज़ारों-लाखों रुपयों में बदल सके। पुलिस इंस्पेक्टर का रुतबा तथा कमाई सुनकर इस पात्र की आँखों में चमक आ जाती है। तहसीलदारों के यहाँ भी मिठाई के डिब्बे पहुँचते हैं, ऐसा सुनकर तहसीलदारी के लिए पात्र तीन के मुँह में पानी आ जाता। हालाँकि इसके लिए वह प्रयत्नशील भी रहता है। आउट होने वाले पेपर की जुगाड़ में यह पात्र, रात-रात भर घर से आउट रहता। फ़र्ज़ी डिग्रियाँ; बी.ए., बी एस.सी. की तो सुना है कुछ लोग बेचते हैं, लेकिन आई.ए.एस., आई.पी.एस., राज्य प्रशासनिक सेवा के पदों पर पहुँचना ज़रा टेढ़ी खीर है। इन पदों को पाने के लिए कई स्तर पर परीक्षा देने के बाद साक्षात्कार भी देना पड़ता है। इसके बाद भी चयन होना आसान बात नहीं है। इस बात से पात्र तीन अत्यंत दुखी है।

इन पात्रों की बातों के धागे इतने महीन होते कि देखते-ही-देखते भ्रम की एक चादर निर्मित हो जाती। धागे की महीनता इतनी कि इसे मकड़ी का जाला कह सकते हैं। आदमी भी मकड़जाल को पहचान न पाए और उसका सिर जाल में फँस जाए। लेकिन मकड़जाल तथा इस परिवार द्वारा निर्मित धागों में एक अंतर है। अंतर यह, मकड़ी अपने जाल में प्रायः स्वयं नहीं उलझती है। इस परिवार के लोग स्वयं ही एक-दूसरे के बनाए छल-छद्म के धागों में फँस जाते। कारण यह था कि प्रत्येक सदस्य यह बताना चाहता था कि फलाँ उपलब्धि (आप इसे उनके द्वारा किया गया शिकार कह सकते हैं) मेरे द्वारा निर्मित धागों से ही प्राप्त हो सकी है। परिणामतः पात्र चार पात्र एक से उलझ जाता। या पात्र दो पात्र एक पर चढ़ाई कर देता। इस तरह अनेक बार वे आपस में ही भिड़ जाते। ऐसी स्थिति में भ्रम के धागे बन नहीं पाते और वास्तविकताएँ ठहाके

मारकर इन्हीं सदस्यों का उपहास उड़ाने लगतीं।

एक समय रील लोडेड कैमरा बैठा हुआ था कि पात्र दो ने पात्र एक पर सीधे-सीधे आरोप लगाया, ''यह महा झूठा है। इसने कभी हमें अपना नहीं समझा।'' पात्र एक पात्र दो का प्रतिवाद करते हुए कहता, ''तुम मुझे मार डालना चाहते हो!'' पात्र चार, ''इस घर में हमेशा लड़ाई होती रहती है। कभी कोई प्रेम से बातें ही नहीं करता। भविष्य में किसे क्या करना है; हमलोगों का क्या होगा, इस बारे में तुमने क्या सोचा है?'' पात्र एक और दो पर वह प्रश्नों की बौछार कर देता। ''तू अभी छोटा है, समझता नहीं।'' कहकर पात्र तीन उसे चुप करना चाहता है। ''हाँ-हाँ तू तो बड़ा समझदार है न, बाप से बात करना तक तो आता नहीं!''

पात्र दो तनाव में आ जाता है और छोटे नंबर के पात्रों को कहता है, ''तुम हमारी बातें नहीं मानते।'' पात्र तीन, ''तुम हर बात झूठ बोलने के लिए कहते हो। दूध लाने मैं जाता हूँ, उससे कितनी बार झूठ बोलूँगा। उसके पैसे क्यों नहीं देते?'' पात्र चार, ''और मैं, किराने की दुकान से जो सामान लाया था, उसके पैसे एक माह बाद देने के लिए कहा था। दो माह हो गए, अभी तक पैसे क्यों नहीं दिए? हम बाज़ार जाएँगे तो वह हमारा कॉलर पकड़ेगा।'' पात्र दो आग उगलते हुए कहता, ''तुम्हारा बाप पैसे दे तब तो मैं तुम्हें पैसे दूँ। मैं पैसे कहाँ से लाऊँ?'' पात्र एक अप्रिय मुख-मुद्रा बनाते हुए कहता, ''क्यों मैं पूरे पैसे घर में नहीं देता हूँ क्या? अरे, एक कप चाय तक तो मैं बाज़ार में पीता नहीं हूँ। तब भी मुझी पर आरोप कि पैसा नहीं देता हूँ। आख़िर पैसा जाता कहाँ है?''

पात्र दो पात्र तीन-चार-पाँच की तरफ़ मुड़कर कहता है, ''तुम लोग निठल्लों के समान बैठे रहते हो, कुछ करते क्यों नहीं?'' पात्र तीन, ''हम कब से कह रहे हैं हमें एक लाख रुपए चाहिए। हम दुकान खोलना चाहते हैं।'' इस तरह हर पात्र एक-दूसरे पर आरोप लगाते हैं। कैमरे को समझ नहीं आता कि इस भ्रमलोक में ग़लती किसकी है। कैमरा बस धड़ाधड़ फ़ोटो भर लेता जाता है। एक पात्र और है जो कभी नहीं बोलता। हमेशा बचने की कोशिश करता है। इस पात्र ने, मौन की सूई से अपने व्यक्तित्व की थैली को सिल रखा है। अंततः धीरे-धीरे धैर्य के टाँके ढीले पड़ गए हैं। वह जितना अपना व्यक्तित्व सँभालने की कोशिश करता है, उसका व्यक्तित्व उसके मन की बात बाहर निकालने के लिए उछाल मारने लगता है...आख़िर टाँके टूट ही जाते हैं। कहता है, ''चिड़िया चिड़ा अपना जोड़ा बनाने के पहले घोंसले का स्थान तय करते हैं। तिनका-तिनका जोड़कर घोंसला बनाते हैं, अंडे देते हैं, सेते हैं, बच्चे पैदा करते हैं, उनके दाना-पानी का इंतज़ाम करते हैं। उड़ने लायक़ बनाते हैं। उड़ने की हिम्मत दिलाते हैं, उनके पंखों को शक्ति और उड़ान की दूरी तौलने का अनुभव देते हैं। उल्लू, चील, बाज़ और बिल्ली से भरे आकाश तथा ज़मीन पर अपने नन्हे पंछी को परिंदा होने का आशीष देते हैं।...और तुम...तुमने हमें क्या दिया है?...भ्रम में जीने का हुनर, जाल बनाने की कला जिसमें हमीं फँसते जा रहे हैं। पता नहीं हम किधर जा रहे हैं?''

कैमरे को लगा वह चटक गया है।...उसकी रील गोल-गोल होकर बिखर गई है।...इस तरह साँप की भाँति लंबी, काली गोल-गोल बिखरी कैमरे की रील, भ्रमलोक के वातावरण को और भयानक बना रही थी।

दिवा भट्ट

कीट भक्षी

कोई और अंदर आया है। नवागंतुक है। मैं उत्सुक हूँ, इसे देखने के लिए, समझने के लिए और यह जानने के लिए कि इसकी कौन-सी ऐसी भूख थी; जिसने इसे मजबूर किया यहाँ आने के लिए। क्या यह अनजाने ही यहाँ आ पड़ा है।

हाँ! यह होता तो अनजाने ही है। यदि जानते भी हों तो ऐसे वक़्त होश कहाँ रहता है?

''हैलो!''

''हैलो!''

हम दोनों ने एक-दूसरे की ओर देखा है। परस्पर को परखने की—एक ही बार में पूरी तरह पढ़ लेने की कोशिश की है।

''नए-नए लगते हो?''

मैंने उत्तर की आशा से पूछ लिया है। उत्तर के साथ वह भी ऐसे ही पूछता है, ''हाँ। और तुम यहाँ के अंतरंग दिखते हो?''

''चिंता मत करो, तुम भी अंतरंग बन जाओगे।''

वह अंतरंग बन जाने को आतुर है, और मैं चिंतित।

''कैसा लगता है?'' मैंने पूछा।

''ठीक है।'' उसने उत्साहित होते हुए कहा, लेकिन मुझे पता है कि उसे ठीक नहीं, अच्छा लग रहा है। क्योंकि फूल बाहर से जितना आकर्षक दिखता है, भीतर उतना ही मीठा भी होता है। इसके पीछे जो कड़वाहट है; वह इतनी जल्दी मालूम नहीं होती।

उसने फूल की भीतरी दीवार को चूसना शुरू कर दिया है। अब वह थकान महसूस करने लगा है।

''मुझे मिचली आ रही है।'' वह मेरे पास आकर कह रहा है। मैंने उसे उलटी कर लेने की सलाह दी, किंतु वह तैयार नहीं हुआ, ''यहाँ कहाँ पर उलटी करूँ? जगह ही नहीं है।''

''यहीं पर कर लो।''

''ना! गंदगी हो जाएगी। हमें रहना भी तो यहीं है।''

''तो क्या हुआ? यहाँ ऐसे ही रहा जाता है।''

''नहीं! यह मुझसे नहीं होगा।'' कहकर वह फिर से रस चूसने में व्यस्त हो गया। मुझे दिख रहा है कि वह अभी बेचैन है, लेकिन उलटी नहीं करेगा। मिचली दबाने के लिए कुछ और रस चूसने लगा है, लेकिन फिर भी भूख तो मिटेगी नहीं।

दिवा भट्ट की रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। संपर्क : 'अवलोकन', बाइटन कॉर्नर, अल्मोड़ा-263601 (उत्तरांचल)

हाँ, ऐसा ही हुआ है। वह बेचैन होकर लौटा है। कहता है कि उसे मिचली भी आ रही है और भूख भी लगी है। खाना भी चाहता है और खा भी नहीं सकता। मैंने उसे समझाना चाहा कि भूख मिटाने से पहले मिचली दूर करनी होगी। वह अन्यमनस्क हो गया है।

''चलो, यहाँ के अन्य निवासियों से तुम्हारा परिचय कराऊँ।'' मैं ऐसे कहता हूँ; जैसे मैं यहाँ के बारे में सब कुछ जानता हूँ।

''यहाँ और भी बाशिंदे हैं!'' उसका चकित होना स्वाभाविक है। मैं मन ही मन ख़ुश हो रहा हूँ।

उसे आया देखकर औपचारिक मुस्कानों से एक बार फिर यहाँ का माहौल गरमा उठा है। दीवारें चौड़ी हो गई हैं, ताकि इस सँकरी, अँधेरी किंतु लचीली कोठरी में सभी समा सकें। चौड़ी दीवार पर टिककर बैठे उन क़ैदीनुमा जीवों से हम बारी-बारी से मिलते हैं। वह उन्हें क़ैदी नहीं; मुसाफ़िर कहता है। उसने इसे स्पष्ट भी किया कि वे सब एक अँधेरी गुफ़ा में बैठकर अगले दिन की यात्रा की प्रतीक्षा कर रहे हैं। कुछ बच्चे मस्त होकर यह सोचते हुए खेलने में व्यस्त हैं कि उन्हें एक उलटी छतरी के भीतर घुसने का मौक़ा मिल गया है। वे रोमांचित हैं।

उसने लोगों से पूछा भी कि वे यहाँ आए कैसे? तो एक ने कहा, ''मुझे बहुत भूख लगी थी, इसलिए रस चूसने चला आया। पेट भरके लौटने लगा तो दरवाज़ा बंद हो गया था।'' दूसरे ने बताया, ''मुझे सुंदर फूलों का बड़ा आकर्षण था। इस फूल को देखते ही मैं दौड़कर इसकी पँखुड़ी में बैठ गया। बैठते ही फिसलकर अंदर आ गिरा और लौटने लगा तो रास्ता ही नहीं मिला। तीसरा कहने लगा, ''मैं बेहद थका हुआ था। किसी आधार और छाया की खोज में इसके समीप आया। अंदर आते ही झपकी आ गई। आँखें खुलीं तो अँधेरा हो चुका था और रास्ता भी नहीं सूझ रहा था।''

चौथा बताने लगा, ''वह स्वयं यहाँ आया ही नहीं, उसे तो किसी ने धक्का दे दिया था।'' उसकी बात पर सब हँस पड़े।

तभी नवागंतुक मुझसे पूछता है, ''यह अँधेरी नदी किस समुद्र में मिलती है? कहाँ पर मिलती है?''

उसकी बात सुनकर हँसते हुए एक कहता है, ''यह नदी नहीं, यह तो एक तंबू है।'' उसे बीच में टोककर कोई अन्य बोलता है, ''हम सब अलादीन के चिराग़ के नीचे हैं। अब कोई-न-कोई चमत्कार अवश्य होगा।''

नवागंतुक की ख़ुशी क्षीण होती जा रही है। वह बेहद उदास होने लगा है। उसकी बेचैनी बढ़ती जा रही है। मैंने उससे सहानुभूति जताई, लेकिन वह समझ चुका है कि यहाँ कोई किसी का मित्र नहीं, हमदर्द नहीं; मैं तो बिलकुल भी नहीं।

वह पूछता है, ''शाम हो रही है। इतनी-सी जगह में इतने सारे लोग कैसे रहेंगे?''

''रह लेंगे।''

''नहीं, मुझसे नहीं रहा जाएगा। मुझे बहुत बड़ी जगह चाहिए, अलग से।''

''यहाँ तो सबको एक साथ ही सोना पड़ता है।''

''ओह! मेरा तो दम घुटने लगा है! मुझसे यहाँ नहीं रहा जाएगा। मैं बाहर जाना चाहता हूँ।''

''तुम नहीं जा सकते।''

''तुम कौन होते हो मुझे रोकने वाले?''

''मैं तो कोई नहीं। रोकने वाला वह दरवाज़ा है; जो हमारे जीते जी कभी नहीं खुलेगा। यह तो सिर्फ़ आने के लिए है।''

''जाने का दरवाज़ा कहाँ है?'' वह अत्यधिक व्यग्र है।

"है ही नहीं।" मैंने सीधा उत्तर दिया।

"ओह! नहीं, नहीं! मेरे प्राण निकल जाएँगे। मुझसे नहीं रहा जाएगा। दया करो मुझ पर। मुझे इस अँधेरी घुटन से बाहर निकलने का रास्ता बताओ।"

"यहाँ कोई रास्ता नहीं है।"

मुझे हँसी आ रही है उसकी तड़प देखकर। वह मेरी हँसी पर बौखला उठता है, "मेरी व्यथा-बेचैनी पर तुम्हें हँसी आ रही है! मुझे जान-बूझकर सताकर मज़े ले रहे हो तुम लोग! तुम राक्षस हो!"

"तुमने ठीक कहा, राक्षस हैं, लेकिन मैं नहीं, वह।"

"कौन?" उसने मेरी आँखों में झाँककर सत्य जानना चाहा। मैं उसके कंधे पकड़कर उसकी आँखों में विश्वास की नज़र डालते हुए कहने लगा, "हम दोनों एक ही पीड़ा से पीड़ित हैं मेरे भाई, मेरी भी वही विवशता है; जो तुम्हारी है। अंतर इतना ही है कि मैं कुछ पुराना हो चुका हूँ। यहाँ की हक़ीक़त को समझने लगा हूँ और तुम अभी नए हो। कुछ समय बाद तुम भी मेरे जैसे ही हो जाओगे, ढीठ।"

"क्या तुम भी यहाँ सुखी नहीं हो? तो तुम यहाँ क्यों रहते हो?"

न चाहते हुए भी मैं उसका प्रत्युत्तर देने लगा हूँ, "अब यहाँ न रहूँ तो और कहाँ जाऊँ? मुझे लाल रंग से बहुत प्रेरणा और आश्वासन मिलता है। बड़ी-बड़ी पँखुड़ियों ने कभी मुझे पनाह दी थी। आज भी मैं एक अन्य जंतु से बचने के लिए इस ओर आया था।"

"जब वह जंतु भी यहीं आ जाएगा तो कहाँ जाओगे?"

"कहीं नहीं। फिर तो उसके पेट में जाऊँ या यहाँ मरूँ सब समान होगा। लेकिन यहाँ आकर तो उसे भी मरना ही होगा।"

"कैसे?"

"आने के बाद उसके लिए भी रास्ता बंद हो जाएगा। फिर तो मैं उसकी ख़ुराक और वह इसकी।"

"इसकी माने किसकी?"

उसकी बातें सुनकर लगता है मानो इसकी निर्मिति प्रश्नों से ही हुई है। एक के बाद एक प्रश्न दागता जाता है—बंदूक़ की गोलियों की तरह। परंतु इस प्रश्न का उत्तर सुनने से पहले ही उसका ध्यान दूसरी ओर चला गया है।

एक मरियल-से जंतु पर चिपके हुए बहुत-से जीव उसे नोच रहे हैं। वे सब भी सिकुड़ते-निचुड़ते अगले ही क्षण निढाल होकर फूल की भीतरी पर्त से चिपककर उस पर पड़े छींटों और धब्बों जैसे दिखाई देते हैं।

"वह क्या हो रहा है?" वह घबराकर पूछ रहा है। मैं शांति से कहता हूँ, "वे मर रहे हैं।"

"क्यों?"

"ख़ुराक! हम सब ख़ुराक हैं। किसी भी क्षण खाए जा सकते हैं।"

अब उसे घबराने की भी फ़ुरसत नहीं। उसने घबराकर दीवार को पकड़ लिया, लेकिन पकड़ ढीली हो गई और वह लुढ़कने लगा। उसका शरीर चूसा जा रहा है।

ऊपर क्षणार्ध को हल्का-सा प्रकाश हुआ। एक अन्य जीवन अंदर आ रहा है। मुझे तरस आ रहा है। हल्की-सी सुखानुभूति भी हो रही है कि एक और प्राणी मेरे दुख में हिस्सेदार बनकर आ गया है, गोया इससे मेरा दर्द कम हो जाएगा। मैं उसके पास जाकर उसका स्वागत करना चाहता हूँ, लेकिन मेरी साँसें थक चुकी हैं। ऊपर ढक्कन बंद हो चुका है। मेरा रक्तचाप मंद पड़ने लगा है। शायद मैं एनीमिया की अंतिम अवस्था में पहुँच चुका हूँ। शरीर निचुड़ता जा रहा है। अब अगले ही क्षण मैं भी बेहोश हो जाऊँगा। ख़त्म हो जाऊँगा। इसी क्षण।

महेंद्रनाथ दुबे

ब्रह्मपुत्र के किनारे-किनारे

"ब्रह्मपुत्र महाभारत शांतनो कुलनंदन: ! अमोधा गर्भसंभूत पापं लौहित्य मे हर॥"—पद्मपुराण के सृष्टि खंड में वर्णित कथा का सार-संक्षेप यह है कि—कैलाश पर्वत क्षेत्र में वास कर रहे शांतनु मुनि को ब्रह्मा से वरदान स्वरूप उनका अग्निमय ओज प्राप्त हुआ। पुत्रकामना से उस दिव्य ओज को अपनी भार्या अमोघा के गर्भ में स्थापित कर दिया, जिससे एक जलस्वरूप पुत्र ने जन्म लिया। जलधारा के रूप में प्रवाहित होने पर ब्रह्मपुत्र कहलाने लगा। (पृष्ठ 125-26) तिब्बत में मानसरोवर 'माफाम त्सो' के नाम से जाना जाता है। 'त्सो' का मतलब सरोवर है। इसी प्रकार तिब्बत में ब्रह्मपुत्र की संज्ञा-सांग्यो है। सिंधु, ब्रह्मपुत्र और कर्णाली अर्थात् सरयू मानसरोवर से निकलती है और शतद्रु (सतलज) राक्षस सरोवर से। तिब्बती लोककथा में कल्पना है कि व्याघ्र मुख से सिंधु, मयुर मुख से कर्णाली, अश्वमुख से ब्रह्मपुत्र और हस्तीमुख से शतद्रु निकलती है। सांग्यो का प्रधान झरना मानसरोवर से निकलता है जिसे वहाँ सामो सांग्यो कहा जाता है। (पृ. 125) थोकचेन से सामसांग के रास्ते में उत्तर दिशा से मरियम चू, दक्षिण से मात्सांग-सांग्यो नदियाँ आकर सांग्यो से मिलती हैं। झरने के आकार में आंग्शी, इयांग्दुंग, तामचाक-खामबाब आदि ने मिलकर मात्सांग-सांग्यो नदी को रचा था।...कंकरीली-पथरीली ज़मीन पर लुढ़कता, हिमांक से नीचे के तापमान में ठिठुरता यह नद बहता चलता है। सामसांग से गीयाबुनाक गाँव होते हुए ब्रह्मपुत्र के तट पर बसे त्रादुम, त्रादुम से पाशागुक गाँव, उस छोटे से गाँव में गोंफा (बुद्ध मंदिर) था, जहाँ अवलोकितेश्वर की मूर्ति थी, गोंफा के अँधेरे कमरे में स्थापित आदमक़द मूर्ति यमंतक (यमराज) की थी, जिसे देखकर भय लगा। यमंतक के महिषासुर जैसे भयंकर नौ सिर, चौंतीस हाथ, सोलह पाँव थे। (127) शीगात्से से सांग्यो की उपनदी नियांग को पार करने के लिए चमड़े से बनी, बड़े गमले के आकार की अद्भुत नाव थी, जिसे तिब्बती भाषा में 'क्वा' कहा जाता है। (125) सांग्यो और की-चू के संगम से अरुणाचल पहुँचने तक इसकी क़रीब साढ़े छह हज़ार सौ कि.मी. यात्रा अभी भी शेष रह जाती है। आगे यारलांग चू, तारलांग चू, भारत में प्रवेश करने से पहले त्से ला जोंग में नी-पांगो आकर इसमें समा जाती है।...पे से चला इसका यात्रा पथ अत्यंत दुर्गम है। मैकमोहन रेखा (भारत-चीन सीमा, पहले तिब्बत सीमा विभाजक) पर स्थित सिंगयुंगला के पास मोंको से अरुणाचल के सियांग ज़िले में यह नद

महेंद्रनाथ दुबे का जन्म 1942 में हुआ। बाङ्ला, असमिया, हिंदी में परस्पर अनुवाद की कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। संपर्क : प्रोफ़ेसर्स क्वार्टर नं. 5, गोपाल कुंज, बी. एम. खान, आगरा-282002

...करता है। (135) पासी घाट से नीचे उतरकर ...म में घेमाजी ज़िले में प्रवेश करता है, जहाँ ...में दो नदियाँ लुइत और दिबांग आकर इससे ...ती हैं। भारत में प्रवेश करते ही सांग्यो अपना ...म बदलकर सियांग रख लेता है। त्वुइत का ...गम होने पर नया नाम लुइत मिलता है। इसी ...से ही तो लौहित्य या लोहित नाम निकले हैं। ...पर्वत से निकली हुई धनशिरी (धनश्री) मानो ...संस्कृति की सौग़ात लिए तुम्हारी असमिया ...कृति में आकर समरस हो जाती है। (139) ...रे सांग्यो, सियांग, दियांग, लोहित और ब्रह्मपुत्र ...म तो पुलिंग (पुरुषवाची) हैं, पर पता नहीं धुबड़ी ...नज़दीक से बांग्ला देश में प्रवेश करने के बाद ...क्यों स्त्री-लिंगी हो गए हो?...पहले अपना ...म जमुना, फिर इन नदियों से अपने गले में हार ...लवानेवाले हे ब्रह्म कुँवर! क्या गंगा से गले ...लकर तुममें मातृत्व जग आया? कि बंगोपसागर ...गले में अपनी वरमाला डालने के लिए ही तुमने ...पना नाम मेघना नहीं न रख लिया है?" (146)

महाबाहु ब्रह्मपुत्र महानद के सांग्यो से आरंभ ...र मेघना रूप के अवसान क्षितिज तक के ...गोलिक प्रवाह के वर्णन क्रम में यात्रा-वृत्तांत ...लगते— *ब्रह्मपुत्र के किनारे-किनारे* श्रेष्ठ ग्रंथ ...रचयिता श्री सांवरमल सांगानेरिया को कहीं हृदय ...एक कोने में दर्द है—"मैं यदि साहित्यकार होता ...कदाचित् पुस्तक की भाषा और सरस होती।" (मनोगत, पृष्ठ-नौ) परंतु जितनी सरसता उनके ...स उत्कृष्ट ग्रंथ की है, उसे देखते हुए यह स्पष्ट ...है कि वहीं तक की सरसता ही पर्याप्त है, अगर ...हीं तथाकथित साहित्यकार को इस महान् कार्य ...को संपादित करने का अवसर मिलता और वह ...अपनी सरसता का मुलम्मा इस पर फेरता तो यह ...और गाढ़ा रस होने की जगह पुराना सड़ा खट्टा ...तेज़ाबी सिरका हो जाता।

चूँकि असम उपत्यका और उससे संबद्ध ...अरुणाचल, नागालैंड, मणिपुर, मिज़ोरम, त्रिपुरा, ...मेघालय—छह प्रदेशों सहित सतभाई चंपा की तर्ज ...पर सात-भगिनी (बहनें) राज्यों का प्राचीन ...इतिहास लिपिबद्ध नहीं रहा है, हालाँकि सत्य और ...शुद्ध इतिहास लेखन की पारिवारिक वंशावली— बुरुंजी-लेखन की परंपरा अहोमवंशी राजशासन में पूरे भारत में सबसे पहले असम में ही शुरू हुई, जो उनके सात सौ वर्षों के काल तक तो चली ही अब तक गतिशील है; फिर भी उससे पहले के इतिहास को देखने का आधार महाभारत-रामायण महाकाव्यों के अतिरिक्त, पद्म-पुराण, विष्णु पुराण, हरिवंश, भागवत पुराण, कल्हण रचित राजतरंगिणी, कालिका पुराण, मारकंडेय पुराण, योगिनी तंत्र, हर्षचरित, रत्नावली, भैरवी तंत्र, महापुरुषीया ग्रंथ, महायान-हीनयान-वज्रयान के बौद्ध ग्रंथ, रुद्र यामल, ब्रह्म यामल के तांत्रिक ग्रंथों तक से सामग्री इकट्ठी करनी ही पड़ती है, तब कवि-साहित्यकार महोदय तथ्यों की जगह कहाँ कल्पना की कलई लगाकर तथ्यों में हेर-फेर कर दें, इसका क्या ठिकाना? और तब शताब्दियों ही नहीं, सहस्राब्दियों-यहाँ तक कि आदिम इतिहासकाल से ही छले जा रहे इस पूर्वोत्तर भारत के अतिशय संवेदनशील इलाक़े के विवरण देने में हुई चूक कितनी भयंकर सिद्ध हो जाती।

अलावा इसके हिंदी कवियों-साहित्यकारों का जो शुरू से ही आर्थिक धरातल रहा है, उसे देखते हुए किसी साहित्यकार के लिए ब्रह्मपुत्र के सुविस्तृत प्रवाह पथ, साथ ही इस प्रवाह धारा में तिब्बत की, नेपाल की, अरुणाचल प्रदेश से संलग्न चीन सीमांत की, म्यांमार (बर्मा) की ओर से, इसी तरह नागालैंड, मणिपुर, त्रिपुरा, बराक वैली, कर्बी-अलांग, गारो, खसिया, जयंतिया, कामतापुरी, कोच-कछारी, भूटानी, नेपाली, राजवंशी किसी भी छोर से कोई एक पतली-सी मामूली-सी स्रोतस्विनी-नदी-धारा ब्रह्मपुत्र में आकर मिली नहीं कि सांगानेरिया जी—अँगुली छूते-छूते पहुँचा पकड़ लेने की कहावत के अनुसार उन-उन क्षेत्रों में पहुँच जाते हैं, फिर उनका इतिहास-भूगोल, खान-पान, वस्त्र-आभूषण, बयन (बुनना), विपणन, संस्कार-व्यवहार, संस्कृति-प्रकृति, कृषि, कृषि आधारित जीवन, पितृसत्तात्मक-मातृसत्तात्मक समाज की रूढ़ियाँ-धर्म-विश्वास, धर्मविश्वासों में आती धर्मांधता साथ ही धर्मांतरित होने की पीड़ा, धर्मांतरित हो चुके वर्ग के संस्कृति-मूल्यों के भी परित्याग की पीड़ा, मुग़ल शासन-

अंग्रेज़ शासन की क्रूरताओं के बाद देश विभाजन के बाद पूरब में म्यांमार सीमांत से नगा विद्रोहियों, पश्चिमी सीमांत के बांग्लादेशी-विशेषत: मैमन-सिंहिया-रंग पुरिया-शिलहटिया सीमा अतिक्रमणकारियों, उत्तर में चीनी कूटनीतिक युद्धपरायण सीमातिक्रमणकारियों, दक्षिण में फिर अपने से ही विलग हुए सीमांतों और बांग्लादेशी के संत्रास आदि के इतिवृत्तों का जो तथ्यात्मक विवरण देते हैं वह सब दे पाना तो किसी के बूते का नहीं होता। मैं बिना किसी लाग-लपेट के कहना चाहूँगा कि स्वयं सांगानेरिया जी जो इतना कर पाए हैं उसके पीछे उनकी अपनी पारिवारिक संपन्नता—मैं निश्चयपूर्वक तो नहीं जानता परंतु अपने बाल्यकाल में सन् 1952 से ही फ़ैंसी बाज़ार के रेलवे क्रॉसिंग फाटक की बग़ल में जो एक सांगानेरिया परिवार था, हनुमान मंदिर की बग़ल में—तब अपने रिश्तों के चलते मैं, मेरा परिवार हनुमान मंदिर में ही रुकता था—अब जो वहीं सांगानेरिया धर्मशाला बनाई गई, संभवत: इन्हीं के परिवार की है। स्वयं की संपन्नता के अतिरिक्त राजस्थानी, मारवाड़ी और विशेषत: जैनी होने, साथ अपने इस समुदाय में बेहद लोकप्रिय होने का लाभ भी इन्हें मिला है जिससे कि वे इतने बड़े भू-भाग, साथ ही यात्राओं की दृष्टि से अभी भी काफ़ी कष्टप्रद और प्राकृतिक-मानविक हर प्रकार के ख़तरों से भरी परिस्थितियों में एक नहीं अनेक बार बारी-बारी से यात्रा कर पाए हैं। यात्रावृत्त के आरंभ में ही साथी यात्री के दिल की जो दहशत वे बयान करते हैं, असम का ज़िद्दी-से-ज़िद्दी अलगाववादी, आतंकवादी अथवा वादी-विवादी जिस किसी को भी लें असम देश, असमी भाषा, असमिया-संस्कृति के प्रति श्रद्धा और प्रेम रखनेवाले किसी असम निवासी के विरुद्ध वे कभी भी कुछ नहीं करते। बल्कि हर प्रकार का सहयोग ही करते हैं। बीहड़ वनों में भटक जाने पर अपनी गिरफ़्त में पाकर भी वे स्वयं सुरक्षित स्थलों तक पहुँचा आते हैं। असम निवासी होने, असमिया संस्कृति के प्रति श्रद्धा भाव रखने की दुहाई नहीं देनी होती, बल्कि वे अपनी सहज बुद्धि से ही सब कुछ जान लेते हैं। अत: सांगानेरिया जी को अलफा, उल्फा, आसुका आदि किसी का भी कहीं कोई अवरोध नहीं मिला होगा। अपनी मारवाड़ी बिरादरी की संपन्नता का सहयोग मिला, ठीक वैसे ही सात बहनों के राज्यों के भिन्न-भिन्न धर्मों, भिन्न-भिन्न जातियों का भी सहयोग महज अब उनकी भाषाओं की जानकारी, उनकी भाषा-संस्कृति के प्रति सम्मान सूचक भाव रखने मात्र से मिला।

श्री सांगानेरिया जी ने *ब्रह्मपुत्र के किनारे-किनारे* ग्रंथ रचकर जो काम कर दिखाया है अगर कहीं सरकारी योजनाओं, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की अनुदान राशि से ऐसा काम किया जाता, तो करोड़ों के वारे-न्यारे हो जाते और फलस्वरूप प्रतिवेदन या तो प्रस्तुत ही नहीं होता या फिर दफ़्तरों की धूल चाटता रह जाता। 'असमिया विश्व कोश' का प्रकाशन जो शुरू हुआ तो, असम प्रकाशन परिषद् के सचिव कुमुद गोस्वामी को मैंने ऐसे ही "असम संदर्भ कोश" की आवश्यकता बताई थी। वे इसे स्वीकार कर कुछ करने ही वाले थे कि असमिया विश्व कोश का पहला खंड प्रकाशित करते ही उन्हें नौकरी से निकाल दिया गया। काम करनेवाले को चाहता ही कौन है? अगर भारी अनुदान मिल भी जाए तो भी जिस श्रद्धाभाव से सांगानेरिया जी ने यह कार्य किया है, वह भाव कहाँ से आता? जब कि "जे श्रद्धासंबल रहित नहिं संतन कर साथ... ।"

असम, असमिया के प्रति उनकी श्रद्धा ही है जो उन्हें ब्रह्मपुत्र के संपर्क में आए हर एक आमो-ख़ास के पुराने ऐतिहासिक संदर्भों तक ले जाती है, तो ऐसे गाँव मार्ग में आते ही जहाँ पुराना सुप्रतिष्ठित कोई व्यक्तित्व जन्मा था, अथवा नए युग का कोई असमिया साहित्यकार जन्मा है, तो वे उसका भी उल्लेख करते चलते हैं। शेष भारत के लोग असम की जिन प्रख्यात विभूतियों से परिचित हैं उनका परिचय करवाते हुए, उन्हीं से संबद्ध वहीं की अन्य अपरिचित श्रेष्ठ विभूतियों का भी वे परिचय करवाते चलते हैं। इसी से वे देवी कामाख्या का परिचय देने के लिए उस नीलांचल पर्वत के सर्वोच्च शिखर पर स्थित देवी भुवनेश्वरी के मंदिर से अपना पर्यवेक्षण आरंभ करते हैं।

जहाँ से वे पुराने प्राग्ज्योतिषपुर का इतिहास देते वर्तमान सौभाग्य कुंड, कामेश्वर महादेव, ...क्लांत, आउनी आटी सत्र, उमानंद (भैरव), ...द्वीप, भीमशंकर ज्योतिलिंग, शुक्रेश्वर, ...श्मशान भूतनाथ, हिंदू-बौद्ध-मुस्लिम के ...न सम्मान तीर्थ हाजो, वशिष्ठाश्रम, दरगाह ...रत गियासुद्दीन औलिया, मदन-कामदेव-...त का दूसरा खजुराहो, सुनहत्मे रेशमी वस्त्रों ...नगरी-शुवालकुचि आदि का बड़ा ही मनोरम ...वरण देते चलते हैं। बहाने निकाल-निकालकर ब्रह्मपुत्र घाटी से फलाँग लगा असम की दूसरी ...ड़ी घाटी बराक घाटी भी पहुँच जाते हैं। मुझे ...क्तिगत अफ़सोस है मेरी अपनी निवास-स्थली ...राक घाटी में वे अधिक देर ठहर नहीं पाते इसी ...हमारी बराक महानदी—दोनों किनारे खड़े होने ...कारण जो भारत की कैनयान कही जा सकती —बराक का वर्णन करते समय बदरपुर में उसे ...भागों में विभक्त—सुरमा, कोशियारी नाम से ...गे मेघना में जा मिलने का संकेत भर दे पाते ...। अन्यथा बराक वैली-जो पहले सुरमा वैली ...घाटी) कही जाती थी, की तथाकथित दो धाराएँ ...बराक से फूटती हैं—सुरमा और कुत्सियारा—...दरअसल बीच में द्वीप पड़ने से आती हैं। ...त्सियारा के उस किनारे पर अब बांग्ला देश है। ...सी बांग्ला देश के शिलहट ज़िले में मौलवी ...ाज़ार—ब्राह्मणबाड़िया में ये धाराएँ जब मेघना ...में मिलती हैं, तब इनके बीच बना भारतीय सीमा ...का यह भू-भाग अपने देश का माजुली द्वीप के ...बाद दूसरा बड़ा नदी-द्वीप है।—इसे सांगेनेरिया ...जी सहज ही समझा पाते।

भौगोलिक-ऐतिहासिक-पौराणिक संदर्भों के साथ ही उन्होंने—असम के तीनों बिहू उत्सवों, यहाँ तक कि भिन्न-भिन्न पर्वतीय जन-जातियों में भिन्न-भिन्न नामों से मनाए जानेवाले बिहू उत्सवों, कामाख्या के अंबुवासी उत्सव के साथ कामतापुरी, बोडो, कछारी-लुशाई-कर्बी-गारो-जयंतिया-खसिया-नगा, खामती, मिशी, मिकिर, निशी, आबोर, आपातानी, देउरी, चिंग्फो, चुटिया, मिकिर आदि नाना जातियों-उपजातियों के उपास्य देवों, तीज-त्योहारों, धार्मिक मान्यताओं का उल्लेख करते चलते हैं। पितृसत्तात्मक हिंदी भाषा-भाषियों के समक्ष वे मातृसत्तामक पूर्व भारतीय खसिया, गारो, जयंतिया आदि जातियों की सामाजिक-व्यवस्था का विस्तार से परिचय करवाते हैं कि स्त्री-जाति की मर्यादा के प्रति उनमें भी कुछ चेतना जगे। शंकरदेव के महापुरुषीया धर्म-विशेषत: शाक्त-इलाक़े में उसकी विजय पताका की फहरान दिखाते हुए भी वर्तमान युग में पहाड़ी अंचलों में अंग्रेज़ मिशनरियों की नाना प्रकार की सेवाओं-कूटनीतिक चालों के चलते पूर्वोत्तर के अधिकांशत: ईसाई होते चले जाने और असम के बांग्ला देश सीमांत के बांग्ला देशी ही होते चले जाने से अपनी जन्म भूमि के सिमटते जाने से उनकी कराहें भी यत्र-तत्र सुनाई पड़ती हैं। लेकिन फिर वे असम की चिर प्रसन्न प्रकृति की गोद में पहुँच पाठक को काजीरंगा के राष्ट्रीय उद्यान में ले जाकर जंगली भैंसों, जंगली सूअरों, हरिनों, हाथियों और यहाँ के एक सिंगी गैंडों की दुनिया में पहुँचाकर खिले हुए फूलों की तरह तन-मन से खिला देते हैं। उन्हें अफ़सोस है कि एक साहित्यिक की भाषा उनमें नहीं है, परंतु जिस कलात्मकता से वे असम के संबंध में सारा कुछ बतला जाते हैं, उसके अतिरिक्त साहित्यिकता है ही क्या?

ब्रह्मपुत्र के किनारे-किनारे—ब्रह्मपुत्र प्रवाह पथ का यात्रा-वृत्तांत भर नहीं है, अपितु ब्रह्मपुत्र के बहाने असम और समस्त पूर्वोत्तर राज्यों का संदर्भ कोश है। कभी है तो यही कि इसमें कालानु-क्रमिता-ऐतिहासिक विकासात्मक दृष्टि, साथ ही भौगोलिक स्थलों की क्रमबद्धता का अग्रसारित वर्णन क्रमश: नहीं है। नामों और स्थलों की नामानुक्रमणी अगर इसमें जोड़ दी जाए तो यह असम संदर्भ ज्ञान कोश ही है। लेखक के साथ इसके प्रकाशक भी धन्यवाद के पात्र हैं।

चर्चित पुस्तक :

ब्रह्मपुत्र के किनारे-किनारे : सांवरमल सांगानेरिया; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 265 रुपए

गंगा प्रसाद विमल

जो घर फूँके...

ज्ञान चतुर्वेदी का नया व्यंग्य संग्रह *जो घर फूँके* असल में आलोचना की गंभीर किताब की तरह है जिससे हम अपने समाज की वास्तविकताओं से परिचित होते हैं। इस लिहाज़ से ज्ञान चतुर्वेदी का नाम अब से विज्ञान चतुर्वेदी मान लिया जाए तो कोई हर्ज नहीं, वैसे मैं पिछले लंबे अर्से से ज्ञान चतुर्वेदी से जलता भी हूँ कि यह आदमी व्यंग्य में कविता, व्यंग्य में सूक्तियाँ, व्यंग्य में तुलनात्मक अध्ययन और व्यंग्य में हरिशंकर परसाई की तरह सजग, चौकस, प्रतिबद्ध लेखक बने जा रहा है। अरे भाई, रहो आप चुपचाप व्यंग्य लेखक, आप तो गद्यकार, निबंधकार, कवि, कथाकार, संस्मरणकार बन रहे हो सो ईर्ष्या के मारे अपने पंजाबी उच्चारण में ज़ोर देकर मैं ज्ञान चतुर्वेदी को अज्ञान चतुर्वेदी मानने के मामले में उदार हुए जा रहा हूँ। अभी दोस्तों को तैयार करता कि ज्ञान चतुर्वेदी का नया नामकरण कर दिया जाए कि मुझे लगा *जो घर फूँके* में वे संज्ञान चतुर्वेदी बन गए हैं वे बराबर सामाजिक इकाईयों में व्याप्त बुराइयों का संज्ञान लिए जा रहे हैं। इसलिए बहुनामी ज्ञान चतुर्वेदी की चौकस दृष्टि से ज़रूर दो-चार होना चाहिए। मसलन ताज़े संचयन में उतरा पहला व्यंग्य गल्प है 'भूगोल को समझना' और उसमें वे बारीकी से बता रहे हैं—"फारे कि अपुन को यह भूगोल कभी जमा ही नहीं, सही मायनों में कहें तो अपनी रुचि तो कभी पढ़ाई के किसी विषय में रही ही नहीं। गणित तो ख़ैर किसी को भी तो कभी पढ़ाई के किसी विषय में रही ही नहीं। गणित तो ख़ैर किसी को भी समझ में नहीं आता तथा नागरिक-शास्त्र में जो पढ़ाया जाता है, वह नागरिक को अच्छा नागरिक बनने में मदद करता हो, ऐसा देखा नहीं गया है।" यह कटाक्ष हमारी वर्तमान शिक्षा पद्धति पर तो है ही कि उसमें ऐसा कुछ उभर नहीं रहा है कि पढ़ने वाले की रुचि विकसित हो बल्कि अनेक विषय अपनी प्रासंगिकता पर प्रश्न चिह्न लगाते दिखाई देते हैं। यह एक प्रकार से पूरे तंत्र की आलोचना है कि उसमें किस प्रकार की व्याधियाँ घर कर गई हैं।

जो घर फूँके में समय-समय पर लिखे व्यंग्य हैं जिनकी अंतर्धाराओं में हम अपने वर्तमान को देखते हैं। ज्ञान कुछ ज़्यादा ही तुर्श होकर सवाल करते हैं और इस मामले में वे एकदम मौलिक हैं। शायद यह मौलिकता उस सत्य को अभिव्यक्ति देना है जो संस्कृति और सभ्यता की कई तहों के भीतर झूठ के अनगिनत रूपों में विद्यमान हैं। 'ग़रीब की शक्ल' ज्ञान का एक अद्‌भुत व्यंग्य निबंध है, उनका निष्कर्ष है : "इन सब साले ग़रीबों की शक्ल एक जैसी होती है। अमीरों की अलग-अलग, पर ग़रीबों की शक्लें एक-सी...।" स्पष्ट है व्यंग्यकार एक सहृदय मनुष्य की तरह उन लोगों की तस्वीर के सामने है जो वर्षों बाद भी जस के तस हैं। "वही धुआँ धुआँ चेहरा, वही पिचके गाल, वही सूखे खुरदुरे गाल, वही धँसी-धँसी आँखें, वही भाँय-भाँय करता अनंत सूनापन आँखों में, वही दिगंत तक फैली झुर्रियाँ बदन पर, वह अनगिनत सलवटें माथे पर, वही सहमा-सहमा-सा भाव चेहरे पर, वही याचक की मुद्रा, वही सूखे-सूखे-बिखरे बाल, वही टूटे-हिलते दाँत, वही अधनंगा बदन, वही बारह पसलियों का पिंजरा, वही फटी हुई धोती, वही बिवाई वाले पाँव, वही पिचका हुआ पेट—संपूर्ण व्यक्तित्व पर मानो भूख के तंबू की खूटियाँ गड़ी हुईं।" यानी किसी औसत ग़रीब आदमी की तस्वीर की कोई ऐसी चीज़ ज्ञान चतुर्वेदी से छूटी नहीं कि हम शिकायत करें कि भाई आपसे वह चीज़ चित्रित होने से रह गई। यह

किफ़ायतदारी की पूर्णता और चित्रण की तल्लीनता ज्ञान चतुर्वेदी को शब्दों के एक प्रयोगशील चित्रकार के रूप में प्रस्तुत करती है। ज्ञान चतुर्वेदी के व्यंग्य चुटकुलेबाज़ों की तरह गुदगुदाते नहीं हैं वे बुरी तरह से झिंझोड़ते हैं। इनमें ख़ासियत यह है कि पहले वे आपको बाँधते हैं। अच्छी तरह आबद्ध करने के बाद वे लक्ष्य के सामने आपको ले आते हैं और फिर लगता है कि आपके भीतर लक्षित को जगाकर आक्रमण कर रहे हों। इस लिहाज़ से वे आलोचना के नए सिद्धांत निर्मित करते हैं इसीलिए विनोदपूर्वक इसने आरंभ में जो स्थापना की थी कि ज्ञान की यह पुस्तक 'आलोचना की गंभीर किताब की तरह है' मात्र विनोदपूर्ण उक्ति नहीं है अपितु व्यंग्य विधा को उसके महत्त्व से परिचित कराने की विनम्र कोशिश है। यहाँ यह कहना उचित होगा कि जो बातें गंभीर विवेचनाओं में नहीं कही जाती उन्हें व्यंग्योक्तियों के सहारे कहने में आसानी होती है। इस दृष्टि से अच्छे व्यंग्य साहित्य की पूरक अभिव्यक्ति की तरह हैं।

हमारे समाज के भ्रष्ट चेहरे गाहे-बगाहे हर क्षेत्र में मिल जाते हैं। निस्वार्थ सेवा के क्षेत्र में स्वैच्छिक संस्थाएँ क्या काम कर रही हैं? इसका लेखा-जोखा ''एक क्रांति थ्रू एन.जी.ओ.'' में उपलब्ध है। ज्ञान की पैनी नज़र से विनोद प्रकरण का एक नया अध्याय आलोकित होता है। लग सकता है कि यह महज़ एक काल्पनिक वृत्तांत है परंतु इसकी अतिकल्पना में हम क्रांति लाने वाले की ठस बौद्धिकता से भी परिचित होते हैं और उस दृष्टि से भी जिसका लक्ष्य पैसा बटोरना है। यह प्रगल्भ अपनी अर्थक्षमता में बेजोड़ कहा जाएगा क्योंकि इसकी सांकेतिकता के दायरे में वे सब कार्य आ जाते हैं जो सरकारी कृपा की अपेक्षा रखते हैं। ''वे क्रांति करना चाहते हैं/तैयारी पूरी है, संस्था खड़ी कर ली है। क्रांति कभी भी शुरू हो सकती है। एन.जी.ओ. बना ली है। ज्यों ही सरकार की ग्रांट रिलीज़ हुई, त्यों ही क्रांति चालू कर देंगे।''अकसर स्वैच्छिक संस्थानों के आदर्श लक्ष्य चटकाने वाले होते हैं। उनसे जुड़े शातिर मस्तिष्क आदर्श के नए-नए आकार बनाते रहते हैं और लक्ष्य प्राप्त हो न हो—उनका लक्ष्य होता है अच्छा अनुदान लेकर एक-दूसरे आदर्श की तलाश और जैसा ज्ञान चतुर्वेदी ने रेखाएँ खीची हैं, वे स्वैच्छिक संस्थाओं के आधारभूत ढाँचे पर ही प्रश्नचिह्न लगा लेते हैं।'' सब निर्भर करेगा कि हमारी एन.जी.ओ. कितना पैसा सरकार से खींच पाती है। कम पैसा मिला तो छोटी क्रांति की जाएगी और ठीक-ठाक मिल गया तो बड़ी भी कर सकते हैं। डिपेंड्स। यू नो। एक तरह से 'क्रांति' के रूपक के ज़रिए स्वैच्छिक संस्थाओं के भीतर किस प्रकार से सरकारी पैसे का दुरुपयोग होता है उसे संकेतित करने में ज्ञान चतुर्वेदी एक जासूस की तरह एन.जी.ओ. के संचालक समाज की पोल खोलते हैं।

अफ़सरशाही और सामान्य जन के वृत्तांत अनेक बार सार्वजनिक हुए हैं। ''और वे आ भी गए तो क्या!'' में ज्ञान चतुर्वेदी ने संवेदनहीन हो चुकी नौकरशाही और उम्मीद पर जीनेवाले सहज स्वभाव वाले के भीतरी मर्म को उद्घाटित किया है। ''फिर काहे को बार-बार आकर मगज खाता है? साहब आ गए, साहब आ गए; पार क्या पीछे की नाली से घुस जाएँगे, या कि चोर की तरह खिड़की काटकर अंदर कूद जाएँगे। आएँगे तो तेरे को भी दिखेंगे। है कि नहीं, बोल?'' वह झेंपकर बोला था कि ''बाबू जी हम ठहरे मूरख जन, गाँव के ग़रीब-गुरबा और ये दफ़्तर इत्ता बड़ा। कौन किधर से घुस के किधर से निकला जा रहा है, यह हमें समझ नहीं पड़ता मालिक, अकबका गए सरकार—सो बार-बार पूछ लेते हैं।...'' एक सहज न्याय की आकांक्षा में आए ग़रीब के प्रति जो रवैया नौकरशाही के यहाँ पनपा है उसे देखकर लगता है कि खाई ज़्यादा चौड़ी और गहरी हो गई है। एक उन्मादित, असहिष्णु वर्ग की उपेक्षा भी अन्याय का ही एक अंग है। अगर ज्ञान चतुर्वेदी की व्यंग्य रचनाओं का कोई मूल स्वर है तो वह यही है कि वे बहुत बारीकी से मनुष्यता के प्रति

पनपते अन्याय की रेखाओं को साहसपूर्ण ढंग से अनावृत्त करते हैं, शायद कम ही सृजेताओं के यहाँ यह दृष्टि, इतनी मर्मभेदी त्वरा के साथ दिखाई देती है। वह साफ़-साफ़ उभरकर छनकर उन व्यंग्यात्मक छवियों में ज़्यादा प्रकट है जिन्हें हम विवरणात्मक मान बैठते हैं।

चर्चित पुस्तक :

जो घर फूँके : ज्ञान चतुर्वेदी; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; 2006; 210 रुपए

12 कहानी-संग्रह, सात कविता-संग्रह, चार उपन्यास आदि के रचयिता गंगाप्रसाद विमल का जन्म 1939 में हुआ। कई संस्थाओं से सम्मानित हैं। संपर्क : 112, साउथ नॉर्थ अपार्टमेंट्स, कालकाजी, नई दिल्ली-110019

सुवास कुमार

जीवन की आंचलिकता और आंचलिकता का जीवन

लगभग तीन दर्जन कहानियाँ-मात्र लिखकर तेलुगु कथा-साहित्य में अपना स्थान सुनिश्चित कर लेनेवाले कालीपटनम रामाराव कहानियाँ तो व्यक्ति और परिवार की लिखते हैं पर वे परिवेश की कहानियाँ हो जाती हैं। रामाराव आवेश से लिखते नहीं मगर आवेश पैदा करते हैं। वे धैर्य से कहानी बुनते हैं मगर पढ़नेवाले को क्षुब्ध और बेचैन करते हैं। वे ऊसर, नीरस और उबाऊपन को भी इस तरह रचते हैं कि रचना रस से सराबोर हो जाती है। उनके कथारूप में श्रीकाकुलम के सामाजिक जीवन की आंचलिक पहचान बनती है। रामाराव की कहानियों के वृत्त में परिधि उतनी ही महत्त्वपूर्ण होती है जितना केंद्र। वे व्यक्ति के बजाय जन-समूह पर ध्यान रखते हैं। इसलिए उनकी कहानियों में जीवन का कैनवस बड़ा प्रतीत होता है।

ये सारी बातें हिंदी के पाठकों को फणीश्वरनाथ रेणु की कला की याद दिला सकती हैं। रेणु की भाँति रामाराव आम जनता के प्रति प्रतिबद्धता व्यक्त करते हैं और अपने कथा-क्षेत्र की पहचान कलात्मकता के साथ उपस्थित करते हैं। लेकिन दोनों में एक सूक्ष्म अंतर भी है। रेणु की कला या वैचारिकता में किसी क़िस्म का कोई जल्दबाज़ निर्णय नहीं होता। रेणु का व्यक्ति-लेखक अपनी रचनाओं में पूरी तरह छिपा रहता है, रचनाओं के समापन और निष्कर्ष तक में रेणु की विचारधारा मुखर नहीं होती। वे जीवन को उसके पूरे खुलेपन के साथ हमारे आगे प्रस्तुत कर देते हैं। यह बात उनकी कला को महान बनाती है। अपने समस्त धैर्य के बावजूद रामाराव का व्यक्ति लेखक चित्रित जीवन में हस्तक्षेप करना चाहता है और यह बात उनकी रचनाओं में उभर आती है। लेखक को किसी विचार-विशेष के सहारे सामाजिक जीवन में बदलाव की ओर जाना पसंद है। रेणु को सामाजिकता, मनुष्य और मानवता में अगाध विश्वास है और उनके लेखे हरेक जन का मानवीय पहलू महत्त्वपूर्ण है। रामाराव में चरित्रों के मामले में पूर्वाग्रह झलकता है और इसी कारण पूँजीपति, ज़मींदार, बड़े अधिकारी, विधायक, सांसद, मंत्री— जैसे पात्रों का उनके यहाँ रेणु की तुलना में एकांगी चित्रण मिलता है।

रेणु की रचनाओं के सामने आने से भारतीय भाषाओं के साहित्य में आंचलिकता एक बड़े आंदोलन की तरह उपस्थित हुई। इस क्रम में आंचलिकता के नए आयाम भी प्रस्तुत किए गए। 1995 में साहित्य अकादेमी द्वारा पुरस्कृत तेलुगु कहानी-संग्रह के इस हिंदी अनुवाद का हिंदी में स्वागत होना चाहिए। तेलुगु तथा अन्य भारतीय भाषाओं के कथा क्षेत्र में आज आंचलिकता की प्रवृति कौन-से रूप ले रही है, इसका पता हिंदी पाठकों को अनुवादों से ही मिल सकता है। हिंदी की अनेक पत्र-पत्रिकाओं ने समय-समय पर तेलुगु साहित्य विशेषांक निकाले हैं तथा स्वतंत्र

पुस्तकों के अनुवाद भी होते रहे हैं। वर्षों पहले दाशरथि रंगाचार्यकी चिल्लरदेवुल्लु (घाट के देवता) और अल्लम राजय्या की कमला-सरीखी आंचलिक कथा-रचनाएँ हिंदी में अनूदित और चर्चित हो चुकी हैं। जे.एल. रेड्डी ने भी एकाधिक उपन्यासिकाएँ अनूदित कीं। इस सिलसिले को, जे.एल. रेड्डी द्वारा ही किया गया रामाराव के इस महत्त्वपूर्ण कहानी संग्रह का अनुवाद एक विशिष्ट कड़ी के रूप में जुड़कर आगे बढ़ाता है।

संग्रह की सभी नौ कहानियों को रामाराव की प्रतिनिधि कहानी मान सकते हैं। मूल तेलुगु में संग्रह (यज्ञम तो तोम्मिडि) का नाम 'यज्ञ' कहानी पर रखा गया था जबकि हिंदी में एक अन्य कहानी 'शवदाह' को शीर्षक का आधार बनाया गया है। शीर्षक में इस परिवर्तन में महत्त्व का बल स्थानांतरित हो गया प्रतीत होता है, हालाँकि यह 'शवदाह' शीर्षक हिंदी की दृष्टि से कम मौजूँ नहीं। यह कहानी प्रेमचंद के 'कफ़न' की याद दिलाती है और आश्चर्य नहीं जो रामाराव इस कहानी की रचना में प्रेमचंद के 'कफ़न' से प्रेरित होकर प्रवृत्त हुए हों। कफ़न कहानी की सीधी प्रेरणा अरुण प्रकाश—जैसे हिंदी के नए कहानीकार की 'कफ़न-1984' जैसी कहानी के पीछे थी। इस तरह 'शवदाह' कहानी भी 'कफ़न' से आगे की है कि इसमें ठंड के दिनों में लाश के लिए कफ़न नहीं, जलाने के लिए सूखी लकड़ियाँ प्राप्त करने की समस्या है। गाँव का आलम यह है कि 'अत्याचार की तरह ठंडवाली रात में', 'धुंध में लिपटे महावृक्ष ठिगने लग रहे हैं' कहीं भी किसी तरह भी गाँववालों से माँगकर लकड़ी नहीं मिल सकती, यह सत्य जल्दी ही ज़ाहिर हो जाता है। कहानीकार की व्यंजक भाषा जिस तरह सामाजिक-सामूहिक मनोविज्ञान की परख करती है उससे वह कभी प्रेमचंद और कभी रेणु के निकट प्रतीत होता है। बड़ी कलात्मकता से आर्थिक विपन्नता और मानवीय संबंधों के द्वंद्व को प्रस्तुत किया गया है। लाश है बुढ़िया नारम्मा की जो, कहा जा सकता है कि सर्वहारा के अनुकूल 'स्वाभाविक' मौत मरी है, जिसमें लोग 'बातों और आँसुओं' के सिवा कुछ ख़र्च करने की स्थिति में नहीं होते। बुढ़िया की एक पोती है युवती नारेम्मा जिसकी शादी पैसों के अभाव में टलती जा रही है। नारम्मा से नारेम्मा तक यह सर्वहारा ज़िंदगी एक ही पीड़ा को दुहराती हुई गुज़र रही है या फिर ठिठकी हुई है। ग़रीबी और मौत का यह क़रीबी रिश्ता सारे स्त्री और दलित विमर्शों को मुँह चिढ़ाता प्रतीत होता है। बुढ़िया को पता था कि वह जब भी मरेगी, ठंड से ही मरेगी। उसे ठंड में लकड़ी के अभाव का भी पता था। अत: वह अंतिम इच्छा के रूप में मानो अपने बच्चों से बार-बार यही कहती, "लकड़ी नहीं मिलेगी, यह सोचकर मुझे गाड़-गूड़ मत देना। कहीं से मोल लेकर या माँगकर और कुछ नहीं हुआ, तो चोरी करके ही सही मुझे जला देना। गाड़ी भर लकड़ी में जलाना। इतने दिन की मेरी ठंड चिता पर ही सही जल जानी चाहिए।" किसी भी वैध और नैतिक तरीक़े से लकड़ी हासिल करना सबसे बड़ी समस्या बन जाती है। आख़िर बुढ़िया की भविष्यवाणी फलित होती है और चोरी की लकड़ियों से ही उसका दाह-संस्कार संपन्न होता है। इस तरह से जीवन की जिजीविषा की जय होती है अर्थात् कथा का 'सुखांत' होता है पर 'समस्या' जस-की-तस बनी ही रहती है! रामाराव की यह कहानी लंबी किसी संरचनागत मजबूरी से नहीं बनी है बल्कि लगभग अनावश्यक विचार-कथनों के द्वारा कथा को कुछ अतिरिक्त विस्तार मिल गया है, साथ ही कथा-विन्यास में द्रुतता नहीं, विलंबित गति से काम किया गया है। यहाँ तक कि चालाकी से आयडियॉलॉजी का कहानी में रूपांतरण करने से भी कहानीकार हिचकता नहीं। कहानीकार को सर्वहारा विश्वदृष्टि का अच्छा परिचय है। एक ग़रीब की दृष्टि से देखें तो पूरी सृष्टि ही सडाँध से भरी हुई है और "परलय को छोड़कर इस धरती की गंदगी को और कोई चीज़ धो नहीं सकती। जाएँगी तो सभी चीज़ें एक साथ चली जाएँगी। हम आदमी भी चले जाएँगे। तो भी कोई बात नहीं।" लेखक युवा पीढ़ी के बग़ावती तेवर में एक भरोसा पाता है। वह एक रचनाकार की भूमिका को खींचकर उसे वैचारिक एक्टिविस्ट बनाने को भी

बुरा नहीं समझता। ठंडी अँधेरी दिशाहीन स्थितियों में विद्रोह-भरे संघर्ष के पक्ष में उसका यह जल्दी से लिया गया निर्णय इसलिए है क्योंकि चीज़ों को सही तौर पर समझने-बूझने में वह और ज़्यादा वक़्त जाया नहीं करना चाहता। उसे डर है कि तब तक पता नहीं समय का प्रवाह हमें बहाकर कहाँ-से-कहाँ ले जाएगा।

प्रेमचंद के 'पंच परमेश्वर' की भाँति रामाराव की कहानी 'यज्ञ' की समस्या न्याय पाने की है। ग़रीबी-जहालत आदि जस-का-तस होने के बावजूद रामाराव का गाँव आज का गाँव है—प्रेमचंद के गाँव से बहुत आगे का—जटिल पूँजीवादी दौर का—गाँव है जहाँ गांधीवादी आदर्श लेकर चलनेवाले सरपंच हैं, जिनके सरल सिद्धांतों के लिए गाँव की परिस्थितियाँ ज़्यादा ही जटिल हो जाती हैं। कहानीकार के अनुसार पूँजीवादी उपकरणों-शहरीकरण और औद्योगीकरण से असलियत में सामना होने पर गांधीवाद बेबस हो जाता है। धर्म का सहारा दोनों ही लेते हैं, मगर अलग-अलग ढंग से। लेकिन कहानीकार इस फ़र्क़ को नहीं देख-दिखा पाता। कहानीकार यह तो देखता है कि कृषि-उत्पादों में आए परिवर्तन से किसानी जीवन-स्थितियों में और सामाजिक जीवन में, बदलाव आए हैं। किसान और व्यापारी का रिश्ता भी बदला। एकतरफ़ा विकास का विकराल रूप पूँजीवादी औद्योगीकरण की देन है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि कहानीकार गांधी की राह की हिमायत करता है। पूँजीवाद का यानी धनतंत्र का स्वभाव निष्करुण और पर-पीड़क होता है। कहानीकार गांधीवाद के पूँजीवाद का हिमायती मानकर उस पर ख़ूब कटाक्ष करता है। कहानी में अतिनाटकीय ढंग से नई पीढ़ी की बलि दिए जाने का 'यथार्थ' चित्रित किया गया है। इस सिलसिले में जो पूरी कहानी में डायलॉगबाज़ी कराई गई है वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी वर्णन को कमज़ोर करती है। कुल मिलाकर, कहा जा सकता है कि रामाराव की यह बेहद चर्चित कहानी सही दिशा की तलाश करने में ख़ुद भटकन का शिकार हो गई है।

रामाराव जिस समाज का स्वाभाविक चित्र उकेरते हैं उसके भीतर क़दम-क़दम पर होनेवाली 'हिंसा' से वे अच्छी तरह परिचित हैं। हिंसा केवल हत्या में ही नहीं होती, बल्कि लोगों को धीरे-धीरे झुकाने और उनका मनोबल तोड़ने में भी होती है। इस हिंसा के हथियार सामाजिक, धार्मिक रिवाज और धन के पैंतरे होते हैं। रामाराव उस समाजार्थिक पहलू से अच्छी तरह परिचित हैं जहाँ स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति की ओर रपटती-फिसलती दिखाई देती हैं। रामाराव प्रतिकार को भी नहीं भूलते। विरोध और विद्रोह की प्रतिक्रिया उन्हें पसंद है। उन्हें प्रतिपक्ष की ओर से मुखर होकर लड़ना भी अच्छा लगता है चाहे इससे कलात्मकता की क्षति भी क्यों न होती हो। उन्हें निम्नवर्ग के चरित्रों से सच्ची सहानुभूति है। वे मज़दूर और कारीगर के भीतर कलाकार का वैसा स्वाभिमान देखना चाहते हैं जैसा रेणु की कहानी 'ठेस' के ग्रामीण कारीगर-कलाकार के भीतर था। रामाराव ने निम्नवर्गीय स्त्रियों के भी ऐसे बड़े स्वाभाविक चित्र अंकित किए हैं जो तथाकथित स्त्री-विमर्श के कथाकारों पर सहज ही भारी पड़ेंगे। उनके पात्र समाज के इतने निचले तबके के हैं कि जिन्हें उनका जीवन-संघर्ष और अभाव दिन-रात में कभी एकांत का कोई स्थान और क्षण मयस्सर नहीं होने देते, जिनके लिए ढंग का वैध यौन-सुख ('महासुख') तक दुर्लभ है ('नो रूम' कहानी)। रामाराव आम आदमी के 'नरक' का वास्तविक वर्णन करके यह उजागर करते हैं कि ग़रीबी से बढ़कर भयंकर और क्रूर वस्तु संसार में नहीं है। इस चित्रण में वे पात्रों की परिस्थितियों और उनके मनोविज्ञान को विडंबनापूर्ण भंगिमा के साथ उपस्थित करते हैं। वे हमारे वर्गीय चरित्र और सोच पर गहरी चोट करते हैं। हालत ऐसी है कि रामाराव पाते हैं कि निम्नवर्ग और निम्न-मध्यवर्ग के बीच में आपसी समझ पैदा हो सके ऐसी कोई जगह दिखती नहीं—'नो रूम'।

रामाराव को पढ़ते वक़्त बार-बार रेणु की याद आती है जो इस तथ्य का प्रमाण है कि आंचलिकता भी सार्वभौमिकता है! जगह-जगह रामराव की

भाषा-शैली रेणु के शिल्प और शैली वाली दिखाई देती है, उदाहरणार्थ : ''पोड़ा साँप एक और साँप होता है। वह ठीक बालिश्त-भर होता है। वह रहता कहाँ है, पता है ?—ताड़ की फुनगी पर !...काटता कहाँ है मालूम है ? सिर के ठीक बीचो-बीच !''

इस प्रकार के अनेकानेक संदर्भ इस बात के द्योतक हैं कि आंचलिक मानसिकता भारतीय ग्रामीण मानसिकता भी है।

रेणु की भाँति ही रामाराव अभागे गाँवों और शहरों की गाथा कहते हैं और उनका भी सहज स्वाभाविक झुकाव गाँव की ओर है। कुछ-कुछ रेणु जैसा ही सूक्ष्म निरीक्षण, वैसी ही व्यंग्य-भंगिमा और व्यंजकता। सामूहिक नल पर पानी भरती हुई औरतों के झगड़े हों, या निम्न वर्ग के दुखी, एकरस, जहालत भरे जीवन की अनुभूति, परंपरित और आधुनिक नैतिकताओं का द्वंद्व हो अथवा स्थापित नैतिकता पर व्यंग्य, आत्मालोचन और आत्म-गौरव के बीच उघड़ती हुई जीवन की परतें हों या फिर दलित और ग्रामीण जीवन का वह अर्थशास्त्र जहाँ ग़रीबों के लिए ज़मीन आमदनी का ज़रिया नहीं, ख़र्चे का घर ही है—इन बातों में रामाराव रेणु के अत्यंत निकट हैं। लेकिन कई स्तरों पर वे रेणु से अलग और दूर भी हैं। रामाराव द्वारा उपस्थित किए गए ग़रीबी के दर्शन में दास जीवन की नीरस अंतहीन ठंडी अँधेरी सुरंग भर ही है, वहाँ चुटकी भर धूप या रोशनी भी नहीं। वहाँ 'ज़िंदगी का डर' समाया हुआ है, जीते रहने का कोई संबल नहीं—तुच्छ ही नहीं, उच्छिष्ट भी ! रेणु के यहाँ सांस्कृतिक परंपराएँ सामाजिक संबंधों और दायित्व बोध को पकड़े रहती हैं। आश्चर्य नहीं जो रामाराव के यहाँ संस्कृति वंचित व्यक्ति भय के मनोविज्ञान से ग्रस्त-त्रस्त रहता है। यद्यपि रामाराव में उच्चवर्गीय उद्योगपति और उच्चपदस्थ सरकारी अधिकारियों के रहन-सहन और व्यवहारों का वास्तविकता से भरा वर्णन करने की क्षमता तो है (जिसका प्रमाण 'शांति' जैसी कहानी है) लेकिन इसमें उच्चवर्ग के प्रति उनका हिकारत-भरा पूर्वाग्रह छिपाए नहीं छिप पाता। अब इसे साहित्य में कोई चाहे कलात्मक कमज़ोरी कहे, चाहे रचनात्मक प्रतिबद्धता का विशिष्ट परिणाम। रामाराव के लेखन में स्वाभाविकता वर्णन के साथ-साथ संवाद लेखन में महारत के चलते भी आई है। रामाराव अपनी कहानियों में किसी-न-किसी बहाने या माध्यम से लेखकीय मंतव्य के रास्ते ही आए, यह संभव नहीं है।'')। लेखक का 'शांति-विमर्श' यह तो मानता है कि व्यवस्था में आमूल परिवर्तन के लिए देश में क्रांतिकारी आंदोलन नहीं हुए लेकिन उसका भावुकता भरा भरोसा जिस हिंसक आंदोलन में है उसका अपेक्षित विवरण-विश्लेषण भी नहीं प्रस्तुत कर पाता। फिर भी कहानीकार हमारे लोकतंत्र की त्रासदी का सफलतापूर्वक आख्यान प्रस्तुत कर सका है, जिसमें ग़रीबी-अमीरी, शोषित की ऐसी अद्‌भुत अन्योन्याश्रितता है कि जिसमें किसी भी पक्ष को सुख-शांति या प्रेम मयस्सर नहीं, जो भी स्थिति है वह किसी बलात्कार जैसी है, बल्कि उससे भी बदतर।

संग्रह की अंतिम कहानी ('षड्‌यंत्र') सबसे कमज़ोर कहानी भी है। वस्तुतः यह कहानी भी नहीं, ज़्यादा से ज़्यादा ललित निबंध या सामाजिक और आर्थिक विषय का विवेचन ही है। निबंधशैली की यह प्रयोगात्मक रचना भले ही कही जा सकती है। रामाराव यहाँ कहानी कला के नहीं, तर्क और संवाद शैली के मँजे हुए लेखक होने का ही सबूत देते हैं। यहाँ वे आज़ादी के बाद के हमारे राष्ट्रीय राजनैतिक-आर्थिक परिदृश्य में नेतृत्व के दिवालियेपन की पोल खोलते हैं और इसके लिए बहुलांश में गांधी को ज़िम्मेदार ठहराते हैं। दरअसल वे गांधी और गांधी के विचारों का न केवल सरलीकरण करके बल्कि अपने सुविधानुसार तोड़-मरोड़कर भी जिस प्रकार प्रस्तुत करते हैं उससे सहमत होना कठिन है। इसके रामाराव की सौंदर्य-दृष्टि भी किंचित् अनाधुनिक है, उनके सौंदर्य बोध को गाँव के बग़ीचे जीवन की ज़रूरतों से जुड़े होने के कारण जँचते हैं, जबकि शहर के 'आधुनिक' बग़ीचे उन्हें 'भारतीय जीवन-पद्धति से कटे' महसूस होते हैं।

रामाराव की अनेक उपमाएँ अपनी मौलिकता के कारण अलग से ध्यान खींचती है। बच्चों को जनने, पालने के दिनों में नारम्मा अग़ल, बग़ल, कमर, छाती, कंधों पर बच्चों से लदी-फँदी "ख़ूब लदे पपीते के पेड़ की तरह लगती थी।...", "पहली दुकान पर गैस बत्ती बनिए के कारोबार की ही तरह ख़ूब रोशनी फेंक रही है।" "असल में यह काँटों पर गिरी रेशमी धाती है भाई! उठाओ, तब भी नहीं बचेगी और नहीं उठाओ तब भी नहीं बचेगी।"... "शहर नया-नया-सा लग रहा है—ससुराल की तरह।" "पारम्मा की उम्र पचीस की होगी। अकाल में पककर झुलसी अँबिया की तरह दिखती है वह।" (साँप खोजने के लिए) लाठियाँ जहाँ-तहाँ भोंक-भोंककर देखने के बाद उन लोगों ने कहा, "सारे घर में सूराख़ ही सूराख़ हैं।" रामाराव साहित्य के उन थोड़े से लोगों में हैं जिन्होंने थोड़ा लिखा पर श्रेष्ठ लिखा है। हिंदी में इस प्रकार गुलेरी, सरदार पूर्ण सिंह, ज्ञानरंजन जैसे नाम ध्यान में आते हैं। एक श्रेष्ठ रचनाकार के रूप में रामाराव जीवन को सबसे बढ़कर मानते हैं और कहानी में कहते हैं, "जीवन मनुष्य में परिवर्तन ला देता है। अनुभव उसका कारण बनता है।"

यज्ञम तो तोम्मिडी नामक संकलन का यह हिंदी अनुवाद मूल का-सा आनंद देता है। रेड्डी जी की हिंदी की भाषिक अभिव्यक्तियों पर अच्छी पकड़ लगती है। लिथड़ना, ओलती, ओरी, खिलाड़, छिछियाना, चिपचिपाना—जैसे शब्दों के जहाँ सहज प्रयोग हुए हैं, वहीं "अनुवाद को अनुवाद जैसा भी दिखना चाहिए" वाले सिद्धांत की ख़ातिर मानो अनुवादक ने अनुवाद-गंध वाली ऐसी अभिव्यक्तियाँ भी रख छोड़ी हैं ताकि हम मूल का कुछ अनुमान लगा सकें—

"अगर कुछ देशी डेमोक्रैट हैं तो उनको यह मालूम होके नहीं मरता कि कमबख़्त योरप के प्रजातंत्र का प्राण-तत्त्व कहाँ है।" (पृ. 254)

तेलुगु से हिंदी में साहित्यिक अनुवादों को लंबी परंपरा रही है। पिछले वर्षों में स्व. दंडमूडि महीधर और प्रो. भीमसेन निर्मल जैसे अनुवादकों ने तेलुगु कहानियों और उपन्यासों के हिंदी अनुवाद प्रस्तुत किए थे। उस विरासत को परिश्रम, सूझ-बूझ और क्षमता से जे.एल. रेड्डी आगे बढ़ा रहे हैं।"

चर्चित कहानी-संग्रह :

शवदाह तथा अन्य कहानियाँ : कालीपटनम रामाराव; अनु. जे.एल. रेड्डी; साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली; 2004; 150 रुपए

कहानी, कविता, आलोचना और उपन्यास की 12 पुस्तकों के रचियता सुवास कुमार का जन्म 1948 में हुआ। संपर्क : 38, शांति निकेतन, क्वाइट लैंड्स, इंदिरा नगर, गच्ची बावली, हैदराबाद-500032

सुरेंद्र तिवारी

सोने के दाँत

हिंदी में मुस्लिम वर्ग और परिवेश को लेकर जो कहानियाँ प्रकाशित हुई हैं, *सोने के दाँत* में संकलित कहानियाँ कई अर्थों में उनसे भिन्न स्तर की हैं। एक तो यह कि अन्य कथाकारों की तरह साजिद आज के महत्त्वपूर्ण सवालों पर खुलकर बात करने में हिचकते नहीं हैं। दूसरा यह कि इन कहानियों में 'हिंदी-मुसलमान' भाईचारे या सांप्रदायिक सामंजस्यता की कोरी भावुकता भरी बातें नहीं हैं बल्कि दोनों समुदायों की सच्चाइयों को, उनकी विषमताओं को, अनेक रूपताओं को लेखक यथार्थ के धरातल पर पकड़ता है और प्रस्तुत करता है। इस संदर्भ में एक-दो उदाहरण यहाँ पर्याप्त होंगे। 'चादरवाला आदमी और मैं' कहानी में लोकल ट्रेन के कंपार्टमेंट में बैठे यात्रियों में कोई भेद-भाव नहीं दिखता, हिंदुओं की भजनमंडली कंपार्टमेंट में भजन गाती है और प्रसाद बँटता है। यह प्रसाद

चंदे से आता है और इस चंदे में भागीदारी मुसलमान यात्री (कथा-नायक) भी करता है। इसी तरह ईद के दिन भी हिंदू मिठाई बाँटने को तत्पर हैं। लेकिन बाबरी मस्जिद कांड के बाद इस स्थिति में एकदम परिवर्तन आ जाता है और भाईचारे का नक़ाब चेहरों पर से उतर जाता है। रोज़ साथ जानेवाला कथा-नायक उस कांड के कुछ दिनों बाद जब उस कंपार्टमेंट में घुसता है तो लोगों की प्रतिक्रिया देखकर दंग रह जाता है, ''बाबरी मस्जिद की दुर्घटना के लगभग दो सप्ताह बाद जब मैं डिब्बे में सवार हुआ था तो मुझे ऐसा महसूस हुआ कि जैसे मेरे दाख़िल होते ही डिब्बे में सन्नाटा छा गया हो। रघुनंदन जो हमेशा मुझे देखकर सीट छोड़ दिया करता था, वह अपनी जगह बैठा रहा था और खिड़की से बाहर देखने लगा था। भजन के बाद जब प्रसाद के लिए पैसा माँगा गया तो मुझे अनदेखा कर दिया गया।'' (पृ. 102) तो वास्तविकता यही है जिसे कथाकार की सजग दृष्टि देखती पकड़ती है। धार्मिक उदारता कब कट्टरता बन जाती है, इसे समझना बहुत मुश्किल है।

इसी तरह 'सोने के दाँत' में नायक अशरफ़, जो पत्रकार है, सामाजिक बुराइयों के ख़िलाफ़ लड़ता हुआ नज़र आता है। एक धनी व्यक्ति द्वारा अपनी पत्नी को जला देने की सत्यता को वह उजागर करता है तो कई तरह के संकटों में फँस जाता है फिर भी वह हार नहीं मानता। धनी व्यक्ति द्वारा भेजे गए गुंडों से वह नहीं डरता, न ही उसके धन के लालच में फँसता है किंतु अंत में जब धार्मिक मान्यताएँ सामने आ जाती हैं, मौलवी जली हुई औरत को धर्म के नाम पर बहला-फुसलाकर पति के ख़िलाफ़ बयान देने से रोक लेता है तो अशरफ़ की सारी मेहनत व्यर्थ हो जाती है। यहाँ तक कि उसे नौकरी से भी निकाल दिया जाता है। यह कहानी बहुत ही ख़ूबसूरती से 'धर्म' की आड़ में छिपी अमानवीय हरकतों को उजागर करती है। धर्म कोई भी हो, उसकी रूढ़िगत मान्यताओं, स्थापनाओं के समक्ष व्यक्ति का ठोस सत्य भी झूठा पड़ जाता है। व्यक्ति को पराजित होना पड़ता है।

इस संग्रह की दो अन्य कहानियों की चर्चा मैं विशेष रूप से करना चाहूँगा। एक है 'दुःस्वप्न' और दूसरी 'ख़्वाब'। राजधानी एक्सप्रेस में बैठे खद्दरधारी नेता, उद्योगपति, पुलिस कांस्टेबल, टी.सी., वेटर, म्यूनिसिपल काउंसलर आदि के बीच गुँथी यह कहानी उच्चवर्गीय सोच और समझ को निर्ममता से उधेड़कर रख देती है। ऊँचे-ऊँचे सपनों, बड़े-बड़े सुख आराम के साधनों और भूमंडलीय जीवन-दृष्टि को उस समय गहरा आघात पहुँचता है जब एक स्टेशन पर उनके कंपार्टमेंट में एक सत्तर-पचहत्तर साल का सूखी लकड़ी जैसे जिस्मवाला बूढ़ा घुस आता है। गंजा सर, लंबी नाक, बड़े-बड़े कान, पोपला मुँह। रोशन आँखों पर कमानीदार चश्मा। सिर्फ़ एक लंगोटनुमा धोती थी उसके जिस्म पर। कमर से एक पुरानी घड़ी लटक रही थी। चौड़े भद्दे पैरों में गांवठी चप्पलें थीं और उसकी बग़ल में पुराने अख़बारों का पुलिंदा दबा था। उस बूढ़े को देखकर सबकी नींद उड़ जाती है। बूढ़े के जिस्म से नम मिट्टी और पसीने की हल्की-हल्की गंध आ रही थी जो बाक़ी लोगों के लिए असहनीय थी। बूढ़ा इस कंपार्टमेंट में कैसे घुस आया? निकालो, इसे बाहर निकालो! अब चारों तरफ़ बूढ़े को बाहर निकालने का शोर है। कोई उसे चोर समझता है, कोई सुरमा-मंजन बेचनेवाला। बूढ़ा सभी से कहता है कि उसे भी राजधानी पहुँचना है और वह बाथरूम के पास अख़बार बिछाकर पड़ा रहेगा, किंतु उसकी बात कोई नहीं सुनता। टी.सी. उससे टिकट माँगता है तो वह टिकट भी दिखाता है जो जनता एक्सप्रेस का है। टी.सी. उससे कहता है कि यह स्पेशल ट्रेन है, वह इसमें नहीं जा सकता। 'स्पेशल ट्रेन' क्या होती है, जब वह पूछता है तो काउंसलर जवाब देता है, ''जिसमें हमारे जैसे बड़े और इंपोर्टेंट लोग सफ़र करते हैं।'' बहरहाल, अगले स्टेशन पर बूढ़े को धक्के मारकर गाड़ी से नीचे उतार दिया जाता है। अब सबके चेहरे पर बड़ा सुकून है। फिर भी पता नहीं क्यों, राजधानी के वे सारे इंपोर्टेंट यात्री उस परिचित-से चेहरे से आज़ाद नहीं हो पा रहे हैं। महात्मा गांधी के प्रतीक का इससे अच्छा उपयोग शायद ही किसी कथाकार ने किया हो।

साउथ अफ्रीका में गांधी को ट्रेन से बाहर फेंक देने की घटना क्या हम इतनी जल्दी भूल जाएँगे?

दूसरी कहानी 'ख़्वाब' भी एक प्रतीकात्मक कहानी है। एक बेकार युवक बेकारी से तंग आकर एक गिरगिट को अपने ख़्वाब बेचना शुरू करता है और जब पैसे ज़्यादा मिलने लगते हैं तो वह शराब पीने लगता है। अब उसका एक क्रम बन गया है, रोज़ एक ख़्वाब देखना और जाकर गिरगिट को सुनाना। परंतु एक समय आता है जब उसके सारे ख़्वाब पुराने पड़ जाते हैं और उन्हें गिरगिट ख़रीदने को तैयार नहीं है। नए ख़्वाब अब उसे दिखाई नहीं देते। इस चिंता में उसकी रातों की नींद उड़ जाती है। वह सो सके, इसके लिए एक ख़्वाब चाहिए, जो उसके पास नहीं है। वह गिरगिट के सामने गिड़गिड़ाता है कि सिर्फ़ एक ख़्वाब वापस कर दो, पर गिरगिट इसके लिए तैयार नहीं। उसे धक्के मारकर अपने ऑफ़िस से बाहर निकलवा देता है और तब उसकी नज़र रास्तों पर खड़े उन पागलों जैसे हुलिए वाले बहुत से नौजवानों पर पड़ती है जो अपने-अपने ख़्वाबों को बेचकर अब बेहाल हैं। युवा पीढ़ी के शोषण को चिन्हित करनेवाली यह कहानी अपने कथ्य और शिल्प के कारण एक उल्लेखनीय कहानी है, इसमें संदेह नहीं।

मजीद की कहानियाँ हमारी सामाजिक विसंगतियों को सिर्फ़ उद्घाटित ही नहीं करतीं, उनको परत-दर-परत उघाड़कर रख देती हैं। 'पनाह', 'पुल', 'ऊपर से गिरता अँधेरा', 'जन्नत में महल', 'हाँका' आदि कहानियों में कथाकार सीधे-सीधे सामाजिक सरोकारों से जुड़ा हुआ नज़र आता है और ऐसे लोगों की कहानियाँ सुनाता है जो अपने संघर्षों को एक व्यापकता देते हैं और शोषण के ख़िलाफ़ खड़े होने की हिम्मत भी। 'पनाह' में दंगे की पृष्ठभूमि में एक परिवार की दर्दनाक कहानी है जो किसी तरह अपने जीवन को सुरक्षित रखना चाहता है। पति-पत्नी और उनका बेटा। परंतु उनको न तो कोई मंदिर पनाह देता है, न ही कोई मस्जिद, बल्कि उन्हें पनाह मिलती है एक क़ब्रिस्तान में, एक ऐसा क़ब्रिस्तान जहाँ बरगद और पीपल के पुराने पेड़ थे जिन्हें देखकर लोग दिन में भी डरते थे। किंतु प्राणभय और जीवन-सुरक्षा की भावना उनके अंदर के भय को ख़त्म कर देती है और वे तीनों बिना किसी डर के क़ब्रों के बीच बढ़ते चले जाते हैं। यहाँ यह जानना ज़रूरी नहीं लगता कि उनकी जाति क्या है, धर्म क्या है, क्योंकि ख़ूनी-दरिंदे तो हर जगह हैं! लेखक व्यक्ति को महत्त्व देता है, उसके संघर्ष को, उनकी जिजीविषा को महत्त्व देता है, उसे बड़प्पन देता है।

आधुनिक समाज में अर्थोपार्जन और तरक़्क़ी की जो भूख है, इसका चित्रण 'जन्नत में महल' कहानी में हुआ है। हम तरक़्क़ी की चाह में अपने संबंधों, अपने संस्कारों और अपनी सामाजिकता को किस तरह भूलते चले जा रहे हैं, इन सब पर सोचने का जैसे समय ही नहीं है हमारे पास, इसकी ओर यह कहानी बख़ूबी संकेत देती है। कथा-नायक मुश्ताक़ का जीवन एक दर्पण है ऐसे लोगों का, जो सिर्फ़ ऊपर उठते जाने को ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य मानते हैं यह भूलकर कि ऊपर चाहे जितनी भी छलाँग लगा लो, एक दिन नीचे आना ही पड़ता है। यही जीवन है, यही प्रकृति का नियम है।

निस्संदेह साजिद रशीद की उर्दू कहानियाँ एक नई सोच की कहानियाँ हैं, जिनका पाठ ख़त्म करने के बाद भी अंदर एक सुगबुगाहट-सी बनी रहती है। जितेंद्र भाटिया बिलकुल सही कहते हैं कि रशीद की कहानियों का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि ये अल्पसंख्यक भय और असमंजस से मुक्ति की कहानियाँ हैं।

चर्चित कहानी-संग्रह :

सोने के दाँत : साजिद रशीद; वसुंधरा प्रकाशन, 602, गेटवे प्लाज़ा, हीरानंदानी गार्डेन, पवई, मुंबई; 2002; 100 रुपए

कहानी, नाटक, उपन्यास, साक्षात्कार एवं संपादित लगभग 16 पुस्तकों के रचयिता सुरेंद्र तिवारी का जन्म 1948 में हुआ। पंजाबी में अनेक नाटकों का निर्देशन भी किया। संपर्क : बी-3/76, सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110085

नंद भारद्वाज

देहात की संवेदना का राग

सुलगा हुआ राग कवि मनोज मेहता की कविताओं का दूसरा संग्रह है, जो उनके पहले संग्रह *आखेट* के आठ बरस बाद प्रकाशित हुआ है। ज़ाहिर है कि इसमें इन्हीं आठ-दस बरसों में लिखी गई उनकी नवीनतम कविताएँ संग्रहीत की गई हैं। मनोज मेहता मूलत: देहात की संवेदना के कवि हैं, उनकी अधिकांश कविताओं में उसी देहाती जीवन की स्मृतियाँ लौट-लौटकर आती हैं, वही अनुभव और उस जीवन के राग-रंग उन्हें काव्य-रचना की ओर प्रेरित करते हैं और इसी अर्थ में वे एक देहात की संवेदना का राग भी रचते हैं। चूँकि अब वे उस देहात के जीवन से बाहर निकल आए हैं और महानगर में रहने लगे हैं, वे उस देहाती लोक-जीवन के मार्मिक प्रसंगों, लोक-अवसरों और रोज़मर्रा के जीवन-व्यवहार में काम आनेवाली छोटी-छोटी वस्तुओं से जुड़ी अपनी स्मृतियों और लोक-जीवन के साथ उन चीज़ों के अंदरूनी रिश्तों को जैसे फिर से समझने और जीने का प्रयत्न करते हैं। उनके साथ एक रागात्मक रिश्ता बनाए रखते हैं। इन कविताओं में वही देहात अपने मिट्टी के घरौंदों, दीवारों से घिरे आँगन, धुआँते चौके-चूल्हों और तमाम तरह के अभावों के साथ तो विद्यमान है ही, वह लोगों की बोली-बानी, खान-पान और बसन-बासन की अपनी निजी पहचान के साथ भी उपस्थित है—इस संग्रह की वे तमाम कविताएँ जो ग्रामीण जीवन में काम आने वाली चीज़ों—जैसे लाठी, छड़ी, घड़ा, धोती, चादर, तकिया, लुंगी, खैनी आदि के साथ मनुष्य के रिश्ते का जो नया पाठ लेकर सामने आती हैं, वह अनायास ही पाठक को जीवन के उस वृहत्तर यथार्थ से जोड़ देती हैं। जीवन के प्रति उपजा यही राग उनकी एक आत्मीय स्वर वाली कविता 'खैनी' में बेहतर ढंग से समझा जा सकता है, जिसमें एक राजनीतिक व्यंजना भी है : *अपनापे का यह सूत्र है / सबसे सरल / गृहमंत्री मानते नहीं / हथेली से हथेलियों तक / फैले इसके विचार / वित्तमंत्री को प्राप्त नहीं होता / इससे समुचित राजस्व / खाद्यमंत्री का ग्राफ़ / बढ़ नहीं पाता / हलवाहे की चुनौती से आगे।*

('खैनी', पृ. 26)

मनोज मेहता कवि होने के साथ एक जागरूक पत्रकार भी हैं और उनका यह पेशेवर चित्त अमूमन इस कविताओं में झलक आता है। ख़ूबी यह है कि वे अपनी कविता की अंतर्वस्तु या उसके भाव को आकार देते हुए उसमें भावुक कविता की तरह डूब नहीं जाते, बल्कि उससे एक अपेक्षित दूरी भी बनाए रखते हैं। शायद यही कारण है कि उनकी अधिकांश कविताएँ अपने आकार में छोटी और आनुपातिक लगती हैं। इन कविताओं की संरचना के विषय में एक और बात भी मुझे विचारणीय लगती है कि इनमें एक ख़ास तरह की व्यवस्था (अरेंजमेंट) और रूप-संयोजन साफ़ तौर पर देखा जा सकता है—पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण जैसी दिशाबोध वाली काव्य-श्रृंखला ऐसे ही संयोजन की उपज लगती है। यही व्यवस्था और संयोजन एक और काव्य-श्रृंखला 'नौटंकी' में तो और भी वृहद् आकार में सामने आता है, जहाँ 35 पृष्ठों की इस काव्य-श्रृंखला में नौटंकी के आयोजन और उस आयोजन से जुड़े हरेक घटक, अंग और पहलू को जैसे कवि ने बाक़ायदा एक पूरी सूची बनाकर उन पर एक-एक अलग कविता के रूप में दर्ज कर दिया है—अर्थात् गाँव में जब नौटंकी का आयोजन है तो उसके दर्शक भी हैं, मंच है, परदा है, साज़ हैं, साज़िंदे हैं, और साज़ भी अलग-अलग, यानी हारमोनियम, झाल, सारंगी, नगाड़ा, ढोल, ढोलक, तबला आदि सब पर अलग से एक-एक कविता। यही क्यों, जब नौटंकी का खेल है तो उसमें बाई जी भी होंगी, फिर नचनिया, भगत, उस्ताद जी आदि तो उसके अनिवार्य अंग होते ही हैं, इन सब पर बाक़ायदा अलग-अलग कविताएँ यहाँ मौजूद हैं। दिक़्क़त यह है कि इस तरह के

काव्य-संयोजन में नौटंकी जैसे पारंपरिक लोकरूप के साथ जुड़ा लोक-संस्कार, लोगों का उल्लास, जीवन के राग-रंग और उस विधा से जुड़े कलाकारों का संवेदन तथा जीवन को लेकर उनकी चिंताएँ कहीं अनजाने ही तिरोहित होने लगती हैं, जो शायद कवि का अभीष्ट नहीं है। यह दरअसल इधर की कविता के क्राफ़्ट का अतिरिक्त दबाव है, जिसके चलते ऐसी कविताएँ लिख ली जाती हैं, लेकिन इस पर विचार करने का साहस कम लोग जुटा पाते हैं कि इससे कविता का अपना प्रभाव कितना क्षीण हो गया है। यही हाल 'साबरमती' से जुड़ी काव्य-शृंखला का भी है।

इन काव्य शृंखलाओं से अलग कुछ स्फुट विषयों पर लिखी मध्यम आकार की अन्य कविताएँ भी हैं जैसे मूर्ति, नागरिक, प्रलय, बहुरूपिया, शामियाना, पीठ और तिलिस्म जो अपनी संरचना और प्रभाव में अपेक्षाकृत बेहतर बन पड़ी हैं। इन कविताओं में जीवन के व्यापक सरोकारों से जुड़ा कवि का संजीदा काव्य-स्वर और काव्य-विवेक बनता हुआ दिखाई देता है, संभवत: इसी काव्य-विवेक की ओर इशारा करते हुए वरिष्ठ कवि पंकज सिंह ने भी लिखा है : ''यह एक ऐसा काव्य-विवेक है, जो आवयविक अनुभवों को लेकर बेहद सादगी और धीरज के साथ अपने आशयों को स्पष्ट करता है।'' यह उसी धीरज और अपने अनुभव से अर्जित काव्य-विवेक का ही नतीजा है कि वह नागरिकों के जीवन-संघर्ष और उनकी ग़लतियों के बीच सही समझ और विश्वास क़ायम रख सका है : *अपनी ग़लतियों पर पछताने / और दुखों पर रोने के अलावा / हम कुछ कर सकते थे बेहतर / लेकिन तीसरी दुनिया में रहते हुए / उलझे रहे दूसरे विचारों में।*

('नागरिक', पृ. 28)

'नागरिक' वाक़ई इस संग्रह की एक नायाब कविता है, जो मौजूदा हालात में नागरिक की यथार्थ-स्थिति और उसके आत्मसंघर्ष का एक अंतरंग पक्ष प्रस्तुत करती है। ऐसी ही एक और कविता है 'बहुरूपिया', जो देहात की संवेदना का एक ज़रूरी हिस्सा है। यही बहुरूपिया उत्तर भारत के गाँवों और क़सबों में आम लोगों के बीच तरह-तरह के भेष बदलकर न केवल लोगों का मनोरंजन करता है, बल्कि वही एक तरह से उनके दुख-दर्द का सच्चा साथी बनकर वे सारे काम करता है, जिसकी कोई कल्पना भी नहीं करता। जीवन में बहुरूपिए की इसी भूमिका को याद करते हुए कवि कहता है :

(1) *टूटी हुई सड़क पर / वह बन जाता है पुल और झुलसे हुए गाँव में / पहुँच जाता है हरियाली की तरह / अपने करतबों से करता है / सबको रोमांचित।*

(2) *सब कहते हैं / अपना चेहरा वह छुपाता है पर नहीं / वह हर बिगड़े चेहरे को / करता है दुरुस्त।*

संग्रह में अपेक्षाकृत लंबी दो कविताएँ हैं— 'प्रलय' और 'तिलिस्म' और ये दोनों ही कविताएँ इधर के राजनीतिक परिदृश्य और भूमंडलीकरण से उपजी परिस्थितियों का जो बेबाक ब्योरा प्रस्तुत करती हैं और यहीं कवि का पत्रकार रूप भी खुलकर सामने आता है, वह विश्वव्यापी आर्थिक व्यवस्था की भावी रणनीति और उसमें मनुष्य के उत्तरोत्तर असहाय होते चले जाने की भयावह सच्चाई सामने लाती हैं। लेकिन ऐसा करते हुए कवि का यह उद्देश्य क़तई नहीं है कि लोग इस सच्चाई से भयभीत रहें, या अपने को किसी भी स्तर पर असहाय समझें, वह तो प्रकारांतर से भूमंडलीकरण के इस मिथक और तिलिस्म को तोड़ने के उद्देश्य से ही इन यथार्थ स्थितियों का सारा ताना-बाना खोलता/समझाता है। वह उन आशंकाओं और मनुष्य के सामने उपस्थित चुनौतियों की ओर भी ध्यान आकृष्ट करता है, जिनसे टकराव अवश्यंभावी है : *दिव्यता के बारे में / उसके विचार / एकदम साफ़ हैं / और उन्माद के घोड़े पर सवार / वह ऐश्वर्य की तलवार भाँजता / जा रहा है / रोटी के हकदार / शैतान जादूगरों के एक बहुत बड़े / तिलिस्म को तोड़ने।*

('तिलिस्म', पृ. 119)

भाषा और रचना-शिल्प के स्तर पर मनोज

...हता की कविताएँ अपने पाठ के प्रति आश्वस्त ...रने के बावजूद समकालीन कविता के प्रचलित ...हावरे और भंगिमा से अलग कुछ नया जोड़ रही ...हों, ऐसा दावा करना आसान नहीं है, बल्कि ये ...कविताएँ बहुत दूर तक उसी मुहावरे और भंगिमाओं ...को दोहराती भी हैं। यहाँ तक कि क्राफ़्ट से कविता ...कैसी बनाई जा सकती है, कवि के इस कौशल से ...भी परिचित कराती हैं, लेकिन यह सारा कौशल समकालीन कविता में पहले से उपलब्ध काव्य-स्वर और भाषिक-व्यवहार से भिन्न कुछ नया नहीं कह पाता, यही इन कविताओं की सबसे बड़ी कठिनाई है।

चर्चित कविता-संग्रह :

सुलगा हुआ राग : मनोज मेहता; राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., दिल्ली; 2004; 150 रुपए

...कवि एवं आलोचक नंद भारद्वाज का जन्म 1948 में हुआ। राजस्थानी भाषा अकादमी, बीकानेर से पुरस्कृत। संपर्क : 71/...247, मध्यम मार्ग, मानसरोवर, जयपुर-302020

हेमंत कुकरेती

साहित्य से संवाद

आज की हिंदी आलोचना पर यह आक्षेप लगाया जाता है कि वह समसामयिक संदर्भों से रहित जड़ प्राध्यापकीय समीक्षा है। ऐसे में गोपेश्वर सिंह अपने *साहित्य से संवाद* के माध्यम से एक प्रतिपक्ष प्रस्तुत करते हैं। हालाँकि रूपगत धरातल पर यह समीक्षात्मक निबंधावली लगती है लेकिन यह एक सजग आलोचना दृष्टि को प्रस्तुत करनेवाली कृति है। इसमें आलोचक ने ज्ञान के लोक और शास्त्रीय धरातलों में संतुलन साधा है इसलिए उनका आलोचना-बोध तार्किक है।

गोपेश्वर सिंह ने कुछ नई निष्पत्तिया प्रस्तुत की हैं, जैसे भक्ति काव्य के संदर्भ में योग और भक्ति द्वंद्व को रचनात्मक धरातल पर प्रेम और ज्ञान के संदर्भों में देखने की बात आलोचक ने की है इसलिए मीरा के प्रेम को एक विद्रोही चेतना के रूप में रेखांकित करते हुए उन्होंने शास्त्र की जकड़बंदी के साथ-साथ मीरा को लोक की जर्जर रूढ़ियों के ख़िलाफ़ खड़ी रचनाकार माना है। मध्य काल में एक नारी का संप्रदाय-निरपेक्ष होकर अकेले भक्ति मार्ग पर चलना अद्भुत साहस का काम है। इस संप्रदाय-निरपेक्षता के चलते मीरा सांप्रदायिक संकीर्णता से मुक्त हैं जबकि उसी काल के सूर हों या तुलसी, जायसी हों या कबीर, सबके अपने 'गुरु' हैं, संप्रदाय हैं, आग्रह हैं, दुराग्रह हैं, किसी से प्यार है तो किसी से नफ़रत भी। उनके यहाँ किसी की प्रशंसा है तो किसी की निंदा भी। मीरा ही हैं जो किसी संप्रदाय की सीमा में नहीं बँधतीं, किसी संप्रदाय-विशेष के प्रति असहिष्णु भी नहीं होतीं। वैसे तो हितहरिवंश वल्लभ आदि संप्रदायों के अनेक लोग उनके संपर्क में आए। अनेक साधु-संतों से भी उनका मिलना-जुलना हुआ। लेकिन वे किसी संप्रदाय की सीमा में न बँधीं और न किसी दार्शनिक मतवाद के पीछे पागल ही हुईं। किसी भी रचनाकार को उसके वास्तविक सामाजिक धरातलों पर देखने वाली दृष्टि है। वस्तुतः आलोचना की यह आलोचना-पद्धति साहित्य के समाज-शास्त्र से विकसित हुई है। इसलिए गोपेश्वर सिंह ने कबीर की रहस्य भावना में भी सामाजिक आशय देखने की कोशिश की है। कबीर के रहस्यवाद, अनहद, ध्यान-योग के मूल में निहित जो मूल आशय है उसे समझने की ज़रूरत है। इसके पीछे इसी लोक में भौतिक एवं आध्यात्मिक अधिकारों से वंचित सामाजिक रूप से अपमानित प्रताड़ित जनों के लिए वैकल्पिक संसार रचने का स्वप्न है। यह स्वप्न हक़ीक़त बनता है या नहीं, यह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना

महत्त्वपूर्ण है सामंती काल में इस स्वप्न का जन्म लेना। उस स्वप्न की अंतर्वस्तु कैसी होगी, जिसकी चर्चा मात्र ने वेद, कुरान के हिमायती पंडितों-क़ाज़ियों के कान खड़े कर दिए! न किसी राजा का आश्रय, न बौद्ध धर्म की तरह संगठित कोई संघ-संप्रदाय, फिर भी कबीर के निर्गुण ने अपने विरोधियों के भीतर सगुण भय पैदा कर दिया। सूर-तुलसी समेत प्राय: सभी सगुणवादी संतों के कान खड़े हो गए। यदि निर्गुण रहस्य है, अबूझ है तो आज भी अनपढ़ दलितों के बीच लोकप्रिय क्यों है? यहाँ दिलचस्प तथ्य यह है कि आलोचक ने कबीर के काव्य में सूफ़ी भावों को पहचानकर जीवन संघर्षों को साधना के रूप में माना है। उनकी दृष्टि में कबीर किताबी समाज सुधारक नहीं बल्कि महत्त्वपूर्ण कवि और कुशल संगीतज्ञ हैं। उसी प्रकार मीरा सांप्रदायिक सीमाओं से ऊपर उठी विद्रोही रचनाकार हैं। मध्यकालीन कविता पर उनका एक और महत्त्वपूर्ण निबंध 'सूर की कविता समाज' है जो डॉ. मैनेजर पांडेय की किताब की समीक्षा है लेकिन यह सूर के काव्य में व्याप्त समाज शहर और गाँव की छवियों के माध्यम से सूर को किसान जीवन के मार्मिक कवि के रूप में देखने की पहलक़दमी है, सूर के काव्य में चित्रित किसान जीवन सामंती व्यवस्था के संदर्भ में है। सामंती व्यवस्था में किसान की लूट-खसोट से भरी ज़िंदगी का एक पद में रूपक के सहारे बड़ा ही जीवंत वर्णन है—'अधिकारीजन लेखा माँगे, तातैं हौं आधीनों। सूदख़ोरी की प्रथा से तबाह किसान के संदर्भ में ऋण-प्रथा की क्रूरता का पता सूर यह कहते हुए देते हैं—'सबै क्रूर मोसों ऋण चाहत, कहौ कहा तिन दीजै।' उद्धव जब कृष्ण को भूलकर निर्गुण ब्रह्म की उपासना की सलाह देते हैं तब गोपियों को लगता है कि जो मूलधन था, उसे अक्रूर ले गए और 'ब्याज निबेरत ऊधौ।' ऋण-प्रथा की क्रूरता के साथ सूर सामंती व्यवस्था की अमानवीयता और उसके लुटेरे चरित्र का भी परिचय देते हैं। उस व्यवस्था में 'ठाकुर लुटेरा है, कोतवाल दग़ाबाज़ और पटवारी कपटी, जो झूठी बही लिखता।' विनय के पदों में शासन-व्यवस्था से जुड़े हुए जो वर्णन हैं उनमें अरबी-फ़ारसी के भी शब्द हैं। ये शब्द मुग़लकालीन शासन-व्यवस्था के प्रचलित शब्द हैं। इन सारी चीज़ों से सूर की सामाजिक जागरूकता का पता चलता है। डॉ. गोपेश्वर सिंह ने एक महत्त्वपूर्ण सूत्र यह दिया है कि आज की कविता में सामान्यजन और उसके जीवन प्रसंग अगर लुप्त हुए हैं तो उसका कारण कवियों का अपनी स्थानीयता से संपर्कहीन होना तथा उपभोक्तावाद है। आलोचक ने इस त्रासदी के लिए ज़िम्मेदार कई कारकों की भी पहचान की। आधुनिक युग के जीवन-संघर्ष ने कवि-जीवन और उसकी कविता में धुँधली ही सही एक विभाजक रेखा खींच दी है। कवि को वह काम भी करना पड़ता है जो उसके काव्यादर्श के विपरीत है। रचनाकार और उसके समय का संतुलित विश्लेषण करते हुए गोपेश्वर सिंह मानते हैं कि कवि अन्य लोगों की तरह अनेक पारिवारिक-सामाजिक संघर्षों में फँसा एक स्तर पर एक आम नागरिक भी है। वह जो रचना में बोलता है, उसके जीवन के दायित्व और संघर्ष उसे विरोधी संघर्ष में ढकेलते हैं। वर्तमान युग का कवि एक संवेदनशील पर्यवेक्षक की भूमिका में है। वह मनुष्य की नियति उसके सामाजिक, पारिवारिक और प्राकृतिक रिश्ते की काव्य पड़ताल ईमानदारी से करता है। लेकिन वैसा जी नहीं सकता जैसी उम्मीद लोग करते हैं। बल्कि मैं यहाँ कहूँ कि वैसी उम्मीद बेमानी है एक आम पारिवारिक-सामाजिक नागरिक के रूप में जीने का हक़ उसे है। स्पष्ट है कि आलोचक की नज़र में रचनाकार की ईमानदार काव्यानुभूति महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह आज के मनुष्य की विडंबनापूर्ण स्थिति को ठीक से पहचानता है। इस दृष्टि से उनका 'कविता और हमारा समय' उल्लेखनीय निबंध है।

आलोचक ने बच्चन को एक बूढ़ा किसान सिद्ध करने की क़वायद भी की है जिससे सहमत नहीं हुआ जा सकता। हालाँकि गोपेश्वर सिंह इस सिलसिले में विजय देव नारायण साही, डॉ. रामविलास शर्मा और नगेंद्र जैसे आलोचकों से टकराते हुए बच्चन को एक बड़ा कवि मानने का

...प्रदर्शित करते हैं। यह तो ठीक है कि बच्चन ...न की मस्ती के रोमान के कवि हैं लेकिन ...की मात्र एक कविता 'तीर पर कैसे रुकूँ मैं' ...लहरों में निमंत्रण के आधार पर उन्हें ...प्रकाश आंदोलन का क्रांतिकारी कवि ठहराने ...प्रयास मुश्किल में डालता है।

हिंदी में छायावादी कविता के बाद प्रगतिशील ...विता लिखी गई तथा उसके एकदम बाद ...योगवादी काव्य रचा गया लेकिन गोपेश्वर सिंह ...दृष्टि में प्रगति और प्रयोग के समानांतर हिंदी ...व्य का एक और धरातल आलोचकों ने अनदेखा ...र दिया। इसलिए कई महत्त्वपूर्ण कवि जैसे ...नकी वल्लभ शास्त्री, कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह, ...त्यादि हाशिए पर रह गए जबकि आगे आने वाले ...र्षों में कविता ने सौद्देश्यता और नई अर्थवत्ता को ...स तरह अंगीकार किया, प्रगतिशीलता और ...नवाद की जो नई बुलंदियाँ हासिल की, उसकी ...नियाद में जिनका ख़ून-पसीना बहा, उनमें ...मारेंद्र भी थे। हमारे समय की एक बड़ी कवि-...तिभा की निर्लज्ज उपेक्षा की ख़बर लेनेवाला यह ...आलोचनात्मक आलेख पत्र रूप में है। ...कथालोचना के सामान्य प्रतिमान' शीर्षक निबंध ...में गोपेश्वर सिंह ने विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, ...मधुरेश, विश्वनाथ त्रिपाठी, रमेश उपाध्याय, ...श्रीलाल शुक्ल इत्यादि कथा आलोचकों की ...आलोचकीय दृष्टि का वस्तुपरक विवेचन किया ...है। गोपेश्वर सिंह के मुताबिक कथालोचना की ...सैद्धांतिकी का सृजन अभी ठीक से नहीं हुआ। वे ...कलावादी और यथार्थवादी दोनों तरह की कथा-...दृष्टियों का अतिक्रमण करके कथा-साहित्य-...संबंधी उस सामान्य बोध की ज़रूरत पर बल देते ...हैं जो अपनी पूरी व्यापकता में समाज-सापेक्ष है। ...कथा साहित्य के लिए यथार्थ का आग्रह आवश्यक ...है—यथार्थ जो व्यापक और बहु आयामी हो। यही ...यथार्थ समकालीन हिंदी कथालोचना का मुख्य ...आधार है। इस लेख में आज की कहानी के अनेक महत्त्वपूर्ण पहचान चिह्न गोपेश्वर सिंह ने चिन्हित किए हैं। 'निराला का कथासाहित्य : यथार्थ चेतना पर सारगर्भित टिप्पणी' तथा 'नागार्जुन का कथा साहित्य : सीमा और उपलब्धि' जैसे लेख भी हमारे समय के दो महत्त्वपूर्ण कवियों के कथासाहित्य और उनके योगदान को प्रस्तावित करते हैं। गोपेश्वर सिंह निराला के कथा-साहित्य में प्रेमचंद-प्रसाद से भिन्न नए स्कूल को देखते हैं। वे कहते हैं कि जहाँ निराला जीवन से सीधे मुठभेड़ करते हैं, वहाँ उनकी कथा-शैली अति नवीन शक्ल अख़्तियार करती है। हिंदी-आलोचक ने कथा-क्षेत्र में दो स्कूल बना डाले हैं, जिनमें से एक का प्रतिनिधित्व प्रेमचंद करते हैं और दूसरे का प्रसाद। लेकिन उसी काल में निराला एक नई कथा-भूमि और कथा भाषा निर्मित करते हैं। उनके अनुसार नागार्जुन का भी हिंदी उपन्यास के विकास में महत्त्वपूर्ण योग है। वे अपना एक समानांतर कथालोक रचते हैं। किताब में संकलित 'जनवादी कहानी : दिशा और दशा' लेख वस्तुतः आज की कहानी को जाँचने का रचनात्मक उपक्रम है।

साहित्य से संवाद करते हुए गोपेश्वर सिंह मध्यकालीन कविता से लेकर आज तक की कविता में व्याप्त विषयों, प्रश्नों और समस्याओं को आलोचनात्मक दृष्टि से देखते हैं। उनकी बारीक और गहरी यथार्थ दृष्टि तथा विस्तृत अध्ययन क्षेत्र एक ऐसे आलोचनात्मक विवेक को प्रस्तुत करते हैं जिसमें जीवन जितनी गहराई, भरोसा और एक ऐसी पठनीयता है जो इन दिनों विरल हो चली है। पाठक से सार्थक संवाद स्थापित करने वाली यह आलोचना शैली सहजता से उन उलझनों को स्पष्ट कर देती है जिन्हें हिंदी आलोचना प्रायः उठाने से बचती है।

चर्चित पुस्तक :

साहित्य से संवाद : गोपेश्वर सिंह; मेधा प्रकाशन, शाहदरा; 300 रुपए

...मंत कुकरेती का जन्म 1965 में हुआ। चार कविता संग्रह और एक आलोचना पुस्तक प्रकाशित। हिंदी अकादमी, भारत ...भूषण अग्रवाल पुरस्कार से सम्मानित। संपर्क : डी-61/6, परमहंस अपार्टमेंट्स, दिलशाद कॉलोनी, मेन रोड, दिल्ली-110095

नीरज कुमार

ताप भरे शब्द

बेज़ुबान लोगों के दुख और
गुस्से के लिए ढूँढ़ने पड़ते हैं
कवि को सही-सही और
उतने ही ताप से भरे शब्द
('चाँद की वर्तनी', पृ. 108)

राजेश जोशी बेज़ुबान लोगों के दुख और ग़ुस्से के लिए ताप से भरे शब्द ढूँढ़ते कवि हैं। समकालीन कविता में जीवन संघर्ष का सशक्त चित्र प्रस्तुत करने में जिन कवियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, राजेश जोशी उनमें अग्रणी हैं। उनकी कविता का अपना मुहावरा है। ठेठ एवं निजी। खुली आँखों से देखे गए और संवेदनशील हृदय से महसूस किए गए अनगिनत जीवन-चित्र उनकी कविताओं में व्यवस्थित रूप में बिखरे हुए हैं। 'थोड़ी अनगढ़ और अस्त-व्यस्त-सी कविता' (वही, पृ. 78) पसंद करने वाला कवि अपने आसपास के जीवन को इतना व्यवस्थित होकर देखता है कि उसकी सारी विसंगतियाँ और विडंबनाएँ उसके सामने निरावृत्त रूप में उपस्थित हो जाती हैं। कवि का सजग-प्रतिबद्ध-वैचारिक मन इन जीवन चित्रों को मार्मिक संगति देता है। राजेश जोशी की कविता की ख़ूबसूरती यह है कि वे जीवन के ठेठ वैयक्तिक चित्र चुनते हैं। परंतु कविता में गुँथने के पश्चात् ये दृश्य मात्र वैयक्तिक नहीं रह जाते। कवि वैयक्तिक जीवन-चित्रों को संवेदना के धरातल पर इस प्रकार उकेरता है कि वह स्वयमेव सामाजिकता की परिधि में खिंचे चले आते हैं। दिन में कहानी सुनने वाली नटखट बच्चियों के अपने घर का रास्ता भूल जाने वाले बेरोज़गार मामा हों या अपने बेटों द्वारा अपमानित भविष्य की अनिश्चितता से त्रस्त बूढ़ा पिता। बेटी की विदाई पर एक-दूसरे से अपना रोना छिपाते 'एक-सा बेटियों' के पिता हों या काग़ज़ के फूल बनाते रफ़ीक़ मास्टर साहब। इन सबसे जीवन में घटने वाली घटनाओं को आप अपने आसपास रोज़मर्रा की ज़िंदगी में देख सकते हैं। रफ़ीक़ मास्टर की जगह पर मदन या मंजीत मास्टर साहब भी हो सकते हैं और बेरोज़गार मामा की जगह आप और हम। 'ओल्ड होम' का पता पूछते न जाने कितने बूढ़े पिता महानगरों की सड़कों पर भटकते मिल जाएँगे। 'दोपहर की कहानियों के मामा' कविता का एक प्रसंग देखिए : *हम हमेशा ही घर लौटने के रास्ते भूल जाते थे / घर के एकदम पास पहुँचकर मुड़ जाते थे / किसी अपरिचित गली में* (वही, पृ. 12)

लोगों के बीच अचानक अकेले हो जाने वाले इन युवकों का जीवन अत्यंत विषम है। एक ख़ालीपन को दूसरे ख़ालीपन से भरनेवाले इन युवकों ने हँसी में अपने आँसुओं को छिपाने में महारत हासिल कर ली है। इनकी प्रेमिकाएँ इनको छोड़कर जा चुकी हैं। दुकानदारों की उधारी इन पर चढ़ती जा रही है। अपने घर का रास्ता भूल जाना इनकी विवशता है : *कभी-कभी कोई ऐसा भी होता है / जो घर का रास्ता तो जानता है / पर अपने घर जाना नहीं चाहता।* (वही , पृ. 13)

घर यानी ज़िम्मेदारी। ज़िम्मेदारी न निभा पाने की बेचैनी इन्हें घर का रास्ता भुला देती है। ऐसे विकट समय में जब एक 'पहलवान जी' कहलाने वाला मुख्यमंत्री पाँच-पाँच सौ रुपए के चैक बाँटकर बेरोज़गार की बेरोज़गारी का मज़ाक़ उड़ा रहा हो। राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय मीडिया में बेरोज़गारी का ज़िक्र करने की मनाही हो, कवि का हृदय इन बेरोज़गार युवकों के प्रति सहानुभूति से एक क़दम आगे बढ़ाकर 'समानुभूति' से भरा हुआ है। कवि ख़ुद को उनके साथ खड़ा पाता है। इसलिए कविता का वाचक 'हम' शैली में बात करता है। कवि अपनी बात को अधिक मार्मिक और सम्प्रेष्य बनाने

...लिए लोक प्रसिद्ध कहावत का इस्तेमाल करता ...लोक में ऐसी मान्यता रही है कि दोपहर को ...हानी सुनने वाले बच्चों के मामा घर का रास्ता ...जाते हैं।

...जीवन को समग्रता में समेटने का प्रयास करती ...श ज़ोशी की इसी तरह की कविताओं का ...नतम संग्रह है— *चाँद की वर्तनी*। संग्रह में कुल ...लाकर 49 कविताएँ हैं। मुख़्तलिफ़ मिज़ाज की ...कविताओं में ज़िंदगी के विभिन्न रूप देखे जा ...कते हैं। राजेश जोशी की कविताओं की रेंज ...यंत व्यापक है। आम आदमी के दुख, व्यवस्था ...नित लाचारी, वर्चस्ववादी सत्ता-प्रतिष्ठानों एवं ...जनीति का नंगा नाच, बहुराष्ट्रीय कंपनियों के ...बाव, नई तकनीक जनित यांत्रिकता, सांप्रदायिक ...क्तियों का तांडव, बाज़ार का जीवन पर प्रभाव, ...पनी जड़ों को तलाशते हताश लोग, स्त्री, बच्चे, ...म, प्रकृति, इतिहास, लोककथाएँ, आख्यान, ...हावतें, सूक्तियाँ, अद्भुत भाषिक प्रयोग इत्यादि ...नेकानेक चीज़ें राजेश की कविताओं का कथ्य ...नते हैं।

इतनी विविधता के बावजूद राजेश जोशी अपनी ...विताओं में अंत:सूत्रता बनाए रखने में कामयाब ...होते हैं। इस कामयाबी का कारण है—कवि का ...जीवन से अथाह प्रेम। इस 'दुर्विनीत समय में' भी ...राजेश की कविता विरूप होते जा रहे जीवन के ...आसपास लगातार अपनी उपस्थिति बनाए हुए है। ...उनकी कविता जीवन को विरूप बनाने वाली ...शक्तियों के सामने अपूर्व साहस के साथ खड़ी है। ...'जरिता के बच्चों की कहानी' कविता में पक्षी माँ ...आग में घिरे अपने बच्चों को बचाने का बेतरह ...प्रयास करती है। बच्चों को ऐसे स्थान पर ले जाना ...चाहती है—'जहाँ निषिद्ध हो काल का प्रवेश' (वही, पृ. 65) काल के संत्रास से कवि वाक़िफ़ ...है। कवि जानता है कि दुष्काल में सर्वाधिक ज़रूरत ...होती है जिजीविषा की। किसी भी सूरत में कवि ...संघर्ष का रास्ता छोड़ना नहीं चाहता। चाहे चारों ...ओर आग ही आग क्यों न हो : *चारों ओर आग ही ...आग थी / और धू-धू करता जल रहा था खांडव वन / एक ऐसा समय था कि जीवन और मृत्यु के बीच नहीं / जैसे मृत्यु और सिर्फ़ मृत्यु के बीच ही बचा था / वरण का प्रश्न!* (वही, पृ. 65)

जिस प्रकार मृत्यु और मृत्यु के बीच से भी पक्षी माँ अपने बच्चों के लिए जीवन ढूँढ़ लेना चाहती है। कम से कम एक 'सुरक्षित कोना' खोज लेना चाहती है। उसी प्रकार ख़ुद कवि भी इस दुर्विनीत समय में मनुष्य के लिए सुरक्षित कोना खोजना चाहता है। इस प्रकार देखें तो जरिता के बच्चों की कहानी हमारे समय की कहानी बन जाती है। खांडव वन अमानवीय और क्रूर होता जा रहा हमारा समाज, जिसमें आम आदमी का दम टूटना निश्चित है। कवि पक्षी माँ की तरह पंख फैलाकर जैसे संत्रस्त जीवन को ढक लेना चाहता है।

जीवन के सहज क्रिया-व्यापार कैसे जटिल होते जा रहे हैं। चीज़ें कैसे अपने विरोधी गुणों में तब्दील हो रही हैं—यह कवि के लिए चिंता का विषय है। 'चलना' कविता में कवि कहता है— *धरती पर पैदल चलता आदमी / अब एक सम्मानजनक दृश्य नहीं रहा*—(पृ. 35) सड़क पर पैदल चलना सुरक्षित नहीं रहा तो समझ में आता है—परंतु सम्मानजनक न रहने के पीछे एक पूरी व्यवस्था है जो बदल चुकी है। मनुष्य के सम्मान पर हमला करने वाले वर्चस्ववादी सत्ता-प्रतिष्ठानों पर कवि प्रहार करता है। कवि की निगाह राजनीति-वित्तीय पूँजी से लेकर सांप्रदायिक शक्तियों के नंगे नाच तक जाती है। विज्ञापनी संस्कृति की करतूतों को कवि खोलता है। सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों का संविधान-इतिहास-साहित्य इत्यादि को अपने पक्ष में मोड़ लेने का षड्यंत्र कवि को हानिकारक लगता है। सामाजिक परिदृश्य में आने वाली घोर विसंगतियों की ओर इशारा करते हुए कवि 'यह स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है' कविता में कहता है : *मैं कहता हूँ बहुत हानिकारक है / व्यक्ति के लिए नहीं पूरे देश के लिए हानिकारक है / दिनों दिन बढ़ते जाना अमेरिका का दबाव राष्ट्रवाद का नया उफान / वित्त पूँजी का प्रपंच बजरंगियों का*

उत्पात बहुराष्ट्रीय कंपनियों का / लगातार फैलता जाल।

(पृ. 91)

अपने आप को विश्व की एकमात्र महाशक्ति समझने वाले अमेरिका की पोल-पट्टी भी कवि खोल देता है। अपने संसाधनों के बल पर मनमानी करने वाली इस महाशक्ति पर 'मुर्ग़ा मुआफ़ी' कविता (पृ. 93) में कवि ने मारक व्यंग्य किया है।

जिस समय हमारे समय के अधिकांश लोग प्रलोभनों के सामने नतमस्तक हो रहे हैं—कवि झुकने से इनकार कर देता है। कवि युग के प्रचलित मुहावरे के विरोध में डटकर खड़ा है। 'शक्तिशाली' की सत्ता को धता बताते हुए वह घोषणा कर देता है : *झुकता हूँ लेकिन उस तरह नहीं / जैसे एक चापलूस की आत्मा झुकती है / किसी शक्तिशाली के सामने* (पृ. 11)

चापलूसी जिस युग का सर्वप्रमुख गुण बन चुका है उस युग में कवि एक कहावत का सहारा लेते हुए कहता है—झुकता हूँ जैसे घुटना हमेशा पेट की तरफ़ ही मुड़ता है—इस कहावत के दो अर्थ हैं—1. शरीर का धर्म है कि घुटना पेट की तरफ़ मुड़ेगा पीठ की तरफ़ नहीं, 2. मनुष्य हमेशा अपने और अपनों के लिए ही सोचता है। कवि कहावत का अभिप्राय पहले अर्थ को सहजता और स्वाभाविकता के संदर्भ में लेता है। जिस सहजता और स्वाभाविकता की बात कवि इस कविता में करता है उसका संबंध प्रतिबद्धता से है। इस प्रतिबद्धता का वैचारिक आधार है। परंतु यह सभ्यता के विकास का परिणाम भी है। विकसित सभ्यता प्रदत्त सांस्कृतिक आचरण सामान्यतः नैतिक एवं मूल्याधारित होता है। मनुष्य के स्वभाव का आवश्यक गुण होता है। जिसके कारण चरित्र में सहजता आती है। इसलिए कवि का वाचक स्वाभाविक कार्य-व्यापारों, तस्में बाँधने, खाना खाने, गिरी हुई क़लम उठाने में झुकना पसंद करता है। लज्जित और अपमानित होने पर भी उसे झुकना असहज नहीं करता। परंतु शक्तिशाली के सामने उसकी रीढ़ तन जाती है। व्यवस्था जनित दबाव उसे झुका या चापलूस नहीं बना पाते। 'कमबख़्त निज़ाम' में कवि चैन की नींद सोना नहीं चाहता बल्कि 'रॉयल मोर का कटा सिर' बनना पसंद करता है। यही राजेश जोशी की कविता की सबसे बड़ी ताक़त है। इसलिए उनकी कविता समकालीन कविता में अपना निजी मुहावरा गढ़ पाई है।

अपने समय के किसी मुद्दे को कवि छोड़ना नहीं चाहता। मुद्दों तक पहुँचने का, उनको उठाने का ढब अद्‌भुत है। तालाबों के शहर भोपाल में रहने वाला कवि 'क़िस्सा उस तालाब का' कविता में मिनरल वॉटर की बोतल ख़रीदने के बाद अजीब असमंजस में पड़ जाता है। कवि बोतल में भरे पानी को जल नहीं कह पाता। पानी कहने से उस 'पानी' की तौहीन हो सकती थी। उस पानी को पीकर कवि का गला तो ज़रूर तर हो जाता है परंतु आत्मा सूखी की सूखी रह जाती है : *और पानी कहता तो गुस्ताख़ी होती उसकी शान में / पीने से कुछ होंठ गीले हुए कुछ गला तर हुआ / पर आत्मा ज़रा भी नहीं भीगी* (वही, पृ. 26)

कहते हैं अगला विश्व युद्ध पानी को लेकर होगा। विश्व बाज़ार में पानी के व्यापार का प्रतिशत लगातार बढ़ रहा है। इसलिए कवि को लगता है बोतल बंद पानी फ़क़त पानी नहीं रह गया है। उसके पीछे बाज़ार खड़ा है। उसे मुनाफ़े की रणनीति से तैयार किया गया है। इसलिए हलक से उतरते हुए वह 'सिक्के की तरह बजता' है। विडंबना देखते ही राजेश जोशी की शैली व्यंग्यात्मक हो जाती है। 'वॉटर' फ़िल्म को लेकर उत्पात करने वाले बजरंगी वॉटर (पानी) की व्यवसायिकता को लेकर कोई उत्पात नहीं करते। संस्कृति-इतिहास, मिथकों-आख्यानों का जानकार कवि एक आम भारतीय के मन में जल को लेकर रहने वाले पवित्र भाव से वाक़िफ़ है। इसलिए व्यवसायीकृत पानी को उसकी आत्मा स्वीकार नहीं कर पाती। कवि बेचैनी से भर उठता है : *कब-कब वह पानी देखूँगा / जिसे पानी कहने की तसल्ली हो / और जल कहने से मन भीग जाए।* (वही, पृ. 28)

उपर्युक्त उद्धरण की पहली पंक्ति में निहित कवि की बेचैनी उसे 'रहिमन पानी राखिए' तक पहुँचा देती है।

पानी से जुड़ी एक और कविता संग्रह में है—'उमस'। प्यास और उमस से व्याकुल कवि ट्रेन में बैठा बाहर के दृश्य देख रहा है। दृश्य राजेश को अपनी ओर खींचते हैं। दृश्य के पीछे छिपी विषमता अथवा कारुणिक स्थितियाँ उनकी आँखों से बच नहीं पाती। बाहर अधनंगे बच्चे सूखे खेत की मेड़ पर खड़े हँसते हुए अपने छोटे-छोटे हाथ हिला रहे हैं। यह हँसी ट्रेन को देखने की है! बच्चे ज़रूर ट्रेन में बैठना चाहते होंगे या बैठकर देखना चाहते होंगे। ख़ुद नहीं बैठ पा रहे इसलिए ट्रेन में सवार लोगों को देखकर हाथ हिलाते हैं। हँसते हैं। किंतु राजेश जोशी को सिर्फ़ बच्चों की हँसी ही नहीं दिखाई देती, वह सूखा खेत भी दिखाई देता है जिसकी मेड़ पर खड़े बच्चे हँसते हुए हाथ हिला रहे हैं। सूखा खेत आने वाले संकट का प्रतीक है। हँसी के पीछे की भूख अतृप्ति को पहचानकर कविता का वाचक उमस की सारी बेचैनी भूल जाता है। राजेश जोशी करुणा के दृश्यों से मुँह नहीं मोड़ते बल्कि उनमें धँस जाते हैं : *अजीब दृश्य था / कि उस उन्मुक्त दूधिया हँसी के पीछे / दूर तक एक सूखा खेत था।* (वही, पृ. 22)

बहुत कुछ कहने वाली इस हँसी को देखकर निराला की पंक्तियों—रोग-शोक में भी हँसता है। शैशव का सुकुमार शरीर—का स्मरण हो आता है। यह जानना भी दिलचस्प होगा कि उपर्युक्त पंक्तियाँ 'बादल-राग' कविता से है। 'क़िस्सा उस तालाब का' कविता के साथ 'उमस' कविता को मिलाकर पढ़िए पानी का व्यवसाय करने वालों की पोल-पट्टी आपके सामने अनायास खुल जाएगी।

बच्चे, स्त्रियाँ और प्रेम; राजेश जोशी की कविताओं में पर्याप्त स्थान घेरते हैं। समय से पहले बड़े होते जा रहे बच्चों को लेकर कवि चिंतित हैं। नई तकनीक ने इन बच्चों को बेहिसाब आत्मविश्वासी बना दिया है। कवि नई तकनीक का विरोधी नहीं है। लेकिन जिस रफ़्तार से तकनीक हमारे जीवन की बहुत-सी ज़रूरी चीज़ों को ग़ैरज़रूरी बना रही है, उससे कवि परेशान है। 1990 में राजेश ने काम पर जाते हुए बच्चों को लेकर एक कविता लिखी थी। जिनकी ज़िंदगी में बचपन नहीं रहा। जिनकी गेंदें किसी ने दूर अंतरिक्ष में फेंक दी थीं। लेकिन 2000 में कवि को लगता है कि बच्चे बहुत 'मैच्योर' हो गए हैं। इतने मैच्योर कि साहित्य, राजनीति और समाज का उनके लिए कोई मतलब नहीं बचा : *इनकी दिलचस्पी तेज़ी से ख़त्म हो रही है / समाज राजनीति या साहित्य जैसे विषयों में* (वही, पृ. 30)

जिन बच्चों की आँखों में सपनों से ज़्यादा महत्त्वाकांक्षाएँ हैं। जो सफलता के सारे गुर सीख चुके हैं। उनके लिए नैतिकता-अनैतिकता का सवाल बचता ही कहाँ है। ऐसे में समाज—जो दायित्व बोध जगाता है, वास्तविक राजनीति जो बदलाव के लिए संघर्ष की प्रेरणा देती है, साहित्य जो जीवन को नैतिक मूल्यों तथा विज़न से जोड़ता है, की उन्हें ज़रूरत कहाँ है। ऐसी सब चीज़े उनके लिए आउटडेटेड हो चुकी हैं। 'मस्ती की पाठशाला' में पढ़ने वाले इन बच्चों को तेज़ गतियाँ, तेज़ रोशनियाँ और तेज़ संगीत चाहिए। कवि का परिवर्तनकामी मन इन बच्चों की बनक देखकर थोड़ा निराश है। उसे लगता है कि 'स्वर्ग की मीनार' यानी समतामूलक समाज इन बच्चों की मदद से नहीं बनाया जा सकता क्योंकि तकनीक रूपी दैत्य की उँगली थामकर ये नव पूँजीवादी युग में प्रवेश कर गए हैं। 'खिलौना' कविता में भी कवि बच्चों के मस्तिष्क को विकृत करने की साज़िश का खुलासा करता है। राजेश अपने समाज पर आए इस आसन्न संकट से वाक़िफ़ हैं। इसलिए तस्वीर का दूसरा रुख़ समाज के सामने पेश कर देते हैं।

स्त्री राजेश जोशी की कविता में अनेक रूपों में आती है। प्रस्तुत संग्रह में प्रेयसी, पत्नी, माँ, बहन, बेटी के साथ-साथ पंद्रह-सोलह बरस की पागल लड़की से लेकर रैली में चलती स्त्रियों तक कवि की निगाह जाती है। जहाँ कवि ने पत्नी को लेकर 'लहसुन की कली', 'आधावृत्त' तथा 'मेरे भीतर एक स्त्री रहती है' जैसी ख़ूबसूरत कविताएँ लिखी हैं, वहीं दूसरी ओर बेटी की विदाई के करुण प्रसंग

तथा बहन को लेकर एक मार्मिक कविता संग्रह में देखी जा सकती है। 'नहीं कहना' कविता में कवि ने अपने दुख को छिपाना सीख चुकी स्त्री के जीवन की करुण कथा का हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। 'मुलाक़ात' कविता में पूर्व प्रेयसी से मिलने का ज़िक्र है जिसकी हँसी में दूर तक उदासी फैली है। 'जादूगरनी' कविता में ऐसी प्रेमिका का ज़िक्र है जो अपनी उँगलियों के पोरों पर अपने प्रेमी को नचाती है। जिसके प्यार में प्रेमी पागल हो जाता है। कवि स्वीकार करता है कि प्रेम के झूठे-सच्चे क़िस्से सुनने के लिए उसका मन ललकता रहता है।

प्रस्तुत संग्रह में आंदोलनरत स्त्री का चित्र भी खींचा गया है। कहीं कुछ तो बेहतर होगा की उम्मीद में अपना घर-द्वार छोड़कर शहर तक आईं, दुधमुँहे बच्चों को गोद में उठाए, मुट्ठियाँ हवा में उठाकर नारे लगाती, बुलंद हौसले वाली ये स्त्रियाँ कवि को ब्रह्मांड में अनथक चलती पृथ्वी की तरह लगती हैं : *रैली में चलती स्त्री / जैसे ब्रह्मांड में अनथक चलती पृथ्वी को देखना है / बाहर वह जितनी दिख रही है / उससे उसके सपनों और उसके भीतर मची उथल-पुथल का / अनुमान लगाना नामुमकिन है* । (वही , पृ. 33)

परंतु कवि उन स्त्रियों की भीतरी उथल-पुथल को जान लेता है। 'रैली में चलती स्त्रियाँ' कविता के प्रारंभिक हिस्से में इस उथल-पुथल का अत्यंत सशक्त वर्णन है। पृथ्वी की तरह चलती इन स्त्रियों में एक नया बदलाव आ गया है। पृथ्वी सब कुछ चुपचाप सहते हुए चलती है परंतु यह स्त्रियाँ अन्याय के ख़िलाफ़ हवा में अपनी मुट्ठी तान चुकी हैं।

राजेश जोशी का सौंदर्य बोध अत्यंत समृद्ध है। जीवन के लिए संघर्ष करता मनुष्य जहाँ उनके मन को छूता है वहीं वह नदियों, दरख़्तों और परिंदों से बात करना चाहते हैं। बनारस की सुबह को अपनी स्मृति की काँवड़ में भरकर साथ ले आना चाहते हैं। कवि की आवारगी ने उसे चाँद का साथी बना दिया है। कवि की पत्नी उसकी किताबों की अलमारी से चाँद बरामद करती है। (पृ. 53) कवि ख़ुद को धूप, हवा और पानी का क़र्ज़दार समझता है। (पृ. 97) प्रकृति कवि की शिराओं में बहने वाले रक्त में एकमेक हो गई है, इसलिए वह अपने आप को उससे अलग नहीं कर पाता।

चाँद की वर्तनी कवि का पाँचवाँ संग्रह है। पाँचवें संग्रह तक आते-आते ऐसा लगता है कि कवि भाषा को सिद्ध कर चुका है। कवि अपनी अनुभूतियों की परत-दर-परत अभिव्यक्ति करने में सक्षम है। उसे यक़ीन है कि शब्दों और क्रियाओं के कई-कई अर्थ होते हैं। इसलिए वह भाव और अनुभूतियों के सर्वाधिक नज़दीक पड़ने वाले शब्द खोजता है। जैसे—सिर से पाँव तक झींगुरों की आवाज़ से बनी, अँधेरे को बुहारना, दूधिया से ज़्यादा उजला, बोलने को रखना इत्यादि न जाने कितने प्रयोग संग्रह की कविताओं में बिखरे पड़े हैं। 'चाँद की वर्तनी', 'चाँद भरोसे की चीज़ नहीं' तथा 'व्याकरण-समय' जैसी कविताओं में कवि भाषा से खेलता प्रतीत होता है। 'भाषा की आवाज़' कविता में कवि भाषा पर आए संकट की ओर इशारा करता है। बाज़ार के भाषा पर लगातार बढ़ते प्रभाव के चलते कवि को लगता है कि वह अधीनों की भाषा बोल रहा है।

कहावतें, मुहावरे, लोककथाएँ, आख्यान तथा नीतिकथाएँ राजेश की कविता का अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष है। अपनी अभिव्यक्ति को अधिक संप्रेष्य तथा इतिहास सिद्ध बनाने के लिए कवि लोक में प्रचलित मान्यताओं का हवाला कविता में देता है। अपने समय की समस्याओं पर चर्चा करते हुए अनायास कविता के कथ्य को लोक मन से जोड़ देना समकालीन कविता में राजेश का अनूठा प्रयोग है। इधर कविता में कथा कहने की शैली को भी उन्होंने और अधिक विकसित किया है। इस क्रम में सपाटबयानी उनकी कविता की कमज़ोरी नहीं बल्कि ताक़त बनती है।

राजेश जोशी 'विटी' (Witty) कवि हैं। यह

उनकी 'विट' का ही कमाल है कि संग्रह की अधिकांश कविताओं में जितनी गहरी संवेदना है लगभग उतना ही गहरा व्यंग्य भी है। कवि का गहरा जीवन अनुभव चीज़ों को पारदर्शी बना देता है। चीज़ों के आर-पार देखने की क्षमता कवि ने विकसित की है। करुणा और वेदना के दृश्य तो कवि की निगाह से बचते ही नहीं हैं। संवेदना के अनेकानेक सीमांतों को छूती इन कविताओं से गुज़रना एक विलक्षण अनुभव है। इन कविताओं को देखकर लगता है कि कवि ने अपने पूर्ववर्ती कवियों से भी बहुत कुछ सीखा है। अपने समय के यथार्थ से गहरे रूप में जुड़ी ये कविताएँ पाठक को नई समझ देती हैं। दुर्विनीत समय को चीरती ये कविताएँ आज के मनुष्य के लिए आश्वस्तिदायक अहसास लिए आती हैं।

चर्चित कविता-संग्रह :

चाँद की वर्तनी : राजेश जोशी; राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली; 2006; 125 रुपए

नीरज कुमार के समीक्षात्मक आलेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। संपर्क : हिंदी विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली

सूरज प्रकाश

जनजातियों का जीवन

दुनिया में उनकी / न पहुँचा घी-दूध / न गेहूँ चावल / और न उन्हा लत्ता /...दुनिया में उनकी / न पहुँची सड़कें / न रेलगाड़ी / और न बिजली /... किंतु घबराए नहीं वे / कि पेड़ों में ज़िंदा है हरापन / और लकड़ियों में बची हुई है / उनके हिस्से की आग /...कि भून सकते हैं वे / मछलियाँ, केकड़े, सूअर / और जला सकते हैं कभी भी मशाल।

कवि, घुमक्कड़, यात्रा-वृत्तांत लेखक, दुर्लभ लोक गीतों और लोक कथाओं को सहेजकर, दुनिया के सामने लाने वाले, रिपोर्ताज और आलोचनाकर्म से गंभीरता से जुड़े और सबसे बड़ी बात, अपनी कविता और अपनी समस्त रचनाधर्मिता में अपनी ज़मीन से शिद्दत से जुड़े लीलाधर मंडलोई की ये कविता पंक्तियाँ 'उनके हिस्से की आग' कविता से ली गई हैं और ये कविता लिखी गई है सदियों से गुमनामी के अँधेरे में और विकास की आहट से सदियों दूर अभी भी आदिम अवस्था में जी रहे अंदमान और निकोबार के आदिवासियों के लिए। सिर्फ़ यही कविता नहीं, उनके निकोबार की यात्रा-वृत्तांत की अद्‌भुत पुस्तक *काला पानी* के पन्ने-पन्ने पर हमें इसी तरह की बीसियों कविताएँ मिलती हैं, जो कवि की उन आदिवासियों की चिंताओं, उम्मीदों, सपनों, छोटी-छोटी ख़ुशियों और एकदम अपरिचित लेकिन जीवंत जीवन शैली से रू-ब-रू कराती हैं और हमें एक ऐसे जीवन खंड की सैर कराती हैं जहाँ अभी भी अँधेरा तो है लेकिन उम्मीद है, जीवन अपने सर्वाधिक निश्छल रूप में है, लेकिन ज़रूरत पड़े तो लड़ मरने को उतारू है। और सबसे बड़ी बात, एक इतिहास बोध है और इसी इतिहास बोध से जुड़ा एक सपना है जो उन्हें जिलाए हुए है और आधुनिक तथा सभ्य समाज द्वारा उनकी आदिम सभ्यता, लोक जीवन शैली के साथ की जा रही छेड़छाड़ का मुक़ाबला करने की शक्ति का अकूत भंडार है।

मंडलोई जी की यह किताब *काला पानी* पाँच हिस्सो में है : पहला खंड है 'दुर्लभतम् जनजातियाँ' इस खंड में निकोबार के भीतरी और आम आदमी की पहुँच से बाहर ग्रेट अंदमानी, जारवा, ओंगी, सेंटिनली, निकोबारी और शोंपेन जनजातियों का समाज शास्त्रीय अध्ययन किया गया है।

अगर खंड एक जनजातियों के शुद्ध जीवन के बारे में फ़र्स्ट हैंड रिपोर्टिंग है तो खंड दो 'कवि और जनजातियाँ' में उस जीवन की वे शुद्ध कविताएँ हैं जो सीधे उस जीवन के निकल कर आई हैं। शुद्ध और पवित्र कविताएँ।

खंड तीन 'कवि और लोककथाएँ' है। इस खंड में भी मंडलोई जी ने इन जनजातियों के इतिहास, लोक जीवन, मूल्यों, अतीत की दृष्टि और सपनों में रची-बसी 27 मार्मिक लोककथाएँ बुनी हैं।

चौथा खंड कवि और समय को समर्पित है और इसमें इन जनजातियों की आधुनिक तथाकथित सभ्य समाज के साथ मुठभेड़ के क़िस्से हैं कि किस तरह जापानियों और अंग्रेज़ों ने इन भोले-भाले आदिवासियों का शोषण किया और किस तरह से सेल्युलर जेल बनी और वहाँ ले जाकर आज़ादी के परवानों में अमानवीय जुल्म ढाए गए, और जेल के लिए जगह निकालने के लिए इन आदिवासियों को, भीतरी इलाक़ों को खदेड़ा गया, इसका लोमहर्षक लेखा-जोखा है।

पुस्तक का पाँचवाँ और अंतिम खंड 'कवि और समुद्र' के नाम से है और इसमें इन जनजातियों के जीवन के सबसे बड़े आधार समुद्र को लेकर बेहद मार्मिक कविताएँ संग्रहीत हैं।

अरसे से अंदमान निकोबार जाने का मन है लेकिन अब तक वहाँ जाना नहीं हो पाया है, इसलिए वरिष्ठ कवि और घुमक्कड़ जीव लीलाधर मंडलोई की इस किताब से गुज़रने का मौक़ा मिला तो एक ही बार में पूरी पढ़ गया।

श्री मंडलोई की इस बात के लिए खुलेमन से तारीफ़ की जानी चाहिए कि उन्होंने ये यात्राएँ किसी सैलानी की तरह नहीं की बल्कि एक शोधकर्ता, समाजशास्त्री और वहाँ के बाशिंदों के जीवन को नज़दीक से देखने-समझने और सभ्य समाज के सामने लाने वाले अनुसंधानकर्ता के रूप में की हैं। उन्होंने सच में अपना कविधर्म निभाया है और इस किताब के ज़रिए निकोबार के भीतरी इलाक़ों में अभी भी आदिम युग में रहने को अभिशप्त ग्रेट अंदमानी, जारवा, ओंगी, सेंटिनली, निकोबारी और शोंपेन जनजातियों के जीवन की पेचीदगियों को बहुत बारीकी से और धैर्य के साथ सामने रखा है कि किस तरह से ये जनजातियाँ हमारे पास सारे आधुनिकतम उपाय होने के बावजूद ख़त्म होने के कगार पर हैं। आने वाली नस्लों को कभी पता भी नहीं चल पाएगा कि बीसवीं सदी के जाते बरसों में वहाँ कुछ ऐसी आदिम जातियाँ भी बसती थीं जिनकी भाषा, रहन-सहन और जीवन शैली के बारे में हम अब भी कुछ नहीं जानते।

बेशक इनमें से जारवा जनजाति के लोग हत्याएँ करने में माहिर हैं और प्रशासन के लिए चुनौती बने हुए हैं लेकिन इनकी कुल संख्या ही 225 और 250 के बीच में है और इस बात की दुखद कल्पना करना मुश्किल नहीं है कि इस जनजाति का ख़ुद का अस्तित्व ही संकट में है और ये आने वाला वक़्त ही बताएगा कि वे कितने दिन और जी पाते हैं। मंडलोई जी की टिप्पणी है कि उनसे सभी घबराए हुए हैं और उनसे संबंध स्थापित करने में भय महसूस होता है पर उन्हें प्रेम और सहानुभूति की ज़रूरत है। उनकी एकाधिकार की भावना का सम्मान किया जाना ज़रूरी है।

इस जनजाति से भी ज़्यादा संकट में है ग्रेट अंदमानी जो पिछली शताब्दी में 5000 के क़रीब थे लेकिन अफ़ीम के सेवन और स्त्रियों में संतानोत्पत्ति की क्षमता के छीज जाने के कारण वे अब मात्र और मात्र 27 ही रह गए हैं और डर ये है कि ये भी कितने दिन और जी सकते हैं और मौजूदा हालात में मौत का मुक़ाबला कर सकते हैं। कमोबेश, यही दुखद कहानी बाक़ी जनजातियों की भी है जो किसी तरह बस अपने जीवन की बची-खुची घड़ियाँ गिन रहे हैं।

पुस्तक के दूसरे खंड में मंडलोई जी की जनजातियों के जीवन, उनके दिन-प्रतिदिन के संघर्ष, सुख-दुख, सपनों, उम्मीदों और आपसी संबंधों को लेकर बेहद मार्मिक कविताएँ हैं और इसी तरह से पाँचवें खंड में जनजातियों के जीवन में समुद्र को लेकर कविताएँ हैं। एक कविता है ओंगी युवक से बात करते हुए : *होना चाहता हूँ थोड़ा-सा पंछी, कि उड़ूँ अनंत ऊँचाइयों में / ...होना चाहता हूँ थोड़ा-थोड़ा कर इतना / कि दुनिया में आपके पहुँचने से पूर्व / पहुँचूँ जीवन में थोड़ा, समझूँ जीवन को थोड़ा।*

इसी तरह अंतिम खंड में समुद्र को लेकर एक और कविता है : *माँ पकाएगी जब रोटियाँ/ उनमें स्वाद होगा समुद्र का/और कितना किफ़ायती और स्वादिष्ट होगा/रोटियों का पकना कि संभव है/नमक रोटियों में अपने आप पहुँचे/समुद्र पर खाते हुए रोटियाँ/पहुँचेगा समुद्र अपने आप भीतर।*

ऐसा लगता है कि मंडलोई जी इन यात्राओं में वहाँ के जनजीवन, सुख-दुख, संघर्षों और सपनों और सपनों के टूटने के साथ एकाकार हो गए हैं। वे उनके जीवन का एक अंश बनकर एक अनोखे कवि के रूप में हमारे सामने आते हैं। वे वहाँ उनके जीवन में हमारे कवि के रूप में नहीं जाते बल्कि उनके कवि के रूप में हमारे जीवन में आते हैं और उनके जीवन की अद्‌भुत संवेदना को हमारे साथ बाँटते प्रतीत होते हैं।

यही बात वहाँ के जीवन की लोक कथाओं के बारे में भी कही जा सकती है। जब मंडलोई जी इन जनजातियों की स्मृति में, संवेदना में और जीवन की गतिविधियों में बसी, पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही कहानियाँ सुना रहा है। ये कहानियाँ हैं भी अद्‌भुत और सघन संवेदना से भरी हुई। चाहे कहानी लोहे की खोज की हो या जिमीकंद या नारियल की खोज की। किताब में शामिल परियों की कहानियाँ तो बेजोड़ हैं। वे हमारे आपके जीवन की ही ऐसी कहानियाँ लगती हैं जो हम दस-बीस बरस पहले तक अपने बच्चों को सुनाते रहे थे।

मंडलोई जी की यह पुस्तक *काला पानी* इस मायने में भी महत्त्वपूर्ण है कि यह गहरी आस्था और इस विश्वास के साथ लिखी गई है कि हमें इन जनजातियों को देखने का अपना सैलानी वाला नज़रिया बदलना होगा और इससे पहले कि बहुत देर हो जाए, ऐसा कुछ ठोस करना होगा कि इन दुर्लभ जनजातियों को विलुप्त होने से बचाया जा सके।

चर्चित पुस्तक :

काला पानी : लीलाधर मंडलोई; राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली; 2006; 200 रुपए

सूरज प्रकाश के आलोचनात्मक लेख पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहे हैं। संपर्क : भारतीय रिज़र्व बैंक, ई स्कवायर के पास, विद्यापीठ मार्ग, पुणे। मो. 9860094402

पाठांतर

समकालीन भारतीय साहित्य का 126वाँ अंक मिला। यह एक अनोखी पत्रिका है। यह पत्रिका एक ही साथ कई सामग्रियाँ लाती है। कहानियाँ मिलती हैं तो अनेक भाषाओं की; जैसे तेलुगु, हिंदी, ओड़िया, गुजराती, मराठी इत्यादि। राष्ट्रीय स्तर के रचनाकारों की झलक मिल जाती है। जुलाई-अगस्त 2006 में ए. असफल की एक कहानी छपी जो वागर्थ के अगस्त अंक में छपी है। लेखक को छपने का सब्र होना चाहिए। छपने या पारिश्रमिक के चक्कर में पाठक के समय को नष्ट करने का हक़ लेखक को नहीं है। 'निराला' पर विशेष लेख से रू-ब-रू हुआ। शंकरी प्रसाद वसु की रचना 'निराला का साहित्यिक जीवन' पूर्णतः सफल है। विपिन जैन की ग़ज़ल की कुछ पंक्तियाँ प्रभावोत्पादक हैं। *समकालीन भारतीय साहित्य* के कुशल संपादन हेतु अशेष शुभकामनाएँ।

मनानंद 'हर्ष', पूर्णियाँ, बिहार

समकालीन भारतीय साहित्य के जुलाई-अगस्त 2006 में जीलानी बानो की कहानी 'एक दोस्त की ज़रूरत है' पढ़ी। उपभोक्तावादी संस्कृति और उसकी प्रतिस्पर्धा की दौड़ में, मनुष्य अपनी संवेदनाओं से कुंद होता जा रहा है। साथ ही, कहीं न कहीं मनुष्य अकेला पड़ता जा रहा है। यहाँ तक कि उसे उदास होने का भी वक़्त नहीं है। क्योंकि स्टेटस सिंबल की ऊँची उड़ान में उसके भीतर का सौंदर्य लुप्त होता जा रहा है। तभी तो जीवन के अधेड़ उम्र में उन्हें एक अदद दोस्त की ज़रूरत होती है जिसकी तलाश में वे अपना आत्मावलोकन करते हैं। तब वे सभी कहीं न कहीं चूके नज़र आते हैं। स्वार्थ के अंधे दौर में वैसे मनुष्य विरोधी और बेईमान बन जाते हैं। तब ऐसी स्थिति में उनका अपना आत्म-सुख कहाँ? फिर वे स्मृतियों में लौटते हैं। उनका वह अतीत जो कब का दामन छोड़ चुका है, अपने वर्तमान में जीने की अपेक्षा रखते हैं। वहाँ उन्हें एक अदद दोस्त की ज़रूरत है जिसके साथ वे सहजता से आत्म-साक्षात्कार कर सके, अपनत्व हासिल कर सके। कहानी, मनुष्य के भीतर मनुष्यत्व और उसके संवेदनशील प्रकृति की खोज है।

कविता मेरे लिए एक शक्तिशाली हथियार है। पद्मा सचदेव की कविता 'भूखा' पढ़कर मुझे रामचंद्र शुक्ल जी की वाणी याद हो आई : "दारिद्र्य और अकाल का भीषण और करुणा दृश्य दिखाया जाए, पेट की ज्वाला से जले हुए कंकाल कल्पना के सम्मुख रखे जाएँ और भूख से तड़पते हुए बालक के पास बैठी हुई माता का आर्त्त-क्रंदन सुनाया जाए तो बहुत से लोग क्रोध और करुणा से व्याकुल हो उठेंगे।" सच, मैं कविता पढ़कर व्याकुल हो उठी। उस भूखा को खाते देखकर वह कहती है कि सिर्फ़ थाली ही आपकी है। खाना इसने ख़ुद कमाया है।

'अचानक' कविता भी उनकी पकी अनुभूति को व्यक्त करती है। नसीम सफ़ाई की सभी कविताएँ यथार्थ का अतिक्रमण करती हुई एक विकल्प की ओर पाठक को मोड़ती हैं। मानस रंजन महापात्र की सभी कविताएँ अच्छी हैं। प्रत्येक कविता की हर पंक्ति पाठक के मन मस्तिष्क को झकझोर देती है। रमेश प्रजापति की कविताएँ पढ़ीं। सार्थक बिंदुओं की तलाश में कवि 'कुछ बचाकर रह जाता हूँ मैं' में कहते हैं कि : *हर किसी के लिए / कुछ इस तरह/बचाकर रह जाता हूँ मैं/थोड़ा-थोड़ा-सा।*

उत्तिमा केशरी, पूर्णियाँ, बिहार

स्व. मनोहर श्याम जोशी को उनकी जीवंतता के अनुरूप ही आपने आमुख में याद किया है। वे सचमुच सबसे अनोखे क़िस्सागो रचनाकार थे। प्रभात रंजन जी के लेख में भी जोशी जी को भावपूर्ण ढंग से याद किया गया। कविताएँ सारी अच्छी लगीं, कहानी अभी रत्नकुमार सांभरिया की पढ़ी। प्रवाहपूर्ण व सहज कथा प्रभावशाली बन पड़ी है।

हरीश करमचंदाणी, जयपुर

संपूर्ण भारतवर्ष के विविध रंगों में रंगी द्विमासिक पत्रिका *समकालीन भारतीय साहित्य* अपनी तरह की अनूठी पत्रिका है। पत्रिका में संग्रहीत सामग्री इतनी सुगठित एवं पठनीय होती है कि किसी भी हिस्से का पढ़ने से छूटना खलता है। पंजाबी, ग़ुजराती, तमिल, तेलुगु, सिंधी, कन्नड, संताली, कोंकणी, मलयालम जैसी भाषाओं में लिखा जा रहा साहित्य हिंदी में पढ़ना एक दिलचस्प अनुभव होता है तथा समकालीन रचनाकारों को अपने आसपास होने वाले बदलावों पर सचेत भी करता है। कविता मेरी सर्वाधिक प्रिय विधा है और सभी रचनाकारों ने अपनी प्रतिभा एवं पत्रिका की प्रतिष्ठा अनुरूप रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में मनोहर श्याम जोशी पर बहुत कुछ लिखा जा रहा है। फिर भी प्रभात रंजन का स्मृति लेख दिलचस्प है। उत्कृष्ट संपादन के लिए आपको एवं आपके समस्त सहयोगियों को मेरी ओर से बधाई।

प्रदीप जिलवाने, खरगोन, मध्य प्रदेश
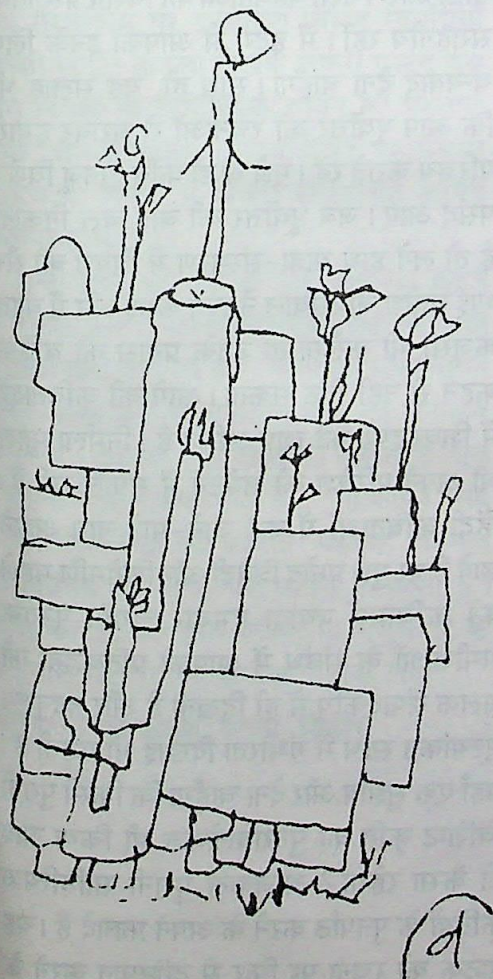
समकालीन भारतीय साहित्य का नया अंक कल ही मिला है। मेरे लिए यह अनेक दृष्टियों में महत्त्वपूर्ण है। इसमें श्री विश्वनाथ त्रिपाठी जी का 'बाँधो न नाव' और शंकरी प्रसाद वसु का 'निराला का साहित्यिक जीवन' दो आलेख हैं। पहला भावनात्मक स्तर पर और दूसरा ऐतिहासिक स्तर पर पठनीय है। सरवांतीस का निवेदन रोचक लगा। फिर चीनू मोदी, राजेंद्र पटेल, केशुभाई देसाई, पंकज शाह—ऐसे गुजराती मित्रों की रचनाएँ पढ़ीं। गुजराती कविता अनेक दृष्टियों से बड़ी जीवंत है। गुजरात में हिंदी कविता की परंपरा भी बड़ी प्राचीन है। हिंदी कविता के अंतर्गत अनूप अशेष की कविताएँ शैली और आकार में अपने भाव की मिट्टी से जुड़ी हैं। पर जब मिट्टी ही कंक्रीट में बदलती जा रही है तो जुड़ना किससे। मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया नीलोत्पल के 'पिता' ने। जहाँ हम किसी पिता में छिपे रहते हैं,

वहीं मन के किसी कोने में पिता हम में छिपा रहता है। नई पीढ़ी माने या न माने पर सिरमनहार के महत्त्व को कौन नकार सकता है।

भागवतप्रसाद मिश्र 'नियाज़', गुरुकुल रोड, अहमदाबाद

जुलाई-अगस्त 2006 पूरा पढ़ गया। 'विजयन' पर उनका कार्टूनिस्ट हावी रहा वरना यह आदमी बहुत अनूठा था। 'निराला' पर बहुत अच्छी सामग्री एकत्रित की गई। इससे निराला के जीवन का अनन्यतम पृष्ठ उजागर हुआ। जीलानी बानो की कहानी एक पिकनिक कथा जैसी बनकर रह गई। 'सांपळा' कोंकणी कहानी में एक भाषा-वैज्ञानिक तथ्य उजागर हुआ कि राजस्थानी भाषा के उत्तरपूर्व में कोंकणी तक को प्रभावित किया है। प्रकाश पर्येकार ने जिन लोगों को 'बनजारा' कहा है वे उन्हीं के वर्णन के अनुसार 'बनजारा' नहीं हैं। ये लोग 'बनबावरी' हैं। 'बनजारा' संबोधन कोंकणी लोगों ने रख लिया है। चंद्रकांत बक्षी पर केशुभाई देसाई का लेख प्रभावोत्पादक बना है। पद्मा सचदेव की कविताओं में ताज़गी है। अंक आकर्षित करता है, अपनी रचना-संग्रहीता के कारण।

बी.एल. माली 'अशांत', मालवीय नगर, जयपुर

मैं *समकालीन भारतीय साहित्य* के अंक 125 पर अपनी प्रतिक्रिया देना चाहता हूँ। अंक के संपादकीय से शुरुआत करें तो मनोहर श्याम जोशी की स्मृति टटोलने में आपके तीन वक्तव्य सामने आए हैं, पहला—''मनोहर श्याम जोशी हमारे समय के सबसे बड़े क़िस्सागो थे'', दूसरा—''मनोहर श्याम जोशी हमारे समय के सर्वाधिक प्रभावशाली लेखक थे'', और तीसरा —''जोशी जी बहुपठित थे।'' तीनों पंक्तियाँ व्यवहारत: बड़े कलेवर में चिंतना-विवेचना की माँग करती हैं। ख़ासकर तब जब समकालीन आलोचना जोशी जी की अनेक रचनाओं को गंभीर लेखन न मानते हुए लगभग ख़ारिज कर देती हैं। प्रश्न उठता है कि परंपरागत या विचारधारा प्रेरित आलोचना के फ्रेम में जो कृति या रचनाकार नहीं आते क्या उन्हें इतनी आसानी से ख़ारिज कर दिया जाना चाहिए? स्पष्ट है, मेरा यह प्रश्न आपकी पत्रिका में एतद्संबंधी बहस की माँग करता है। एक बड़े साहित्यकार के मरणोपरांत एक लेख में उन पर स्यापा मात्र कर देना क्या उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के साथ न्याय करना होगा?

आगे बढ़ते हैं, कविता खंड की ओर। दोनों बोडो और नेपाली कविताओं की विशेष प्रस्तुतियाँ सराहनीय रहीं। मैं हृदय से आपको इनके लिए धन्यवाद देना चाहूँगा। साथ ही, यह सलाह भी कि आप पूर्वोत्तर की रचनाओं से बराबर हमारा परिचय कराते रहें। मुझे बोडो कवि अनजू विशेष पसंद आए। जब पूर्वोत्तर की बात चल निकली है तो लगे हाथ यात्रा-संस्मरण में त्रिपुरा की सैर भाई सतीश जायसवाल ने ख़ूब कराई और मैं बहुत कंजूसी भी करूँगा तो उनके प्रयास को बढ़िया कहने से नहीं रोक सकता। आगे की कविताओं में शिवरुद्रप्पा की छाप अमिट है। निर्मला पुतुल भी अपने परिवेश को समेटने में सफल रही हैं। हिंदी कविताओं में कई जाने-माने नाम आपने छापे हैं पर मुझे प्रमोद त्रिवेदी और शिरोमणि महतो की कविताएँ ज़्यादा दमदार लगीं। पुस्तक समीक्षाओं के संबंध में आपकी प्रतिबद्धता की झलक संपादकीय में ही दिखती है और तदनुरूप मूल्यांकन स्तंभ में गंभीरता दिखाई भी पड़ती है। यहाँ एक सुझाव और देना चाहूँगा कि किसी पुरानी विशिष्ट कृति का पुनरावलोकन भी किया जाए तो कैसा रहेगा? आजकल पुरानी साहित्यिक कृतियों के पुनर्पाठ करने के अपने फ़ायदे हैं। यह पाठक को रचना पर फिर से दृष्टिपात करने के

लिए न सिर्फ़ मजबूर करती है वरन् रचना के विन्यास की नई परतें खोलते हुए उसे समझने की नई दृष्टि भी प्रदान करती है।

किंतु यह कहना मैं नहीं भूलूँगा कि आपके संपादकत्व में पिछले कुछ अंकों से जो विशिष्ट परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहे हैं, ये पत्रिका के स्तर को ऊँचा उठाने में सहायक सिद्ध हो रहे हैं। यह प्रक्रिया सततता की माँग करती है। आशा है आप रचनाकर्म को बहस की तरफ़ भी प्रेरित करेंगे।

आशुतोष कुमार झा, जमशेदपुर, झारखंड

समकालीन भारतीय साहित्य का जुलाई-अगस्त 2006 अंक पढ़कर अपार प्रसन्नता हुई। निराला एवं स्रवांतीस पर प्रकाशित विशेष सामग्रियाँ अच्छी लगीं। बाङ्ला लेखक शंकरी प्रसाद वसु द्वारा निराला के साहित्यिक जीवन की पड़ताल तथा 'दोन किखोते' (सरवांतीस) पर मैनेजर पांडेय के संवाद न केवल सारगर्भित अपितु तथ्यपरक भी हैं।

पुन्नी सिंह की कहानी 'मेरे बस्ते का वज़न कम करो' तथाकथित वर्तमान एवं आधुनिक शिक्षा प्रणाली द्वारा सचमुच नन्हे-मुन्नों को सभ्य बनाने की असभ्य एवं संवेदनाहीन दौड़ को बेनक़ाब करती है। कहानी 'एक दोस्त की ज़रूरत है' एवं 'कहानी में जो लड़की होती है...' भी काफ़ी पसंद आई। रश्मि रेखा की कविता 'पहरूए' वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था पर सटीक टिप्पणी है। रामशंकर द्विवेदी द्वारा तिलोत्तमा मजूमदार के उपन्यास *वसुधरा* की समीक्षा सटीक लगी।

अरुण कुमार यादव, पटना, बिहार

समकालीन भारतीय साहित्य के अंक बराबर पढ़ता हूँ। जिस साहित्य गरिमा से संतुलित अन्य भाषाओं की रचनाएँ छपती हैं, वे पत्रिका को बहुत ही पठनीय बनाती हैं, कई अनुवाद तो नए कथ्य व शिल्प से परिचित कराते हैं। बहुत-बहुत बधाई। आपने अपने संपादन से *समकालीन भारतीय साहित्य* को और गरिमा दी है। मूल्यांकन को और विस्तार दीजिए। पत्रिका की समीक्षा पुस्तक को देश के प्रदेशों में लोकप्रियता दिलाती है।

श्री यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र', नया शहर, बीकानेर, राजस्थान

समकालीन भारतीय साहित्य का जनवरी-फ़रवरी 2006 अंक मिला। पढ़ने का लुत्फ़ ले रहा हूँ। आपने 'आमुख' में स्पेनिश उपन्यास का ज़िक्र किया है और इन दिनों चीली की उपन्यासकारा एलेंर इसाबेल का उपन्यास द *हाउस ऑफ़ स्पिरिट* धीमे-धीमे पढ़ रहा हूँ। अंक में शंभुनाथ जी का आलेख निर्मल जी के कहानी जगत के कोनों किनारों को दिखाता है। निश्चित ही शंभु जी ने कड़ी मेहनत की है। वे निर्मल जी के रचनात्मक कबाड़ख़ाने तक पहुँच सके हैं। उन्होंने न तो निर्मल जी की स्तुति की है, न ही निंदा। शंभुनाथ जी ने निर्मल जी के अकेलेपन की आस्था को अच्छा विश्लेषित किया। निर्मल जी सच में, पश्चिमी बौद्धिकता में पगे एलियन थे, हिंदी में। शंभुनाथ जी को मेरी ओर से बधाई दें।

श्री नरेश चंद्रकर, मंसूराबाद

निवेदन

रचनाकारों से

- रचनाएँ काग़ज़ के एक ओर हाशिया छोड़कर डबल-स्पेस टाइप कराके ही भेजें। पता संपादक, *समकालीन भारतीय साहित्य, साहित्य अकादेमी,* रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़श मार्ग, नई दिल्ली-110001
- रचना की प्रति अपने पास अवश्य रखें। रचनाएँ किसी भी दशा में वापस नहीं की जाएँग
- अनूदित (केवल भारतीय भाषाओं से) रचना के साथ मूल रचना का शीर्षक, रचनाकार व अनुमति, मूल रचना का प्रकाशन वर्ष, पत्रिका/पुस्तक का शीर्षक, रचनाकार तथा अनुवाद का परिचय, रचनाकार की पासपोर्ट आकार की फ़ोटो अवश्य भेजें।
- रचना भेजने के बाद तीन महीने में स्वीकृति या अस्वीकृति की सूचना न मिलने पर प लिखें।
- रचना के साथ टिकट लगा पता लिखा लिफ़ाफ़ा क़तई न भेजें बल्कि अपना फ़ोन, मोबाइ नंबर, ई-मेल इत्यादि ज़रूर भेजें।

आप जानते ही हैं कि *समकालीन भारतीय साहित्य* में साहित्य अकादेमी द्वारा मान्यता प्रदत्त 2 भारतीय भाषाओं की कहानी, कविता, यात्रा-वृत्तांत, संस्मरण, आत्मकथा, व्यंग्य रचना, ल उपन्यास जैसी विधाओं से चुनी हुई रचनाओं के हिंदी अनुवाद प्रकाशित होते हैं। इसके अतिरि आलोचनात्मक लेख, संस्कृति एवं भाषा-चिंतन से संबंधित आलेख, पुस्तक समीक्षाएँ आदि प्रकाशित होती हैं। पिछले कुछ समय से अकादेमी ने अपने कार्यक्रमों एवं प्रकाशनों के दायरे उन भाषाओं एवं बोलियों को भी समाहित कर लिया है, जिन्हें अकादेमी की मान्यता नहीं मि है। *समकालीन भारतीय साहित्य* में हम यदा-कदा लोक-साहित्य एवं इन भाषाओं/बोलियों प इनमें लिखे जा रहे साहित्य के बारे में शोधपूर्ण आलेख एवं इनके हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशि करते हैं।

पाठकों से

अपने पाठकों से हमारी अपेक्षा रहती है कि वे पत्रिका में प्रकाशित आलेखों, कहानियों, नाटव कविताओं एवं अन्य सामग्री पर अपनी टिप्पणियाँ और प्रतिक्रियाएँ भेजें। हमारी यह मंशा रहती है कि आलेखों में प्रस्तुत कुछ मुद्दों पर संवाद का एक सिलसिला शुरू हो। हमने इ उद्देश्य से "पाठांतर" स्तंभ प्रारंभ किया है। आपसे निवेदन है कि *समकालीन भारतीय साहि* में प्रकाशित रचनाओं के बारे में सुस्पष्ट टिप्पणियाँ एवं प्रतिक्रियाएँ हमें प्रकाशनार्थ भेजें।